भगवान् महावीर की पच्चीस-सौ वीं निर्वाण तिथि समारोह के उपलक्ष्य में

कल्प सूत्र

(श्रुतकेवली भद्रबाहु रचित)

•

दिशा - निर्देशक

गंभीर तत्त्वचिन्तक, प्रसिद्ध वक्ता

परम श्रद्धेय, पण्डित प्रवर

श्री पुष्कर मुनि जी महाराज

•

सम्पादक और विवेचक

श्री देवेन्द्र मुनि, शास्त्री, साहित्यरत्न

•

प्रकाशक :

श्री अमर जैन आगम शोध संस्थान, सिवाना

● पुस्तक :
कल्पसूत्र

● दिशा निर्देशक :
पण्डित प्रवर, श्रद्धेय सद्गुरु वर्य
श्री पुष्कर मुनि जी महाराज

सम्पादक-विवेचक :
देवेन्द्र मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

● प्रकाशक :
श्री अमर जैन आगम शोध संस्थान
गढ सिवाना ((बाडमेर-राजस्थान)

प्राप्तिस्थल :
श्री लक्ष्मी पुस्तक भण्डार
गांधी मार्ग, अहमदाबाद १

● प्रथम प्रवेश :
१५ अगस्त १९६८

● मुद्रक :
प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, आगरा
वास्ते : र ज मुद्रणालय

● मूल्य :
सोलह रुपए

On the occasion of Twenty five hundredth years Lord Mahavira

KALP-SUTRA

BY

(SHRUT KEWALI BHADRA BAHU)

Directions - Instructed

By

Gambhir Tatva Chintak, Prasidha Vakta

Param Shradhyaya Pandit Pravar

Shri Pushkar Munniji Maharaj

Edited & Annoted

By

Devendra Muni, Shastri, Sahitya Ratna

Published By

Sri Amar Jain Agam Shodh Sansthan,

SHIVANA

○ Book
Kalpa - Sutra

○ Directions-Intrasted by
Gambhır Tatva Chintak Prasidha Vakta
Param Shradhyaya Pandıt Pravar
Shri Pushkar Muniji Maharaj

○ Edited & Annoted by
Devendra Muni, Shastri
Sahitya Ratana

○ Published by
Sri Amar Jain Agam Shodh Sansthan
Shivana (Marwar)

○ Available
Sri Laxmi Pustak Bhandar
Gandhi Marag
Ahmedabad

○ First Entrance
15th August 1968

○ Prınted
Prem Printing Press, Agra
For, Raj Mudranalay

○ Price
Rs. 16 / only

समर्पण
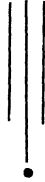
सूर्य की तरह जिनका जीवन तेजस्वी था,
चन्द्र की तरह जिनका मन सौम्य था,
स्वर्ण की तरह जिनका आचार निर्मल था,
सागर की तरह जिनके विचार गंभीर थे,
मधु की तरह जिनकी वाणी मीठी थी,
जो दूसरो के प्रति फूल से भी अधिक कोमल थे,
और
अपनी संयम-साधना के प्रति -
वज्र से भी अधिक कठोर थे।

अपने उन परम गुरु
परम श्रद्धेयरत्न
महास्थविर, स्वर्गीय

पूज्यपाद श्री ताराचन्द्र जी महाराज
को
सभक्तिभाव, समर्पित
विनयावत
— देवेन्द्र मुनि

प्रकाशकीय-प्रकाश

प्रबुद्ध पाठको के पाणि-पद्मों में चिर-अभिलषित-चिर प्रतीक्षित श्री कल्पसूत्र का सर्वाङ्ग-सुन्दर एवं महत्त्वपूर्ण श्रद्धास्निग्ध उपहार अर्पित करते हुए हम अपने को गौरवान्वित अनुभव करते हैं। अपनी तरह का यह एक अनुपम और अभूतपूर्व ग्रन्थ है, जो हिन्दी साहित्य को एक नवीन देन है। यहाँ पर यह उल्लेख करना अनुचित एव अप्रासांगिक न होगा कि हिन्दी में ही नहीं, अपितु किसी भी भाषा में कल्पसूत्र पर इस प्रकार शताधिक ग्रन्थों के विमलप्रकाश मे लिखा गया ससन्दर्भ प्रामाणिक विवेचन अद्यावधि प्रकाशित नहीं हुआ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे विद्वान् एव विचारक लेखक श्री देवेन्द्र मुनि जी, शास्त्री, साहित्य, रत्न ने कल्पसूत्र के सम्बन्ध में बहुप्रचलित भ्रान्तियाँ एव अज्ञानमूलक धारणाओं का परिष्कार तथा परिमार्जन ही नही किया, अपितु वह सत्य-तथ्य प्रकट किया जो आगम सम्मत है, इतिहास-सिद्ध है और प्रामाणिक ग्रन्थो से प्रमाणित है, एतदर्थ यह ग्रन्थरत्न नयी पीढी के नये विचारशील मनीषी युवको के लिए तथा श्रद्धाशील वृद्धों के लिए, एव भावनाशील महिलाओ के लिए पठनीय तथा मननीय है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादक, श्रमण संघीय गम्भीर तत्त्व चिन्तक, प्रसिद्ध वक्ता, पण्डित प्रवर परम श्रद्धेय श्री पुष्कर मुनि जी म० के सुयोग्य शिष्य श्री देवेन्द्र मुनि जी हैं। वे कुशल लेखक, सुयोग्य सम्पादक एवं मधुर प्रवक्ता है। उनके द्वारा लिखित ऋषभदेव : एक परिशीलन, धर्म और दर्शन, सस्कृति के अचल मे, चिन्तन की चाँदनी साहित्य और संस्कृति प्रभृति ग्रन्थ अत्यधिक लोकप्रिय हुए है। मुनि श्री द्वारा सम्पादित दो दर्जन से भी अधिक ग्रन्थ हिन्दी, गुजराती एवं राजस्थानी भाषा में प्रकाशित हो चुके है। अन्य आवश्यक लेखन कार्य मे अत्यन्त व्यस्त होने पर भी हमारे प्रेम भरे आग्रह को सम्मान देकर कल्पसूत्र का अत्यन्त श्रम के साथ और हमारी भावना के अनुरूप सम्पादन किया, तदर्थ हम ग्रन्थ के दिशा-निर्देशक सद्गुरुवर्य श्री पुष्कर मुनि जी म० के व सम्पादक देवेन्द्र मुनि जी के अत्यन्त आभारी हैं।

ग्रन्थ को मुद्रणकला की दृष्टि से अधिकाधिक शुद्ध व सुन्दर बनाने में तथा प्रूफ सशोधन में श्रीचन्द्र जी सुराणा 'सरस' का मधुर सहयोग सम्प्राप्त हुआ है तथा सम्पादन आदि के लिए ग्रन्थोपलब्धि में श्री अमर जैन ज्ञान भण्डार, खा डप, श्री जिनदत्त सूरि ज्ञान-मन्दिर, गढ़ सिवाना, श्री तारक गुरु ग्रन्थालय, पदराडा का स्नेहपूर्ण सहकार प्राप्त हुआ है जो सदा स्मरणीय रहेगा। साथ ही अर्थ सहयोगियो का उदार सहयोग विस्मरण नही किया जा सकता, जिनके उदात्त सहयोग के कारण ही हम प्रस्तुत ग्रन्थ को इस रूप में प्रकाशित करवा सके हैं।

मुलतानमल रांका
मन्त्री
श्री अमर जैन आगम शोध संस्थान
गढ़ सिवाना, जि० बाडमेर
(राजस्थान)

कल्पसूत्र के प्रकाशन में

अर्थ-सहयोगी

२०००) श्रीमान् हस्तीमलजी जेठमल जी, जिनाणी, गढ़ सिवाना (मारवाड़)

२०००) श्रीमान् रिखबचन्द जी पारसमल जी जिनाणी, गढ़ सिवाना ,,

१०००) श्रीमान् सुखलाल जी छोगालाल जी जिनाणी, गढ़ मिवाना ,,

१०००) श्रीमान् दीपचन्द जी प्रेमचन्द जी जिनाणी, गढ़ सिवाना ,,

१०००) श्रीमान् मुलतानमल जी माणकचन्द जी रांका, गढ़ सिवाना ,,

१०००) श्रीमान् मुलतानमल जी हजारीमल जी गंका, गढ सिवाना ,,

७००) श्रीमान् धींगडमल जी मुलतानमल जी कानुगा, गढ़ सिवाना ,,

५००) श्रीमान् डूगरचन्द जी राजमल जी ललवाणी, गढ़ सिवाना ,,

★ अर्थ सहयोगियों की : परिचय रेखा

राजस्थानी इतिहास के निर्माण में सिवाना गढ़ की अपनी विशिष्ट देन रही है। इस भूखण्ड का अतीत अत्यन्त गौरवमय रहा है। राजपूत संस्कृति और आर्य धर्म का गढ समझा जाने वाला यह भूखण्ड परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर श्री अमरसिंह जी महाराज एव उनकी परम्परा के श्रद्धास्पद मुनि पुङ्गवों की साधनाभूमि रहा है। धार्मिक दृष्टि से सिवानागढ का महत्त्व अक्षुण्ण है। महानुयोगी श्री जेष्ठमल जी महाराज, तपोमूर्ति श्री हिन्दुमल जी महाराज एवं महास्थविर श्री ताराचन्द्र जी महाराज से संबद्ध धर्ममूलक कथाएँ, पुण्य संस्मरण आज भी जन मानस में अनुप्राणित हैं। उनका सिवाना गढ़ से घनिष्ट संपर्क रहा है, बल्कि कहना चाहिए, सिवाना गढ इन महापुरुषों के धार्मिक और सांस्कृतिक साधना का केन्द्र ही था। वे अनेक बार पधारे और वर्षावास किये तथा अपनी चारित्रिक-सौरभ मे जन-मानस को प्रभावित करते रहे। आज भी परम श्रद्धेय गुरुदेव, प्रसिद्ध वक्ता पण्डित प्रवर श्री पुष्कर मुनि जी महाराज की गढ़सिवाना पर अपार कृपा दृष्टि है।

रांका परिवार :

सिवानागढ का रांका परिवार अतीत काल से ही धर्मनिष्ठ रहा है। इस परिवार के अनेकों व्यक्तियो ने जैनेन्द्री दीक्षा ग्रहण की है और अपने जीवन को साधना के द्वारा स्वर्ण की तरह निखारा है। सत्तरहवी शताब्दी मे श्री सोमचन्द्र जी रांका ने और उगणीसवीं शताब्दी में अक्षयचन्द्र जी ने, एव श्री हिन्दूमल जी ने आर्हती दीक्षा ली है। हिन्दू मल जी महाराज एक तपोनिष्ठ सन्त रत्न थे। उनकी त्यागनिष्ठा अपूर्व थी, संयम संग्रहण करने के साथ ही उन्होंने पांचों विगय का यावत् जीवन पर्यन्त के लिए त्याग कर दिया था। उनकी पुत्रवधू ने भी संयम को स्वीकार कर अपने जीवन को पावन बनाया था

श्रीमान् मुल्तानमल जी माणकचन्द जी रांका :

श्री मुलतानमल जी रांका जिनकी प्रबल प्रेरणा के कारण ही प्रस्तुत ग्रन्थ ने मूर्तरूप धारण किया, वे एक प्रतिभा सम्पन्न, विवेक निष्ठ श्रद्धालु श्रावक हैं। सर्वप्रथम स्थानकवासी जैन समाज में कल्पसूत्र को प्रकाशित करवाने का श्रेय आपको ही है, आपकी ही प्रेरणा से स्वर्गीय उपाध्याय श्री प्यारचन्द जी महाराज ने कल्पसूत्र तैयार किया था, और वह पत्राकार जैनोदय प्रेस से मुद्रित हुआ था। वह संस्करण कभी का समाप्त हो चुका था और समाज की ओर से प्रतिदिन मांग बढ़ती हुई देखकर आपने श्रद्धेय सद्गुरुदेव प्रसिद्ध वक्ता, गम्भीर तत्त्वचिन्तक पण्डित प्रवर श्री पुष्कर मुनि जी महाराज के सुशिष्य अनेक

ग्रन्थों के लेखक एवं सम्पादक श्री देवेन्द्र मुनि जी शास्त्री से प्रार्थना की और मुनि श्री ने अत्यन्त परिश्रम के साथ नवीन शैली से यह ग्रन्थ तैयार किया।

श्री मुलतानमल जी रांका की धर्मपत्नी धर्मानुरागिणी प्यारकुँवर बहिन ने उभरते हुए यौवन मे जब दीक्षा ग्रहण करना चाहा तब अपनी इच्छा से आपका द्वितीय पाणिग्रहण श्री राजमल जी भंसाली की सुपुत्री डाई बाई के साथ करवाया और असार संसार को छोड़कर, पति के प्यार से मुख मोडकर, विदुषी महामती श्री किस्तुरकुँवर जी के पास दीक्षा ग्रहण की। छः वर्ष तक उत्कृष्ट सयम-साधना कर डग (झालावाड) गाँव में सथारा संलेखना कर स्वर्गस्थ हुई। श्री रांका जी के वर्तमान मे एक पुत्र हैं, जिनका नाम श्री माणिकचन्द जी हैं और चार पुत्रियां है। सक्षेप में कहा जाय तो श्री मुलतानमल जी रांका सिवाना गढ के स्थानकवासी समाज के गौरव है। प्रस्तुत प्रकाशन में १००१ रुपये प्रदान कर साहित्यिक सुरुचि एव उदारता का परिचय दिया है।

श्रीमान् मुलतानमल जी हजारीमल जी रांका :

ये भी गढ़ सिवाना के निवासी थे, बड़े ही समझदार, विवेकशील व धर्मप्रेमी थे। अभी-अभी आपका अकस्मात् स्वर्गवास हो गया। आपका व्यवसाय मेसूर स्टेट मे बल्लारी ग्राम में था, आप एक कुशल व्यापारी थे, बल्लारी में जैन स्थानक के भव्य-भवन के निर्माण कराने मे आपका पूर्ण सहयोग रहा। अनेक बाधाओ के बावजूद भी आपने स्थानक का कार्य पूर्ण करके ही छोड़ा। कल्पसूत्र के निर्माण मे १००१ रुपये का सहयोग प्रदान कर शास्त्र प्रेम का परिचय दिया।

बागरेचा परिवार :

सिवानागढ के रांका परिवार की तरह ही बागरेचा (जिनाणी) परिवार का भी धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक दृष्टि से बहुत महत्त्व रहा है। सामाजिक दृष्टि से ही नही, धार्मिक दृष्टि से भी यह परिवार सदा अगुआ रहा है। सन्त भगवन्तो की ही नही, अपितु श्रद्धालु स्वधर्मी बन्धुओ की भी सेवा-शुश्रूषा करना इस परिवार को अत्यधिक प्रिय रहा है।

स्वर्गीय सुश्रावक भभूतमल जी एक धर्म प्रेमी श्रावक थे, जो स्वभाव से भद्र और प्रकृति से विनीत थे। जिन्होने जीवन की सान्ध्य वेला मे सथारा कर समाधि पूर्वक आयु पूर्ण किया था। उनके चार सुपुत्र थे, श्री छोगालाल जी, चुनीलाल जी, मिश्रीमल जी और हस्तीमल जी, ये चारो भाई पूज्य पिता की तरह ही धर्म निष्ठ थे। आगे तीन भाई तो स्वर्गस्थ हो चुके हैं, केवल हस्तीमल जी साहब इस समय उपस्थित हैं।

श्रीमान् हस्तीमल जी जेठमल जी :

आप प्रकृति से बड़े उदार, मिलनसार तथा धर्मनिष्ठ हैं। आपकी आगम स्वाध्याय के प्रति सहज निष्ठा है तथा स्तोक (थोकड़े) साहित्य का आपका गहरा अभ्यास है। आप वर्षों तक सिवाना गढ के स्थानकवासी संघ के मंत्री रहे हैं। आपकी तरह आपके सुपुत्र

जेठमल जी धर्म प्रेमी आगम अभ्यासी हैं । श्रीमान् हस्तीमल जी साहब ने प्रस्तुत प्रकाशन में दो हजार रु० प्रदान कर अपनी आगम अभिरुचि का परिचय दिया है ।

श्रीमान् छोगालाल जी :

श्रीमान् छोगालाल जी साहब वर्तमान में हमारे सामने नहीं हैं, किन्तु उनकी पुण्य स्मृति आते ही हृदय गद्‌गद् हो जाता है । क्या थी उनमें अतिथि सत्कार की उत्कट भावना ! और क्या थी उनमें मुनियों के प्रति गजब की निष्ठा ! वर्तमान मे आपके तीन पुत्र हैं— (१) श्री सुखराज जी । (२) श्री घेवरचन्द जी और (३) श्री लालचन्द्र जी ।

श्रीमान् सुखराज जी :

श्री सुखराज जी साहब एक बहुत ही मधुर प्रकृति के व्यक्ति हैं । हृदय से उदार हैं और मन से साफ हैं । आगम-व स्तोक साहित्य के अच्छे अभ्यासी हैं । आपकी धार्मिक भावना प्रशसनीय है । आपका व्यवसाय बेंगलोर, मद्रास, और बम्बई में वागरेचा एण्ड कम्पनी के नाम से चलता है । आपके दोनों लघुभ्राता भी धर्म प्रेमी व श्रद्धालु श्रावक हैं । श्री सुखराज जी साहब ने कल्पसूत्र के प्रकाशन में एक हजार का अर्थ सहयोग दिया है । आप बेंगलोर में भी श्रावक संघ के अध्यक्ष व उपाध्यक्ष पदों पर रह चुके हैं ।

स्वर्गीय श्री चुन्नीलाल जी के सुपुत्र चनणमल जी एक उत्साही, धर्म प्रेमी सज्जन हैं ।

श्रीमान् मिश्रीमल जी और उनके सुपुत्र :

श्री मिश्रीमल जी साहब का भौतिक देह भी आज हमारे सामने नही है, पर आपकी मधुर स्मृति मानस पटल पर अंकित है । आपने वीर पुरुष की तरह संथारा कर अपने जीवन को सफल किया था । आपके वर्तमान में दो पुत्र हैं जिनका नाम क्रमशः श्री ऋषभ चन्द जी और पारसमल जी हैं । दोनों भाई पूज्य पिता की तरह ही धर्मनिष्ठ हैं, और बहुत ही उदार हैं, आपने भी प्रस्तुत कल्पसूत्र के प्रकाशन में दो हजार रुपये प्रदान किये हैं ।

श्रीमान् प्रेमचन्द जी :

स्वर्गस्थ श्री प्रेमचन्द जी वागरेचा बहुत ही मधुर स्वभाव के सज्जन थे । धर्म के प्रति उनके मन में अटूट श्रद्धा थी, सन्तों के प्रति गहरी भक्ति थी । आपके चार पुत्र हैं (१) हरखचन्द जी (२) दीपचन्द जी (३) राणमल जी, और (४) देवीचन्द जी ।

श्री दीपचन्द जी :

श्री दीपचन्द जी एक उत्साही युवक हैं । पूज्य पिता की तरह ही आपकी धार्मिक भावना है । साहित्य के प्रति सहज अभिरुचि है । आपने १००१ रुपये कल्प सूत्र के लिए प्रदान किये हैं । इस प्रकार वागरेचा परिवार की ओर से ६ हजार रुपये कल्पसूत्र के लिए प्राप्त हुए हैं ।

श्री धीगड़मल जी कानुगा :

रांका और वागरेचा परिवार की तरह ही सिवाना गढ़ का कानुगा परिवार भी एक समृद्ध परिवार है । श्रीमान् मुलतानमल जी कानुगा के सुपुत्र श्री धीगड़मल जी साहब

कानुगा एक सुलझे हुए विचारक एवं समझदार युवक हैं। आपकी धार्मिक भावना सराहनीय है। आपका धार्मिक अध्ययन अच्छा है। आपका व्यवसाय अहमदाबाद में है। पूज्य श्री घासीलाल जी महाराज के शास्त्र प्रकाशन मे भी आपने अच्छा सहयोग दिया है। कल्पसूत्र के प्रकाशन में आपने ७०१ रुपये का अर्थ सहयोग दिया है।

श्रीडुंगरचन्द जी ललवाणी :

सिवाना गढ़ के सांस्कृतिक धार्मिक, एवं सामाजिक उत्थान में ललवाणी परिवार का योगदान भी अपूर्व रहा है। श्रीमान् राजमल जी ललवाणी के सुपुत्र श्री डुंगरचन्द जी ललवाणी एक विवेक निष्ठ धर्मप्रेमी युवक सज्जन हैं। त्याग व सयम के प्रति इनमें गहरी आस्था है। सन् १९६५ में श्रद्धेय सद्गुरुवर्य श्री पुष्कर मुनि जी महाराज के पास श्री पूनमचन्द जी गुमानमलजी दोशी, वडु (मारवाड) निवासी के सुपुत्र बालब्रह्मचारी रमेश कुमार जी और राजेन्द्र कुमार जी की दीक्षाएँ गढ़ सिवाना में बड़े उत्साह के साथ सम्पन्न हुई थीं, उसमें श्री रमेशकुमार जी की दीक्षा आपके घर से हुई थी और उनकी मातेश्वरी धापकुंवर बहिन की दीक्षा खाण्डप में चन्दनबाला श्रमणी सघ की अध्यक्षा त्यागमूर्ति स्वर्गीया महासती श्री सोहनकुवंर जी महासती की सुशिष्या परम विदुषी महासती पुष्पवती जी, प्रतिभामूर्ति प्रभावती जी म० के पास सम्पन्न हुई थी। उनका नाम महासती प्रकाशवती जी हैं। प्रस्तुत कल्पसूत्र के प्रकाशन मे ललवाणी जो ने ५०१ का अर्थ सहयोग प्रदान किया है।

सर्व प्रथम स्वाध्यायी संघ, गुलाबपुरा ने एक साथ कल्पसूत्र की १०० प्रतियां अग्रिम लेकर हमारे उत्साह को बढाया है।

हम उन सभी सज्जनों को हार्दिक धन्यवाद देते हैं, जिन्होंने अत्यधिक उदारता के साथ अपनी स्वेच्छा से प्रस्तुत प्रकाशन के लिए अर्थ सहयोग प्रदान किया व श्री अमर जैन आगम शोध सस्थान का निर्माण किया। प्रस्तुत सस्थान मरुधर देश में सर्व प्रथम स्थानकवासी जैन धर्म का प्रचार करने वाले आचार्य सम्राट् श्री अमरसिंह जी महाराज के स्मृति में स्थापित किया जा रहा है। प्रस्तुत संस्थान का उद्देश्य स्थानकवासी जैन धर्म का प्रचार करना है। कल्पसूत्र इस संस्थान का प्रथम प्रकाशन है। अन्तगड सूत्र इसी प्रकार नव्य-भव्य रूप में द्वितीय पुष्प के रूप में अर्पित करने का सस्थान का विचार है, अतः हम भविष्य में भी आप सभी के उदार सहयोग की मगल कामना करते है।

मन्त्री,

श्री अमर जैन आगम शोध संस्थान

गढ़ सिवाना (राजस्थान)

प्रस्तावना

नन्दीसूत्र मे आगम साहित्य की सविस्तृत सूची प्राप्त होती है। आगम की जितनी भी शाखाएं है, उनका निरूपण उसमें किया गया है। प्रथम आगम को अंग प्रविष्ट और अग बाह्य मे विभक्त कर फिर अंग बाह्य और आवश्यक व्यतिरेक इन दो भागो मे विभक्त किया है, उसके पश्चात् आवश्यक व्यतिरेक के भी दो भेद किये हैं, कालिक और उत्कालिक। कालिक श्रुत की सूचि मे एक कल्प का नाम आया है जो वर्तमान मे बृहत्कल्प के नाम से जाना पहचाना जाता है, और उत्कालिक श्रुत की सूची मे 'चुल्लकल्पश्रुत' और 'महाकल्पश्रुत' इन दो कल्पसूत्रो के नाम आये है। पं० गणि श्री कल्याणविजय जी का मानना है कि महाकल्प को विच्छेद हुए हजार वर्ष से भी अधिक समय हो गया है और 'चुल्ल-कल्पश्रुत को आज पर्युषणा कल्पसूत्र कहते है।[1] परन्तु लेख मे मुनि श्री कल्याणविजय जी ने कोई प्राचीन ग्रन्थ का आधार प्रस्तुत नहीं किया।

आगम प्रभावक प० मुनि श्री पुण्यविजय जी का अभिमत है कि 'महाकल्प' और चुल्लकल्प ये आगम नन्दीसूत्रकार देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के समय मे भी नही थे। उन्होने उस समय कुछ यथाश्रुत एवं कुछ यथादृष्ट नामो का सग्रह मात्र किया है। अतः 'चुल्लकल्प श्रुत' को पर्युषणा कल्पसूत्र मानने का मुनि श्री कल्याणविजय जी का अभिमत युक्तियुक्त और आगम सम्मत नही है।[2]

स्थानाङ्ग सूत्र मे दशाश्रुत स्कध का नाम 'आयार दसा (आचार दशा) दिया है। उसके दस अध्ययन है, उसमे आठवा अध्ययन पर्युषणा कल्प है।[3] जो वर्तमान मे पर्युषणा कल्पसूत्र है, वह दशाश्रुत स्कंध का ही आठवा अध्ययन है।

दशाश्रुतस्कंध की प्राचीनतम प्रतिया (१४वी शताब्दी से पूर्व की) जो पुण्यविजय जी महाराज के सौजन्य से मुझे देखने को मिली है, उसमे आठवे अध्ययन मे पूर्ण कल्पसूत्र आया है। जो यह स्पष्ट प्रमाणित करता है कि कल्पसूत्र कोई स्वतंत्र एव मनगढन्त रचना नही है, अपितु दशाश्रुतस्कंध का ही आठवा अध्ययन है।

दूसरी बात दशाश्रुतस्कध पर जो द्वितीय भद्रबाहु की निर्युक्ति है, जिनका समय विक्रम की छठी शताब्दी है, उसमे और उस निर्युक्ति के आधार से निर्मित चूर्णि मे, दशाश्रुतस्कंध के आठवें अध्ययन मे जो वर्तमान मे पर्युषणा कल्पसूत्र प्रचलित है, उनके पदो की व्याख्या मिलती है। मुनि श्री पुण्यविजय जी का अभिमत है कि दशाश्रुतस्कध की चूर्णि लगभग सोलह सौ वर्ष पुरानी है।[4]

१. प्रबध पारिजात, मुनि कल्याणविजय जी पृ० १४३
२. लेखक के नाम लिखे पत्र का सक्षिप्त साराश, पत्र सं० २०२४ वैशाख शुदि ५ शुक्रवार अहमदाबाद से।
३. आचारदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता। त जहा—वीसं असमाहिठाणा, एगवीस सबला, तेतीस आसायणाता, अट्ठविहा गणिसपया, दस चित्तसमाहिठाणा, एगारस उवासगपडिमातो, बारस भिक्खुपडिमातो पज्जोसवणकप्पो, तीसं मोहणिज्जठाणा, आजाइट्ठाणं। —स्थानाङ्ग १० स्थान
४. कल्पसूत्र, प्रस्तावना पृ० ८

प्रश्न हो सकता है कि आधुनिक दशाश्रुतस्कंध की प्रतियों में कल्पसूत्र क्यो नही मिलता ? इसका उत्तर यही है कि जब से कल्पसूत्र का वाचन पृथक् प्रारंभ हुआ तब से स्थानशून्यार्थं उसमें सक्षिप्त कर दिया गया होगा। यदि पहले से ही संक्षिप्त होता तो निर्युक्ति और चूर्णि मे उनके पदो की व्याख्या कैसे आती ?

स्थानकवासी जैन समाज दशाश्रुत स्कंध को एक प्रामाणिक आगम स्वीकार करता है, तो कल्पसूत्र उसी का एक विभाग होने के कारण उसे अप्रामाणिक मानने का कोई कारण नही है। मूल कल्पसूत्र मे ऐसा कोई प्रसंग और न घटना हो आयी है जो स्थानकवासी जैन परम्परा की मान्यता के विपरीत हो। श्रमण भगवान् महावीर की जीवन झाकी का वर्णन आचाराग के द्वितीय श्रुतस्कध के साथ मिलता जुलता है। भगवान् ऋषभदेव का वर्णन भी जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति से विपरीत नहीं है, अन्य तीर्थ करो का वर्णन जैसा सूत्र रूप मे अन्य आगम साहित्य में बिखरा पडा है, उसी प्रकार का इसमे भी है। समाचारी का वर्णन भी आगम सम्मत है। स्थविरावली का निरूपण भी कुछ परिवर्तन के साथ नन्दी सूत्र में आया ही है, अतः हमारी दृष्टि से कल्पसूत्र को प्रामाणिक मानने मे बाधा नही है।

पाश्चात्य विचारकों का यह अभिमत हैं कि कल्पसूत्र मे चौदह स्वप्नों का आलंकारिक वर्णन पीछे से जोड़ा गया है, एवं स्थविरावली तथा समाचारी का कुछ अंश भी बाद मे प्रक्षिप्त किया गया है। पं० पुण्यविजय जी का मन्तव्य है कि उन विचारको के कथन मे अवश्य ही कुछ सत्य तथ्य रहा हुआ है, क्योंकि कल्पसूत्र की प्राचीनतम प्रति वि० स० १२४७ की ताडपत्रीय प्राप्त हुई है, उसमे चौदह स्वप्नों का वर्णन नही है और कुछ प्राचीन प्रतियो मे स्वप्नों का वर्णन आया भी है तो अति संक्षिप्त रूप से आया है। निर्युक्ति, चूर्णि एवं पृथ्वीचन्द्र टिप्पण आदि मे भी स्वप्न सम्बन्धी वर्णन की व्याख्या नहीं है, परन्तु इतना निश्चित है कि जो आज कल्पसूत्र मे स्वप्न सम्बन्धी आलंकारिक वर्णन है वह एक हजार वर्ष से भी कम प्राचीन नहीं हैं, यह किसका निर्मित है यह अन्वेषणीय है।[५]

कल्पसूत्र को निर्युक्ति, चूर्णि आदि से यह सिद्ध हैं कि इन्द्र आगमन, गर्भसंक्रमण, अट्ट, णशाला, जन्म, प्रीतिदान, दीक्षा, केवल ज्ञान, वर्षावास-निर्वाण अन्तकृतभूमि आदि का वर्णन उसके निर्माण के समय कल्पसूत्र मे था और यह भी स्पष्ट है कि जिनचरितावली के साथ उस समय स्थविरावली और समाचारी विभाग भी था।[६]

---

५. कल्पसूत्र—प्रस्तावना—पृ० ६ का साराश

६. पुरिमचरिमाण कप्पो, मंगल्लं वद्धमाणतित्थम्मि।
इह परिकहिया जिण-गणहराइथेरावलि चरित्तं।

--कल्पसूत्र निर्युक्ति गा० ६२

पुरिमचरिमाण य तित्थगराणं एस मग्गो चेव जहा वासावासं पज्जोसवेयव्वं पडतु वा वासं मावा मज्झिमगाणं पुण भयितं। अवि य वद्धमाणतित्थम्मि मंगलणिमित्तं जिणगणहर (राईथेरा) वलिया सव्वेसिं च जिणाणं समोसरणाणि परिकहिज्जंति।

—कल्पसूत्र चूर्णि प० १०१, पुण्यविजय जी सम्पादित

यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि स्थविरावली मे जो देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण तक के नाम आये हैं, वे श्रुतकेवली भद्रबाहु के द्वारा वर्णित नही है, अपितु आगम वाचना के समय इसमें संकलित कर दिये गये हैं।

मुनि श्री पुण्यविजय जी के अभिमतानुसार समाचारी विभाग में 'अंतरा वि से कप्पई नो से कप्पइ तं रयणि उवायणावित्तए" यह पाठ, संभवत आचार्य कालक के पश्चात् का बनाया गया हो।

संक्षेप मे सार यह है—श्रुतकेवली भद्रबाहु के रचित कल्पसूत्र मे अन्य आगमो की तरह कुछ अंश प्रक्षिप्त हुआ है। प्रक्षिप्त अंश को देखकर श्री बेवर ने जो यह धारणा बनायी कि कल्पसूत्र का मुख्य भाग देवर्द्धिगणी के द्वारा रचित है[७], और मुनि अमरविजय जी के शिष्य चतुरविजय जी ने द्वितीय भद्रबाहु की रचना मानी है[८], यह कथन प्रामाणिक नही है।

आज अनेकानेक प्रमाणो से यह सिद्ध हो चुका है कि कल्पसूत्र श्रुतकेवली भद्रबाहु की रचना है, जब दशा श्रुत स्कन्ध भद्रबाहु निर्मित है, तो कल्पसूत्र उसी का एक विभाग होने के कारण वह भद्रबाहु का ही निर्मित है, वा निर्यूढ है।[९]

यहां पर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि श्रुतकेवली भद्रबाहु ने दशाश्रुतस्कन्ध आदि जो आगम लिखे है, वे कल्पना की उडान मे नही लिखे है अपितु उन्होने दशाश्रुतस्कध, निशीथ, व्यवहार, और बृहत्कल्प ये सभी आगम नौवें पूर्व के, प्रत्याख्यान विभाग से उद्धृत किये हैं।[१०] पूर्व गणधरकृत है, तो ये आगम भी पूर्वो से निर्यूढ होने के कारण एक दृष्टि से गणधरकृत ही है।

दशाश्रुतस्कंध छेद सूत्र मे होने पर भी प्रायश्चित्त सूत्र नही है, किन्तु आचार सूत्र है एतदर्थ आचार्यों ने इसे चरणकरणानुयोग के विभाग मे लिया है।[११] छेदसूत्रो मे दशाश्रुतस्कध को मुख्य स्थान दिया गया है।[१२] जब दशाश्रुतस्कंध छेद सूत्रो मे मुख्य है, तो उसी का विभाग होने से कल्पसूत्र की मुख्यता स्वत: सिद्ध है। दशाश्रुतस्कंध का उल्लेख मूलसूत्र उत्तराध्ययन के इकतीसवें अध्ययन मे भी हुआ है।[१३]

---

७ इण्डियन एण्टीक्वेरी जि० २१ पृ० २१२-२१३

८. मंत्राधिराज-चिन्तामणि—जैन स्तोत्र संदोह, प्रस्तावना पृ० १२-१३, प्रकाशक-साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद सन् १९३६।

९. (क) वंदामि भद्दबाहुं पाईणं चरिमसयलसुयणाणि
सुत्तस्स कारगमिसि दसासु कप्पे य ववहारे। —दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति गा० १

(ख) तेण भगवया आयारपकप्प दसाकप्प ववहारा य नवमपुव्वनीस दभूता निज्जूढा।
—पंचकल्पभाष्य गाथा २३ चूर्णि

१०. कतरं सुत्तं ? दसाउकप्पो ववहारो य। कतरातो उद्धृत ? उच्यते—पच्चक्खाणपुव्वाओ।
—दशाश्रुतस्कंध चूर्णि पत्र २

११. इहं चरणकरणाणुओगेण अधिकारो। —दशाश्रुतस्कंध, चूर्णि पत्र २

१२. इमं पुणच्छेयसुत्तपमुहभूतं। —दशाश्रुतस्कंध, चूर्णि, पत्र २

१३. पणवीसभावणाहि, उद्देसेसु दसाइणं।
जे भिक्खु जयई निच्चं से न अच्छई मण्डले। —उत्तराध्ययन अ० ३१ गा० १७

निर्युक्ति-चूर्णि

कल्पसूत्र की सबसे प्राचीन व्याख्या निर्युक्ति और चूर्णि है। निर्युक्ति गाथा रूप है और चूर्णि गद्य रूप है। दोनो की भाषा प्राकृत है। निर्युक्ति के रचयिता द्वितीय भद्रबाहु हैं। चूर्णि के रचयिता के सम्बन्ध में अभी कोई निर्णय नही हो सका है।

कल्पान्तर्वाच्य

निर्युक्ति और चूर्णि के पश्चात् कल्पान्तर्वाच्य प्राप्त होते है। ये व्याख्या ग्रन्थ नही हैं, अपितु वक्ता कल्पसूत्र का वाचन करते समय प्रवचन को रसप्रद बनाने के लिए अन्यान्य ग्रन्थों से जो नोट्स लेता था उन्हे ही कल्पान्तर्वाच्य की संज्ञा दी गयी है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि जितने कल्पान्त र्वाच्य प्राप्त होते है वे सभी एक को ही प्रतिलिपियाँ नहीं है, अपितु विविध लेखको ने अपनी-अपनी दृष्टि से उनको तैयार किये हैं। कुछ लेखक तपागच्छीय, कुछ खरतरगच्छीय और कुछ अंचलगच्छीय रहे हैं। क्योकि साम्प्रदायिक मान्यताओं के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है। एक कल्पान्तर्वाच्य को श्री सागरानन्द सूरि ने 'कल्प समर्थन' के नाम से प्रसिद्ध करवाया है।

टीकाएँ—

जैनाचार्यों ने संस्कृत वाङ्मय की अत्यधिक अभिवृद्धि देखकर आगमों पर भी संस्कृत भाषा में टीकाएँ लिखी। कल्पसूत्र की टीकाओं मे निर्युक्ति और चूर्णि के प्रयोग के साथ ही अपनी ओर से लेखको ने उसमें बहुत कुछ नया संदर्भ मिलाया है।

सन्देह विषौषधि कल्पपंजिका—इस टीका के रचयिता 'जिनप्रभसूरि' हैं। वृहट्टिप्पनिका के अभिमतानुसार टीका का रचना काल सं० १३६४ है। श्लोक परिमाण २५०० के लगभग है। भाषा प्रौढ है, कही-कही अनागमिक वर्णन भी आ गया है।[१४] इन्होंने भगवान् महावीर के षट्कल्याणको की चर्चा भी की है।

कल्प-किरणावली—इस टीका के निर्माता तपागच्छीय उपाध्याय श्री धर्मसागरजी हैं। विक्रम सं० १६२८ मे इसका निर्माण हुआ है। श्लोक परिमाण ४८१४ है। इस टीका की परिसमाप्ति राधनपुर मे हुई है। इतिवृत्त सम्बन्धी अनेक भूलें टीका मे दृष्टिगोचर होती हैं। इस पर सन्देहविषौषधी टीका का स्पष्ट प्रभाव भी परिलक्षित होता है।

प्रदोपिका वृत्ति—इसके टीकाकार पन्यास संघविजय हैं। टीका का परिमार्जन उपाध्याय धनविजय जी ने १६८१ में किया था। श्लोक परिमाण ३२५० है। टीका की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि लेखक खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति से अलग-थलग रहा है। पूर्व टीकाओ की तरह इस टीका में भी कुछ स्थलो पर त्रुटियाँ अवश्य हुई हैं।

कल्पदीपिका—इस टीका के लेखक पं० पन्यास जयविजयजी हैं और संशोधन कर्त्ता हैं भाव विजयगणी। सं० १६७७ के कार्तिक शुक्ला सप्तमी को यह टीका समाप्त हुई है। लेखक ने प्रशस्ति मे अपने गुरु का नाम उपाध्याय विमल हर्ष दिया है। श्लोक परिमाण ३४३२ है, भाषा प्राञ्जल है।

---

१४. प्रबन्ध पारिजात—मुनि कल्याण विजय, प० १५७

अपने मन्तव्यों के विरुद्ध विषयों का खण्डन भी किया है, पर मधुरता, शिष्टता एवं तर्क के साथ, जिससे पाठक को अखरता नहीं है।

कल्प प्रदीपिका—इस टीका के रचयिता संघविजय है। विक्रम सं० १६७६ में यह टीका-समाप्त हुई है।

कल्प सुबोधिका—इस टीका के लेखक उपाध्याय विनयविजय जी हैं। विक्रम सं० १६६६ मे यह टीका निर्मित की गयी है। पूर्व की सभी टीकाओ से प्रस्तुत टीका विस्तृत है। भाषा की सरलता एवं विषय की सुबोधता के कारण यह अन्य टीकाओं से अधिक लोकप्रिय हुई है। कल्प किरणावली और कल्प दीपिका टीकाओ का खण्डन भी यत्र-तत्र किया गया है, प्रशस्ति से स्पष्ट है कि टीका का संशोधन उपाध्याय भावविजय जी ने किया है।

कल्प कौमुदी—इस टीका के लेखक उपाध्याय शान्तिसागर जी हैं। विक्रम सं० १७०७ मे उन्होने यह टीका पाटण मे लिखी। श्लोक सख्या ३७०७ है। टीका में उपाध्याय विनयविजय जी की कटु आलोचना की गई है। उपाध्याय जी ने सुबोधिका टीका मे जो कल्प किरणावली टीका का खण्डन किया उसी का प्रत्युत्तर इसमें दिया गया है।

कल्प-व्याख्यान-पद्धति—इसके संकलनकार वाचक श्री हर्षसार शिष्य श्री शिवनिधान गणी है। इसमे पूर्ण कल्पसूत्र का अभाव है, मुनि श्री कल्याण विजय जी के अभिमतानुसार इसकी रचना १७ वी शताब्दी मे होनी चाहिए।

कल्पद्रुम कलिका—इस टीका के रचयिता खरतरगच्छीय उपाध्याय लक्ष्मीवल्लभ है। टीका मे कही पर भी रचना काल का निर्देश नही किया गया है। भगवान पार्श्व की जीवनी में सर्पयुगल की घटना, तथा भगवान के मुखारविन्द से महामंत्र सुनाने[१५] की घटनाएं श्वेताम्बर चरित्र ग्रन्थों से विपरीत है।

कल्पलता—इस टीका के रचयिता समयसुन्दर गणी है। विक्रम सं० १६६६ के आसपास उन्होने यह रचना की है। वृत्ति का ग्रन्थमान ७७०० श्लोक प्रमाण है। हर्षवर्धन ने इस टीका का संशोधन किया है।

कल्पसूत्र टिप्पनक—इसके रचयिता आ० पृथ्वीचन्दसूरि हैं। श्री पुण्यविजय जी के अभिमतानुसार वे चौदहवी शताब्दी मे होने चाहिए। श्लोक परिमाण ६८५ है।

कल्पप्रदीप—इस टीका के रचयिता संघविजय गणी हैं।

कल्पसूत्रार्थ प्रबोधनी—इस टीका के रचयिता अभिधानराजेन्द्र कोष के सम्पादक श्री राजेन्द्र सूरि है। टीका काफी विस्तृत है।

इन टीकाओं के अतिरिक्त कल्पसूत्र वृत्ति—उदयसागर। कल्पदुर्गपदनिरुक्ति, पर्युषणाष्टाह्निका व्याख्यान; पर्युषण पर्व विचार, कल्पमंजरी-रत्नसागर, कल्पसूत्र ज्ञान दीपिका—ज्ञानविजय, अवचूर्णि, अवचूरि, टब्बा आदि अनेक टीकाएं उपलब्ध होती हैं। डाक्टर हर्मन जेकोबी ने कल्पसूत्र का

---

१५. लेखक का ग्रंथ—'पार्श्वनाथ: एक अध्ययन' देखें।

इंग्लिश में अनुवाद प्रकाशित किया है और उस पर महत्त्वपूर्ण भूमिका भी लिखी है। स्थानकवासी मुनि उपाध्याय श्री प्यारचन्द जी म० ने संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद सहित कल्पसूत्र प्रकाशित किया है। सुत्तागमे के द्वितीय भाग में मुनि पुप्फभिक्खुजी ने भी मूल कल्पसूत्र छापा है। पूज्य पं० मुनि श्री घासीलालजी म० ने भी नवीन मौलिक कल्पसूत्र का निर्माण किया है। इस प्रकार कल्पसूत्र पर विशाल व्याख्या साहित्य समय-समय पर निर्मित हुआ है, जो उसकी लोकप्रियता का ज्वलंत प्रमाण है।

श्रमण भगवान् महावीर

●

डाक्टर विंटरनित्स के अभिमतानुसार कल्पसूत्र तीन भागों में विभक्त है, जिनचरित्र, स्थविरावली और समाचारी।

जिनचरित्र मे सर्वप्रथम श्रमण भगवान् महावीर की जीवन गाथा आयी है। भगवान् महावीर के गर्भ संक्रमण की घटना अत्यधिक विस्तार के साथ चित्रित की गई है। यह घटना बताती है कि श्रमण संस्कृति मे ही क्या वैदिक संस्कृति मे भी क्षत्रियों को ही अध्यात्म-विद्या का गुरु माना है।

दीघनिकाय में महात्मा बुद्ध ने कहा—"वाशिष्ठ। ब्रह्मा सनत्कुमार ने भी गाथा कही है—गोत्र लेकर चलने वाले जनो में क्षत्रिय श्रेष्ठ है। जो विद्या और आचारण से युक्त है, वह देव मानवों मे श्रेष्ठ है। वाशिष्ठ! प्रस्तुत गाथा सनत्कुमार ने ठीक कही है, गलत नही। सार्थक कही है, निरर्थक नही, मैं भी इसका अनुमोदन करता हूँ।"[१६]

छान्दोग्योपनिषद् में आरुणी के पुत्र श्वेतकेतु और प्रवाहण क्षत्रिय का मधुर संवाद है। संक्षेप मे सारांश यह है कि श्वेतकेतु सभा मे जाता है। प्रवाहण उससे पाच प्रश्न करता है, किन्तु वह एक भी प्रश्न का उत्तर नही दे सकता। तथा वह अपने विद्या गुरु पिता के पास जाता है और प्रवाहण के प्रश्नो को दुहराता है, किन्तु वह भी उन प्रश्नो के उत्तर नही जानता था। एतदर्थ वे राजा के पास गये और उनसे अपनी जिज्ञासा अभिव्यक्त की। तब राजा ने कहा—गौतम! तुमने मुझसे कहा है, पूर्व-काल मे तुमसे पहले यह विद्या ब्राह्मणों के पास नही गई है। इसी से सम्पूर्ण लोको मे क्षत्रियो का ही (शिष्यो के प्रति) अनुशासन होता रहा है।[१७]

तात्पर्य यह है कि क्षत्रियों की श्रेष्ठता रक्षात्मक शक्ति और आत्म-विद्या के कारण अत्यधिक मानी जाती थी।

वृहदारण्यक उपनिषद् में भी राजा प्रवाहण ने आरुणी से कहा—इसके पूर्व यह अध्यात्म विद्या किसी ब्राह्मण के पास नही रही, वह मैं तुम्हें बतलाऊँगा।[१८]

---

१६. दीघनिकाय ३।४, पृ० २४५

१७. यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति तस्मादुः सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति तस्यै हो वाच—छान्दोग्योपनिषद्। ५।३।१—७० पृ० ४७२—४७६।

१८. यथेयंविद्येतः पूर्वं न कस्मिश्चन ब्राह्मण उवास ता त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि।

—वृहदारण्यकोपनिषद् ६।२।८

विष्णु पुराण के अनुसार—प्रायः सभी मैथिल के राजा आत्म-विद्या को आश्रय देते थे।[१६]

ब्राह्मणों के ब्रह्मत्व पर करारा व्यंग करते हुए अजातशत्रु ने गार्ग्य से कहा—"ब्राह्मण क्षत्रिय की शरण में इस आशा से जाय कि वह मुझे ब्रह्म का उपदेश करेगा, यह तो विपरीत है, तथापि मैं तुम्हें उसका ज्ञान कराऊँगा ही।[२०]

कौशीतकी ब्राह्मण[२१], शतपथ ब्राह्मण[२२] आदि ग्रन्थो मे भी ब्राह्मणों से क्षत्रिय श्रेष्ठ है, यह प्रतिपादित किया है।

ब्राह्मण परम्परा में हिंसा का प्राधान्य था और क्षत्रिय परम्परा में अहिंसा का। अहिंसा प्रेमी होने के कारण क्षत्रिय अत्यधिक आदर की दृष्टि से देखा जाता था। 'संस्कृति के चार अध्याय' में रामधारी सिंह दिनकर लिखते हैं—"अवतारों मे वामन और परशुराम ये दो ही हैं, जिनका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था। बाकी सभी अवतार क्षत्रियों के वंश मे हुए है। वह आकस्मिक घटना हो सकती है, किन्तु इससे यह अनुमान आसानी से निकल आता है कि यज्ञों पर पलने के कारण ब्राह्मण इतने हिंसा प्रिय हो गए थे कि समाज उनसे घृणा करने लगा और ब्राह्मणो का पद उन्होने क्षत्रियों को दे दिया। प्रतिक्रिया केवल ब्राह्मण धर्म के प्रति ही नही, ब्राह्मणों के गढ कुरु पंचाल के खिलाफ भी जगी और वैदिक सभ्यता के बाद वह समय आ गया जब इज्जत कुरु पंचाल की नहीं, बल्कि मगध और विदेह की होने लगी। कपिल वस्तु में जन्म लेने के ठीक पूर्व जब तथागत स्वर्ग मे देवयोनि में विराज रहे थे, तब की कथा है कि देवताओं ने उनसे कहा कि—अब आपका अवतार होना चाहिए। अतएव आप सोच लीजिए कि किस देश और किस कुल में जन्म-ग्रहण कीजियेगा। तथागत ने सोच समझ कर बताया कि—महाबुद्ध के अवतार के योग्य तो मगधदेश और क्षत्रियवंश ही हो सकता है।"

"भगवान् महावीर वर्द्धमान भी पहले एक ब्राह्मणी के गर्भ मे आये थे। लेकिन इन्द्र ने सोचा—इतने बडे महापुरुष का जन्म ब्राह्मणवंश मे कैसे हो सकता हैं ? अतएव उसने ब्राह्मणी का गर्भ चुराकर उसे एक क्षत्रियाणी की कुक्षी मे डाल दिया। इन कहानियो का निष्कर्ष निकलता है कि उन दिनों यह अनुभव किया जाने लगा था कि अहिंसा धर्म का महाप्रचारक ब्राह्मण नही हो सकता, इसलिए बुद्ध और महावीर के क्षत्रिय वंश मे उत्पन्न होने की कल्पना लोगो को बहुत अच्छी लगने लगी।"[२३]

वृहदारण्यक उपनिषद मे भी आया है कि "क्षत्रिय से उत्कृष्ट कोई नही है। राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण नीचे बैठकर क्षत्रिय की उपासना करता है। वह क्षत्रिय मे ही अपने यश को स्थापित करता है।[२४]

---

१९. प्रायेणैत आत्मविद्याश्रयिणो भूपाला भवन्ति।

—विष्णुपुराण ४।५।३४

२०. वृहदारण्यकोपनिषद् २।१।१५

२१. कौशीतकी ब्राह्मण २६।५

२२. शतपथ ब्राह्मण ११वी कण्डिका

२३. संस्कृति के चार अध्याय पृ० १०-९-११०

२४. वृहदारण्यकोपनिषद् १।४।११, पृ० २६६

प्रस्तुत कथन की तुलना श्रमण भगवान महावीर के जीवन के उस प्रसंग से की जा सकती है—जब भगवान समवसरण में स्फटिक सिंहासन पर बैठते हैं उनके प्रमुख शिष्य गौतमादि जो वर्ण से ब्राह्मण हैं, वे नीचे बैठकर उनकी उपासना करते हैं, ज्ञान का अलौकिक प्रकाश प्राप्त करते है।[२५]

जिस प्रकार कल्पसूत्र में कहा है 'न ऐसा कभी हुआ है, न होता है और न होगा ही कि अरिहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव अथवा वासुदेव अन्त-प्रान्त, तुच्छ, कृपण, भिक्षुक और ब्राह्मण कुलों मे जन्मे थे, जन्मे हैं और जन्मेगे। अरिहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव उग्र, भोग, राजन्य, क्षत्रिय, हरिवंश कुल में या इसी प्रकार के उच्च कुल मे जन्मे थे, जन्मे हैं और जन्मेगे।[२६] इसी प्रकार बौद्ध ग्रन्थ ललित विस्तरा में भी कहा है—बोधि सत्त्व चाण्डाल कुल, वेणुकार कुल, रथकार कुल, पुक्कस कुल जैसे हीन कुलों में जन्म नहीं लेते। वे या तो ब्राह्मण कुल मे जन्म लेते है या क्षत्रिय कुल में। जब लोक ब्राह्मण-प्रधान होता है तो ब्राह्मण कुल मे जन्म लेते है और जब क्षत्रिय-प्रधान होता है तब क्षत्रिय कुल मे जन्म लेते हैं।[२७]

उपरोक्त चर्चा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि भारतीय सस्कृति मे क्षत्रिय का महत्त्व अधिक रहा है। जैन संस्कृति के सभी तीर्थंकर क्षत्रिय रहे है, वे आत्म-विद्या के पुरस्कर्त्ता एवं अहिंसा के प्रबल प्रचारक रहे हैं।

भगवान् महावीर के जीवन की दिव्य एवं भव्य झाकी स्वयं सूत्रकार ने प्रस्तुत की है। अत. पाठकों से अनुरोध है कि वे उसका रसास्वादन मूल ग्रन्थ से ही करें। और विशेष जिज्ञासु लेखक का 'महावीर जीवन दर्शन' ग्रन्थ देखें।

श्रमण भगवान् महावीर के सम्बन्ध में यह एक भ्रान्त धारणा चल रही है कि 'उन्होंने सर्वतंत्र स्वतंत्र धर्म की संस्थापना की थी, वे एक नये धर्म के प्रवर्तक थे,' पर यह बात सही नही है, उन्होंने किसी नये धर्म की सस्थापना नही की, पर जो पूर्व तीर्थंकरो की लम्बी परम्परा चली आ रही थी वे उसके उन्नायक थे, सुधारक थे, प्रचारक थे और उद्धारक थे। आचाराग मे स्वयं भगवान् ने कहा—जो अर्हत् हो चुके हैं, जो वर्तमान मे है और आगे होगे उन सबका यही निरूपण है कि किसी भी जीव की हिंसा न करो।[२८]

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि देश-काल के अनुसार तीर्थंकर की शासन व्यवस्था मे भेद भी होता है, पर सर्वथा ही भेद हो यह बात नही होती। भगवान् पार्श्व और महावीर की शासन व्यवस्था मे अनेक बातो में भेद रहा है, पर भेद मे भी अभेद अधिक था।

---

२५. आवश्यक नियुक्ति।
२६. कल्पसूत्र
२७ ललित विस्तरा पृ० २२
२८. आचारांग १।४।१

डाक्टर हर्मन जेकोबी भगवान् पार्श्व को ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं।[२९] उन्होंने जैनागमों के साथ ही बौद्ध पिटकों के प्रमाणों के प्रकाश मे यह सिद्ध किया कि भगवान् पार्श्व एक ऐतिहासिक पुरुष हैं। उनके इस कथन का समर्थन अन्य अनेक विद्वानो ने भी किया है। डाक्टर वासम के मन्तव्यानुसार 'भगवान् महावीर को बौद्ध पिटकों मे बुद्ध-प्रतिस्पर्द्धी के रूप मे उट्ङ्कित किया है, एतदर्थ उनकी ऐतिहासिकता असंदिग्ध है। भगवान् पार्श्वनाथ चौबीस तीर्थंकरो मे से तेवीसवें तीर्थंकर के रूप मे विश्रुत हैं।[३०] भगवान् पार्श्व का अस्तित्व काल ईस्वी पूर्व दसवी शताब्दी है। वे भगवान् महावीर के दो सौ पच्चास वर्ष पूर्व हुए थे।[३१] उनका जीवन काल सौ वर्ष का था। दिगम्बर आचार्य गुणभद्र के अभिमतानुसार भगवान् पार्श्व के परिनिर्वाण के २५० वर्ष पश्चात् भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ।[३२] यदि इस अभिमत को स्वीकार किया जाय तो पार्श्वनाथ का अस्तित्व ईस्वी पूर्व नौवी शताब्दी ठहरता है। ज जॅ कार्पेण्टियर का मन्तव्य है 'पार्श्व ऐतिहासिक पुरुष हैं और आज जैनधर्म के सच्चे स्थापनकर्ता के रूप में माने जाने लगे हैं। कहा जाता है कि महावीर से २५० वर्ष पूर्व उनका निर्वाण हुआ। वे संभवतः ईसा से पूर्व ८वी शताब्दी मे रहे होगे।[३३] एच० सी० राय चोधरी ने लिखा है "जैन तीर्थंकर पार्श्व का जन्म ईसा पूर्व ८७७ और निर्वाण काल ईसा पूर्व ७७७ है।[३४]

---

२९ That Parshva was a historical person, is now admitted by all as very probeble... .... —The Sacred Books of the East, Vol. XLV, Introduction p. 21.

३०. As he (Vardhamen Mahavira) is referrd to in the Buddhist scriptures as one of the Buddha's chief opponents his historicity is beyond doubt........ Parshva was remembered as the twenty third of the twentyfour great feachers or Tirthankaras 'ford-makers' of the Jaina Faith

—The Wonder that was India
(A. L Basham, B. A., Ph-D., F. R. A. S.)
Reprinted 1956, pp. 287-88.

३१ पासजिणाओ य होइ वीरजिणो।
अड्ढाइज्जसर्याह गर्याह चरिमो समुप्पन्नो। —आवश्यक निर्युक्ति, मलयगिरिवृत्ति पृ० २४१

३२ पार्श्वेशतीर्थसन्ताने पंचाशद्‌द्विशताब्दके।
तदभ्यन्तरवर्त्यायु-र्महावीरोऽत्र जातवान्। —महापुराण (उत्तर पुराण) पर्व ७४ पृ० ४६२
प्रका० भारतीय ज्ञानपीठ काशी

३३ कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया, जिल्द १ पृ० १५३ मे 'द' हिस्ट्री आव जैनाज।

३४. पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्सियन्ट इण्डिया पृ० ९७

हमारी दृष्टि से भ० पार्श्व के समय मे जो विद्वानो मे मतभेद दृष्टिगोचर होता है उसका मूल कारण किसी ने भ० पार्श्व का निर्वाण भ० महावीर से २५० वर्ष पूर्व माना है, किसी ने भ० पार्श्व के जन्म के २५० वर्ष पश्चात् महावीर का जन्म माना है और किसी ने भ० पार्श्व के जन्म के पश्चात् २५० वर्ष बाद भ० महावीर का निर्वाण माना है। —लेखक

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्परा के ग्रंथों के आधार से यह पूर्ण सिद्ध है कि भगवान पार्श्व की जन्मभूमि सुप्रसिद्ध काशी राष्ट्र की राजधानी वाराणसी थी। काशी नरेश अश्वसेन उनके पिता थे और वामा उनकी माता थी। पोष कृष्णा दशमी को उनका जन्म हुआ।[३५] आपके युग में तापस परम्परा का प्राबल्य था। अज्ञान तप को ही सच्चा और सही तप समझा जाता था। गृहस्थाश्रम में ही आपने पंचाग्नि तप करते हुए कमठ को अहिंसा का उपदेश दिया और धूनी में जलते हुए सर्प को नमस्कार महामंत्र सुनवाकर उसका उद्धार किया।[३६] संयम ग्रहण करने के पश्चात् उग्र साधना कर कैवल्यज्ञान प्राप्त किया। कुरु, कौशल, काशी, सुम्ह, अवन्ती, पुण्ड्र, मालव, अंग, बंग कलिंग, पाचाल, मगध, विदर्भ, भद्र, दशार्ण, सौराष्ट्र, कर्णाटक' कौंकण, मेवाड, लाट, द्राविड, काश्मीर कच्छ, शाक, पल्लव, वत्स, आभीर[३७] आदि प्रदेशों मे परिभ्रमण कर विवेक मूलक धर्म साधना के मार्ग को बताया। भगवान् पार्श्वनाथ के आत्मा, व्रत, आदि तात्त्विक विषयो का जन मानस पर इतना अधिक प्रभाव पडा कि वैदिक संस्कृति के उपासकों ने भी उसे अपनाया। भगवान पार्श्वनाथ के उपदेशो की स्पष्ट झांकी उपनिषदो मे भी आयी है। प्राचीनतम उपनिषद् भी पार्श्व के बाद के है।[३८]

डाक्टर विमलाचरण लॉ के अभिमतानुसार—'भगवान पार्श्व के धर्म का प्रचार भारत के उत्तरवर्ती क्षत्रियों में था और उसका प्रमुख केन्द्र वैशाली था।[३९] वृज्जिगण के प्रमुख महाराजा चेटक भगवान पार्श्व के धर्म का पालन करने वाले थे।[४०] भगवान महावीर के माता पिता पार्श्वनाथ की परम्परा के मानने वाले श्रमणोपासक थे।[४१]

---

३५. (क) पासनाह चरियं—देवभद्रसूरि
(ख) पार्श्वनाथ चरित्र-भावदेव सूरि

३६. तओ भगवया णिययपुरिसवयणेण दवाविओ से पञ्चणमोक्कारो पच्चक्खाणं च, पडिच्छियं तेण।
—चउप्पन्नमहापुरिस चरियं पृ० २६२

३७. सकलकीर्ति, पार्श्वनाथ चरित्र, १५।७६-८५।२३।१७-१६

३८. राधाकृष्णन्—इण्डियन फिलोसफी भाग १ पृ० १४२ 'ऐतरेय, कौशीतकी, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक—ये सभी उपनिषद् प्राचीनतम हैं। ये बुद्ध के पूर्व के हैं। इनका काल मान ईसा पूर्व दसवी शताब्दी से तीसरी शताब्दी तक माना जा सकता है।" —राधाकृष्णन्
(ख) दी प्रिंसिपल उपनिषदाज् पृ० २२
(ग) पोलिटिकल हिस्ट्री आँफ एन्सियन्ट इण्डिया, पृ० ५२, एच० सी० राय चौधरी
(घ) दी वेदाज, पृ० १४६-१४८ एफ० मेक्समूलर,

३९. Kshatriya claus in Buddhist India p. 82

४०. वेसालीए पुरीए सिरिपासजिणेससासणसणाहो
हेहयकुलसंभूओ चेडगनामानिवोअसि ॥
—उपदेशमाला श्लोक ९२

४१. समणस्स णं भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा समणोवासगा वाविहोत्था—
—आचारांग २, चूलिका ३, सू० ४०१

सुप्रसिद्ध बौद्ध धर्मानुय यी और विद्वान धर्मानन्द कौशाम्बी कहते हैं कि तथागत बुद्ध ने अपने पूर्व जीवन मे पार्श्वनाथ परम्परा का अनुसरण किया था।[४२]

आठवीं सदी के दिगम्बराचार्य देवसेन के अभिमतानुसार महात्मा बुद्ध प्रारंभ में जैन थे। जैनाचार्य पिहितास्रव ने सरयूनदी पर अवस्थित पलाश नामक ग्राम मे पार्श्व के संघ में उन्हें दीक्षा दी थी और उनका नाम 'बुद्धकीर्ति' रखा।[४३]

श्रीमती राइस डेविड्स के मन्तव्यानुसार बुद्ध सर्वप्रथम गुरु की अन्वेषणा मे वैशाली पहुँचे। वहां पर आचार और उदक से उनका सम्पर्क हुआ। उसके पश्चात् उन्होंने जैन धर्म की तपविधि का अभ्यास किया।

डाक्टर राधाकुमुद मुकर्जी का मानना है कि बुद्ध ने उस युग मे प्रचलित दोनों साधनाओं का आत्मानुभव के लिए अभ्यास किया। आचार और उदक के निर्देश से ब्राह्मण मार्ग का फिर जैन मार्ग का और उसके पश्चात अपने स्वतन्त्र साधना मार्ग का।[४४]

महात्मा बुद्ध ने जैन धर्म मे दीक्षा ग्रहण की या नही, इस प्रश्न को हम महत्त्व न भी दें तथापि यह स्पष्ट है कि उनके अहिंसा धर्म के उपदेश का मूल आधार भ० पार्श्वनाथ की परम्परा है, क्योंकि जिन शब्दो का प्रयोग किया है वे भगवान पार्श्व नाथ की परम्परा के अधिक सन्निकट है। महात्मा बुद्ध का मुख्य शिष्य मोद्गल्यायन भी पूर्व भगवान् पार्श्वनाथ की शिष्य परम्परा मे था।[४५] कपिलवस्तु मे भी भगवान् पार्श्व का धर्म फैला हुआ था। अंगुत्तर निकाय की अट्ठकथा के अनुसार गौतम बुद्ध के चाचा 'वप्प' निर्ग्रन्थ श्रावक थे।[४६] न्यग्रोधाराम मे उनके साथ बुद्ध का संवाद हुआ था।[४७]

भगवान् महावीर के शासन काल मे अनेक पार्श्वापत्यीय श्रावक व श्राविका थे जिनका उल्लेख आगमो मे एवं व्याख्या ग्रन्थो मे मिलता है।[४८] विस्तारभय से यहाँ उन सभी का उल्लेख नही किया जा रहा है।[४९]

---

४२ भारतीय संस्कृति और अहिंसा, तथा 'पार्श्वनाथ चा चातुर्याम धर्म, पुस्तकें

४३ सिरिपासणाहतित्थे, सरयूतीरे पलासणयरत्थो।
पिहियासवस्स सिस्सो, महासुदो बुड्ढकित्ति मुणी। —दर्शनसार ६

४४. हिन्दु सभ्यता, पृ० २३६

४५ धर्म परीक्षा, अध्याय १८

४६. अंगुत्तर निकाय की अट्ठकथा, भाग २ पृ० ५५६

४७. एकं समयं भगवा सक्केसु विहरति कपिलवत्थुस्मि अथ खो वप्पो सक्को निगण्ठ सावगो इ०॥
—अंगुत्तर निकाय, चतुष्कनिपात महावर्ग,
वप्पसुत्त भाग० पृ० २१०—२१३

४८. (क) भगवती १ | ६
(ख) भगवती ५ | ६
(ग) उत्तराध्यन २३ | २४
(घ) सूत्रकृताङ्ग २ | ७
(च) आवश्यक निर्युक्ति, वृत्ति पत्र २७८

४९. विस्तार के लिए देखिए—भगवान् पार्श्व: एक अध्ययन, लेखक का ग्रन्थ।

भगवान् अरिष्टनेमि

भगवान् अरिष्टनेमि बाईसवें तीर्थंकर थे। आधुनिक इतिहासकारो ने उनको ऐतिहासिक पुरुषों की पंक्ति मे स्थान नही दिया है, किन्तु जब वे कर्मयोगी श्री कृष्ण को ऐतिहासिक पुरुष मानते है तो अरिष्टनेमि भी उसी युग मे हुए थे। उनके निकट के पारिवारिक सम्बन्ध थे, अर्थात् श्री कृष्ण के पिता वसुदेव और अरिष्टनेमि के पिता समुद्रविजय दोनों सहोदर—सगे भाई थे। अतः उन्हें ऐतिहासिक पुरुष मानने में संकोच नही होना चाहिए।

ऋग्वेद मे 'अरिष्टनेमि' शब्द चार बार प्रयुक्त हुआ है। "स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः" (ऋग्वेद १।१४।८९।६) यहाँ पर अरिष्टनेमि शब्द भगवान् अरिष्टनेमि के लिए ही आया है।[५०]

छान्दोग्योपनिषद् मे भगवान् अरिष्टनेमि का नाम 'घोर आंगिरस ऋषि' आया है। घोर आंगिरस ने श्री कृष्ण को आत्म-यज्ञ की शिक्षा प्रदान की थी। उनकी दक्षिणा तपश्चर्या, दान, ऋजुभाव, अहिंसा, सत्यवचन रूप थी।[५१] धर्मानंद कोशाम्बी का मानना है कि आंगिरस भगवान् नेमिनाथ का ही नाम था।[५२]

ऋग्वेद कार ने भगवान् अरिष्टनेमि को तार्क्ष्य अरिष्टनेमि भी लिखा है।[५३]

महाभारत मे भी 'तार्क्ष्य' शब्द का प्रयोग हुआ है। जो भगवान् अरिष्टनेमि का ही अपर नाम होना चाहिए।[५४] उन्होंने राजा सागर को मोक्षमार्ग का जो उपदेश दिया है वह जैन धर्म के मोक्ष मन्तव्यों के अत्यधिक अनुकूल है। उसे पढ़ते ही ऐसा ज्ञात होता है कि मोक्ष सम्बन्धी आगमिक वर्णन ही पढ़ रहे हैं। उन्होने कहा—

सागर! मोक्ष का सुख ही वस्तुतः सही सुख है, जो अहर्निश धन-धान्य उपार्जन मे व्यस्त है, पुत्र और पशुओं मे ही अनुरक्त है वह मूर्ख है, उसे यथार्थ ज्ञान नही होता। जिसकी बुद्धि विषयो मे आसक्त है, जिसका मन अशान्त है, ऐसे मानव का उपचार कठिन है, क्यो कि जो राग के बंधन में बँधा हुआ है, वह मूढ हैं तथा मोक्ष पाने के लिए अयोग्य है।[५५]

---

५०. ऋग्वेद— १।१४।८९।६
१।२४।१८०।१०
३।४।५३।१७
१०।१२।१७८।१

५१. अतः यत् तपोदानमार्जवमहिंसासत्यवचनमितिता अस्य दक्षिणा।
—छान्दोग्य उपनिषद् ३।१७।४

५२. भारतीय संस्कृति और अहिंसा, पृ० ५७

५३. त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहावानं तरुतारं रथानाम् अरिष्टनेमि पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहाहुवेम।
—ऋग्वेद १०।१२।१७८।१

५४. एवमुक्तस्तदा तार्क्ष्यः सर्वशास्त्रविदांवरः।
विबुध्य संपदं चाग्र्यां सद्वाक्यमिदमब्रवीत्।
—महाभारत, शान्तिपर्व २८८।४

५५. महाभारत, शान्तिपर्व २८८।५,६

यजुर्वेद में अरिष्टनेमि का उल्लेख आया है। "अध्यात्म यज्ञ को प्रगट करने वाले, संसार के भव्य जीवों को सब प्रकार से यथार्थ उपदेश देने वाले और जिनके उपदेश से जीवो की आत्मा बलवान होती है उन सर्वज्ञ नेमिनाथ के लिए आहुति समर्पित करता हूँ।"[५६]

प्रभास पुराण में भी अरिष्टनेमि की स्तुति की गई है।[५७] साम्प्रदायिक अभिनिवेश के कारण कई स्थलों पर स्पष्ट नाम का निर्देश होने पर भी टीकाकारों ने अर्थ में परिवर्तन किया है। अतः आज आवश्यकता है तटस्थ दृष्टि से उस पर चिन्तन करने की।

भगवान अरिष्टनेमि का नाम अहिंसा की अखण्ड ज्योति जगाने के कारण इतना अत्यधिक लोकप्रिय हुआ कि महात्मा बुद्ध के नामों की सूची मे एक नाम अरिष्टनेमि भी है।[५८]

इक्कीसवें तीर्थ कर नमि, बीसवें मुनिसुव्रत और उन्नीसवें मल्ली भगवती का वर्णन वैदिक और बौद्ध वाङ्मय मे नही मिलता।

अठारहवें तीर्थ कर 'अर' का वर्णन अंगुत्तर निकाय में भी आता है। वहाँ पर महात्मा ने अपने से पूर्व जो सात तीर्थ कर हो गये थे उनका वर्णन करते हुए कहा कि उनमे से सातवे तीर्थंकर 'अरक' थे।[५९] 'अरक' तीर्थ कर के समय का निरूपण करते हुए कहा कि 'अरक तीर्थ कर के समय मनुष्य की आयु ६० हजार वर्ष की होती थी। ५०० वर्ष की लड़की विवाह के योग्य समझी जाती थी। उस युग मे मानवो को केवल छह प्रकार का कष्ट था—(१) शीत, (२) उष्ण, (३) भूख, (४) तृषा, (५) पेशाब, (६) मलोत्सर्ग। इसके अतिरिक्त किसी भी प्रकार की पीड़ा और व्याधि नहीं थी। तथापि अरक ने मानवो को नश्वरता का उपदेश देकर धर्म करने का सन्देश दिया।[६०] उनके उस उपदेश की तुलना उत्तराध्ययन के दसवें अध्ययन से की जा सकती है।

---

५६. वाजस्य नु प्रसव आवभूवेमाच विश्वा भुवनानि सर्वतः। स नेमिराजा परियाति विद्वान् प्रजा पुष्टि वर्द्धमानोऽस्मै स्वाहा।
—यजुर्वेद, अध्याय ९ मंत्र २५ पृ० ४३

५७. कैलाशे विमले रम्ये वृषभोऽयं जिनेश्वरः,
चकार स्वावतारं च सर्वज्ञः सर्वगः शिवः।
रेवताद्रौ जिनो नेमियुगादिविमलाचले,
ऋषीणा या श्रमादेव मुक्तिमार्गस्य कारणम्॥
—प्रभास पुराण

५८. बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० १६२

५९. भूतपुव्वं भिक्खवे सुनेत्तोनाम सत्था अहोसि तित्थकरो कामेह वीतरागो............मुगपक्ख.........
.........अरनेमि.........कुद्दालक.........हत्थिपाल,............जोतिपाल............अरको नाम सत्था अहोसि तित्थकरो कामेसु वीतरागो। अरकस्स खो पन, भिक्खवे सत्थुनो अनेकानि सावकसतानि अहेसुं।
—अंगुत्तर निकाय, भाग ३, पृ० २५६-२५७
सं० भिक्षु जगदीश कस्सपो, पालि प्रकाशन मण्डल, बिहार राज्य

जैनागम के अनुसार भगवान् 'अर' की आयु ८४००० वर्ष हैं और उनके पश्चात् होने वाली तीर्थंकर मल्ली की आयु ५५००० वर्ष की है।[६१] इस दृष्टि से 'अरक' का समय 'भगवान 'अर' और भगवती मल्ली के मध्य में ठहरता है। यहाँ पर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि 'अरक' तीर्थंकर से पूर्व बुद्ध के मत मे 'अरनेमि' नामक एक तीर्थंकर और हुए है। बुद्ध के बताये हुए अरनमि और जैन तीर्थंकर 'अर' संभवतः दोनों एक हों!

भगवान शान्ति

●

भगवान् शान्तिनाथ सोलहवें तीर्थंकर हैं। वे पूर्वभव में जब मेघरथ थे तब कबूतर की रक्षा की, यह घटना वसुदेव हिंडी,[६२] त्रिषष्टिशालाका पुरुष चरित्र[६३] आदि मे मिलती है। तथा शिबि राजा के उपाख्यान के रूप मे वैदिक ग्रंथ महाभारत में प्राप्त होती है और बौद्ध वाङ्मय मे 'जीमूत-वाहन, के रूप में चित्रित की गई है। प्रस्तुत घटना हमे बताती है कि जैन परम्परा केवल निवृत्ति रूप अहिंसा मे ही नही, पर मरते हुए की रक्षा के रूप मे—प्रवृत्ति रूप अहिंसा मे भी धर्म मानती है।

सोरेन्सन ने महाभारत के विशेष नामो का कोष बनाया है। उस कोष मे सुपार्श्व, चन्द्र, और सुमति ये तीन नाम जैन तीर्थंकरों के आये है। महाभारतकार ने इन तीनो को असुर बताया है।[६४] वैदिक मान्यता के अनुसार जैन धर्म असुरों का धर्म रहा है। यद्यपि असुर लोग आर्हत धर्म के उपासक थे इस प्रकार का वर्णन जैन साहित्य मे नही मिलता, किन्तु विष्णु पुराण,[६५] पद्म पुराण,[६६] मत्स्य पुराण,[६७] देवी भागवत[६८] और महाभारत आदि मे असुरों को अर्हत या जैनधर्म का अनुयायी बताया है। अवतारो के निरूपण मे जिस प्रकार भगवान् ऋषभ को विष्णु का अवतार कहा है, वैसे ही सुपार्श्व को कुपथ नामक असुर का अंशावतार कहा है तथा सुमति नामक असुर के लिए वर्णन मिलता है कि वरुणप्रासाद मे उनका स्थान दैत्यों और दानवों मे था।[६९]

---

६०. अप्पकं जीवितं मनुस्सानं परित्तं लहुक बहुदुक्खं 'बहुपायासं' मन्तयं बोद्धब्बं कत्तब्बं कुसलं, चरितब्ब, ब्रह्मचरियं, नत्थि जातस्स अमरणं।

—अंगुत्तर निकाय, अरकसुत्त भाग ३ पृ० २५७

सं० वही, प्रकाशन वही।

६१. आवश्यक नियुक्ति गाथा ३२५-२२७ ५६

६२. वसुदेव हिंडी २१ लम्भक,

६३. त्रिषष्टि० श० पु० ५१४

६४. जैन साहित्य का वृहद इतिहास, प्रस्तावना, पृ० २६

६५. विष्णु पुराण ३।१७।१८

६६. पद्म पुराण सृष्टि खण्ड, अध्याय १३ श्लो० १७०-४१३

६७, मत्स्य पुराण २४।४३-४६

६८. देवी भागवत ४।१३।५४-५७

६९. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास पृ० २६

महाभारत मे विष्णु और शिव के जो सहस्र नाम हैं उन नामों की सूची मे 'श्रेयस' अनन्त, धर्म, शान्ति और संभव ये नाम विष्णु के भी आये हैं जो जैन धर्म के तीर्थंकर भी थे। हमारी दृष्टि से इन तीर्थंकरों के प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व और कृतित्व के कारण ही इनको वैदिक परम्परा ने भी विष्णु के रूप में अपनाया है। नाम साम्य के अतिरिक्त इन महापुरुषों का सम्बन्ध असुरो से जोडा गया है, क्योंकि वे वेद विरोधी थे। वेद विरोधी होने के कारण उनका सम्बन्ध श्रमण परम्परा से होना चाहिए। यह बात पूर्ण रूप से सिद्ध है।

भगवान् अजित

बौद्ध थेरगाथा मे एक गाथा अजितथेर के नाम से आयी है।[७०] उस गाथा की अट्ठ कथा मे बताया गया है ये अजित ६१ कल्प से पूर्व प्रत्येक बुद्ध हो गये हैं। जैन साहित्य में अजित नाम के द्वितीय तीर्थ कर हैं और संभवतः बौद्ध साहित्य में उन्हे ही प्रत्येक बुद्ध अजित कहा गया हो, क्योकि दोनों की योग्यता, पौराणिकता, एव नाम साम्य है। महाभारत मे अजित और शिव को एक चित्रित किया गया है। हमारी दृष्टि से जैन तीर्थंकर अजित ही वैदिक बौद्ध परम्परा मे भी पूजनीय रहे हैं और उनके नाम का स्मरण अपनी दृष्टि से उन्होने किया है।

भगवान् ऋषभ

श्रमण परम्परा का उद्गम भगवान् ऋषभदेव से हुआ है। जयघोष ब्राह्मण ने निर्ग्रन्थ विजय घोष से पूछा—धर्म का मुख क्या है? विजयघोष ने उत्तर दिया—धर्म का मुख काश्यप ऋषभ है।[७१]

श्रीमद् भागवत् के अनुसार भगवान् ऋषभ श्रमणों ऋषियों तथा ब्रह्मचारियों (ऊर्ध्वमन्थिनः) का धर्म प्रकट करने के लिए शुक्ल-सत्वमय विग्रह से प्रकट हुए।[७२]

भगवान् ऋषभ जैन सस्कृति की दृष्टि से प्रथम राजा, प्रथम जिन, प्रथम केवली, प्रथम तीर्थंकर और प्रथम धर्म-चक्रवर्ती थे।[७३] श्री मद्भागवत् से भी प्रस्तुत कथन का समर्थन होता है। वहाँ पर बताया गया है कि वासुदेव ने आठवां अवतार नाभि और मरुदेवी के वहाँ धारण किया। वे ऋषभ रूप मे अवतरित हुए और उन्होंने सब आश्रमों द्वारा नमस्कृत मार्ग दिखलाया।[७४] एतदर्थ ऋषभ को मोक्ष धर्म की विवक्षा से वासुदेवांश कहा है।[७५]

---

७०. मरणे मे भयं नत्थि निकन्ति नत्थि जीविते।
सन्देहं निक्खिपिस्सामि सम्पजानो परिस्सतो। —थेरगाथा १ | २०

७१. उत्तराध्ययन २५।१४।१६

७२. धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणा नामृषीणामूर्ध्वमन्थिना शुक्लया तनुनावतारः।
—श्रीमद्भागवत ५।३।२०

७३. उसहे णामं अरहा कोसलिए पढमराया पढमजिणे पढमकेवली पढमतित्थकरे पढमधम्मवरचक्कवट्टी, समुप्पज्जित्थे। —जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति २।३०

७४. अष्टमे मरुदेव्यां तु नाभेर्जात उतक्रमः। दर्शयन् वर्त्म धीरणां सर्वाश्रमनमस्कृतम्।
—श्रीमद्भागवत १।३।१३

७५. तमाहु र्वासुदेवांशं, मोक्षधर्मविवक्षया। —वही ११।२।१६

भगवान् ऋषभ का एक नाम ब्रह्मा भी रहा है और हिरण्यगर्भ भी। ऋग्वेद के अनुसार हिरण्यगर्भ भूत जगत् का एक मात्र पति है।[७६] सायण के अनुसार वह देहधारी है।[७७] महाभारत के अनुसार हिरण्यगर्भ ही योग का पुरातन विद्वान् है, अन्य नही।[७८] भगवान् ऋषभ को हिरण्यगर्भ कहने का कारण यह है कि जब वे गर्भ में आये तब कुबेर ने हिरण्य की वृष्टि की, एतदर्थ उन्हे हिरण्यगर्भ भी कहा गया है।[७९]

मि० बालिस का कहना हैं कि हिरण्यगर्भ शब्द लाक्षणिक है। यह विश्व की एक महान् शक्ति को सूचित करता है।[८०]

श्रीमद् भागवतकार ने ऋषभ को योगेश्वर कहा है।[८१] उन्होने नाना योग-चर्चाओं का चरण किया था।[८२] हठयोगियों ने भगवान् ऋषभ को हठयोग विद्या के उपदेष्टा के रूप मे नमस्कार किया है।[८३] जैनाचार्यों ने भी उन्हें योग विद्या का संस्थापक माना है।[८४] इस प्रकार भ० ऋषभ आदिनाथ 'हिरण्यगर्भ' और ब्रह्मा आदि अनेक नामों से सम्बोधित किये गये है।

ऋग्वेद में भगवान् ऋषभदेव को केशी भी कहा गया है। वहां पर वातरशन मुनि के उल्लेख के प्रकरण मे ही केशी की स्तुति आयी हैं।[८५] जो ऋषभदेव की वाचक है।

ऋग्वेद मे अन्यत्र केशी और ऋषभ का एक साथ उल्लेख भी मिलता है।[८६] मुद्गल ऋषि की

---

७६. हिरण्यगर्भः १ समवर्तताग्रे भूतस्य जातःपतिरेक आसीत्।
स सदाधारपृथिवीं द्यामुतेमा कस्मैं देवाय हविषा विधेम ॥ —ऋग्वेद १०।१०।१२१।१

७७. हिरण्यगर्भः हिरण्मयस्याण्डस्य गर्भभूत. प्रजापतिर्हिरण्यगर्भ.। तथा च तैत्तिरीयकप्रजापनिर्वै हिरण्यगर्भः प्रजापतेरनुरूपाय (तै० स० ५।५।१।२।यद्वा हिरण्यमयोऽअण्डो गर्भवद्यस्योदरे वर्तते सोऽसौ सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ उच्यते। अग्रे प्रपञ्चोत्पत्ते. प्राक् समवर्तत मायाध्यक्षात् सिसृक्षोः परमात्मनः साकाशात् समजायत।''' ''' सर्वस्य जगत्' पतिरीश्वर आसीत्''''''''
—तैत्तिरीयारण्यक, प्रपाठक १० अनुवाक् ६२ सायणभाष्य

७८. हिरण्यगर्भो योगस्य, वेत्ता नान्य. पुरातनः। —महाभारत शान्ति पर्व ३४९।६५

७९. सैषा हिरण्यमयी वृष्टिः धनेशेन निपातिता, विभोर्हिरण्यगर्भत्वमिव बोधयितुं जगत्॥
—महापुराण १२।९५

(ख) गब्भट्ठिअस्स जस्स उ हिरण्णवुट्ठी सकचणापडिया।
तेणं हिरण्णगब्भो जयम्मि उवगिज्जए उसभो —पउमचरिउ ३।६८।विमलगणिरचित

८० हिस्ट्री आफ प्रो० बुद्धिस्टिक इंडियन फिलोसफी डा० बालिस।

८१ भगवान् ऋषभदेवो योगेश्वरः —श्रीमद् भागवत् ५।४।३

८२. नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपति ऋषभः —श्रीमद् भागवत् ५।५।२५

८३ श्री आदिनाथाय नमोस्तु तस्मै, येनोपदिष्टा हठयोगविद्या। —हठयोग प्रदीपिका

८४. योगिकल्पतरुं नौमि, देव-देवं वृषध्वजम्। —ज्ञानार्णव १।२

८५. केश्यग्नि केशी विषं केशी विभर्त्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योति रुच्यते॥ —ऋग्वेद १०।११।१३६।१

८६. ककर्दवे वृषभो युक्त आसीदवावचीत्सारथिरस्य केशी।
दुधेर्युक्तस्य द्रवतः सहानस ऋच्छन्ति ष्मा निष्पदो मुद्गलानीम्। —ऋग्वेद १०।९।१०२।६

गायें (इन्द्रियाँ) चुराई जा रही थीं तब ऋषि के सारथी केशी वृषभ के वचन से वे अपने स्थान पर लौट आयीं। अर्थात् वे इन्द्रियाँ ऋषभ के उपदेश से अन्तर्मुखी हो गई।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के अनुसार भगवान् ऋषभ जब मुनि बने तब उन्होने चार मुष्टि केशलोच किया था। यों सामान्य परम्परा पंच मुष्टि केशलोच करने की है। जब भगवान् केशलोच कर रहे थे दोनों भागों का केश लोच करना अवशेष था, उसी समय देवराज शक्रेन्द्र ने भगवान् से नम्र प्रार्थना की —'इतनी रमणीय केशराशि को रहने दें। तब भगवान् ने इन्द्र की प्रार्थना को स्वीकार कर वैसे ही केश रहने दिये।[८७] यही कारण है कि केश होने के कारण से वे केशी या केशरिया जी कहलाये। जिस प्रकार सिंह अपने केशों के कारण केशरी कहलाता है, इसी प्रकार ऋषभदेव भी केशी, केशरी और केशरिया जी आदि नामो से पुकारे जाते हैं।

भगवान ऋषभदेव के व्यक्तित्व और कृतित्व के सम्बन्ध मे 'ऋषभदेव, एक परिशीलन' ग्रन्थ मे विस्तार से पर्यालोचन किया गया है एतदर्थ उसके अवलोकन की सूचना के साथ-साथ मे विषय को सम्पन्न कर रहा हूँ।

स्थविरावली

जिनचरित के पश्चात् स्थविरावली मे देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण तक की परम्परा आयी है। देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण तक की परम्परा एक विशुद्ध परम्परा रही है। अभयदेव सूरि के शब्दों मे देखिये —'देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण तक की परम्परा को मैं भाव-परम्परा मानता हूँ। इसके बाद शिथिलाचारियों ने अनेक द्रव्य-परम्पराओ का प्रवर्तन कर दिया।

स्थविरावली मे आये हुए स्थविरो की परिचय रेखा, तथा कुल, गण आदि का परिचय विवेचन मे दिया है।

समाचारी

स्थविरावली के पश्चात् अन्तिम विभाग समाचारी का आता है। ज्ञान का सार आचार है।[८९] वह मुक्ति का साधन है। यही कारण है कि जैनागमो मे जहाँ दार्शनिक तत्त्वों की सूक्ष्म विवेचना की गई है

---

८७. चउहिं अट्ठाहिं लोअं करेइ। वृत्ति-तीर्थंकृता पंचमुष्टि लोचसंभवेऽपि अस्य भगवतश्चतुर्मुष्टिकलोच-गोचर. श्री हेमाचार्यकृत ऋषभचरित्राद्यभिप्रायोऽयं प्रथममेकया मुष्ट्या श्मश्रुकूर्च्चयोर्लोचे तिसृभिश्च शिरोलोचे कृते एका मुष्टिमवशिष्यमाणा पवनान्दोलिता कनकावदातयो प्रभुस्कन्धयोरुपरि लुठन्ती मरकतोपमानबिभ्रती परमरमणीया वीक्ष्य प्रमोदमानेन शक्रेण भगवन्! मय्यनुग्रहं विधाय ध्रियतामियमित्थमेवेति विज्ञप्ते भगवतापि सा तथैव रक्षितेति, न ह्येकान्तभक्तानां याञ्चा मनुग्रहीतार खण्डयन्तीति। —जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्षस्कार २ सू० ३०

८८. देवड्ढिखमासमणजा, परपरं भावओ वियाणेमि।
सिढिलायारे ठविया, दव्वेण परंपरा बहुआ। —आगम अट्ठुत्तरी गाथा १४

८९. णाणस्स सारं आयारो

वहां पर आचार का भी सूक्ष्मतम निरूपण किया है। सम्यक्-आचार ही समाचार, या समाचारी है। दिगम्बर ग्रन्थों में भी ये शब्द व्यवहृत हुए हैं और उसके चार अर्थ किये गये हैं :—

(१) समता का आचार

(२) सम्यक् आचार

(३) सम (तुल्य) आचार

(४) समान (परिमाण युक्त) आचार[६०]

संक्षेप मे समाचारी शब्द का अर्थ है—मुनि का आचार-व्यवहार, एव इतिकर्तव्यता। प्रस्तुत परिभाषा के प्रकाश में श्रमण जीवन को वे सारी प्रवृत्तिया समाचारी मे आ जाती है जो वह अहर्निश करता है।

आवश्यक निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने समाचारी के तीन प्रकार बतलाये है—(१) ओघसमाचारी (२) दस-विध समाचारी, (३) पद विभाग समाचारी।[६१]

ओघ समाचारी का निरूपण 'ओघ निर्युक्ति' में किया गया है। उसके (१) प्रतिलेखन, (२) पिण्ड, (३) उपधि-प्रमाण (०) अनायतन (अस्थान) वर्जन, (५) प्रनिसेवना—दोषाचरण, (६) आलोचना और विशोधि,[६२] ये सात द्वार है।

दसविध समाचारी का वर्णन भगवती[६३] स्थानाग[६४] उत्तराध्ययन[६५] आवश्यक निर्युक्ति[६६] आदि में मिलता है। पद-विभाग समाचारी का वर्णन छेद सूत्रो मे वर्णित है। कल्पसूत्र मे जो समाचारी का वर्णन है वह पद-विभाग-समाचारी मे आता है। वादिबेतालशान्ति सूरि ने उत्तराध्ययन की बृहद्वृत्ति मे ओघसमाचारी का अन्तर्भाव धर्मकथानुयोग मे और पदविभाग समाचारी का अन्तर्भाव चरण करणानुयोग में किया है। कल्पसूत्र की समाचारी चरण करणानुयोग के अन्तर्गत है।

डाक्टर विन्टर नीट्स ने भी समाचारी विभाग को कल्पसूत्र का प्राचीनतम भाग होने की सभावना की है, और अपने अनुमान की पुष्टि मे उनका यह कहना है कि कल्पसूत्र का पूरा नाम 'पर्युषणा कल्प' यह समाचारी विभाग के कारण ही है।[६७]

---

६०. समदा समाचारो, सम्माचारो समो व आचारो।
सव्वेसिं सम्माणं समाचारो हु आचारो॥ —मूलाचार गाथा १२३

६१. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ६६५

६२. पडिलेहणं च पिण्डं, उवहिपमाण अणाययण वज्ज।
पडिसेवणमालोअण, जह य विसोही सुविहियाणं॥ —ओघनिर्युक्ति, २

६३. भगवती २५।७

६४. स्थानांग १०।७४६

६५. उत्तराध्ययन—अ० ६६ गा० २-३-४

६६. आवश्यक निर्युक्ति
(१) आवश्यकी, (२) नैषेधिकी, (६) आपृच्छा (४) प्रतिपृच्छा (५) वन्दना, (६) इच्छाकार, (७) मिच्छाकार, (८) तथाकार, (९) अभ्युत्थान (१०) उपसंपद।

६७ हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर पृ० डा० विंटरनीट्स लिखित

निशीथ में पर्युषणा कल्प की सविस्तृत विधि दी है। पहले के युग में श्रमण समुदाय रात्रि के प्रथम प्रहर में काल ग्रहण पूर्वक पर्युषणा-कल्प (समाचारी) का श्रवण और पठन करते थे। किसी भी गृहस्थ या गृहस्थिनी के सामने, अन्य तीर्थिक के सामने, एव अवसन्नसयती के सामने उसे पढ़ने का निषेध था। क्योंकि उनके सामने पढ़ने से संवास दोष, संकाइया दोष, संमिश्रवास दोष, प्रभृति अनेक दोषों को लगने की संभावना होती है अतः उसे सभी के सामने पढ़ने का स्पष्ट निषेध किया गया। और पढ़ने वाले के लिए प्रायश्चित्त का विधान भी किया।[९८]

सर्व प्रथम पर्युषणा कल्पसूत्र का सभा के समक्ष पठन आनन्दपुर में राजा ध्रुवसेन के पुत्र-शोक को नष्ट करने के लिए चैत्यवासी शिथिलाचारी श्रमणों ने चतुर्विध संघ के समक्ष किया।[९९] ध्रुवसेन नामक मैत्रक वंशीय वल्लभी में तीन राजा हुए हैं, जिनका अस्तित्व इस प्रकार है—प्रथम ध्रुवसेन (गु० सं० २००-२३० तक) ई० स० ५१९ से ५४९। द्वि० ध्रुवसेन (गु० सं० ३०८ से ३२३) ई० सं० ६२७ से ६४२। तृतीय ध्रुवसेन (गु० सं० ३३१ से ३३५) ई० स० ६५० से ६५४।

इन राजाओं की राजधानी वल्लभी मे भी थी। पर 'महास्थान' होने के कारण ये आनन्दपुर में भी रहते थे। पर अन्वेषणीय यह है कि किस राजा के समय इसका पठन किया गया।

कल्पसूत्र की कहानी

●

सुश्रावक गुलतानमलजी गाका, श्री हस्तीमलजी एवं सुखराज जी जिनाणी प्रभृति सज्जनों का आग्रह था कि आप कल्पसूत्र का सम्पादन करें। प्रारम्भ मे मैं उनके प्रेम भरे आग्रह को टालता रहा पर अन्त मे उनकी उत्कृष्ट अभीप्सा से परम श्रद्धेय गुरुदेव ने मुझे आदेश के स्वर मे कहा—यह कार्य तुझे करना है। 'आज्ञा गुरुणामविचारणीया' के अनुसार मैंने इसके सम्पादन का कार्य स्वीकार किया।

---

९८. पज्जोसवणाकप्पं, पज्जोसवणाइं जो उ कड्ढिज्जा।
गिहि-अन्नतित्थि-ओसन्न-संजईणं च आणाई ॥१॥
पज्जोसवणा-पुव्ववन्नियां। गिहित्थाणं अन्नतित्थियाणं ति गिहत्थीणं अन्नतित्थियाणं ओसन्नाणं य संजईण य जो 'एए पज्जोसवेइ' एषामग्रे पर्युषणाकल्पं पठतीत्यर्थः तस्स चउगुरुं आणाईया या दोषा।
गिहि अन्नतित्थि-ओसन्नदुगं ते तग्गुणेहऽणुववेया।
सम्मीसवास संकाइणो य दोसा समणिवग्गे ॥२॥
व्याख्या—गिहत्था गिहत्थीओ एगं दुगं, अन्नतित्थिगा अन्नतित्थिणीओ, अहवा ओसन्ना ओसन्नीओ। एए दुगा संजमगुणेहिं अणुववेया, तेण तेसिं पुरओ न कड्ढिज्जइ। अहवा एएहिं सह संवासदोसो भवई। इत्थीसु य संकाइया दोसा भवति। संजईओ जइ वि सजमगुणेहि उववेयाओ तहावि सम्मीसवासदोसो संकासदोसो य भवई ॥
—कल्पसूत्र पृथ्वीचन्द टिप्पण मे उद्धृत

९९. कल्पसूत्र चूर्णि

१००. कल्पसूत्र टीकाएँ

सम्पादन कार्य सरल नही है, अपितु कठिन है और फिर प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन का तो कहना ही क्या ? जिनकी भाषा और भावधारा वर्तमान युग की भाषा और भावधारा से अत्यधिक व्यवधान पा चुकी है। किन्तु जब सम्पादन का कार्य हाथ में लिया तो भन्डारों में से प्राचीन हस्त-लिखित कल्पसूत्र की प्रतियों का अवलोकन करना प्रारभ किया, पर कोई भी प्रति पूर्ण शुद्ध नही मिली। अतः अन्त मे हमने यही निर्णय लिया कि श्री पुण्यविजय जी म० के द्वारा सम्पादित कल्पसूत्र के पाठ को ही मूल आधार रखा जाय और वही हमने स्वीकार किया है। उपाध्याय पण्डित प्रवर श्रद्धेय हस्ती-मल जी म० सम्पादित कल्पसूत्र की पाण्डुलिपि भी मेरे सामने रही है। अर्थ आदि की दृष्टि से उसका भी उपयोग किया गया है, तथा प्राचीन निर्युक्ति, चूर्णि, पृथ्वीचन्द टिप्पण, व अनेक कल्पटीकाओ से उप-युक्त सामग्री भी मैंने ली है, इस प्रकार प्रस्तुत सम्पादन मे अपनी ओर से कुछ न मिलाकर इधर-उधर से सामग्री बटोरकर व्यवस्थित रूप देने का कार्य मैंने किया है। उन सभी ग्रथ और ग्रन्थकारों का मैं ऋणी हूँ, जिनका प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से किसी भी प्रकार का मुझे सहयोग मिला है।

ग्रन्थो की पूर्ण उपलब्धि न होने से तथा शीघ्रता के कारण, मैं जैसा चाहता था वैसा नही लिख सका हूँ, अतः अपनी दुर्बलता के लिए प्रारम्भ मे ही क्षमा याचना कर लेता हूँ, तथापि कुछ लिखा है, वह कैसा है यह निर्णय करना प्रबुद्ध पाठको का काम है। पूर्ण सावधानी रखने पर भी सम्भव है कही इधर-उधर लिखा गया हो, मूल भावनाएँ पूर्ण स्पष्ट न हो सकी हो, विपर्यास भी हो गया हो तो उन सबके लिए मैं विज्ञो से यही नम्र निवेदन करूंगा कि वे मुझे आत्मीयता की परम पवित्र भावना के साथ त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान केन्द्रित करें जिससे मैं उनका परिमार्जन कर सकूँ।

परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य प्रसिद्धवक्ता गंभीर तत्वचिन्तक श्री पुष्कर मुनि जी म० का मुझे गुरुतर लेखन कार्य में सक्रिय योग, पथ प्रदर्शन, एवं प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है, जिससे मेरी कार्य दिशाएं सदा आलोकित रही है। उनकी अपार कृपा के बिना यह कार्य कभी सुन्दर रीति से पूर्ण नही हो सकता था। उनकी विशाल ज्ञान राशि एवं गंभीर चिन्तन मे से मैं ज्ञान के ज्योति स्फुलिंग प्राप्त कर सका हूँ यह मेरा परम सौभाग्य है। मैं श्रद्धेय गुरुदेव के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन कर भारमुक्त बनूं इसकी अपेक्षा मुझे यही श्रेयस्कर लग रहा है कि उनके आशीर्वाद का शक्ति-संबल प्राप्त कर अधिक भारी बनूँ और नये शोधपूर्ण लेखन कार्य में दत्तचित से लग जाऊँ।

स्नेह-सौजन्यमूर्ति श्रीहीरामुनिजी, साहित्य रत्न, शास्त्री श्रीगणेश मुनिजी, जिनेन्द्रमुनि, राजेन्द्र मुनि और पुनीत मुनि प्रभृति मुनि-मण्डल का स्नेहास्पद व्यवहार भुलाया नही जा सकता और न श्रीचन्द जी सुराणा 'सरस' का मुद्रण आदि की दृष्टि से किया गया मधुर व्यवहार व सफल प्रयास भी विस्मरण किया जा सकता, जिसके कारण ही ग्रन्थ छपाई सफाई आदि की दृष्टि से सुन्दर बना है।

सेठ मेघजी थोभण जैन धर्म स्थानक
१७०, कांदाबाड़ी, बम्बई

—देवेन्द्र मुनि

कल्पसूत्र

का

अनुक्रम

भगवान महावीर-चरित्र

भगवान महावीर की पूर्व परम्परा

श्री कल्प सूत्र

उपक्रम

आचारात्तपसा कल्पः, कल्पः कल्पद्रुरीप्सिते ।
कल्पो रसायनं सम्यक्, कल्पस्तत्त्वार्थ-दीपकः ॥

—कल्प समर्थनम्, कल्पमहिमा श्लोक १

उपक्रम

कल्प की परिभाषा और भेद

कल्प का अर्थ है—नीति, आचार, मर्यादा, विधि और समाचारी। आचार्य उमास्वाति कहते है—जो कार्य ज्ञान, शील, तप, का उपग्रह (वृद्धि) करता है और दोषों का निग्रह (शमन) करता है वह निश्चय दृष्टि से कल्प है और शेष अकल्प है।[1] कल्प सूत्र की टीका के अनुसार श्रमणो का आचार कल्प है।[2] कल्प के आगम, भाष्य, निर्युक्ति और चूर्णि साहित्य मे अनेक भेद, प्रभेद निरूपित हुए हैं। उन सभी की यहाँ चर्चा न कर केवल दस कल्पो अर्थात् कल्प के दस प्रकारों पर ही विचार किया जा रहा है। वे दस कल्प इस प्रकार हैं :—

(१) आचेलक्य, (२) औद्देशिक, (३) शय्यातर-पिण्ड, (४) राज-पिण्ड, (५) कृतिकर्म, (६) व्रत, (७) ज्येष्ठ, (८) प्रतिक्रमण, (९) मासकल्प, (१०) पर्युषणा-कल्प।[3]

आचेलक्य

'चेल' शब्द का अर्थ—वस्त्र है। न—चेल, अचेल है। 'अ' शब्द का एक अर्थ अल्प भी है।[4] जैसे—अनुदरा। आचारांग के टीकाकार ने ईषत् (अल्प) अर्थ में नञ्—समास मान कर अचेल का अर्थ 'अल्पवस्त्र' किया है।[5] उत्तराध्ययन[6] और कल्प सूत्र[7] की टीकाओं मे भी यही अर्थ मान्य हुआ है।

श्रमण संस्कृति में श्रमणों के लिए दो प्रकार के कल्प विहित हैं—जिनकल्प और स्थविरकल्प। निर्युक्ति और भाष्य के अनुसार जिनकल्पी श्रमण वह होता है जो वज्र-ऋषभनाराच संहनन वाला हो, तथा कम से कम नव पूर्व की तृतीय आचार वस्तु का श्रुतपाठी हो और अधिक से अधिक कुछ कम दस पूर्व तक श्रुतपाठी हो।[8] जिनकल्पिक श्रमण भी पहले स्थविरकल्पी ही होता है। स्थविरकल्पिक श्रमण ही जिनकल्प को स्वीकारता है।

जिनकल्पिक श्रमण नग्न, निष्प्रतिकर्म और विविध अभिग्रहधारी होते हैं। उनके दो प्रकार हैं—

(१) पाणिपात्र—हाथ मे भोजन करने वाले।
(२) पात्रधारी – पात्र मे भोजन करने वाले।

पाणिपात्र जिनकल्पिक श्रमण भी उपधि की दृष्टि से चार प्रकार के होते हैं। कितने ही श्रमण मुख-वस्त्रिका और रजोहरण—ये दो उपधि रखते हैं। कितने ही श्रमण मुख-वस्त्रिका, रजोहरण और एक चद्दर रखते है। कितने ही श्रमण मुख-वस्त्रिका, रजोहरण और दो चद्दर रखते हैं, और कितने ही श्रमण मुख-वस्त्रिका, रजोहरण तथा तीन चद्दर रखते हैं।

पात्रधारी जिनकल्पिक श्रमण भी उक्त दो, तीन, चार, और पाँच उपकरणों के अतिरिक्त सात प्रकार के पात्र-निर्योग रखने से क्रमशः नौ, दस, ग्यारह, और बारह प्रकार की उपधि से उनके भी चार भेद होते हैं। इस प्रकार जिनकल्पिक श्रमणों के मुख्य दो, और उत्तर भेद आठ होते हैं।

आगमानुसार स्थविरकल्पिक श्रमण के भी उपधि की दृष्टि से अनेक भेद किए जा सकते हैं। कितने ही श्रमण तीन वस्त्र और एक पात्र रखते थे। कितने ही श्रमण दो पात्र और एक वस्त्र रखते थे और कितने ही श्रमण एक पात्र और एक वस्त्र रखते थे।

उपरोक्त चर्चा का सार यह है कि जिनकल्पिक हो या स्थविरकल्पिक, वे कम से कम मुख-वस्त्रिका और रजोहरण ये दो उपकरण तो रखते ही हैं। अतः यहाँ पर आचेलक्य-कल्प का अर्थ संपूर्ण वस्त्रो का अभाव नही, किन्तु अल्प मूल्य वाले प्रमाणोपेत जीर्ण-शीर्ण वस्त्र धारण करना है।

पूर्वाचार्य रचित कल्पसमर्थन में कहा है कि—प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर का धर्म (आचार) अचेलक है और बावीस तीर्थंकरो का धर्म (आचार) सचेलक और अचेलक दोनों प्रकार का है।[९] इसका अर्थ यह है कि भगवान् ऋषभदेव और भगवान् महावीर के श्रमणों के लिए यह विधान है कि वे श्वेत और प्रमाणोपेत वस्त्र रखे, पर बावीस तीर्थंकरों के श्रमणों के लिए प्रस्तुत विधान नही है।[१०] वे विवेक-निष्ठ और जागरूक साधक थे। अतः चमकीले रगबिरंगे प्रमाण से अधिक वस्त्र भी रख सकते थे। उन बढिया वस्त्रों के प्रति उनके मन में आसक्ति नहीं होती थी।

उत्तराध्ययन सूत्र में भगवान् पार्श्वनाथ के श्रमण केशीकुमार और भगवान महावीर के प्रधान अन्तेवासी गणधर गौतम का मधुर संवाद है। केशीकुमार श्रमण ने गौतम से जिज्ञासा प्रस्तुत की, कि "भगवान् महावीर का धर्म अचेलक है और भगवान् पार्श्वनाथ का सचेलक है। क्या इस लिंग-भेद को देख कर आपके मानस में शंका नहीं होती ?"[११]

समाधान करते हुए गौतम ने कहा—"विज्ञवर! विज्ञान से तत्त्व को जानकर ही धर्म साधनों की आज्ञा दी गई है। लोक मे प्रतीति के लिए, संयम निर्वाह के लिए, ज्ञानादि गुण-ग्रहण के लिए, वर्षाकल्प आदि में सयम पालन के लिए ही वस्त्रादि उपकरणों की आवश्यकता है। वस्तुतः दोनो तीर्थंकरो की प्रतिज्ञा (प्ररूपणा) मोक्ष के सद्भूत साधन ज्ञान, दर्शन और चारित्र-रूप ही है। उसमें कोई अन्तर नही है।"[12]

आगमानुसार सभी तीर्थंकर देवदूष्य वस्त्र के साथ प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं।[13] कुछ समय तक वे देवदूष्य वस्त्र को रखते हैं।[13A] भगवान् श्री महावीर ने भी एक वर्ष तक देवदूष्य वस्त्र को धारण किए रखा था, उसके बाद वे पूर्ण अचेलक बने।[14]

बावीस परीषहों मे छट्ठा परीषह अचेल परीषह है।[15] उसका भी अर्थ है—"वस्त्रों के जीर्ण होने पर श्रमण यह चिन्ता न करे कि मैं वस्त्र रहित हो जाऊँगा, अथवा यह भी विचार न करे कि अच्छा हुआ वस्त्र जीर्ण हो गए हैं और अब मैं नये वस्त्रों से सचेलक हो जाऊँगा। सचेल और अचेल दोनो ही अवस्था में श्रमण खिन्न न हो।"[16]

हाँ तो आचेलक्य-कल्प का सक्षेप मे अर्थ हुआ—अल्प, प्रमाणोपेत एवं श्वेत वस्त्र धारण करने की मर्यादा।

——● औद्देशिक

औद्देशिक कल्प का अर्थ है श्रमण को दान देने के उद्देश्य से, या परिव्राजक, श्रमण, निर्ग्रन्थ आदि सभी को उद्देश्य कर निर्मित अशन, वसन, भवन आदि।[17] वह श्रमण के लिए अग्राह्य एव असेव्य है। यदि श्रमण को यह ज्ञात हो जाय तो वह स्पष्ट रूप से कहे कि—यह अशनादि मुझे नहीं कल्पता।[18]

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरो के श्रमणों के लिए यह विधान है कि 'एक श्रमण को उद्देश्य करके निर्मित आहार आदि न उसे ग्रहण करना कल्पता है, और न अन्य श्रमणों को ही ग्रहण करना कल्पता है।' किन्तु बावीस तीर्थंकरो के समय में जिस श्रमण को उद्देश्य कर आहार आदि निर्मित किया गया हो वह उसे ग्रहण करना नही कल्पता, पर शेष श्रमणो के लिए वह ग्राह्य हो सकता है।[19]

दशवैकालिक,[20] प्रश्नव्याकरण,[21] सूत्रकृताङ्ग,[22] उत्तराध्ययन,[23] आचारांग,[24] और भगवती[25] आदि आगमों में अनेक स्थलों पर औद्देशिक आहार आदि ग्रहण करने का निषेध है, क्योंकि औद्देशिक आदि ग्रहण करने से त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा का अनुमोदन होता है,[26] अतः वह श्रमण के लिए अग्राह्य है।[27]

——● शय्यातर-पिण्ड

श्रमण को शय्या (वसति-उपाश्रय) देकर संसार-समुद्र को तैरने वाला गृहस्थ शय्यातर कहलाता है।[28] अर्थात् वह गृहपति जिसके मकान में श्रमण ठहरे हुए हों शय्यातर

है।[२९] निशीथभाष्य के अभिमतानुसार स्वयं गृहपति या उसके द्वारा निर्दिष्ट कोई भी अन्य व्यक्ति शय्यातर होता है।[३०] शय्यातर कब होता है ? इस पर आचार्यों के विभिन्न मत हैं।[३१] निशीथ भाष्य और चूर्णि में उन सभी मतों का निर्देश किया गया है, तथा भाष्यकार ने अपना स्पष्ट अभिमत इस प्रकार दिया है 'श्रमण जिस स्थान में रात्रि रहे, सोए, और चरमावश्यक कार्य करे उस स्थान का अधिपति शय्यातर होता है।[३२]

श्रमण के लिए शय्यातर के अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, आदि अग्राह्य हैं और तृण, राख, पाट बाजोट, आदि ग्राह्य हैं।[३३] सूत्रकृताङ्ग में शय्यातर के स्थान में "**सागारियपिण्ड**" लिखा है,[३४] पर उसका अर्थ भी टीकाकार ने शय्यातर-पिण्ड किया है।[३५]

——— ● राज-पिण्ड

मूर्धाभिषिक्त अर्थात् जिसका राज्याभिषेक हुआ हो वह 'राजा' कहलाता है। उसका भोजन राजपिण्ड है।[३६] जिनदासगणीमहत्तर के अभिमतानुसार सेनापति, अमात्य, पुरोहित, श्रेष्ठी और सार्थवाह सहित जो राजा राज्य का उपभोग करता है उसका पिण्ड (भोजन) ग्रहण नही करना चाहिए। अन्य राजाओं के लिए नियम नही है। यदि दोष की सम्भावना हो तो ग्रहण नहीं करना चाहिए, और निर्दोष हो तो ग्रहण किया जा सकता है।[३७]

राजपिण्ड का तात्पर्य—राजकीय भोजन है। राजकीय भोजन सरस, मधुर व मादक होता है। जिसके सेवन से रस-लोलुपता बढने की सम्भावना रहती है। साथ ही वह उत्तेजक भी होता है। इस प्रकार का सरस आहार सर्वत्र प्राप्त भी होना सम्भव नही, रस-लोलुप मुनि कही अनेषणीय आहार सग्रहण न करे, इस दृष्टि से राजपिण्ड का निषेध किया गया है। एषणाशुद्धि ही प्रस्तुत विधान की मूल-दृष्टि है।[३८] यदि कोई इस विधान को विस्मृत करके राजपिण्ड को ग्रहण करता है, या राजपिण्ड का उपयोग करता है तो उस श्रमण को चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।[३९]

राजपिण्ड के निषेध के पीछे अन्य अनेक तथ्य रहे हुए है।[४०] जिनका उल्लेख, निशीथभाष्य और चूर्णि में किया गया है। राजभवन में प्रायः सेनापति आदि का आवागमन रहता है। कभी शीघ्रतादि के कारण श्रमण के चोट लगने की और पात्रादि फूटने की सम्भावना भी रहती है। किसी कार्यवश जाते हुए साधु को देखने पर उसको वे अपशकुन भी समझ सकते हैं।[४१] इन कारणो से राजपिण्ड को अग्राह्य तथा अनेषणीय माना है तथा उसको ग्रहण करना अनाचार है।[४२]

भगवान महावीर और श्री ऋषभदेव के श्रमणों के लिए ही राजपिण्ड का निषेध है, पर बावीस तीर्थंकर के श्रमणो के लिए नही।[४३] राजपिण्ड से अभिप्राय है चार प्रकार के आहार, वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण—ये आठ वस्तुएँ, और ये आठों अग्राह्य मानी हैं।[४४]

कृतिकर्म

कृतिकर्म का अर्थ है अपने से संयमादि में ज्येष्ठ व सद्गुणों में श्रेष्ठ श्रमणों का खड़े होकर हृदय से स्वागत करना। उन्हें बहुमान देना, उनकी हितशिक्षाओं को श्रद्धा से नतमस्तक होकर स्वीकार करना।[४५]

चौबीस ही तीर्थंकरों के श्रमण अपने से चारित्र में ज्येष्ठ श्रमणों को वन्दन-नमस्कार करते हैं। यह कल्प सार्वकालिक हैं।[४६]

व्रत

व्रत का अर्थ है विरति।[४७] विरति असत् प्रवृत्ति की होती है। अकरण, निवृत्ति, उपरम और विरति ये एकार्थक शब्द हैं।[४८] व्रत शब्द का प्रयोग निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनो ही अर्थों में होता है। जैसे "**वृषलान्नं व्रतयति**" अर्थात् वह शूद्र के अन्न का परिहार करता है। "**पयोव्रतयति**" अर्थात् केवल दूध पीता है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही खाता। इसी तरह असत् प्रवृत्ति का परिहार और सत् में प्रवृत्ति इन दोनों अर्थों में व्रत शब्द का प्रयोग हुआ है।[४९]

भगवान् श्री महावीर और ऋषभदेव के श्रमण पाँच महाव्रत रूप धर्म का पालन करते हैं और अन्य बावीस तीर्थंकरों के श्रमण चार यामों का। इसका क्या रहस्य है, यह प्रश्न भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के अन्तिम प्रतिनिधि केशीकुमार श्रमण के मन को कचोट रहा था। उन्होंने गौतम गणधर से पूछा।[५०] गौतम ने समाधान करते हुए कहा—"विज्ञवर! प्रथम तीर्थंकर के श्रमण ऋजु-जड़ होते हैं, अन्तिम तीर्थंकर के श्रमण वक्र जड़ होते हैं और मध्य के तीर्थंकरों के श्रमण ऋजु-प्राज्ञ होते हैं। प्रथम तीर्थंकर के मुनि कठिनता से समझते हैं और अन्तिम तीर्थंकर के शिष्यों को धर्मपालन करना कठिन होता है, किन्तु मध्यवर्ती युग के श्रमणो के लिए समझना और पालना सुलभ होता है।[५१]

चातुर्याम और पंचयाम का जो भेद है वह भी बहिर्दृष्टि से है, न कि अन्तर्दृष्टि से। मध्यवर्ती श्रमण परिग्रह त्याग में ही चतुर्थव्रत का समावेश कर लेते थे। कञ्चन और कांता दोनों का वे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध समझते थे।[५२] स्त्री को भी परिग्रह में गिनते थे। कुछ आधुनिक चिन्तकों ने लिखा है कि वे कान्तायुक्त थे, पर उनकी यह कल्पना अनागमिक एवं असंगत है।

ज्येष्ठ

जैन धर्म गुण प्रधान होने पर भी इसकी परम्परा पुरुष-ज्येष्ठ रही है। सौ वर्ष की दीक्षिता साध्वी भी आज के दीक्षित श्रमण को श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नमस्कार करती है।[५३]

ज्येष्ठ कल्प का दूसरा अर्थ है—बावीस तीर्थंकरों के समय श्रमणों के सामायिक चारित्र ही होता है, पर प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय श्रमणों के सामायिक चारित्र

के साथ ही छेदोपस्थापनिक चारित्र भी होता है। उसके आधार से ही श्रमण ज्येष्ठ या कनिष्ठ होता है। आज के युग में सामायिक चारित्र के ग्रहण को लघु-दीक्षा और छेदोपस्थापनिक चारित्र के ग्रहण को बड़ी-दीक्षा कहते हैं।"[५४]

ज्येष्ठ कल्प का तीसरा अर्थ है कि पिता-पुत्र, राजा-मन्त्री, सेठ-मुनीम, माता-पुत्री आदि यदि एक ही साथ प्रव्रज्या ग्रहण करे तो पिता, राजा, सेठ, माता आदि ज्येष्ठ माने जाएँ। यदि पुत्र आदि ने प्रथम सामायिक चारित्र आदि ग्रहण कर लिया है और फिर पिता आदि के अन्तर्मानस में प्रव्रज्या लेने की भावना उद्‌बुद्ध होती है तो चार-छह माह तक उसे छेदोपस्थापनिक चारित्र न दे। प्रथम पिता आदि को चारित्र देकर ज्येष्ठ बनावे।"[५५]

● प्रतिक्रमण

प्रतिक्रमण जैन धर्म की साधना का प्रमुखतम अग है। प्रतिक्रमण का अर्थ है "प्रमादवश स्व-स्थान से च्युत होकर पर-स्थान को प्राप्त करने के पश्चात् पुनः स्व-स्थान को प्राप्त करना।"[५६] अतिक्रमण का अर्थ समझने से प्रतिक्रमण का अर्थ-बोध स्पष्ट हो जायेगा। अतिक्रमण का अर्थ है सीमा को लाघना और तब प्रतिक्रमण का अर्थ हुआ पुनः अपनी सीमा में लौट आना। आत्मा निज स्वरूप से पर स्वरूप मे चला जाने पर उसे पुनः अपने स्वरूप में ले आने की क्रिया प्रतिक्रमण है।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, और अप्रशस्त योग ये चार दोष साधना के क्षेत्र मे बहुत ही भयकर माने गए हैं, अतः साधक को इन दोषों के परिहार हेतु प्रतिक्रमण करना चाहिए। मिथ्यात्व को त्याग कर, सम्यक्त्व को स्वीकार करना चाहिए। अविरति को छोड़ कर, व्रत अगीकार करना चाहिए। कषाय से मुक्त होकर, क्षमा, विनम्रता, सरलता, निर्लोभता धारण करना चाहिए। अप्रशस्त योगो को छोड़ कर प्रशस्त योगो मे रमण करना चाहिए।"[५७]

बावीस तीर्थंकरों के समय के साधक अतीव विवेकनिष्ठ एव जागरूक थे, अतः वे दोष लगने पर ही प्रतिक्रमण करते थे।"[५८]

कुछ आचार्यों का अभिमत है कि दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक, इन पाच प्रतिक्रमणो मे से बावीस तीर्थंकरों के समय दैवसिक और रात्रिक ये दो ही प्रतिक्रमण होते थे शेष नही।"[५९] जिनदासगणी महत्तर ने स्पष्ट कहा है कि "प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय नियमित रूप से उभय काल प्रतिक्रमण करने का विधान है और साथ ही दोष काल में भी ईर्यापथ एवं भिक्षा आदि के रूप में तत्काल प्रतिक्रमण का विधान है। बावीस तीर्थकरों के शासन काल में दोष लगते ही शुद्धि करली जाती थी, उभय काल नियमेन प्रतिक्रमण का विधान नहीं था।"[६०]

मासकल्प

श्रमण का आचार है कि वह एक स्थान पर स्थिर होकर नहीं रहता। चातुर्मास के सिवाय वह शीत (हेमन्त) और ग्रीष्म ऋतु मे विहार करता रहता है।[६१] भारण्डपक्षी की तरह अप्रमत्त होकर ग्रामानुग्राम विहार करता है।[६२]

विहार की दृष्टि से काल को दो भागों में विभक्त किया गया है—वर्षाकाल और ऋतुबद्ध काल। वर्षाकाल में श्रमण चार मास तक एक स्थान पर स्थिर रह सकता है और ऋतुबद्ध काल में एक मास तक। वर्षाकाल का समय एक स्थान पर स्थिर रहने का उत्कृष्ट समय है। अतः उसे सवत्सर कहा है।[६३] बृहत्कल्प भाष्य में वर्षावास का परम-प्रमाण चारमास बताया है[६४] और शेष काल का परम प्रमाण एक मास।[६५] जिस स्थान पर श्रमण उत्कृष्ट काल रह चुका हो, अर्थात् जिस स्थान में वर्षा ऋतु में वर्षावास किया हो उस स्थान में दो चातुर्मास्य अन्यत्र किए बिना चातुर्मास्य न करे, और जिस स्थान पर मासकल्प किया हो उस स्थान पर दो मास अन्यत्र बिताए विना न रहे।[६६] यद्यपि गाथा में तृतीय बार का स्पष्ट उल्लेख नही है, किंतु स्थविर अगस्त्यसिंह के अभिमतानुसार चकार के द्वारा वह प्रतिपादित है।[६७]

भगवान् ऋषभदेव और महावीर के श्रमणों के लिए ही मासकल्प का विधान है, शेष बावीस तीर्थङ्करो के श्रमणों के लिए नहीं।[६८] वे चाहें तो दीर्घकाल तक भी एक स्थान पर रह सकते हैं और चाहें तो शीघ्र ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रस्थान कर जाते हैं।

पर्युषणाकल्प

"परि" उपसर्ग पूर्वक वस् धातु से "अन." प्रत्यय लगाकर पर्युषण शब्द बना है। जिसका अर्थ है आत्मा के समीप रहना, पर-भाव से हटकर स्व-भाव मे रमण करना। आत्म-मज्जन, आत्म-रमण या आत्मस्थ होना। आत्म-रमण का यह कार्य एक दिन सामूहिक रूप से मनाया जाता है और वह 'पर्व' कहलाता है। यह पवित्र पर्व आषाढ़ी पूर्णिमा से उनपचास अथवा पचासवें दिन मनाया जाता है।[६९] जिसे सवत्सरी महापर्व कहते है।

पर्युषणा-कल्प का दूसरा अर्थ है एक स्थान पर निवास करना। वह सालंबन और निरालबन रूप दो प्रकार का है। सालबन का अर्थ है सकारण और निरालबन का अर्थ है कारण रहित। निरालंबन के भी जघन्य और उत्कृष्ट-रूप दो भेद है।[७०]

पर्युषणा के पर्यायवाची शब्द इस प्रकार बतलाए गए हैं—(१) **परियाय वत्थवणा** (२) **पज्जोसमणा** (३) **पागइया** (४) **परिवसना** (५) **पज्जुसणा** (६) **वासावास** (७) **पढमसमोसरण** (८) **ठवणा** और (९) **जेट्ठोग्गह।**

यद्यपि ये सब नाम एकार्थक है तथापि व्युत्पत्ति भेद के आधार पर उनमें किंचित् अर्थभेद भी हैं और यह अर्थ भेद पर्युषणा से सम्बन्धित विविध परम्पराओं, एवं उस नियत-

काल में की जाने वाली क्रियाओ का महत्त्वपूर्ण निदर्शन करता है। इन अर्थों से कुछ ऐतिहासिक तथ्य भी व्यक्त होते हैं।

पर्युषणा काल के आधार से काल गणना करके दीक्षापर्याय की ज्येष्ठता व कनिष्ठता गिनी जाती है अर्थात् जितने पर्युषण—उतनी ही दीक्षापर्याय ज्येष्ठ ! पर्युषणा-काल एक प्रकार का 'वर्षमान' गिना जाता रहा है। अतएव पर्युषणा को दीक्षापर्याय की व्यवस्था का कारण माना है।

वर्षावास में भिन्न प्रकार के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सम्बन्धी कुछ विशेष पर्यायों (क्रियाओं) का आचरण किया जाता है, इस कारण पर्युषण का दूसरा नाम "पज्जो समणा" है।

गृहस्थ आदि सभी के लिए समानभावेन आराधनीय होने के कारण यह कल्प 'पागइया' (प्राकृतिक) कहलाता है।

इस नियत अवधि मे साधक आत्मा के अधिक निकट रहने का प्रयत्न करता है, अत· वह 'परिवसना' भी कहा जा सकता है।

पज्जुसणा—का अर्थ सेवा भी है। इस काल में साधक आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि निज गुणों की सेवा—उपासना करता है, अत इसे 'पज्जुसणा' भी कहते हैं।

इस कल्प में श्रमण एक स्थान पर चार मास तक निवास करता है, अतएव इसे 'वासावास—वर्षावास' कहा गया है।

कोई विशेष कारण न हो तो प्रावृट् काल में ही चातुर्मास्य व्यतीत करने योग्य क्षेत्र मे प्रवेश किया जाता है, अतएव इसे 'पढमसमोसरण' (प्रथम समवशरण) कहते हैं।

ऋतुवद्ध काल की अपेक्षा इसकी मर्यादाएँ भिन्न होती हैं। अतएव यह 'ठवणा' है। ऋतुबद्ध काल में एक-एक मास का क्षेत्रावग्रह होता है, किन्तु वर्षाकाल मे चार मास का, अतएव इसे जेट्ठोग्गह—ज्येष्ठावग्रह कहते हैं।[७१]

अगर साधु आषाढी पूर्णिमा तक नियत स्थान पर आ पहुँचा हो और वर्षावास की जाहिरात करदी हो तो श्रावणकृष्णा पञ्चमी से ही वर्षावास प्रारम्भ हो जाता है। उपयुक्त क्षेत्र न मिलने पर श्रावणकृष्णा दशमी को, फिर भी योग्य क्षेत्र की प्राप्ति न हो तो श्रावण मास की पंचदशमी (अमावस्या) का वर्षावास आरम्भ करना चाहिए। इतने पर भी योग्य क्षेत्र न मिले तो पाँच-पाँच दिन बढ़ाते हुए अन्तत· भाद्रपद शुक्ला पचमी तक तो प्रारम्भ कर देना अनिवार्य माना गया है। इस समय तक भी उपयुक्त क्षेत्र प्राप्त न हुआ हो तो अन्ततः वृक्ष के नीचे ही पर्युषणा कल्प करना चाहिए। पर इस तिथि का किसी भी स्थिति मे उल्लघन नही करना चाहिए।

पंचमी, दशमी और पचदशमी, इन पर्वो में ही पर्युषणाकल्प करना चाहिए, अन्य तिथि—अपर्व में नही। इस प्रकार का सामान्य विधान होने पर भी विशिष्ट कारण से

आर्य कालक ने चतुर्थी तिथि में पर्युषणा की आराधना की थी, मगर उसे सामान्य नियम नहीं समझना चाहिए और वह किसी परम्परा के रूप में मान्य नहीं की जा सकती।[७२]

वर्षावास मे भी विशेष कारण से श्रमण विहार कर सकता है। स्थानाङ्ग में पांच कारणों का निर्देश किया है। वे कारण ये हैं—(१) ज्ञान के लिए (२) दर्शन के लिए (३) चारित्र के लिए, (४) आचार्य और उपाध्याय के काल करने पर (५) आचार्य, उपाध्याय आदि की वैयावृत्य के लिए।[७३]

कल्पसूत्र की टीकाओ मे कुछ अन्य कारण भी वर्षावास में विहार करने के बताये हैं। जैसे कि 'दुष्काल के कारण भिक्षा की उपलब्धि न होने से, राज-प्रकोप होने से, रोग उत्पन्न होने से। जीव उत्पत्ति का आधिक्य होने से, आदि आदि।[७४]

वर्षावास समाप्त होने पर श्रमण को विहार करना चाहिए। पर, यदि वर्षा का आधिक्य हो, वर्षा से मार्ग दुर्गम व भग्न हो गये हों, कीचड़ अधिक हो, बीमारी आदि कोई कारण हो तो वह अधिक भी ठहर सकता है।[७५]

वर्षावास के लिए भी वही क्षेत्र उत्तम माना गया है, जहाँ पर तेरहगुण हों। वे गुण इस प्रकार है :—(१) जहाँ पर विशेष कीचड न हो, (२) अधिक जीवो की उत्पत्ति न हो, (३) शौच-स्थल निर्दोष हो, (४) रहने का स्थान शान्तिप्रद हो, (५) गोरस की उपलब्धि यथोचित होती हो, (६) जनसमूह विशाल और भद्र हो, (७) सुज्ञ वैद्य हो, (८) औषध सुलभ हो, (९) गृहस्थ वर्ग धन धान्यादि से समृद्ध हो, (१०) राजा धार्मिक हो, (११) श्रमण ब्राह्मण का अपमान न होता हो, (१२) भिक्षा सुलभ हो, (१३) जहाँ पर स्वाध्याय के योग्य स्थान हो।[७६]

भगवान् ऋषभदेव और महावीर के श्रमणो के लिए वर्षावास—पर्युषणा का पूर्ण विधान है, अर्थात् वे बारमास तक के नियत काल में एक ही क्षेत्र मे वास करते हैं। शेष बावीस तीर्थङ्कर के श्रमणों के लिए ऐसा नही है। वे वर्षा आदि के कारण ठहरते भी थे और कारणाभाव में विहार भी कर जाते थे।[७७]

इन दसकल्पो में (१) आचेलक्य, (२) औद्देशिक, (३) प्रतिक्रमण, (४) राजपिण्ड, (५) मासकल्प, (६) पर्युषणा कल्प, ये छह कल्प अस्थिर हैं।[७८] (१) शय्यातर पिण्ड, (२) चतुर्थ महाव्रत रूप धर्म, (३) पुरुषज्येष्ठ (४) कृतिकर्म ये चार कल्प अवस्थित हैं और चौबीस ही तीर्थङ्करो के शासन में मान्य होते हैं।[७९]

● कल्प : तीसरी औषध

कल्प के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए पूर्वाचार्यों ने एक विचार प्रधान दृष्टांत दिया है।

क्षितिप्रतिष्ठ नगर था। जितशत्रु नामका राजा वहाँ राज्य करता था। चिर-प्रतीक्षा के बाद, ढलती हुई आयु में उसे पुत्र-रत्न की उपलब्धि हुई। पुत्र सदा स्वस्थ और

प्रसन्न बना रहे एतदर्थ राजा ने अपने राज्य के तीन सुप्रसिद्ध वैद्यों को बुलाया और उनसे कहा—"वैद्यराज ! ऐसी औषध बतलाओ जिसके सेवन से मेरा पुत्र गुलाब के फूल की तरह सदा खिला रहे।"

उन वैद्यों में से प्रथम वैद्य ने कहा—"राजन् ! मेरी औषध में वह चमत्कार है कि यदि शरीर में किसी भी प्रकार का कोई रोग हो तो सेवन करते ही नष्ट हो जायेगा और यदि शरीर मे रोग नही है तो रोग उत्पन्न हो जायेगा।"

राजा ने कहा—"वैद्यवर ! मुझे ऐसी औषध की आवश्यकता नही है। रोग का निमन्त्रण देने वाली यह औषध किस काम की !"

दूसरे वैद्य ने कहा—"राजन् ! मेरी औषध में अपूर्व शक्ति है। शरीर व्याधि से ग्रसित है तो व्याधि से मुक्त हो जायेगा, यदि शरीर में व्याधि नही है तो औषध न लाभ करेगी, न हानि ही करेगी।"

राजा ने कहा– "वैद्यवर ! आपकी औषध तो राख में घी डालने के समान है। इस औषध की भी मुझे आवश्यकता नहीं है।"

तृतीय वैद्य ने कहा—"राजन् ! मेरी औषध विलक्षण गुणवाली है। यदि शरीर मे रोग है तो उससे मुक्ति मिल जायेगी, रोग नही, तो भविष्य में रोग उत्पन्न नही होगा। इसके सेवन से शरीर में अभिनव चेतना, तथा नवस्फूर्ति का सचार होगा। बल, वीर्य की वृद्धि होगी। शरीर सदा स्वस्थ और मन प्रसन्न रहेगा।"

राजा ने प्रसन्न होकर कहा—"वैद्यवर ! तुम्हारी औषाध वस्तुत उत्तम है। राजकुमार के लिए यही उपयुक्त है।"

औषध के सेवन से राजकुमार स्वस्थ, सशक्त और तेजस्वी हो गया।

आचार्यों ने प्रस्तुत दृष्टात के द्वारा यह भाव व्यक्त किया है कि कल्प का पालन भी तृतीय-औषध के समान हितावह है। दोष लगने पर भी और दोषमुक्त अवस्था मे भी।[८०] दोष लगा है तो शुद्धि हो जाती है और दोष नहीं लगा है तो सदा सावधानी और जागृति रखने से भूल की धूल नही लगती। इस प्रकार कल्प एक रसायन है, जो आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप आदि गुणों को परिपुष्ट करता है।

● अस्थिर और अवस्थित कल्प क्यों ?

एक जिज्ञासा हो सकती है कि सभी तीर्थङ्करों के श्रमणों का लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है, फिर प्रथम, अन्तिम और मध्य के बावीस तीर्थङ्करों के श्रमणों के आचार कल्प में यह अन्तर क्यो है ? अस्थिर और अवस्थित कल्प का भेद क्यों है ?

समाधान है—प्रथम तीर्थङ्कर के श्रमण जड़ और सरल होते थे। अजित–आदि बावीस तीर्थङ्करों के काल में श्रमण विज्ञ और सरल होते थे। भगवान् महावीर के

श्रमण जड़ और वक्र होते थे, अतः उन्हें सुख-बोध्य एव सुपाल्य हो, इस दृष्टि से मोक्ष मार्ग एक होने पर भी आचार-कल्प मे अन्तर किया गया है।

प्रथम तीर्थङ्कर के श्रमण जड़ होते थे, उनमे बावीस तीर्थङ्करों के श्रमणों जितनी प्रतिभा की तेजस्विता नही होती। वे किसी भी वस्तु के अन्तस्तल तक जल्दी नहीं पहुँच पाते, सरल होने के कारण वे भूल को सहज रूप मे स्वीकार कर लेते थे। जैसे कि निम्न उदाहरण से स्पष्ट है—

एक बार भगवान् ऋषभदेव के श्रमण शौच के लिए गए। बहुत विलम्ब से लौटे। गुरू ने पूछा—"इतना विलम्ब कैसे हुआ ?" शिष्यो ने निवेदन किया—"गुरुदेव ! मार्ग में एक नट नृत्य कर रहा था, हम उसे देखने के लिए रुक गए।" गुरू ने उपालम्भ देते हुए कहा—"वत्स ! श्रमणों को नट का नृत्य नही देखना चाहिए।" "**तहत्ति**" कहकर उन्होंने गुरू के आदेश को शिरोधार्य किया।

कुछ ही दिन व्यतीत हुए, एक दिन पुनः शिष्य विलम्ब से आये। गुरू ने कारण पूछा। उन्होने बताया, 'गुरुदेव ! मार्ग में एक नटनी का मनोहर नृत्य हो रहा था, उसे देखने के लिए हम रुक गये।' आज्ञा की अवहेलना करने के कारण गुरू ने विशेष उपालम्भ देते हुए कहा—जब नट का नृत्य देखने का निषेध किया गया तो स्वतः ही नटनी के नृत्य का निषेध भी समझ लेना चाहिए। क्योंकि वह विशेष राग का कारण है। शिष्यों ने अपनी भूल स्वीकार की और भविष्य में सावधानी रखने का सकल्प किया।

बावीस तीर्थङ्करो के श्रमण मेधावी होते थे। उनके जीवन में भी ऐसा ही प्रसंग आया। गुरु ने नट-नृत्य का निषेध किया, उन्होंने बुद्धि की प्रखरता से नटनी आदि सभी प्रकार के नृत्यो का निषेध समझ लिया।

महावीर के श्रमण जड और वक्र होते थे। उनके जीवन में जब ऐसा प्रसंग आया तो उन्होंने गुरु को उपालम्भ देते हुए कहा—"आपकी भूल है। आपने प्रथम स्पष्टीकरण क्यों नही किया कि 'नट का नृत्य नहीं देखना और नटनी का भी नही देखना चाहिए। आपने ऐसा कहा नहीं, सिर्फ नट के नृत्य का निषेध किया, अतः हम नटनी का नृत्य देखने लग गए।' यह है जडता के साथ वक्रता का निदर्शन !

● जड़ और सरल

दूसरा दृष्टान्त देखिये—कोकण देश मे एक श्रेष्ठी रहता था। आचार्य के वैराग्यमय उपदेश को सुनकर उसे संसार से विरक्ति हुई। दीक्षा ग्रहण की। एक दिन ईर्यावही के कायोत्सर्ग में उसे अधिक समय लगा। गुरु ने पूछा—'वत्स ! इतने समय तक ध्यान में क्या चिंतन किया था ?

शिष्य ने कहा—"गुरुदेव ! जीव दया का सूक्ष्म चिंतन कर रहा था।

गुरु ने पुनः पूछा—"बताओ किस प्रकार चिंतन कर रहे थे ?'

शिष्य—"गुरुदेव ! मेरे घर खेती का धन्धा था। मैं खेत को रेशम की तरह मुलायम करता, वर्षा होने पर उसमे धान्य बोता, फिर उसमे घास आदि जो भी पैदा हो जाता उसे उखाड़ कर एक तरफ करता, और खेती की तल्लीनता से रक्षा करता। गाँव मे मेरी ही खेती सबसे बढिया होती थी। अब मेरे भोले-भाले लड़के क्या करते होंगे ? यदि ध्यान नही रखेगे तो धान अच्छा नही पैदा होगा और विना धान के उनकी कैसी दयनीय दशा होगी ?"

गुरु ने कहा—"शिष्य ! इस प्रकार का ध्यान धर्म-ध्यान नहीं, दुर्ध्यान है। अहिंसक ध्यान नही, हिंसक ध्यान है। भविष्य में इस प्रकार का ध्यान न करना।" शिष्य ने भूल स्वीकार की। यह है जड़ता के साथ सरल मानस का चित्रण !

भगवान ऋषभदेव के शासन काल की सरल मनोवृत्ति का परिचय देने वाला एक उदाहरण है। एक शिष्य भिक्षा लेकर आया। गुरु ने भिक्षा पात्र खोला, पात्र मे एक ही बड़ा देखकर गुरू ने साश्चर्य मुद्रा में पूछा—'वत्स ! ऐसा कौन दाता मिला, जिसने एक ही बड़ा दिया ?'

शिष्य ने विनम्र शब्दो मे निवेदन किया—"गुरुदेव ! गृहस्थ ने मुझे उदार भावना से बत्तीस गर्मागर्म बड़े दिए थे। मैने सोचा, ये सारे बड़े अकेले गुरूजी नही खायेगे। आधे मुझे भी देगे ही। फिर गर्मागर्म बडो को ठण्डा करने से लाभ क्या है ? मैंने अपने हिस्से के सोलह बड़े खा लिए। बड़े बहुत ही अच्छे लगे। फिर सोचा, सोलह बड़ों के भी तो दो विभाग किए जायेंगे। यह सोच आठ और खा गया। पूर्ववत् विचार करता हुआ, चार और खा गया। फिर दो खा गया। फिर विभाग का विचार करता हुआ एक खा गया। इस प्रकार इकतीस बड़े मैंने खाये।"

गुरु ने कहा—'वत्स ! विना गुरूजी को खिलाए वे बड़े तुम्हारे गले के नीचे कैसे उतर गए ?'

एक बड़ा जो पात्र में पड़ा था उसे मुँह में डालते हुए शिष्य ने कहा—'गुरूजी ! इस प्रकार वे गले के नीचे उतर गए।'

शिष्य की सरलता देखकर गुरूजी की आँखों में मन्द-स्मित की रेखायें थिरक उठीं। गुरूजी ने समझाया—'वत्स ! मार्ग में चलते हुए, तथा गुरुजी को विना दिखलाए खाना श्रमणाचार के विरुद्ध है।' शिष्य को अपनी भूल का परिज्ञान हुआ, भविष्य में ऐसी भूल न करने का वचन दिया।

अब देखिए एक वक्र श्रेष्ठी पुत्र का उदाहरण भी। एक सेठ ने अपने वाचाल पुत्र को शिक्षा देते हुए कहा—'पुत्र ! बड़ों के सामने नहीं बोलना चाहिए।'

पुत्र ने सोचा—'पिता को ऐसा छट्ठी का दूध पिलाऊँ जिससे पिता भी याद रखे। एक दिन सभी घर वाले बाहर गये हुए थे। वह अकेला ही घर में था। घर के सभी द्वार बन्द कर वह एक कमरे में बैठ गया। पिता लौटे, आवाज दी, पर वह न बोला और न द्वार ही खोला। सेठ ने सोचा, सम्भव है कुछ अनहोनी घटना घटित हो गई हो, चिन्तातुर दीवाल को लांघ कर अन्दर पहुँचा। लड़का अन्दर बैठा हुआ मन ही मन हंस रहा था। सेठ ने कहा—'अरे मूर्ख ! इतनी आवाजे दी, बोला क्यों नहीं ? उसने खिलखिलाकर हसते हुए कहा—'आपने ही तो कहा था कि बडों के सामने बोलना नहीं।'

आचार्यों ने इन उदाहरणों से प्रथम, अतिम एव मध्यम तीर्थङ्करों के युग का मनोविश्लेषण उपस्थित किया है कि तद्युगीन मनुष्यों की वृत्तियाँ, एवं मन स्थिति किस प्रकार, ऋजुजड, वक्रजड एव ऋजु-प्राज्ञ होती थी।

——●पर्युषण और कल्पसूत्र का महत्त्व

भारतवर्ष पर्व प्रधान देश है। पर्वों का जितना सूक्ष्मविवेचन और विशद विश्लेषण भारतीय साहित्य में दृष्टिगोचर होता है उतना अन्य साहित्य में नही। यहाँ सात वार हैं तो नौ त्यौहार !

पर्व दो प्रकार के होते हैं, लौकिक तथा लोकोत्तर। लौकिक पर्व, आनन्द, भोग एवं खेल कूद से मनाये जाते हैं, किंतु लोकोत्तर पर्व—त्याग, तपस्या एव साधना के द्वारा।

लोकोत्तर पर्वों मे भी पर्युषणपर्व का अपना विशिष्ट स्थान है। अपनी कुछ मौलिक विशेषताओं के कारण ही यह 'महापर्व' कहलाता है। जैसे—क्षीरो मे गोक्षीर, जलो मे गगा नीर, पट सूत्रों मे हीर, वस्त्रो मे चीर, अलकारो मे चूड़ामणि, ज्योतिष्को मे निशामणि, तुरङ्गो में पचवल्लभ किशोर, नृत्य मे मयूर-नृत्य, गजो मे ऐरावत, दैत्यो मे रावण, वनो में नन्दन वन, काष्ठों से वन्दन, तेजस्वियो मे आदित्य, राजाओं में विक्रमादित्य, न्यायकर्त्ताओं में श्रीराम, रूप मे काम, सतियों मे राजीमती, शास्त्रों मे भगवती, वाद्यो मे भभा, स्त्रियो में रम्भा, सुगन्धों मे कस्तूरी, वस्तुओं मे तेजमतुरी, पुण्य-धारियो मे नल, पुष्पों में कमल, वैसे ही पर्वों में पर्युषण पर्व है। पर्युषण पर्व के पुण्य-पलो मे साधक को बहिरात्मभाव से अधिकाधिक हटकर अन्तरात्मा मे रमण करना चाहिए। त्याग, वैराग्य और प्रत्याख्यान से जीवन को चमकाना चाहिए।

पर्युषण मे जीवनोत्थान की मगलमय प्रेरणा प्राप्त करने के लिए ही कल्पसूत्र के वाचन व श्रवण की परम्परा है। कल्पसूत्र दशाश्रुत स्कध का आठवाँ अध्ययन है। इसके तीन विभाग है। प्रथम विभाग में चौवीस तीर्थंकरों का पवित्र चरित्र है। द्वितीय विभाग में स्थविरावली है और तृतीय विभाग में समाचारी है।[८१]

कल्पसूत्र के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए आचार्यों ने कहा है—कल्पसूत्र आचार और तप के महत्त्व का प्रतिपादन करने वाला महत्त्वपूर्ण सूत्र है। यह कल्पवृक्ष के

समान मनोवांछित ऋद्धि, समृद्धि और आत्म-सुख का प्रदाता है।[८२] जो मानव जिन-शासन की प्रभावना करता हुआ, जिन धर्म पर दृढ-निष्ठा रखता हुआ, एकाग्रचित्त से कल्पसूत्र का श्रवण और पठन करता है वह शीघ्र ही ससार सागर से पार हो जाता है।[८३] महापुरुषों के गुणानुवाद करने से कर्मों की निर्जरा होती है। सम्यग्दर्शन की विशुद्धि होती है।[८४] सम्यग्दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र का लाभ होता है। तथा इनके लाभ से जीव सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होता है।[८५]

अर्हम्

नमोऽत्थुणं समणस्स भगवओ वीरवद्धमाणसामिस्स

चरिमसुयकेवलिसिरिभद्दबाहुसामिविरइय

सिरिकप्पसुत्तं

[दसासुयक्खंधसुत्तस्स अट्ठमं अज्झयणं]

मूल, अर्थ, विवेचन

॥ नमः श्री सर्वज्ञाय ॥

णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आयरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्वसाहूणं
एसो पंचनमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥१॥

अर्थ—अरिहन्तों को नमस्कार हो ।
सिद्धों को नमस्कार हो ।
आचार्यों को नमस्कार हो ।
लोक में स्थित सर्व साधुओं को नमस्कार हो ।

यह पंच नमस्कार सर्व पापों को नाश करने वाला और सर्वमंगलों में प्रथम मंगल है ।

विवेचन—नमस्कार महामन्त्र, जैन संस्कृति का एक सर्वमान्य प्रभावशाली मन्त्र है । यह संसार के समस्त मन्त्रों में मुकुटमणि के समान है । कल्पतरु, चिंतामणि, कामकुम्भ और कामधेनु के समान समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाला है । लोक में अनुपम है । आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक सभी प्रकार की बाधाओं को दूर करने वाला अमोघमन्त्र है ।

इसके जाप से पाप नष्ट होता है, बुद्धि की शुद्धि होती है, लक्ष्मी की वृद्धि होती है, सिद्धि की उपलब्धि होती है, आरोग्य की प्राप्ति होती है, चिन्ताएँ नष्ट होती हैं। भूत, प्रेत, राक्षस, पिशाच, डाकिनी-शाकिनी आदि सभी प्रकार के उपद्रवों का उपशमन होता है। लौकिक और लोकोत्तर सभी प्रकार के सुख प्राप्त होते है। मलिन से मलिन एवं पतित-से-पतित आत्मा भी नमस्कार मत्र के जाप से निर्मल तथा पवित्र हो जाता है।

आचार्य कहते है—'नमस्कार महामंत्र के एक अक्षर का ध्यान करने से भी सात सागरोपम काल में किए गए पाप नष्ट हो जाते हैं। सम्पूर्ण महा-मत्र का ध्यान करने से पाँच सौ सागरोपम काल में सञ्चित पापों का विनाश होता है।[1] जो नमस्कार महामंत्र का निष्कामभाव से विधिपूर्वक एक लाख बार जाप करता है, उसकी अर्चना करता है, वह तीर्थकरनामकर्म की उपार्जना करता है, वह शाश्वत-धाम (मुक्ति) को प्राप्त होता है।[2] जो भावुक भक्त आठ करोड़, आठ हजार, आठ सौ आठ बार नमस्कार महामन्त्र का जाप करता है वह तीसरे भव में मोक्ष प्राप्त करता है।'[3]

जैन आगम व आगमेतर साहित्य में ऐसी अनेक कथाएँ विद्यमान हैं जिनमें नमस्कार महामन्त्र का अद्भुत प्रभाव प्रदर्शित किया गया है। महामंत्र के प्रबल प्रभाव से ही श्रेष्ठी सुदर्शन ने शूली को सिंहासन के रूप में परिणत किया था। नाग जैसे क्षुद्र जीव को भी धरणेन्द्र की पदवी प्राप्त हुई थी। सती सुभद्रा ने कच्चे धागों से छलनी को बाँध कर कुएँ मे पानी निकाला था और चम्पा के द्वार खोले थे। सती सीता ने अग्नि-कुण्ड को जल-कुण्ड के रूप में बदल दिया था। आग की लपलपाती लपटें भी बर्फ-सी शीतल हो गई थी। सती श्रीमती ने भयंकर विषधर को सुमन-माला के रूप में परिवर्तित कर दिया था। इसी महामन्त्र के चमत्कार से ही श्रीपाल और मैना सुन्दरी का जीवन सुखी बना था। द्रौपदी का चीर बढ़ा था। विष को पीयूष, शत्रु को मित्र, अग्नि को पानी, दुःखी को सुखी बनाने वाला दिव्यप्रभावशाली यह महामन्त्र नमस्कार ही है।

यह महामन्त्र अनादि है, भूतकाल में अनन्त तीर्थंकर हुए हैं, भविष्य

में अनन्त तीर्थंकर होंगे, पर कोई भी इस महामन्त्र की आदि नही जानता है।[४] जिसकी आदि है नही, उसकी आदि जानी भी कैसे जा सकती है? यह अनादि-निधन मन्त्र है।

इस महामन्त्र में व्यक्ति-विशेष की उपासना नहीं, किन्तु गुणों की उपासना की गई है। आत्मिक गुणों को विकसित करने वाले जो महापुरुष हैं, उनको नमस्कार किया गया है। यह महामन्त्र पन्थ, परम्परा व सम्प्रदाय की परिधि से मुक्त है। अतः मानवमात्र की एक अनमोल निधि है, और सबके लिए समान भाव से सदा स्मरणीय है।

मूल :—

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे पंच हत्थुत्तरे होत्था। तं जहा-हत्थुत्तराहिं चुए चइत्ता गब्भं वक्कंते१ हत्थुत्तराहिं गब्भाओ गब्भं साहरिए२ हत्थुत्तराहिं जाए३ हत्थुत्तराहिं मुण्डे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए४ हत्थुत्तराहिं अणंते अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुन्ने केवलवरनाण-दंसणे समुप्पन्ने५ साइणा परिनिव्वुए भयवं ॥१॥

अर्थ—उस काल उस समय भगवान् महावीर के पाँच [कल्याण] हस्तोत्तर [उत्तराफाल्गुनी] नक्षत्र में हुए। हस्तोत्तर नक्षत्र में भगवान् स्वर्ग से च्यवकर गर्भ में आये (१)। हस्तोत्तर नक्षत्र में भगवान् एक गर्भ से दूसरे गर्भ में संहरण किए गए (२)। हस्तोत्तर नक्षत्र में भगवान् जन्मे (३)। हस्तोत्तर नक्षत्र में मुण्डित होकर गृहत्याग कर अनगारत्व स्वीकार किया (४)। हस्तोत्तर नक्षत्र में भगवान् को अनन्त, अनुत्तर, अव्याबाध, निरावरण समग्र और परिपूर्ण श्रेष्ठ केवलज्ञान और केवल दर्शन उत्पन्न हुआ (५)। तथा स्वाति नक्षत्र में भगवान् परिनिर्वाण को प्राप्त हुए (६) ॥१॥[५]

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में तीन शब्द चिन्तनीय हैं। **"समणे" "भगवं"** और **"महावीरे"**। आचारांग और कल्पसूत्र में भगवान् महावीर के तीन नाम

आए हैं, उनमें दूसरा नाम "समण" है। "समण" शब्द के 'समन' 'सुमनस्' और 'श्रमण' ये तीन संस्कृत रूप होते हैं।

सभी जीवों को आत्म-तुला की दृष्टि से तोलने वाला समतायोगी "समन" कहलाता है।[६] राग द्वेष रहित मध्यस्थवृत्ति वाला 'समनस्' अथवा 'सुमनस्' कहलाता है।[७] 'समनस्' के स्थान पर 'सुमनस्' का प्रयोग मिलता है, जिसका अर्थ है-'जिसका चित्त सदा कल्याणकारी कार्यों में लगा रहता हो, मन से कभी पाप का चिंतन न करता हो उसे 'समनस्' या 'सुमनस्' कहा जाता है।'

तपस्या से खिन्न[८] क्षीणकाय और तपस्वी 'श्रमण'[९] कहलाता है। समभाव प्रभृति सद्गुणों से सम्पन्न होने से भगवान् श्रमण कहलाते थे।

भगवान् में-"भग" शब्द का प्रयोग ऐश्वर्य, रूप, यश, श्री, धर्म और प्रयत्न इन छह अर्थों में होता है।[१०] जिसके यश आदि का महान विस्तार होता है उसे भगवान् कहते हैं।[११] यजुर्वेद (१५। ३८) के प्रसिद्ध भाष्यकार आचार्य उव्वट ने भी 'भग' शब्द के ये ही अर्थ मान्य किए है। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार भगवान् शब्द की व्युत्पत्ति यों है-जिसके राग, द्वेष, मोह एवं आश्रव भग्न-नष्ट हो गये हैं-वह भगवान् है।[१२]

महावीर-यश और गुणों में महान् वीर होने से भगवान् महावीर कहलाए।[१३] जो शूर-विक्रान्त होता है उसे वीर कहते हैं, कषायादि महान् शत्रुओं को जीतने से भगवान् महाविक्रांत-महावीर कहलाये।[१४] आचारांग मे कहा है-'भयंकर भय-भैरव तथा अचेलकता आदि कठिन तथा घोराति-घोर परीषहो को दृढ़तापूर्वक सहन करने के कारण देवों ने उनका नाम महावीर रखा।[१५]

कल्पसूत्र के चूर्णिकार ने[१६] और टिप्पणकार आचार्य पृथ्वीचन्द्र[१७] ने हस्तोत्तरा का अर्थ किया है "हस्त से उत्तर हस्तोत्तर है", अर्थात् उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र। नक्षत्रों की गणना करने से हस्त नक्षत्र जिसके उत्तर (पहले) आता है वह नक्षत्र, इसी नक्षत्र में भगवान् महावीर के पाँच कल्याणक हुए।

मूल :—

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भयवं महावीरे जे से गिम्हाणं चउत्थे मासे अट्ठमे पक्खे आसाढसुद्धे तस्स णं आसाढ-सुद्धस्स छट्ठीपक्खेणं महाविजयपुप्फुत्तरपवरपुंडरीयाओ महा-विमाणाओ वीसं सागरोवमट्ठियाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता इहेव जम्बुद्दीवे दीवे भारहे वासे दाहिणद्धभरहे इमीसे ओसप्पिणीए सुसमसुसमाए समाए विइक्कंताए सुसमाए समाए विइक्कंताए दुस्समसुसमाए समाए बहुविइक्कंताए सागरोवमकोडाकोडीए बायालीसवाससहस्सेहिं ऊणियाए पंचहत्तरीए वासेहिं अद्धनवमेहिं य मासेहिं सेसेहिं इक्कवीसाए तित्थयरेहिं इक्खागकुलसमुप्पन्नेहिं कासवगुत्तेहिं दोहि य हरिवंसकुलसमुप्पन्नेहिं गोतमसगुत्तेहिं तेवीसाए तित्थयरेहिं वीइक्कंतेहिं समणे भगवं महावीरे चरिमे तित्थकरे पुव्वतित्थकरनिद्दिट्ठे माहणकुण्डग्गामे नगरे उसभदत्तस्स माहणस्स कोडालसगुत्तस्स भारियाए देवाणंदाए माहणीए जालंधरसगोत्ताए पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि हत्थुत्तराहिं नक्ख-त्तेणं जोगमुवागएणं आहारवक्कंतीए भववक्कंतीए सरीर-वक्कंतीए कुच्छिसि गब्भत्ताए वक्कंते ॥२॥

अर्थ—उस काल और उस समय श्रमण भगवान् महावीर ग्रीष्मकाल के चतुर्थमास और आठवें पक्ष अर्थात् आषाढ शुक्ल छट्ठ के दिन महाविजय पुष्पोत्तरप्रवर पुण्डरीक महाविमान से बीस सागरोपम की आयु, भव और स्थिति का क्षय करने के पश्चात् च्यवकर इसी जम्बूद्वीप के दक्षिणार्द्ध भरत में, इसी अवसर्पिणी काल में, जब सुषमासुषम, सुषम, सुषम-दुषम, नामक आरे

व्यतीत हो चुके थे और दुषम-सुषम नामक आरा भी प्रायः समाप्त हो गया था, अर्थात् एक कोटाकोटी सागरोपम में बयालीस हजार वर्ष न्यून प्रमाणवाला दुषम सुषम-नामक आरे का बहुभाग व्यतीत हो गया था। केवल पचहत्तर (७५) वर्ष और साढ़े आठ माह शेष रह गये थे। इससे पूर्व ही इक्ष्वाकु कुल में जन्म ग्रहण किये हुए और काश्यपगोत्रीय इक्कीस तीर्थंकर हो गये थे और हरिवंश कुल में जन्म पाये हुए गौतमगोत्र वाले दो तीर्थंकर भी हो चुके थे। इस प्रकार तेवीस तीर्थंकर हो चुकने पर 'श्रमण भगवान् महावीर अन्तिम तीर्थंकर होंगे' इस प्रकार पूर्व-तीर्थंकरों द्वारा निर्दिष्ट भगवान् महावीर माहण-कुण्डग्राम नगर में कोडाल गोत्रीय ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी जालन्धर गोत्रीया देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में, अर्द्धरात्रि के समय, हस्तोत्तरा [उत्तर-फाल्गुनी] नक्षत्र के योग में, देव सम्बन्धी आहार, भव और शरीर त्याग कर गर्भ रूप में उत्पन्न हुये।

विवेचन–जैनागमों मे बीस कोटाकोटी सागरोपम परिमित समय को काल-चक्र कहा है। उसके दो विभाग हैं, अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी[१८]। दस कोटाकोटी सागरोपम परिमित वह ह्रासकाल, जिसमें समस्त पदार्थों के वर्णादि गुणों की क्रमशः हानि होती है, अवसर्पिणी है[१९] और दस कोटाकोटी सागरोपम परिमित वह उत्क्रान्ति काल, जिसमें समस्त पदार्थों के वर्णादि गुणों की क्रमशः वृद्धि होती है, उत्सर्पिणी कहलाता है।[२०]

प्रत्येक काल–चक्रार्ध में छह-छह आरे होते हैं।[२१] अवसर्पिणी काल के प्रथम आरे का नाम "सुषम-सुषम" है। यह चार कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण है। उस समय हस्त-तल की भाँति भूमि सम होती है। पंचवर्ण मणियों के समान सुन्दर तृणादि से युक्त पृथ्वी होती है। यत्र-तत्र उद्दाल, कोद्दाल, मोद्दाल, कृतमाल, नृतमाल, दंतमाल, नागमाल, शृंगमाल, शंखमाल और श्वेतमाल[२२] वृक्षों की छटादार छाया ही नहीं, अपितु उन वृक्षों में सुगन्धित पुष्प और मधुर फल लगे होते हैं। साथ ही भेरुतालवन, हेरुतालवन, मेरुतालवन, पमयाल-वन, सालवन, सरलवन, सप्तवर्णवन, पूगफलीवन, खज्जुरीवन, नारिकेलवन प्रभृति सघनवन[२३] भी यत्र तत्र होते हैं। मानव, प्रकृति से सरल, मानस

से कोमल और उपशान्त रागद्वेष वाले होते है। शरीर से सुन्दर एवं स्वस्थ होते हैं। उस समय मानव की उत्कृष्ट ऊँचाई तीन कोस की और उत्कृष्ट आयु तीनपल्योपम की होती है।[२४] तीन दिन के पश्चात् उन्हे क्षुधा लगती हैं। तब वे अरहर की दाल के बराबर मात्रावाला अल्पतम भोजन करते हैं।[२५] दस प्रकार के कल्पवृक्षों से मनोवांछित सुखसाधनों की उपलब्धि होती है। इस युग में मानव सुखी ही नही, परमसुखी तथा सतुष्ट होता है।

द्वितीय आरे का नाम 'सुषम' है। यह तीन कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण होता है। पूर्वापेक्षया वर्ण, गंध, रस और स्पर्श की उत्कृष्टता का ह्रास हो जाता है। इस आरे के प्रारम्भ मे मानव की आयु दो पल्योपम की होती है और आरे के अन्त के ममय एक पल्योपम की। ऊँचाई भी प्रारम्भ में दो कोस की और अन्तिम समय एक कोस की। पूर्ववत् इनकी भी इच्छाएँ कल्पवृक्षों से पूर्ण होतो हैं :

तृतीय आरे का नाम 'सुषम-दुषम' है। यह दो कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण है। इस आरे के प्रारम्भ में मानव की ऊँचाई एक कोस की और उतरते आरे पाँच सौ धनुष्य की होती है। आयुष्य आदि में एक पल्योपम का और उतरते आरे करोड पूर्व का होता है। इस आरे के एक पल्योपम का आठवां भाग जब शेष रहता है तब प्रथमकुलकर का जन्म होता है और चौरासी लाख पूर्व, तीन वर्ष व साढ़े आठ माह शेष रहने पर प्रथम तीर्थंकर का जन्म होता है।[२६]

चतुर्थ आरे का नाम 'दुषम-सुषम' है। यह बयालीस हजार वर्ष न्यून एक कोटाकोटी सागरोपम का होता है। प्रारम्भ में मानव की ऊँचाई पाँच सौ धनुष्य की और उतरते आरे सात हाथ की होती है। प्रारम्भ में करोड पूर्व की आयु और अन्त में सौ वर्ष से कुछ अधिक उम्र होती है। इस आरे में तेवीस तीर्थंकर, ग्यारह चक्रवर्ती, नौ वासुदेव तथा बलदेव होते हैं।[२७]

पंचम आरे का नाम 'दुषम' है। यह इक्कीस हजार वर्ष का होता है। इसमें मानव की आयु प्रारम्भ में एक सौ से कुछ अधिक वर्षों की होती है और

अन्त में बीस वर्ष की। प्रारम्भ मे सात हाथ की ऊँचाई होती है[28] और बाद में धीरे धीरे कम होते हुए एक हाथ की रह जाती है। इस आरे में जन्म ग्रहण किया हुआ व्यक्ति मोक्ष नहीं पाता। मानव स्वभाव अमर्यादित व उच्छृङ्खल होता है।

छट्ठे आरे का नाम 'दुषम-दुषम' है। यह भी इक्कीस हजार वर्ष का होता है। इस आरे के प्रारम्भ में मानव की उत्कृष्ट आयु बीस वर्ष की और अन्तिम समय सोलह वर्ष की होती है। प्रारम्भ में एक हाथ की ऊँचाई और धीरे-धीरे मुण्ड हाथ की। इस आरे में पृथ्वी अङ्गारे के समान तप्त होती है। मानव कुरूप, निर्लज्ज, कपटो और अमर्यादित स्वभाव वाले होते हैं। वे बहत्तर प्रकार के बिलों में निवास करते हैं।[29]

इस प्रकार अवसर्पिणी काल के छह आरे समाप्त होने पर उत्सर्पिणी काल प्रारम्भ होता है। उसमें दुषम-दुषम, दुषम, दुषम-सुषम, सुषम-दुषम सुषम, और सुषम-सुषम आरे होते हैं। उत्सर्पिणी काल में क्रमश: अधिकाधिक सुख आदि की अभिवृद्धि होती है।[30]

प्रत्येक कालचक्रार्ध में चौबीस तीर्थंकर होते है। भगवान् श्री महावीर के पूर्व तेबीस तीर्थंकर हो चुके थे। उनमें से भगवान् श्रीमुनिसुव्रत और नेमिनाथ ये दो तीर्थंकर हरिवंश मे उत्पन्न हुए थे और शेष, इक्कीस तीर्थंकर काश्यप गोत्रीय (इक्ष्वाकुवंशीय) थे।[31] काश्य का अर्थ इक्षु-रस है, उसका पान करने के कारण भगवान् ऋषभ काश्यप कहलाये।[32] भगवान् ऋषभदेव के गोत्र में उत्पन्न होने से अन्य तीर्थंकर भी काश्यप गोत्रीय कहलाये।[33] काश्य का दूसरा अर्थ क्षत्रियतेज है और उस क्षत्रिय तेज की रक्षा करने वाले को काश्यप कहा है।[34]

भगवान् श्री महावीर के लिए प्रस्तुत सूत्र में 'पूर्वनिर्दिष्ट' विशेषण आया है। उसका तात्पर्य भगवान् श्री ऋषभदेव आदि पूर्ववर्त्ती तेवीस तीर्थंकरों की भविष्यवाणी से है।

● भगवान महावीर के पूर्वभव

जैनधर्म अवतारवादी नहीं, किंतु उत्तारवादी है। उसक यहा सुनिश्चित मन्तव्य है कि कोई भी आत्मा या सत्पुरुष ईश्वर या ईश्वर का अंश नही होता। पूर्ण शुद्धस्थिति प्राप्त करने के पश्चात् पुनः अशुद्धस्थिति में नहीं आ सकता। अवतार का अर्थ है ईश्वरत्व से नीचे उतर कर मानव बनना। और उत्तार का अर्थ है मानव से भगवान् बनना। जैनधर्म के तीर्थंकर नित्यबुद्ध व नित्यमुक्त रूप में रहने वाले ईश्वर नहीं हैं और न वे ईश्वर के अवतार या अंश ही है। उनकी जीवन गाथाओं से स्पष्ट है कि उनका जीवन भी प्रारम्भ में हमारी ही तरह राग-द्वेष आदि से कलुषित था। परन्तु संयम-साधना एवं तपः आराधना करके उन्होंने जीवन को निखारा था। एक जीवन की साधना से नही, अपितु अनेक जन्मों की साधना-आराधना से वे तीर्थंकर बने। आवश्यकनिर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि, त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित्र, महावीर-चरियं, और कल्पसूत्र की विभिन्न टीकाओं में महावीर के सत्ताईस पूर्व भवों का वर्णन है और दिगम्बराचार्य गुणभद्र रचित उत्तरपुराण में तेतीस भवों का निरूपण है।[३५] इसके अतिरिक्त नाम, स्थल तथा आयु आदि के सम्बन्ध मे भी दोनों परम्पराओं मे अन्तर है[३६] किंतु इतना तो स्पष्ट है कि उनका तीर्थ-करत्व अनेक जन्मों की साधना का निश्चित परिणाम था।

प्रश्न हो सकता है—सत्ताईस पूर्वभवों का ही निरूपण क्यों किया गया है? उत्तर है–किसी भी जीव के भवभ्रमण की आदि नही है, अतएव पूर्व-भवों की गणना करना भी सम्भव नहीं है, तथापि जिस पूर्वभव से मोक्षमार्ग की आराधना का आरम्भ होता है, उसी भव से पूर्वभवों की गणना की जाती है। इस दृष्टि से उसी भव एवं उसी जन्म का महत्व है जिस भव तथा जिस जन्म में मोक्षमार्ग के प्रथम चरण रूप सम्यग्दर्शन, अथवा सद्बोधि की प्राप्ति होती है। महावीर के जीव ने नयसार के भव में ही सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त किया था, अतः उसी भव से उनके पूर्वभवों की परिगणना की गई है। यहाँ एक बात स्मरण रखना चाहिए कि सत्ताईस भवों की जो गणना है, वह भी क्रमबद्ध नहीं है। इन भवों के अतिरिक्त अनेक बार उन्होंने नरक, देव आदि के भव भी

ग्रहण किये हैं, पर, उन क्षुद्रभवों का नाम निर्देश नहीं है। वहाँ आचार्य "**संसारे कियन्तमपि कालमटित्वा**"[३७] अर्थात् कुछ काल पर्यन्त संसार-भ्रमण करके, ऐसा लिखकर आगे बढ़ गये हैं।

सत्ताईस भवों की परिगणना के भी दो प्रकार ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। आवश्यकनिर्युक्ति, चूर्णि, मलयगिरिवृत्ति, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, कल्प-सूत्र की टीकाओं और पुरातत्त्ववेत्ता श्री कल्याणविजयजी के मन्तव्यानुसार सत्ताईसवाँ भव देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में जन्म होना है जब कि समवायाङ्ग सूत्र तथा उसकी वृत्ति के अनुसार छब्बीसवाँ भव देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में जन्म ग्रहण करने का है और सत्ताईसवाँ भव त्रिशलारानी के गर्भ में आने का। श्री महावीर के उन भवों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है–

(१) नयसार

अपरमहाविदेह के महावप्र विजयक्षेत्र की जयन्ती नगरी के शत्रुमर्दन नामक सम्राट् थे।[३८] प्रस्तुत प्रान्त के पुरप्रतिष्ठान ग्राम में भगवान् महावीर का जीव उस समय नयसार नामक ग्रामचिन्तक बना।[३९] सम्राट् को नव्य-भव्य प्रासाद हेतु काष्ठ की आवश्यकता हुई।[४०] सम्राट् के आदेशानुसार नयसार अनेक गाड़ियों को लेकर अरण्य में पहुँचा। भोजन तैयार करके जीमने को बैठने का विचार कर ही रहा था कि सार्थ (समूह) से परिभ्रष्ट और मार्ग-विस्मृत, क्षुधा और पिपासा से पीडित तपस्वी मुनि उधर निकल आये।[४१] नयसार के पूछने पर उत्तर देते हुए मुनियों ने कहा–"भद्र! हमने सार्थवाह के साथ प्रस्थान किया था, सार्थवाह ने विश्राम लिया और हम निकटस्थ ग्राम में भिक्षा हेतु गये। पुनः अपने विश्राम स्थल पर गये तो देखा कि–सार्थवाह पूर्व ही प्रस्थान कर गया था, अब हम मार्ग भूलकर जंगल में इधर उधर घूम रहें हैं।" नयसार ने भक्ति-भावना से विभोर होकर वह निर्दोष आहार मुनिजनों को प्रदान किया, मार्ग बताया, मुनियों ने भी उपदेश देकर उसे मोक्ष का मार्ग बतलाया। नयसार सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ[४२] और परित-संसारी (अल्प-संसारी) बना।

(२) प्रथम देवलोक

नयसार वहां से आयु पूर्णकर सौधर्मकल्प में एक पल्योपम की स्थिति वाला महर्द्धिक देव बना।[४३]

(३) मरीचि [त्रिदण्डी]

नयसार का जीव स्वर्ग से आयु पूर्ण होने पर तृतीय भव में चक्रवर्ती सम्राट् भरत का पुत्र मरीचि के रूप में उत्पन्न हुआ।[४४] वहां भगवान् श्री ऋषभदेव के प्रथम प्रवचन को श्रवण कर श्रमणत्व स्वीकार किया।[४५] पर एक बार भीष्म-ग्रीष्म के आतप से प्रताडित होकर मरीचि साधना के कठोर कंटकाकीर्ण महामार्ग से विचलित हो गया। उसके अन्तर्मानस में ये विचार लहरियाँ तरगित हुई कि "मेरु पर्वत सदृश यह संयम का गुरुतर भार मैं एक मुहूर्त भी सहन करने में असमर्थ हूँ। क्या मुझे पुनः गृहस्थाश्रम स्वीकार करना चाहिए ? नहीं, कदापि नहीं। किन्तु जबकि संयम का विशुद्धता से पालन नही कर पाता, तब फिर श्रमण वेष को छोड़कर नवीन वेष-भूषा अपनाना ही उचित है।"[४६] उसने सकल्प किया—"श्रमण संस्कृति के श्रमण त्रिदण्ड—मन, वचन काय के अशुभ व्यापारों से रहित होते हैं, इन्द्रिय-विजेता होते हैं, पर मैं त्रिदण्ड से युक्त हूँ और अजितेन्द्रिय हूँ अतः इसके प्रतीक रूप में त्रिदण्ड धारण करूँगा।"[४७]

"श्रमण द्रव्य और भाव से मुण्डित होते हैं, सर्वप्राणातिपातविरमण महाव्रत के धारक होते है, पर मैं शिखा सहित हूँ, क्षुरमुंडन कराऊंगा और स्थूल प्राणातिपात का विरमण करूँगा।"[४८]

"श्रमण अकिंचन तथा शील की सौरभ से सुरभित होते हैं, पर मैं वैसा नहीं हूँ, मैं सपरिग्रह रहकर शील की सौरभ के अभाव में चन्दनादि की सुगन्ध से सुगन्धित रहूँगा।"[४९]

"श्रमण निर्मोही होते हैं, पर मैं मोह-ममता के मरुस्थल में घूम रहा हूँ। इसके प्रतीक रूप मैं छत्र धारण करूँगा। श्रमण नंगे पैर होते हैं पर मैं उपानह (काष्ट पादुका) पहनूंगा।"[५०]

"श्रमण जो स्थविरकल्पी हैं, वे श्वेतवस्त्र धारण करते हैं और जिनकल्पी निर्वस्त्र होते हैं, पर, मैं कषाय से कलुषित हूँ अतः उसके प्रतीक स्वरूप काषायवस्त्र धारण करूंगा।"[५१]

"श्रमण पाप भीरु और बहुत जीवों की घात करने वाले आरम्भ-परिग्रह से मुक्त होते है। सचित्त जल का प्रयोग नही करते। पर मैं वैसा नही कर पाता अतः परिमित जल, स्नान और पीने के लिए ग्रहण करूँगा।"[५२]

इस प्रकार मरीचि ने अपनी नवीन परिकल्पना से परिव्राजक-परिधान एवं मर्यादा का निर्माण किया।[५३] और भगवान् के साथ ही ग्राम, नगर आदि में विचरने लगा। [५४] भगवान् के श्रमणों से मरीचि की पृथक् वेष-भूषा को देख कर जन-जन के मानस में कुतूहल उत्पन्न होता। जिज्ञासु बनकर वे उसके पास पहुँचते।[५५] मरीचि प्रतिबोध देकर उन्हें भगवान् का शिष्य बनाता।"[५६]

एक समय सम्राट् भरत ने भगवान् श्री ऋषभ देव से जिज्ञासा की—"प्रभो! क्या इस परिषद् में कोई व्यक्ति ऐसा है जो आपके सदृश ही भरत क्षेत्र में तीर्थ कर बनेगा ?"[५७] जिज्ञासा का समाधान करते हुए भगवान् ने कहा—"स्वाध्याय ध्यान से आत्मा को ध्याता हुआ तुम्हारा पुत्र मरीचि परिव्राजक भविष्य मे वर्धमान (महावीर) नामक अन्तिम तीर्थंकर होगा। इससे पूर्व वह पोतनपुर का अधिपति त्रिपृष्ट वासुदेव बनेगा और विदेहक्षेत्र की मूकानगरी मे तुम्हारे जैसा ही प्रियमित्र नामक चक्रवर्ती बनेगा।[५८] इस प्रकार तीन विशिष्ट उपाधियों को वह अकेला ही प्राप्त करेगा।" भगवान् की भविष्यवाणी को श्रवण कर सम्राट् भरत भगवान् को वन्दन कर मरीचि परिव्राजक के पास पहुँचे और भगवान् की भविष्यवाणी सुनाते हुए बोले—"हे मरीचि [त्रिदण्डी] परिव्राजक! तुम अन्तिम तीर्थंकर बनोगे, अत मैं तुम्हारा अभिनन्दन करता हूँ।[५९] साथ ही वासुदेव व चक्रवर्ती भी होओगे।" यह सुनकर मरीचि की हृत्तत्री के सुकुमार तार झनझना उठे। "मैं वासुदेव बनूँगा, मैं चक्रवर्ती पद प्राप्त करूँगा और तीर्थंकर होऊँगा![६०] मेरे पिता चक्रवर्ती हैं, मेरे पितामह तीर्थंकर है और मैं अकेला ही तीन पदवियों को धारण करूँगा,[६१] मेरा कुल कितना महान् है, कितना उत्तम है ?" यों कहता हुआ मारे खुशी के वह बाँसो उछलने लगा।

एक दिन मरीचि का स्वास्थ्य बिगड गया। कोई उसकी सेवा करने वाला था नहीं, सेवा करने वाले के अभाव में क्षुब्ध होकर मरीचि के मानस में ये विचार उठे कि "मैंने अनेकों को उपदेश देकर भगवान् का शिष्य बनाया, पर, आज मैं स्वयं सेवा करने वाले शिष्य से वंचित हूँ, स्वस्थ होने पर मैं स्वयं अपना शिष्य बनाउँगा।"[६२] वह स्वस्थ हुआ। राजकुमार कपिल धर्म की जिज्ञासा से उसके पास आया। उसने आर्हती दीक्षा की प्रेरणा दी। कपिल ने प्रश्न किया–"आप स्वयं आर्हत धर्म का पालन क्यों नहीं करते ?"

उत्तर में मरीचि ने कहा–"मैं उसे पालन करने में असमर्थ हूँ।" कपिल ने पुन. प्रश्न किया–"क्या आप जिस मार्ग का अनुसरण कर रहे है, उसमें धर्म नही है ?"

इस प्रश्न ने मरीचि के मानस मे आत्मसम्मान का संघर्ष पैदा करदिया और कुछ क्षण रुककर उसने कहा–"यहां पर भी वही है जो जिनधर्म में है।"[६३] कपिल मरीचि का शिष्य बना और मिथ्यामत की संस्थापना की, जिसके कारण वह बहु-संसारी वना और कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण संसार भ्रमण करना पड़ा।[६४] कृत-दोषों की आलोचना किए बिना ही उसने आयुपूर्ण किया।

(४) ब्रह्मदेवलोक

चौरासी लक्षपूर्व की आयु पूर्ण कर मरीचि का जीव ब्रह्मदेव लोक में दस सागर की स्थिति वाला देव हुआ।[६५]

(५) कौशिक

वहाँ से च्यवकर कोल्लाकसन्निवेश में अस्सी लाख पूर्व की आयु वाले कौशिक ब्राह्मण के रूप में जन्म लिया।

(६) पुष्पमित्र

कौशिक का आयु पूर्ण करके वह स्थूणा नगरी में पुष्पमित्र नामका ब्राह्मण हुआ। उसकी बहत्तर लाख पूर्व की आयु थी। अन्त समय में त्रिदण्डी परिव्राजक बना।

(७) सौधर्म देवलोक

वहाँ से आयु पूर्णकर सौधर्मकल्प में मध्यमस्थिति वाला देव बना।

(८) अग्निद्योत

वहाँ से च्यवकर वह चैत्यसन्निवेश में अग्निद्योत नामक ब्राह्मण हुआ। उसकी आयु चौसठ लाख पूर्व की थी। अन्त में त्रिदण्डी परिव्राजक हुआ।

(९) ईशान देवलोक

वहां से आयु पूर्णकर ईशान देवलोक में मध्यमस्थिति वाला देव बना।

(१०) अग्निभूति

तत्पश्चात् मन्दिर नामक सन्निवेश में अग्निभूति नामक ब्राह्मण के रूप में जन्म लिया। उसकी आयु छप्पनलाख पूर्व की थी। जीवन की सांध्य-वेला में वहां भी वह त्रिदण्डी परिव्राजक बना।

(११) सनत्कुमार देवलोक

वहाँ से आयु पूर्ण कर सनत्कुमारकल्प में मध्यमस्थिति वाला देव हुआ।

(१२) भारद्वाज

सनत्कुमारकल्प से आयुपूर्ण कर श्वेताम्बिका नगरी में भारद्वाज नाम का ब्राह्मण हुआ। उसकी आयु चवालीस लक्ष पूर्व की थी। अन्तिम समय में त्रिदण्डी परिव्राजक बना।

(१३) माहेन्द्र देवलोक

वहां से आयु पूर्णकर वह माहेन्द्रकल्प में मध्यमस्थिति वाला देव बना।[८८]

(१४) स्थावर ब्राह्मण

देवलोक से च्यवकर और कितने ही काल तक संसार में परिभ्रमण कर, वह राजगृह नगर में स्थावर नामक ब्राह्मण हुआ। वहां पर उसकी आयु चौतीस लक्ष पूर्व की हुई। जीवन के प्रान्त भाग में त्रिदण्डी परिव्राजक बना।

(१५) ब्रह्म देवलोक

पन्द्रहवें भव में वह ब्रह्म देवलोक में मध्यमस्थिति वाला देव हुआ।

(१६) विश्वभूति

देवलोक की आयु पूर्ण होने पर लम्बे समय तक संसार में परिभ्रमण करने के पश्चात् वह राजगृह नगर में विश्वनन्दी राजा के भ्राता तथा युवराज विशाखभूति का पुत्र विश्वभूति हुआ। राजा विश्वनन्दी के पुत्र का नाम विशाखनन्दी था।

एक समय विश्वभूति पुष्प करंडक उद्यान में अपनी पत्नियों के साथ उन्मुक्त-क्रीडा कर रहा था। महारानी की दासियां उस उद्यान में पुष्प आदि लेने के लिए आयी, उन्होंने विश्वभूति को यों सुख के सागर में तैरता हुआ देखा तो ईर्ष्या से उनका मुख म्लान हो गया, उन्होंने राजरानी से कहा– "महारानीजी ! सच्चा सुख तो विश्वभूति कुमार भोगता है। विशाखनन्दी को राजकुमार होने पर भी विश्वभूति की तरह सुख कहां है ? कहलाने को आप भले ही अपना राज्य कहें, पर सच्चा राज्य तो विश्वभूति का है।" दासियों के कथन से रानी के हृदय में ईर्ष्याग्नि भड़क उठी। वह आपे से बाहर हो गई। राजा ने उसको शान्त करने का प्रयास किया, पर वह कड़क कर बोली–"जब आपके रहते यह स्थिति है तो बाद में क्या होगा ?"

राजा ने समझाया–"यह हमारी कुल-मर्यादा के प्रतिकूल है, जब तक प्रथम पुरुष अन्तःपुर सहित उद्यान में है तब तक द्वितीय पुरुष उसमें प्रवेश नही कर सकता।" अन्त में अमात्य ने प्रस्तुत समस्या को सुलझाने के लिए अज्ञात मनुष्यों के हाथ राजा के पास कृत्रिम लेख पहुँचाया। लेख पढ़ते ही राजा ने युद्ध की उद्घोषणा की। रणभेरी बज गई। वह यात्रा के लिए प्रस्थान करने लगा। विश्वभूति को यह सूचना मिलते ही वह उद्यान से निकलकर राजा के पास पहुँचा। राजा को रोककर स्वयं युद्ध के लिए चल दिया। युद्ध के मैदान में किसी भी शत्रु को न देखकर वह पुनः दलबल सहित लौट आया। इधर विश्वभूति के जाने के पश्चात् राजकुमार विशाखनन्दी ने अन्तःपुर सहित उद्यान में अपना डेरा डाल दिया। विश्वभूति उद्यान में प्रवेश करने लगा तो दण्डधारी द्वारपालों ने रोक दिया। कहा—अन्दर सपत्नीक विशाख-

नन्दी राजकुमार हैं। यह सुनकर विश्वभूति को सारे रहस्य का परिज्ञान हो गया कि युद्ध के बहाने मुझे यहां से निकाला गया है। उसने कुपित होकर वहीं पर कपित्थ (कैथ) के वृक्ष पर एक जोरदार प्रहार किया, जिससे सारे कपित्थ के फल भूमि पर गिर पड़े। उसने द्वारपालों को ललकारते हुए कहा—"इसी प्रकार मैं तुम्हारे सिर को नष्ट कर सकता हूँ, पर राजा के गौरव की रक्षा के लिए ऐसा नहीं करता। मुझसे मांगकर यह उद्यान लिया जा सकता था। परन्तु इस प्रकार छल-छद्म करना अनुचित है।" विश्वभूति को इस अपमान से बड़ा आघात लगा। संसार से विरक्ति हो गई। उसने आर्य संभूति स्थविर के पास संयम ग्रहण कर लिया। उत्कृष्ट तप से आत्मा को भावित करते हुए अनेक लब्धियाँ प्राप्त की।[६७]

एक समय विहार करते हुए विश्वभूति अनगार मथुरा नगरी में आये। इधर विशाखनन्दी कुमार भी वहाँ की राजकन्या से विवाह करने वहाँ आया और मुख्य मार्ग पर स्थित राजप्रासाद में ठहरा। विश्वभूति अनगार मासिक-व्रत के पारणा हेतु घूमते हुए उधर निकल आये। विशाखनन्दी के अनुचरों ने मुनि को पहचान कर उसे संवाद सुनाया। मुनि को देखते ही उसके अन्त-र्मानस में क्रोध की आँधी उठी। सरोष नेत्रों से वह मुनि को देख ही रहा था कि सद्यःप्रसूता गाय की टक्कर से विश्वभूति अनगार पृथ्वी पर गिर पड़े।[६८] गिरे हुए मुनि का उपहास करते हुए, विशाखनन्दी कुमार ने कहा—"तुम्हारा वह पराक्रम, जो कपित्थ को तोड़ते समय देखा था, आज कहाँ गायब हो गया है?" और वह खिलखिला कर हँस पड़ा।[६९] विश्वभूति अनगार ने भी आवेश में आकर गाय के शृङ्गों को पकड़ कर, चक्र की तरह घुमाकर आकाश में उछाल दिया और कहा—"क्या दुर्बल सिंह शृगाल से भी गया गुजरा होता है? यह दुरात्मा आज भी मेरे प्रति दुर्भावना रखता है? यदि मेरे तप-जप व ब्रह्मचर्य का फल हो तो आगामी भव में अपरिमित बल वाला बनूं।[७०] इस प्रकार निदान कर इस दोष की आलोचना किये बिना ही उन्होंने आयु पूर्ण की।

(१७) महाशुक्र देवलोक

वहाँ से आयुपूर्णकर महाशुक्र कल्प में उत्कृष्ट स्थिति वाला देव हुआ।[७१]

(१८) त्रिपृष्ठ

देवलोक की आयु पूर्ण होने पर वह पोतनपुर नगर में प्रजापति राजा की महारानी मृगावती की कुक्षि में उत्पन्न हुआ।[७२] माता ने सात स्वप्न देखे। जन्म होने पर पुत्र के पृष्ठ भाग में तीन पसलिएँ होने के कारण उसका "त्रिपृष्ठ" नाम रखा। यौवनावस्था प्राप्त की।

राजा प्रजापति प्रतिवासुदेव अश्वग्रीव के माण्डलिक थे। एक बार प्रतिवासुदेव ने निमित्तज्ञ से यह जिज्ञासा प्रस्तुत की कि मेरी मृत्यु कैसे होगी? निमित्तज्ञ ने बताया कि "जो आपके चण्डमेघ दूत को पीटेगा, तुङ्गगिरि पर रहे हुए केसरी सिंह को मारेगा उसके हाथ से आपकी मृत्यु होगी।"[७३] यह सुनकर अश्वग्रीव भयभीत हुआ। उसने सुना—प्रजापति राजा के पुत्र बड़े ही बलवान् है। परीक्षा करने चण्डमेघ दूत को वहाँ प्रेषित किया।

राजा प्रजापति अपने पुत्र तथा सभासदों के साथ राजसभा में बैठा था। संगीत की झंकार से राजसभा झंकृत हो रही थी। सभी तन्मय होकर नृत्य और संगीत का आनन्द लूट रहे थे। ठीक उसी समय अभिमानी दूत ने विना पूर्व सूचना दिये ही राजसभा में प्रवेश किया। राजा ने संभ्रान्त हो दूत का स्वागत किया। संगीत और नृत्य का कार्य स्थगित कर उसका सन्देश सुना।

त्रिपृष्ठ को रंग में भंग करने वाले दूत की उद्दण्डता अखरी। उन्होंने अपने अनुचरों को यह आदेश दिया कि जब यह दूत यहाँ से रवाना हो तब हमें सूचित करना।

राजा ने सत्कार पूर्वक दूत को विदा किया। इधर दोनों राजकुमारों को सूचना मिली। वे जंगल में दूत को पकड़ कर बुरी तरह पीटने लगे। दूत के जो भी साथी-सहायक थे वे सभी भाग छूटे, दूत की खूब पिटाई हुई।

जब प्रजापति को यह वृत्तान्त ज्ञात हुआ तो वे चिन्तातुर हो गए। दूत को पुनः अपने पास बुलाकर अत्यधिक पारितोषिक प्रदान किया और कहा कि— "पुत्रों की यह भूल अश्वग्रीव से न कहना।" दूत ने स्वीकार कर लिया, पर, उसके साथी जो पहले पहुँच चुके थे, उन्होंने सारा वृतान्त अश्वग्रीव को बता

दिया था। अश्वग्रीव अत्यधिक क्रुद्ध हुआ। दोनों राजकुमारों को मरवाने का उसने निश्चय किया।

अश्वग्रीव ने तुङ्गग्रीव क्षेत्र में शालिधान्य की खेती करवायी, और कुछ समय के बाद प्रजापति के पास दूत भेजा। दूत ने आदेश सुनाया कि "शालि के खेतों में एक क्रूर सिंह ने उपद्रव मचा रखा है, वहाँ रखवाली करने वालों को उसने मार डाला, पूरा क्षेत्र भयग्रस्त है, अतः आप जाकर सिंह से शालिक्षेत्र की रक्षा कीजिए।" प्रजापति ने पुत्रों से कहा—"तुमने दूत के साथ जो व्यवहार किया उसीके फलस्वरूप बारी न होने पर भी यह आज्ञा आई है।"

प्रजापति स्वयं शालिक्षेत्र की ओर प्रस्थान करने लगा। पुत्रों ने प्रार्थना की—'पिताजी ! आप ठहरिये ! हम जायेंगे।' वे गये, और वहाँ जाकर खेत के रक्षकों से पूछा—अन्य राजा यहाँ पर किस प्रकार और कितना समय रहते हैं ? उन्होंने निवेदन किया—"जब तक शालि-(धान्य) पक नहीं जाता है, तब तक चतुरंगिनी सेना का घेरा डालकर यहां रहते हैं और सिंहसे रक्षा करते हैं।"[७४] त्रिपृष्ठ ने कहा—मुझे वह स्थान बताओ जहाँ वह नवहत्था केसरीसिंह रहता है। रथारूढ होकर सशस्त्र त्रिपृष्ठ वहाँ पहुँचा। सिंह को ललकारा। सिंह भी अंगड़ाई लेकर उठा और मेघ-गम्भीर-गर्जना से पर्वत की चोटियों को कंपाता हुआ बाहर निकल आया। त्रिपृष्ठ ने सोचा "यह पैदल है और हम रथारूढ़ हैं। यह शस्त्र रहित है और हम शस्त्रों से सज्जित हैं। इस प्रकार की स्थिति में आक्रमण करना उचित नहीं।" ऐसा विचार कर वह रथ से नीचे उतर गया, और शस्त्र भी फेंक दिए।[७५]

सिंह ने सोचा "यह वज्र-मूर्ख है। प्रथम तो एकाकी मेरी गुफा पर आया है, दूसरे रथ से भी उतर गया है, तीसरे शस्त्र भी डाल दिये हैं। अब एक झपाटे में ही इसे चीर डालूँ।" ऐसा सोचकर वह त्रिपृष्ठ पर टूट पड़ा। त्रिपृष्ठ ने भी उछलकर पूरी शक्ति के साथ (पूर्वकृत निदान के अनुसार) उसके जबड़ों को पकड़ा और पुराने वस्त्र की तरह उसे चीर डाला। यह देख दर्शक आनन्द विभोर हो उठे। सिंह विशाखनन्दी का जीव था।

त्रिपृष्ठ सिंह-चर्म लेकर अपने नगर आया। आने के पूर्व उसने कृषकों से कहा—'घोटकग्रीव से कह देना कि वह अब निश्चिन्त रहे।' जब उसने यह बात सुनी तो वह अधिक क्रुद्ध हुआ। अश्वग्रीव ने दोनों राजकुमारों को बुलवाया। वे जब न गये तब अश्वग्रीव ने ससैन्य पोतनपुर पर चढाई करदी। त्रिपृष्ठ भी अपनी सेना के साथ देश की सीमा पर आ गया। भयंकर युद्ध हुआ। त्रिपृष्ठ को यह संहार अच्छा न लगा। उसने अश्वग्रीव से कहा—'निरपराध सैनिकों को मारने से लाभ क्या है ? अच्छा हो, हम दोनों ही युद्ध करें।' अश्वग्रीव ने प्रस्ताव स्वीकार किया। दोनों में तुमुल युद्ध हुआ। अश्वग्रीव के सभी शस्त्र समाप्त हो गये। उसने चक्र रत्न फेंका। त्रिपृष्ठ ने उसे पकड़ लिया और उसी से अपने शत्रु के सिर का छेदन कर डाला। तभी दिव्यवाणी से नभोमण्डल गूँज उठा--"त्रिपृष्ठ नामक प्रथम वासुदेव प्रकट हो गया।"[७६]

एक बार संध्या की सुहावनी वेला थी। सूर्य अस्ताचल की ओर पहुँच गया था। उस समय त्रिपृष्ठ वासुदेव के पास कुछ संगीतज्ञ आये। उन्होंने संगीत की सुमधुर स्वरलहरी से वातावरण को मुखरित कर दिया। निद्रा आने का समय होने पर वासुदेव ने शय्यापालकों से कहा--जब मुझे निद्रा आ जाय उस समय तुम गायकों को रोक देना। शय्यापालकों ने 'तथास्तु' कहा। कुछ ही समय में सम्राट् निद्राधीन हो गये। शय्यापालक संगीत पर इतना अधिक मुग्ध हो गया कि संगीतज्ञों को उसने विसर्जित नहीं किया। रात भर संगीत चलता रहा। ऊषा की सुनहरी किरणें मुस्कराने वाली थी कि सम्राट् की निद्रा टूटी। सम्राट् ने पूर्ववत् ही संगीत चालू देखा। शय्यापालक से पूछा—इन्हें विसर्जित क्यों नही किया ? उसने नम्र निवेदन किया—'देव ! श्रवण के सुख में अनुरक्त हो जाने से इनको नहीं रोका।'[७७] यह सुन त्रिपृष्ठ को क्रोध भडक आया। अपने सेवकों को बुलाकर कहा—"आज्ञा की अवहेलना करने वाले एवं संगीत लोभी इस शय्यापालक के कर्ण-कुहरों में गर्मागर्म शीशा उंड़ेल दो।" सम्राट् की कठोर आज्ञा से शय्यापालक के कानों में शीशा उंड़ेला गया। भयंकर वेदना से छटपटाते हुए उसने प्राण त्याग दिये।[७८] त्रिपृष्ठ ने सत्ता के मद में उन्मत्त बनकर इस क्रूरकृत्य के कारण निकाचित कर्मों का

बन्धन किया। महारंभ और महापरिग्रह में मशगूल बनकर चौरासी लाख वर्ष तक राज्य श्री का उपभोग करता रहा।[७९]

(१९) सातवीं नरक

त्रिपृष्ठ वासुदेव आयु पूर्णकर सातवें तमस्तमा नरक के अप्रतिष्ठान नारकावास में नैरयिक रूप में उत्पन्न हुआ।[८०]

(२०) सिंह

वहां से निकलकर वह केसरीसिंह बना।

(२१) चतुर्थ नरक

वहां से आयु पूर्णकर वह चतुर्थ नरक में गया।[८१] नरक से निकलने के पश्चात् उसने अनेक भव तिर्यञ्च और मनुष्य के किये।[८२] आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यक मलयगिरिवृत्ति, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र और "श्रमण भगवान् महावीर" में बावीसवां भव मानव का लिखा है। पर उसके नाम, आयुष्य आदि का उल्लेख नहीं है और न यह उल्लेख ही है कि चक्रवर्ती के योग्य पुण्य उपार्जन किन शुभ कृत्यों से किया था।

समवायाङ्ग सूत्र में और उसकी वृत्ति में महावीर के प्रथम छह भव दिये है। बावीसवां भव मानव का मानने पर, समवायाङ्ग का क्रम नही बैठता है। अतः हमने यहां बावीसवां भव मानव का नही लिखा है।

(२२) प्रियमित्र चक्रवर्ती

वहां से वह आयु समाप्त कर महाविदेह क्षेत्र की मूका नगरी में धनञ्जय राजा की धारणी रानी से प्रियमित्र चक्रवर्ती हुआ।[८३] पोट्टिलाचार्य के पावन प्रवचन रूपी पीयूष का पान कर मन में वैराग्य की ज्योति प्रज्ज्वलित हुई। दीक्षा ग्रहण की। एक करोड़ वर्ष तक संयम की कठोर साधना की।[८४]

समवायाङ्ग सूत्र में श्रमण भगवान् श्री महावीर ने तीर्थंकर के भवग्रहण से पूर्व छट्ठा पोट्टिल का भव ग्रहण किया और एक करोड़ वर्ष तक श्रमण पर्याय का पालन किया।[८५] नवाङ्गी टीकाकार आचार्य अभयदेव ने प्रस्तुत

सूत्र पर टीका करते हुए भगवान् पोट्टिल नामक राजपुत्र हुए लिखा है।[८६] भगवान् के जीव ने दो बार पोट्टिलाचाय के पास प्रव्रज्या ग्रहण की, पर स्वयं का नाम पोट्टिल था, यह समवायाङ्ग के अतिरिक्त आवश्यक निर्युक्ति, चूर्णि आदि में नही मिलता। संभव है कि पोट्टिलाचार्य के पास प्रव्रज्या ग्रहण करने के कारण प्रियमित्र चक्रवर्ती ही पोट्टिल कहे गये हों। या प्रियमित्र का ही अपर नाम पोट्टिल हो, पर गुरु शिष्य का एक नाम होने से भ्रम न हो जाय, इस दृष्टि से निर्युक्तिकार आदि ने यह नाम न दिया हो। हमारी दृष्टि से प्रियमित्र ही पोट्टिल होना चाहिए, क्योंकि वे ही छट्ठे भव में आते हैं। और प्रियमित्र व पोट्टिल दोनों की श्रमण-पर्याय एक वर्षकोटि की है,[८७] जो यह सिद्ध करती है कि वे दोनों पृथक्-पृथक् नही थे।

(२३) महाशुक्र

वहां से आयु पूर्णकर वह महाशुक्र कल्प के सर्वार्थ विमान में समुत्पन्न हुए। समवायाङ्ग में महाशुक्र के स्थान पर सहस्रार कल्प के सर्वार्थविमान का उल्लेख है। आचार्य अभयदेव ने नाम निर्देश नहीं किया हैं।[८८] उत्तरपुराणकार ने भी समवायाङ्ग की तरह ही सहस्रारकल्प का निर्देश किया है।[८९] निर्युक्तिकार ने महाशुक्र का नाम न देकर "सव्वट्ठे" ही लिखा है।[९०]

आचार्य जिनदास महत्तर व आचार्य मलयगिरि ने महाशुक्रकल्प का अर्थ सर्वार्थविमान किया है। सतरह सागरोपम तक वहाँ देव सम्बन्धी सुखों का उपभोग करने रहे।[९१]

(२४) नन्दन

वहाँ से च्यवकर भरत क्षेत्र की छत्रानगरी में जितशत्रु सम्राट् की भद्रा महारानी की कुक्षि में उत्पन्न हुए। नन्दन नाम रखा गया।[९२] पच्चीस लक्ष वर्ष की उम्र हुई।[९३] चौबीस लक्ष वर्ष तक गृहवास में रहे एक लक्ष वर्ष अवशेष रहने पर पोट्टिलाचार्य के पास संयम ग्रहण किया।[९४] एक लाख वर्ष तक निरन्तर मास खमण की तपस्या की।[९५] ग्यारह लाख साठ हजार मास खमण हुए, और तीन हजार तीन सौ तेतीस वर्ष तीन मास उनतीस दिन

पारणा के हुए । बीस स्थानकों की आराधना करके तीर्थंकर नामकर्म उपार्जित किया और अन्त में मासिक संलेखना करके आयु पूर्ण किया ।

(२५) प्राणत देवलोक

वहाँ से आयु पूर्ण होने पर वह प्राणत देवलोक के पुष्पोत्तरावतंसक विमान में बीस सागर की स्थिति वाले देव हुए ।[१७]

(२६) देवानन्दा के गर्भ में

स्वर्ग से च्यवन कर वह ब्राह्मण कुण्ड-ग्राम में कोडालसगोत्रीय सोमिल नामक ब्राह्मण की पत्नी देवानन्दा के गर्भ में पुत्र रूप में उत्पन्न हुए ।[१८] मरीचि के भव में जाति व कुल की श्रेष्ठता के दर्प के सर्प ने जो डसा था, उसका विष अभी तक उतरा नहीं था, उसी के फलस्वरूप यहाँ देवानन्दा के गर्भ में आना पड़ा । और बयासी रात्रि तक उस गर्भ में रहें ।

(२७) वर्धमान महावीर

तिरासीवीं रात्रि को शक्रेन्द्र की आज्ञा से हरिणैगमेषी देव ने उनको सिद्धार्थ राजा की रानी त्रिशला क्षत्रियाणी के उदर में प्रस्थापित किया और वहीं जन्म लेकर वर्धमान महावीर के नाम से प्रसिद्ध हुए ।

——● गर्भ संहरण

उपर्युक्त सत्ताईस भवों के निरूपण का सारांश यह है कि प्रथम तीर्थंकर ऋषभ देव ने अनेक भवों पूर्व मरीचि तापस को लक्ष्य करके जो कहा था—'यह अन्तिम तीर्थंकर महावीर होगा ।' वही मरीचि का जीव छब्बीसवें भव में देवा नन्दा के गर्भ में आया और वहाँ से संहरित होकर त्रिशला रानी के गर्भ से वर्धमान के रूप में अवतरित हुआ ।

मूल

समणे भयवं महावीरे तिण्णाणोवगए आवि होत्था—चइस्सामि त्ति जाणइ, चयमाणे न जाणइ, चुए मित्ति जाणइ ॥२॥

अर्थ–श्रमण भगवान् महावीर तीन ज्ञान [मति, श्रुत और अवधि] से युक्त थे। 'मैं देव भव से चऊँगा' ऐसा वे जानते थे, 'वर्तमान में च्यवमान हूँ' यह नहीं जानते थे, और 'देव भव से च्यव गया हूँ' ऐसा वे जानते थे।

विवेचन–जो देव भावी जन्म में तीर्थंकर बनने वाले होते हैं वे तीर्थङ्करत्व के वैशिष्ट्य के कारण जीवन के अन्तिम समय तक भी अधिक कान्तिमान और प्रसन्न रहते हैं, पर अन्य देव छह माह पूर्व से ही च्यवन के भय से भयभीत बन जाते हैं। मुरझाये हुए फूल की तरह म्लान हो जाते हैं।[९९]

सूत्र में "**चयमाणे न जाणइ**" जो पाठ आया है इसके रहस्य का उद्घाटन करते हुए–चूर्णिकार और टिप्पणकार ने कहा है कि–एक समय में उपयोग नही लगता। छद्मस्थ जीवों का उपयोग अन्तरमुहूर्त का होता है। किन्तु च्यवनकाल एक समय का ही होता है।[१००] अतः च्यवन काल के अत्यंत सूक्ष्म समय को छद्मस्थ जीव च्यवन कर रहा हूँ, ऐसा नहीं जान पाते। तीन ज्ञान होने से मैं च्यवगया हूँ यह जानते हैं।[१०१]

——— ● **देवानंदा के गर्भ में**

मूल :—

जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे देवाणंदाए माहणीए जालंधरसगोत्ताए कुच्छिंसि गब्भत्ताए वक्कंते तं रयणिं च णं सा देवाणंदा माहणी सयणिज्जंसि सुत्तजागरा ओहीरमाणी ओहीरमाणी इमेयारूवे ओराले कल्लाणे सिवे धन्ने मंगल्ले सस्सिरीए चोद्दस महासुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धा ॥४॥

अर्थ—जिस रात्रि में श्रमण भगवान महावीर जालंधर गोत्रीया देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में गर्भ रूप में अवतरित हुए, उस रात्रि को देवानन्दा ब्राह्मणी अर्धनिद्रावस्था में थी। उस समय उसने उदार, कल्याण, शिव, धन्य व मंगलरूप तथा शोभा युक्त चौदह महास्वप्न देखे और फिर जागी।

विवेचन—निद्रा दर्शनावरणीय कर्म का उदय है। उसके पाँच भेद हैं—(१) निद्रा, (२) निद्रा-निद्रा, (३) प्रचला, (४) प्रचला-प्रचला (५) और स्त्यानर्द्धि-निद्रा। इन पाँच निद्रा मे से तृतीय प्रचला निद्रा-अवस्था में देवानन्दा चतुर्दश स्वप्न देखती है।[१०२]

यहाँ उदार का अर्थ प्रधान, कल्याण का अर्थ आरोग्यकर, शिव का अर्थ उपद्रवों को शमन करने वाला, धन्य का अर्थ धन (अच्छाई) को धारण करने वाला, मंगल का अर्थ पवित्र, श्रीयुक्त का अर्थ शोभा से मनोहर है।[१०३]

मूल :—

तंजहा—

गय वसह सीह अभिसेय, दाम ससि दिणयरं झयं कुंभं।
पउमसर सागर विमाण, भवण रयणुच्चय सिहिं च ॥५॥

अर्थ—उन चौदह महास्वप्नों के नाम इस प्रकार है—(१) हस्ती, (२) वृषभ, (३) सिंह, (४) लक्ष्मी-देवी का अभिषेक, (५) पुष्प माला, (६) चन्द्र (७) सूर्य, (८) ध्वजा, (९) कुम्भ, (१०) पद्म सरोवर, (११) सागर, (१२) देव-विमान अथवा भवन (१३) रत्न राशि (१४) निर्धूम अग्नि।

मूल :—

तए णं सा देवाणंदा माहणी इमेतारूवे ओराले कल्लाणे सिवे धन्ने मंगल्ले सस्सिरीए चोद्दस महासुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धा समाणी हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिया पीइमणा परमसोमणसिया हरिसवसविसप्पमाणहियया धाराहयकलंबुयं पिव समुस्ससिय-रोमकूवा सुमिणोग्गहं करेइ, सुमिणोग्गहं करित्ता सयणिज्जाओ अब्भुट्ठेइ, सयणिज्जाओ अब्भुट्ठेत्ता अतुरियमचवलमसंभंताए राइहंससरिसीए गईए जेणेव उसभदत्ते माहणे तेणेव उवागच्छइ,

उवागच्छित्ता उसभदत्तं माहणं जएणं विजएणं वद्धावेइ, वद्धा-
वित्ता भद्दासणवरगया आसत्था वीसत्था करयलपरिग्गहियं
सिरसावत्तं दसनहं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी—एवं खलु
अहं देवाणुप्पिया! अज्ज सयणिज्जंसि सुत्तजागरा ओहीरमाणी
ओहीरमाणी इमे एयारुवे ओराले जाव सस्सिरीए चोद्दस महा-
सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धा तं जहा—गय जाव सिहिं च। एएसि
णं देवाणुप्पिया! ओरालाणं जाव चोद्दसण्हं महासुमिणाणं के
मन्ने कल्लाणे फलवित्तिविसेसे भविस्सइ ? ॥६॥

अर्थ—उस समय देवानन्दा ब्राह्मणी इस प्रकार उदार कल्याण, शिव, धन्य, मंगल व श्रीयुक्त चौदह महास्वप्नों को देखकर जागृत हुई, हर्षित एवं तुष्ट होकर आनन्दित व प्रीतिमना हुई। परम सौमनस्य को प्राप्त हुई। उसका हृदय हर्ष से प्रफुल्लित हो गया। जैसे कदम्बपुष्प मेघ की धाराओं से खिल जाता है, उसके काँटे खड़े हो जाते हैं, उसी प्रकार देवानंदा के रोम खड़े हो गये। स्वप्नों को स्मरण कर वह अपनी शय्या से उठी, और शनैः शनैः अचपल-गति से राजहंस की तरह चलती हुई जहाँ पर ऋषभदत्त ब्राह्मण है वहां आती है और ऋषभदत्त ब्राह्मण की "जय हो, विजय हो" इस प्रकार प्रशस्ति करती है। भद्रासन पर बैठकर आश्वस्त और विश्वस्त होने पर हाथों को जोड़कर मस्तिष्क पर अंजलि घुमाकर इस प्रकार बोली—'निश्चय ही हे देवानुप्रिय! मैं आज अर्धनिद्रावस्था में शय्या पर सोई हुई थी, उस समय इस प्रकार उदार व शोभायुक्त चौदह महास्वप्न देखकर जागृत हुई। वे स्वप्न इस प्रकार हैं—गज से लेकर निर्धूम अग्नि तक। हे देवानुप्रिय! उन उदार यावत् चौदह महास्वप्नों का क्या कल्याणमय फल विशेष होगा ?

मूल :—

तए णं से उसभदत्ते माहणे देवाणंदाए माहणीए अंतिए
एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ जाव हियए धाराहयकलंबुयं पिव

समुस्ससियरोमकूवे सुमिणोग्गहं करेइ, करित्ता ईहं अणुपविसइ, ईहं अणुपविसित्ता अप्पणो साभाविएणं मइपुव्वएणं बुद्धिविन्नाणेणं तेसिं सुमिणाणं अत्थोग्गहं करेइ. २ करेत्ता देवाणंदां माहणिं एवं वयासी ॥७॥

अर्थ—उसके पश्चात् वह ऋषभदत्त ब्राह्मण देवानन्दा ब्राह्मणी से इस बात को श्रवण कर एवं धारण कर हर्षित व तुष्ट हुआ, अत्यन्त आह्लाद को प्राप्त हुआ। जैसे मेघ की धारा से सिंचित होने पर कदम्ब-पुष्प खिल उठता है वैसे ही उसको रोमाञ्च हो गया। वह स्वप्नों को अवग्रहण कर उनके फल के अनुसंधान में विचार करने लगा, अपनी स्वाभाविक मनन युक्त बुद्धि विज्ञान से उन स्वप्नों का अर्थ अवधारण कर देवानन्दा ब्राह्मणी से इस प्रकार बोला।

मूल :—

ओराला णं तुमे देवाणुप्पिए! सुमिणा दिट्ठा, कल्लाणा णं० सिवा धन्ना मंगल्ला सस्सिरीया आरोग्गतुट्ठिदीहाउकल्लाण-मंगल्लकारगा णं तुमे देवाणुप्पिए! सुमिणा दिट्ठा। तं जहा— अत्थलाभो देवाणुप्पिए! भोग लाभो देवाणुप्पिए! पुत्त लाभो देवाणुप्पिए! सोक्खलाभो देवाणुप्पिए! एवं खलु तुमं देवाणुप्पिए! नवण्हं मासाणं बहुपडिपुन्नाणं अद्धट्ठमाणं राइंदियाणं विइक्कंताणं सुकुमालपाणिपायं अहीणपडिपुन्नपंचिंदियसरीरं लक्खणवंजण गुणोववेयं माणुम्माणपमाणपडिपुण्णं सुजायसव्वंगसुंदरंगं ससिसोमाकारं कंतं पियदंसणं सुरूवं देवकुमारोवमं दारयं पयाहिसि ॥८॥

अर्थ—हे देवानुप्रिये! निश्चय ही तुमने उदार (विशिष्ट) स्वप्न देखे हैं। कल्याणकारी, शिवरूप, धन्य और मंगलरूप स्वप्न देखे हैं। तुमने आरोग्यवर्धक

दीर्घायुप्रदाता कल्याण करने वाले, मंगल करने वाले, स्वप्न देखे हैं। हे देवानुप्रिये ! इन स्वप्नों का विशेष फल तुम्हें अर्थलाभ, भोगलाभ, पुत्रलाभ और सुखलाभ रूप होगा। हे देवानुप्रिये ! निश्चय ही नवमास और साढ़े सात रात्रि व्यतीत होने पर तुम पुत्र रत्न को जन्म दोगी। वह पुत्र हाथ पैरों से बड़ा ही सुकुमाल, हीनता रहित पाँचों इन्द्रियों से परिपूर्ण शरीर वाला होगा, शुभ-लक्षणों, शुभ व्यजनो और श्रेष्ठ गुणो वाला होगा, मान, उन्मान एवं प्रमाण से युक्त, सर्वाङ्ग सुन्दर, चन्द्र की तरह सौम्य, कान्त, प्रिय, देवकुमार सदृश होगा।

विवेचन—भारतीय सामुद्रिक शास्त्र में मानव शरीर के लक्षण, व्यंजन और हस्तरेखाओं के सम्बन्ध मे बहुत विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। लक्षण-मानव के व्यक्तित्व और कृतित्व के प्रतीक हैं। तीर्थंकर व चक्रवर्ती सम्राट् के शरीर पर एक हजार आठ लक्षण होते हैं। वासुदेव के एक सौ आठ तथा सामान्य प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति के बत्तीस लक्षण होते हैं।

बत्तीस लक्षण की गणना के अनेक प्रकार हैं। एक गणना इस प्रकार हैं— (१) छत्र, (२) कमल, (३) रथ, (४) वज्र, (५) कूर्म, (६) अंकुश, (७) वापिका, ८) धनुष्य, (९) स्वस्तिक, (१०) तोरण (बन्दरवार), (११) सरोवर, (१२) सिंह, (१३) रुद्र, (१४) शंख, (१५) चक्र, (१६) हस्ती, (१७) समुद्र, (१८) कलश, (१९) महल, (२०) मत्स्य, (२१) यव, (२२) यज्ञस्तम्भ, (२३) स्तूप, (२४) कमण्डलु, (२५), पर्वत, (२६) चामर, (२७) दर्पण, (२८) वृषभ, (२९) पताका, (३०) लक्ष्मी, (३१) माला, (३२) मयूर।[१०४] भाग्यशाली मानव के ये लक्षण हाथ या पैर आदि में होते है। द्वितीय गणना इस प्रकार है—

(१) नाखून, (२) हाथ, (३) पैर, (४) जिह्वा, (५) ओष्ठ, (६) तालु, (७) नेत्र के कोण ये सात रक्त हों, (८) कक्षा, (९) हृदय (वक्षःस्थल) (१०) ग्रीवा, (११) नासिका, (१२) नाखून, (१३) मुख, ये छह अग उन्नत हों, (१४) दाँत, (१५) त्वचा, (१६) केश, (१७) उंगलियों के पर्व, (१८) नाखून ये पांच बारीक-छोटे हों, (१९) नेत्र, (२०) हृदय, (२१) नासिका, (२२) हनु (ठोडी), (२३) भुजाएँ पांच अंग लम्बे हों, (२४) ललाट,

(२५) छाती, (२६) मुख ये तीन विशाल हों, (२७) ग्रीवा, (२८) जङ्घा, (२९) पुरुष चिह्न ये तीन लघु हो, (३०) सत्व, (३१) स्वर, (३२) और नाभि ये तीन गंभीर हों।

इन बत्तीस लक्षणो से युक्त व्यक्ति आकृति से भव्य और प्रकृति से सौम्य और भाग्यशाली होता है।

व्यञ्जन का अर्थ—मस तिल आदि है। पुरुष के दाहिने भाग में यदि ये चिह्न होते है तो उत्तम फल प्रदाता माने गये हैं और बांयें भाग मे होने पर मध्यम फलदाता। महिलाओं के बाँयीं ओर श्रेष्ठ माने गये हैं।

हस्तरेखा के द्वारा भी मानव के भाग्य और व्यक्तित्व का पता लगता है। सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार माना जाता है कि जिसके हाथ में अत्यधिक रेखाएँ होती हैं, या बहुत ही कम रेखाएँ होती है वह दुःखी होता है। जिस व्यक्ति के अनामिका अंगुली के प्रथम पर्व से कनिष्ठिका अंगुली बडी होती है, वह धनवान् होता है। मणिबन्ध से जो रेखा चलती है वह पिता की रेखा है। करभ से कनिष्ठिका अगुली के मूल की ओर से जो रेखाएं चलती है वे वैभव और आयु की प्रतीक हैं। ये तीनों ही रेखाएँ तर्जनी और अँगूठे के बीच जा मिलती है। जिसको ये तीनों रेखाएँ पूर्ण और दोष वर्जित हों वह धन धान्य से समृद्ध होता है। पूर्ण आयु का उपभोग करता है। जिसके दाहिने हाथ के अँगूठे में यव का चिह्न होता है उसका जन्म शुक्ल पक्ष का तथा वह यशस्वी होता है।

जल से सम्पूरित बर्तन मे एक पुरुष प्रवेश करे। उस समय जो पानी बर्तन में से बाहर निकले यदि वह पानी द्रोण (बत्तीस सेर) प्रमाण हो तो वह पुरुष मानयुक्त कहलाता है। तराजू में तोलने पर यदि पुरुष अर्धभार (प्राचीन तोल विशेष) प्रमाण हो तो उन्मान युक्त माना जाता है। आत्माङ्गुल से शरीर का नाप-प्रमाण कहलाता है। आत्माङ्गुल से नापने पर एक सौ आठ अंगुल ऊँचाई वाला होने पर उत्तम पुरुष, छयानवें और चौरासी अंगुल वाला मध्यम पुरुष कहा जाता है, किन्तु तीर्थंकर का देह सर्वोत्तम होता है। वे सभी उचित लक्षण, व्यंजन, मान, उन्मान और प्रमाण से युक्त होते हैं।

मूल :—

से वि य णं दारए उम्मुक्कबालभावे विन्नायपरिणयमित्ते जोव्वणगमणुपत्ते रिउव्वेय जउव्वेय सामवेय अथव्वणवेय इतिहास-पंचमाणं निघंटुछट्ठाणं संगोवंगाणं सरहस्साणं चउण्हं वेयाणं सारए पारए धारए सडंगवी सट्ठितंतविसारए संखाणे सिक्खाणे सिक्खा-कप्पे वागरणे छंदे निरुत्ते जोइसामयणे अण्णेसु य बहुसु बंभन्नएसु परिव्वायएसु नएसु परिनिट्ठिए यावि भविस्सइ ॥९॥

अर्थ—वह बालक बालवय से उन्मुक्त होने पर, समझदार एवं समझ में पक्का होने पर यौवन वय को प्राप्त करेगा। तब वह सांगोपांग तथा रहस्य युक्त ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद का, पाँचवे (वेद) इतिहास का तथा छट्ठे निघण्टु (शब्द कोष) का ज्ञाता होगा। चारों वेदो के विस्मृत विषय को स्मरण करने वाला, चारों वेदों के रहस्य का पारगामी तथा चारों वेदो का धारक होगा। षडङ्ग ज्ञाता, षष्ठितंत्र विशारद, सांख्य, गणित, आचार शास्त्र, व्याकरण, छन्द, व्युत्पत्तिशास्त्र, ज्योतिषचक्र और अन्य अनेकों ब्राह्मण सम्बन्धी एवं परिव्राजकशास्त्रों में परिनिष्णात होगा।

मूल :—

तं ओराला णं तुमे देवाणुप्पिए! सुमिणा दिट्ठा जाव आरोग्गतुट्ठिदीहाउयमंगलकल्लाणकारगा णं तुमे देवाणुप्पिए! सुमिणा दिट्ठा ॥१०॥

अर्थ—इस कारण हे देवानुप्रिये! तुमने जो उदार स्वप्न देखे है, वे आरोग्य वर्धक, सतोषप्रदाता, दीर्घायु, मगल व कल्याण कारक हैं।

मूल :—

तए णं सा देवाणंदा माहणी उसभदत्तस्स माहणस्स अंतिए

एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ जाव हियया करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु उसभदत्तं माहणं एवं वयासी ॥११॥

अर्थ—उसके पश्चात् वह देवानन्दा ब्राह्मणी ऋषभदत्त ब्राह्मण से स्वप्न के फलों को सुनकर और समझकर प्रसन्न हुई, हृष्ट-तुष्ट यावत् दशनाखूनों को साथ मिलाकर आवर्त करती हुई अर्थात् मस्तिष्क पर अंजलि चढ़ाकर ऋषभ-दत्त ब्राह्मण से इस प्रकार बोली।

मूल :—

एवमेयं देवाणुप्पिया ! तहमेयं देवाणुप्पिया ! अवितहमेयं देवाणुप्पिया ! असंदिद्धमेयं देवाणुप्पिया ! इच्छियमेयं देवाणुप्पिया ! पडिच्छियमेयं देवाणुप्पिया ! इच्छियपडिच्छियमेयं देवाणुप्पिया ! सच्चे णं एसमट्ठे से जहेयं तुब्भे वयह त्ति कट्टु ते सुमिणे सम्मं पडिच्छइ, ते सुमिणे सम्मं पडिच्छित्ता उसभदत्तेणं माहणेणं सद्धिं ओरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी विहरइ ॥१२॥

अर्थ—'हे देवानुप्रिय! आपने जिन स्वप्नों का अर्थ प्रतिपादन किया है वह सर्वथा सत्य है, अवितथ (सही) है, असंदिग्ध है, इच्छित (चाहने योग्य) है, प्रतीच्छित है और इच्छित–प्रतीच्छित है। हे देवानुप्रिय ! यह अर्थ सत्य है जो आप कहते हैं, मैं उन स्वप्नों के फल को मान्य करती हूँ।' उसके पश्चात् वह देवानंदा ऋषभदत्त ब्राह्मण के साथ मानव सम्बन्धी श्रेष्ठ सुखोपभोग करती हुई विचरने लगी।

——● **शक्र की विचारणा**

मूल :—

तेणं कालेणं तेणं समएणं सक्के देविंदे देवराया वज्जपाणी

पुरंदरे सतक्कतू सहस्सक्खे मघवं पाकसासणे दाहिणड्ढलोगाहिवई बत्तीसविमाणसयसहस्साहिवई एरावणवाहणे सुरिंदे अरयंबरवत्थधरे आलइयमालमउडे नवहेमचारुचित्तचंचलकुंडलविलिहिज्जमाणगंडे भासुरबोंदी पलंबवणमालधरे सोहम्मकप्पे सोहम्मवडिंसए विमाणे सुहम्माए सभाए सक्कंसि सीहासणंसि निसण्णे ॥१३॥

अर्थ—उस काल उस समय शक्र, देवेन्द्र, देवराज, वज्रपाणि, पुरंदर, शतक्रतु, सहस्राक्ष, मघवान्, पाकशासन, दक्षिणार्धलोकाधिपति, बत्तीस लाख विमानों का स्वामी, ऐरावत नामक हाथी पर बैठने वाला सुरेन्द्र, रज रहित श्रेष्ठ-उत्तम वस्त्रों को धारण करने वाला, माला और मुकुट से सुललित शरीर वाला जिसके कोमल कपोल नवनिर्मित सुन्दर चंचल चित्र-विचित्र एवं चलायमान स्वर्णमय कुण्डल युगल की प्रभा से प्रदीप्त हैं। जो विराट् ऋद्धि व द्युति को धारण करने वाला है, महाबली महायशस्वी है, जिसके गले में लटकती हुई सुन्दर वन माला है, जो सौधर्म देवलोक के सौधर्मावतंसक विमान की सुधर्मा सभा में शक्र नामक सिंहासन पर बैठा है।

विवेचन—भारतीय साहित्य में इन्द्र के सहस्र नाम प्रसिद्ध हैं। जैन, बौद्ध और वैदिक इन तीनों ही परम्पराओं में इन्द्र के सम्बन्ध में चर्चाएँ हैं। प्रस्तुत सूत्र में इन्द्र के अनेक नामों में से कुछ विशिष्ट नामों का उल्लेख यहाँ पर हुआ है।

शक्र नामक सिंहासन पर बैठने के कारण या सामर्थ्यवान् होने से वह शक्र कहलाता है। देवताओं के मध्य परम ऐश्वर्ययुक्त होने के कारण वह इन्द्र के नाम से पहचाना जाता है। देवताओं का राजा होने से देवराज है। हाथ में वज्र नामक शस्त्र को धारण करने से वज्र-पाणि है। शत्रुओं के नगरों (पुरों) को नष्ट करने के कारण वह पुरन्दर है। कार्तिक श्रेष्ठी के भव में सौ बार श्रावक की पाँचवीं प्रतिमा अर्थात् अभिग्रह विशेष को धारण करने के कारण वह शतक्रतु कहलाता है। वैदिक परम्परा के अनुसार शतक्रतु का अर्थ सौ यज्ञ करने वाला होता है।

सुधर्म देव लोक का इन्द्र पूर्वभव में पृथ्वी भूषण नगर में कार्तिक नामक

सेठ था। वीतराग धर्म पर उसकी अविचल आस्था थी। उसकी रग-रग, में मन के अणु-अणु में वीतराग धर्म रमा हुआ था। उसने सौ बार श्रावक की पाँचवीं पडिमा (प्रतिज्ञा) तक की आराधना की।

एक बार नगर में गैरिक नामक एक उग्र तपस्वी (तापस) आया। उसके कठोर तप की महिमा जन-जन की जिह्वा पर नाचने लगी। जन समूह दर्शनार्थ उमड़ा, तपस्वी ने विराट् जन-समूह को देखकर गर्व के साथ पूछा—'क्या अब भी नगर में ऐसा कोई व्यक्ति है जो मेरे दर्शन के लिए नहीं आया ?'

एक भक्त ने निवेदन किया—'प्रभो ! कार्तिक श्रेष्ठी को छोड़कर अन्य सभी, राजा से रंक तक आपके दर्शनार्थ आ चुके हैं।'

क्रोध और अहंकार के वश तपस्वी ने अभिग्रह किया—"अच्छा ! तो लो मैं कार्तिक श्रेष्ठी की ही पीठ पर थाली रखकर पारणा करूँगा, अन्यथा नही।" तपस्वी को तप करते हुए एक माह पूरा हो गया, किंतु कार्तिक श्रेष्ठी कभी उसके पास नही आया। राजा ने पारणा करने के लिए प्रार्थना की तब तपस्वी ने अभिग्रह की बात दोहराई।

राजा ने श्रेष्ठी को बुलाया। गर्मागर्म खीर तैयार की गई। राजा के आदेश से सेठ झुका, और तपस्वी ने क्रूरतापूर्वक सेठ की पीठ पर वह गर्म थाली रखी, चमड़ी जलने लगी, तपस्वी नाक पर अंगुली रखकर सेठ से कहने लगा—देखो, तुम मुझे वन्दन करने नहो आए। अन्त में मैंने तुम्हारा नाक काट ही दिया। सेठ मन में सोचने लगा—यदि मैं इसके पूर्व ही प्रव्रजित हो जाता तो आज यह दशा नहीं होती। उसने समभावपूर्वक यह भयंकर कष्ट सहन किया। धीरे-धीरे उपचार से चमड़ी ठीक हुई। वैराग्य उद्बुद्ध हुआ, एक हजार आठ श्रेष्ठी पुत्रों के साथ मुनिसुव्रत स्वामी के पास संयम ग्रहण किया। द्वादशाङ्गी का अध्ययन कर उत्कृष्ट तप करता हुआ आयुष्यपूर्ण कर सौधर्म देवलोक का इन्द्र बना। गैरिक तापस भी वहाँ से आयु पूर्ण कर इसी इन्द्र का ऐरावत हाथी हुआ। इन्द्र को अपने ऊपर बैठा देखकर घबराया, रूप बदला। इन्द्र ने भी अवधिज्ञान से पूर्वभव देख उसे डांटा-फटकारा, वह शान्त हो गया।

हजार नेत्र होने से इन्द्र का एक नाम सहस्राक्ष है। जैनाचार्यों का यह मन्तव्य है कि इन्द्र के पाँच सौ मंत्री हैं, उनके परामर्श से ही वह शासन सूत्र का संचालन तथा राज्य व्यवस्था करता है। आलंकारिक भाषा में मंत्री राजा की आँख होती है इस दृष्टि से पाँच सौ मंत्री होने से इन्द्र 'सहस्राक्ष' कहलाता है।

वैदिक परम्परा के अनुसार एक बार इन्द्र गौतमऋषि की पत्नी अहिल्या पर आसक्त हुआ, ऋषि ने सहस्रभग होने का श्राप देना चाहा। पर अभ्यर्थना करने पर उसने सहस्राक्ष होने का श्राप दिया, जिससे वह सहस्राक्ष कहलाया। ऋग्वेद में भी इन्द्र को सहस्राक्ष कहा है।[१०५]

महामेघ (वृष्टि आदि का स्वामी) उसके वश में होने से वह मघवा कहलाता है। 'पाक' नामक एक बलवान दैत्य पर शासन करने से वह पाकशासन कहलाया। दक्षिणार्धभरत का अधिपति होने से दक्षिणार्धपति है। बत्तीस लक्ष विमानों का स्वामी है। ऐरावत हाथी का उपयोग करने से ऐरावत-अधिपति है।[१०६]

मूल :—

से णं तत्थ बत्तीसाए विमाणावाससयसाहस्सीणं, चउरासीए सामाणियसाहस्सीणं, तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं, चउण्हं लोगपालाणं, अट्ठण्हं अग्गमहिसीणं, सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं, सत्तण्हं अणियाणं, सत्तण्हं अणियाहिवईणं, चउण्हं चउरासीए आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अण्णेसिं च बहूणं सोहम्मकप्पवासीणं वेमाणियाणं देवाणं देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणे पालेमाणे महयाहयनट्ट-गीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुपडहवाइयरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ ॥१४॥

अर्थ—वह इन्द्र वहाँ बत्तीस लाख विमानों का, चौरासी हजार सामानिक

(इन्द्र तुल्य ऋद्धि वाले) देवों का, तेतीस त्रायस्त्रिशक देव (मंत्री तुल्य देवों का, त्रायस्त्रिंशक देवों को इन्द्र के पूज्यस्थानीय देव भी कहे जाते हैं।)[१०७] चार लोकपालों (सोम, यम, वरुण, कुबेर) का, परिवार सहित अष्ट अग्रमहिषियों (पद्मा, शिवा, शची, अञ्जु, अमला, अप्सरा, नवमिका, रोहिणी) का, तीन परिषदों (बाह्य, मध्यम और आभ्यन्तर) का, सप्त सैन्य (गन्धर्व, नाटक, अश्व, गज, रथ, सुभट-पदाति और वृषभ) सप्त सेनापतियों, चार चौरासी सहस्र (तीन लाख छत्तीस हजार) अङ्गरक्षक देवों और अन्य अनेक सौधर्मस्थ देव-देवियों का आधिपत्य करता था। वह सभी में अग्रसर था। स्वामी के समान वह प्रजा का पालन पोषण करता था और गुरु के समान महामान्य था। इन सभी देवों के ऊपर अपने द्वारा नियुक्त देवों द्वारा दिये गये अपने आदेश को प्रदर्शित करने वाला था। वह निरन्तर उच्च ध्वनि वाले नाट्य संगीत, मुखरित वीणा, करताल, त्रुटित, अन्य वाद्य यत्र, मेघ गंभीर रव करने वाला मृदग श्रेष्ठ शब्द करने वाला पटह, इन सभी के मधुर शब्दों को श्रवण करता हुआ आनन्द से रहता है।[१०८]

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में इन्द्र के विराट् वैभव का वर्णन है। इन्द्र के आमोद प्रमोद हेतु नाट्य, संगीत व विविध वाद्य यत्र प्रयुक्त होते थे।[B१०८]

मूल :—

इमं च णं केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं विउलेणं ओहिणा आभोएमाणे २ विहरइ, तत्थ णं समणं भगवं महावीरं जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे दाहिणड्ढभरहे माहण कुंडग्गामे नगरे उसभदत्तस्स माहणस्स कोडालसगोत्तस्स भारियाए देवाणंदाए माहणीए जालं-धरसगोत्ताए कुच्छिंसि गब्भत्ताए वक्कंतं पासइ, पासित्ता हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए णंदिए परमाणंदिए पीइमणे परमसोमणसिए हरिसवसविसप्पमाणहियए धाराहयनीवसुरहिकुसुमचंचुमालइयऊस-सियरोमकूवे वियसियवरकमलनयणवयणे पयलियवरकडगतुडियकेऊर

मउडकुंडलहारविरायंतवच्छे पालंबपलंबमाणघोलंतभूसणधरे ससं-भमं तुरियं चवलं सुरिंदे सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ, सीहासणाओ अब्भुट्ठित्ता पायपीढाओ पच्चोरुहइ, २ वेरुलियवरिट्ठरिट्ठअंज-णनिउणोवियमिसिमिसिंतमणिरयणमंडियाओ पाउयातो ओमुयइ, २ओमुइत्ता एगसाडियं उत्तरासंगं करेइ,एगसाडियं उत्तरासंगं करित्ता अंजलिमउलियग्गहत्थे तित्थयराभिमुहे सत्तट्ठ पयाइं अणुगच्छइ, अणुगच्छित्ता वामं जाणुं अंचेइ. वामं जाणुं २ त्ता दाहिणं जाणं धरणितलंसि साहट्टु तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसेइ, तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसित्ता ईसिं पच्चुण्णमइ, पच्चुण्णमित्ता कडगतुडियथंभियाओ भुयाओ साहरइ, कड० २ त्ता करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं दसनहं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी ॥१५॥

अर्थ–वह इन्द्र अपने विपुल अवधिज्ञान से सम्पूर्ण जम्बूद्वीप की ओर देखता है। उस समय वह श्रमण भगवान् महावीर को जम्बूद्वीपस्थ भारतवर्ष के दक्षिणार्धभरत के ब्राह्मणकुण्डग्राम नगर में कोडालगोत्रीय ऋषभदत्त ब्राह्मण की भार्या जालंधर गोत्रीया देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में गर्भ रूप में उत्पन्न हुए देखता है। उसका हृदय हृष्ट, तुष्ट, आनन्दित, परमानन्दित, व प्रीति-युक्त होता है। परम सौमनस्य को प्राप्त करता है। हर्ष से उसका हृदय फूल उठता है। मेघधारा से सिंचित कदम्ब वृक्ष के सुगन्धयुक्त विकसित कुसुमों की तरह रोमांचयुक्त हो जाता है। प्रफुल्लित उत्तम कमल की तरह नेत्र व मुख खिल उठते हैं। श्रेष्ठ कड, पुंहची, केयूर (बाजूबँध) मुकुट [सिर का आभूषण] कुण्डल (कान का भूषण) पहने हुए, तथा हार से सुशोभित वक्षस्थल वाला, लम्बे लटकते हुए पुनः पुन. दोलायमान आभूषणों को धारण किया हुआ, सुरेन्द्र ससंभ्रम–सहसा शीघ्र ही सिंहासन से उठकर खड़ा हुआ।[१०१] पादपीठ से नीचे

उतरा, नीचे उतरकर उत्तम वैडूर्य, वरिष्ठ, अरिष्ट अञ्जन आदि रत्नों से युक्त, कुशल कारीगरों द्वारा निर्मित चमचमाते हुए मणि-मुक्ताओं से मण्डित पादुका (खड़ाऊ–जूतों) को उतारकर, दुपट्टे से उत्तरासन करके (मुंह की यतना करके) अंजलि से मुकुलित अग्र हाथवाला वह इन्द्र तीर्थंकर के सम्मुख सात-आठ कदम आगे चलकर दाहिने घुटने को ऊँचा करके, बांये घुटने को भूमि पर रखकर तीन बार मस्तिष्क को पृथ्वी पर लगाकर किञ्चित् ऊँचा होता है और सीधा होकर कड़े और त्रुटिन से युक्त भुजा को संकुचित करता है, दोनों भुजाओं को संकुचित कर दसनाखून एक दूसरे से संयुक्त रहे इस प्रकार सम्मिलित करके मस्तिष्क पर अंजलि करता हुआ इस प्रकार बोला–

मूल :—

नमोत्थुणं अरहंताणं भगवंताणं ॥१॥ आइगराणं तित्थगराणं सयंसंबुद्धाणं ॥२॥ पुरिसुत्तमाणं पुरिससीहाणं पुरिसवरपुंडरियाणं पुरिसवरगंधहत्थीणं ॥३॥ लोगुत्तमाणं लोगनाहाणं लोगहियाणं लोगपईवाणं लोगपज्जोयगराणं ॥४॥ अभयदयाणं चक्खुदयाणं मग्गदयाणं सरणदयाणं जीवदयाणं बोहिदयाणं ॥५॥ धम्मदयाणं धम्मदेसयाणं धम्मनायगाणं धम्मसारहीणं धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं ॥६॥ दीवो ताणं सरणं गई पइट्ठा, (णं) अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं वियट्टछउमाणं ॥७॥ जिणाणं जावयाणं तिन्नाणं तारयाणं बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं मोयगाणं ॥८॥ सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं सिवमयलमरुयमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावित्ति सिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं नमो जिणाणं जियभयाणं ॥९॥

नमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स आदिगरस्स चरिमतित्थयरस्स पुव्वतित्थयरनिद्दिट्ठस्स जाव संपाविउकामस्स, वंदामि णं भगवंतं तत्थगयं इहगये पासउ मे भगवं तत्थगए

इहगयं,-ति कट्टु समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, २ सीहासण-वरंसि पुरत्थाभिमुहे सन्निसन्ने ॥१६॥

अर्थ–"अरिहन्त भगवान् को नमस्कार हो (अरिहन्त भगवान् कैसे हैं?) धर्म की आदि करने वाले, धर्म तीर्थ की स्थापना करने वाले, अपने आप ही सम्यक्-बोध को पाने वाले, पुरुषों में श्रेष्ठ, पुरुषों में सिंह, पुरुषों में श्रेष्ठ श्वेत-कमल के समान, पुरुषों मे श्रेष्ठ गंधहस्ती के समान, लोक में उत्तम, लोक के नाथ, लोक के हितकर्त्ता, लोक मे दीपक तुल्य, लोक में उद्योत करने वाले, अभयदान देने वाले, ज्ञान रूपी नेत्र के देने वाले, मोक्ष मार्ग का उपदेश देने वाले, शरण के देने वाले, संयम जीवन को देने वाले, सम्यक्त्वरूपी बोधि के देने वाले, धर्म के देने वाले, धर्म के उपदेशक, धर्म के नेता, धर्म-रथ के सारथी हैं। चार गति का अन्त करने वाले, श्रेष्ठ धर्म के चक्रवर्ती हैं। भवसागर में द्वीप रूप, रक्षा रूप, शरण रूप, आश्रय रूप और आधार रूप हैं। अप्रतिहत एवं श्रेष्ठ ज्ञान दर्शन के धारण करने वाले, प्रमाद से रहित, स्वयं रागद्वेष को जीतने वाले, दूसरों को जिताने वाले, स्वयं संसार सागर से तिरे हुए और दूसरों को तारने वाले हैं। स्वयं बोध पा चुके हैं, दूसरों को बोध देने वाले हैं। स्वयं कर्म से मुक्त है दूसरों को मुक्त कराने वाले हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं तथा शिवरूप (मंगलमय) है। अचल-स्थिर-रूप अरुज–रोगरहित, अनन्त–अन्त रहित, अक्षय-क्षय रहित, अव्याबाध-बाधा पीड़ा रहित, अपुनरावृत्ति-जहाँ से पुन: लौटना नहीं पड़ता ऐसी सिद्धिगति नामक स्थान को प्राप्त कर चुके हैं, भय को जीतने वाले हैं, रागद्वेष को जीतने वाले हैं। उन जिन भगवान् को मेरा नमस्कार हो।

नमस्कार हो श्रमण भगवान् महावीर को, जो धर्मरूप आदि के करने वाले, चरम तीर्थंकर, पूर्व तीर्थंकरों द्वारा निर्दिष्ट और अपुनरावृत्ति-सिद्धिगति को पाने की अभिलाषा वाले हैं। यहाँ (स्वर्ग) में रहा हुआ मैं वहाँ (देवानन्द के गर्भ में) रहे हुए भगवान् को वन्दना करता हूं। वहां रहे हुए भगवान् यहाँ रहे हुए मुझे देखें। इस प्रकार भावना व्यक्त करके देवराज देवेन्द्र श्रमण भग-वान् महावीर को वन्दन व नमन करता है और अपने श्रेष्ठ सिंहासन पर पूर्व दिशा की ओर मुंह करके बैठता है।

विवेचन--प्रस्तुत सूत्र के तीन नाम उपलब्ध होते है। कल्पसूत्र, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति आदि आगमों में शक्रेन्द्र द्वारा वन्दन में प्रयुक्त होने से यह 'शक्रस्तव' के नाम से प्रसिद्ध है। अनुयोगद्वार सूत्र के आदानपद नाम के उल्लेखानुसार इस स्तुति का 'नमुत्थुणं' नाम प्रारंभिक पद के ऊपर से चल पड़ा है। "योगशास्त्र" स्वोपज्ञवृत्ति, प्रतिक्रमणवृत्ति आदि ग्रन्थों में इसका नाम प्रणिपात सूत्र (नमस्कार सूत्र) दिया है।

यह स्तुति अत्यन्त प्रभावशाली है। इसके एक-एक अक्षर में भक्तिरस कूट-कूटकर भरा है। इस स्तुति में तीर्थंकरों के आध्यात्मिक गुणों का उत्कीर्तन सर्वत्र मुखरित हुआ है। आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए, साधक को इसे प्रतिदिन एकसौ आठ बार श्रद्धा के साथ स्मरण करना चाहिए। जो साधक भक्तिभावना से विभोर होकर इसका प्रतिदिन नियमित जाप करता है उसके चरणों में अखिल संसार का भौतिक और आध्यात्मिक वैभव अपने आप आकर उपस्थित हो जाता है। उसके अन्तर्मानस में किसी प्रकार की निराशा नहीं रहती, वह सदा-सर्वदा सुख व आनन्द को प्राप्त करता है।

मूल :—

तए णं तस्स सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो अयमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था-न एयं भूयं, न एयं भव्वं, न एयं भविस्सं, जं नं अरहंता वा चक्कवट्टी वा बलदेवा वा वासुदेवा वा अंतकुलेसु वा पंतकुलेसु वा तुच्छकुलेसु वा दरिद्दकुलेसु वा किविणकुलेसु वा भिक्खायकुलेसु वा माहणकुलेसु वा आयाइंसु वा आयाइंति वा आयाइस्संति वा एवं खलु अरहंता वा चक्कवट्टी वा बलदेवा वा वासुदेवा वा उग्गकुलेसु वा भोगकुलेसु वा राइण्णकुलेसुवा इक्खागकुलेसु वा खत्तियकुलेसु वा हरिवंसकुलेसु वा अन्नतरेसु वा तहप्पगारेसु विसुद्धजातिकुलवंसेसु आयाइंसुवा आयाइंति वा आयाइस्संतिवा॥ १७॥

अर्थ--तत्पश्चात् उस शक्र देवेन्द्र देवराज को इस प्रकार का अध्यवसाय, चिंतन रूप तथा अभिलाषा रूप में, मनमें जागृत हुआ, संकल्प उत्पन्न हुआ कि ऐसा न कभी पूर्व हुआ है, न वर्तमान में होता ही है और न भविष्य में होगा ही—'अरिहन्त [तीर्थंकर] चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव अन्त्यकुल में, प्रान्तकुल में अधमकुल में, तुच्छकुल में, दरिद्रकुल में, कृपणकुल में, भिक्षुककुल में, अथवा ब्राह्मण कुल में, जन्मे हों, जन्मते हों अथवा जन्मेंगे।

इस प्रकार निश्चय ही अरिहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव ये उग्रकुल में, भोगकुल में, राजन्यकुल में, इक्ष्वाकुकुल में, क्षत्रियकुल में, हरिवंशकुल में तथाप्रकार के अन्य भी विशुद्ध जाति कुल वाले वंशों में जन्मे थे, जन्मते हैं और जन्मेंगे।

विवेचन--उग्रकुल, भोगकुल, राजन्यकुल और क्षत्रियकुल इन कुलों की स्थापना भगवान् ऋषभदेव ने की थी। राज्य की सुव्यवस्था के लिए आरक्षक दल बनाया, जिसके अधिकारी दण्ड आदि धारण करने से—'उग्र' कहलाये। मंत्री-मण्डल बनाया जिसके अधिकारी गुरु-स्थानीय थे वे 'भोग' नाम से प्रसिद्ध हुए। राजा के समीपस्थ जन, जो समान वय वाले मित्र रूप में परामर्श प्रदाता थे वे **'राजन्य'** के नाम से विख्यात हुए। शेष अन्य राजकुल में उत्पन्न क्षत्रिय नाम से पहचाने गये।[११०]

भगवान् ऋषभदेव एक वर्ष से कुछ कम के थे तब नाभिराजा की गोद में बैठे हुए क्रीड़ा कर रहे थे। उस समय शक्रेन्द्र हाथ में इक्षु लेकर आए, भगवान् ने हाथ आगे बढ़ाया।[१११] तब इन्द्र ने सोचा भगवान् इक्षु की इच्छा कर रहे हैं, अतः इनका वंश इक्ष्वाकु हो, इस प्रकार इक्ष्वाकुवंश की स्थापना इन्द्र ने की।[११२]

हरिवर्ष क्षेत्र से लाये गये युगल से हरिवंश उत्पन्न हुआ।[११३]

तथाप्रकार के अन्य विशुद्ध जाति कुल वंश से तात्पर्य है—महान् शक्ति व तेज:सम्पन्न योद्धा जैसे मल्लवी तथा लिच्छवी राजवंश के राजागण, युवराज, महर्धिक राजागण जिनके तेजस्वी व्यक्तित्व पर प्रसन्न होकर पुरस्कार प्रदान किया जाय वैसे वीर, सन्निवेश नायक, कुटुम्ब के नायक आदि।

——— ● दस आश्चर्य

मूल :—

अत्थिपुण एसे वि भावे लोगच्छेरयभूए अणंताहिं ओसप्पिणीउस्सप्पिणीहिं वीइक्कंताहिं समुप्पज्जति, (ग्रं० १००) नामगोत्तस्सवा कम्मस्स अक्खीणस्स अवेइयस्स अणिज्जिण्णस्स उदएणं जन्नं अरहंता वा चक्कवट्टी वा बलदेवा वा वासुदेवा वा अंतकुलेसु वा पंतकुलेसु वा तुच्छकुलेसु वा, दरिद्दकुलेसु वा भिक्खागकुलेसु वा, किविणकुलेसु वा माहणकुलेसु वा, आयाइंसु वा आयाइंति वा आयाइस्संति वा कुच्छिसि गब्भत्ताए वक्कमिंसु वा वक्कमंति वा वक्कमिस्संति वा, नो चेव णं जोणीजम्मणनिक्खमणेणं निक्खमिंसु वा निक्खमंति वा निक्खमिस्संति वा ॥१८॥

अर्थ—किन्तु लोक में इस प्रकार का आश्चर्यभूत कार्य भी अनन्त अवसर्पिणी उत्सर्पिणी व्यतीत होने के पश्चात् होता है, जब कि अरिहन्त भगवान् चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, उस प्रकार के नाम गोत्र कर्म के क्षीण नही होने से (स्थिति क्षय के अभाव मे) रस-विपाक द्वारा कर्म के नही भोगे जाने से, कर्म की निर्जरा नही होने से एवं उस कर्म के उदय से वे अन्त्यकुल में, प्रान्तकुल में, तुच्छकुल में, दरिद्र कुल में, कृपण कुल में, भिक्षुक कुल मे, ब्राह्मण कुल में अतीत काल में आये है, वर्तमान में आते हैं और भविष्य में आयेंगे, कुक्षि मे गर्भ रूप में अतीत काल में उत्पन्न हुए है, वर्तमान में होते है और भविष्य में भी उत्पन्न होगे, परन्तु अतीत काल में भी उन्होंने वहाँ पर जन्म नही लिया है, वर्तमान में भी नहीं लेते है और न भविष्य में ही जन्म लेगे।

विवेचन—आगम के समर्थ टीकाकार आचार्य अभयदेव ने कहा है—"जो बात अभूतपूर्व व अलौकिक हो, जिसे देखकर मन में विस्मय उत्पन्न हो वह आश्चर्य है।"[१०४] आश्चर्य और असभव शब्दोंके अर्थमें बहुत अन्तर है। असभव का अर्थ है जो कभी हो न सकता हो, पर आश्चर्य असंभव नहीं है, केवल विरल घटना है। यहाँ पर विश्व के अन्य आश्चर्यों का वर्णन न कर केवल जैनागमों में

आए हुए आश्चर्यों का विश्लेषण करना है। जैनागमों में जिस प्रकार आश्चर्यों का वर्णन है वैसा बौद्ध और वैदिक साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं कि उन परम्पराओं में आश्चर्य जनक घटनाएँ नहीं हैं। घटनाएँ तो अनेक हो सकती हैं पर उन्होंने उनका इस शैली से निरूपण नहीं किया।

स्थानाङ्ग,[११५] प्रवचन सारोद्धार,[११६] एवं कल्पसूत्र की विभिन्न टीकाओं में दस आश्चर्यों का उल्लेख है। (१) उपसर्ग,(२) गर्भापहरण,(३) स्त्रीतीर्थ, (४) अभावितपरिषद् (अयोग्य परिषद्), (५) कृष्ण का अपरककागमन, (६) चन्द्र सूर्य का आकाश से उतरना, (७) हरिवंश कुल की उत्पत्ति, (८) चमरेन्द्र का उत्पात, (९) उत्कृष्ट अवगाहना के एक सौ आठ सिद्ध, (१०) असंयत पूजा। इनका सक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

(१) उपसर्ग–एक समय आर्यावर्त्त के महामानव भगवान् महावीर धर्मोपदेश करते हुए श्रावस्ती के उद्यान में पधारे। गणधर गौतम भिक्षाके लिए नगरी में गए। उन्होंने सुना–गोशालक अपने आपको जिन व सर्वज्ञ सर्वदर्शी कहता है। गौतम ने महावीर से निवेदन किया। महावीर ने कहा—'गौतम ! मंखलीपुत्र गोशालक मेरा कुशिष्य है। वह जिन नहीं पर 'जिन' का प्रलाप करने वाला है। महावीर का प्रस्तुत कथन श्रावस्ती में प्रसारित हो गया। गोशालक ने भी सुना। उसने छट्ठ के पारणा हेतु गये हुए महावीर के शिष्य आनन्द से कहा–"हे आनन्द ! धन प्राप्त करने की लालसा से कुछ वणिक् अशन-पान की व्यवस्था कर भाण्ड आदि लेकर विदेश चले। भयंकर अरण्य में पहुंचने पर साथ का जल समाप्त हो गया। तृषा से छटपटाने लगे, जल की अन्वेषणा करते हुए उन्हें चार बांबी दृष्टिगोचर हुई। प्रथम बांबी खोली। अमृत-सा मधुर जल निकला, जिसे प्राप्त कर सभी आनन्द-विभोर हो गये। दूसरी बाँबी खोली तो चमचमाता हुआ स्वर्ण निकला, तीसरी बांबी खोली तो अमूल्य मणि-मुक्ताएँ उपलब्ध हुईं। ज्यों ही वे चौथी बांबी खोलने के लिए उधर कदम बढ़ाने लगे त्यों ही एक सुबुद्धि वणिक् ने रोका। पर उन्होंने नहीं माना। खोलते ही उसमें से दृष्टि विष सर्प निकला,जिसकी विषैली फूत्कार से वे सब वहीं पर भस्म हो गये। प्रस्तुत रूपक तुम्हारे धर्माचार्य महावीर

पर भी घटित होता है । उन्हें भी सभी वस्तुएँ प्राप्त हो गई हैं, पर खेद है कि उन्हें अब भी सन्तोष नहीं है । वे मुझे 'मंखलिपुत्र' 'छद्मस्थ' और अपना 'कुशिष्य' कहते हैं । तू जाकर उन्हें सावधान करदे, अन्यथा मैं स्वयं आकर उनकी दशा 'दुर्बुद्धि वणिक्पुत्रों से समान कर दूँगा ।'

आनन्द मुनि भगवान् के पास पहुँचा । गोशालक का धमकी भरा कथन निवेदन किया । सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् तो पूर्व ही जानते थे । भगवान् ने कहा— "आनन्द, तुम जाओ और गौतमादि श्रमणों को सूचित कर दो कि गोशालक यहाँ आ रहा है, कोई भी श्रमण उससे सम्भाषण न करे ।"

गोशालक महावीर के पास पहुँचा और बोला—"हे काश्यप ! तुम्हारा शिष्य मंखली पुत्र तो मर गया है । वह अन्य था, मैं अन्य हूँ । उसके शरीर को परीषह सहन करने में सुदृढ़ समझ कर मैंने उसमें प्रवेश किया है ।"

महावीर ने कहा—'गोशालक ! जैसे कोई तस्कर छिपने का स्थान प्राप्त न होने पर तृण की ओट में छिपने का प्रयास करता है, वैसे ही तुम भी अन्य न होते हुए भी अपने आप को अन्य बता रहे हो ?'

भगवान् श्री महावीर के सत्य कथन को श्रवण कर गोशालक स्तम्भित एवं अवाक् था । वह मन ही मन तिलमिला उठा । वह अपने आपको छिपाने की दृष्टि से अनर्गल प्रलाप करने लगा । महावीर के समक्ष अनर्गल बोलते हुए देखकर भगवान् के अन्तेवासी शिष्य 'सर्वानुभूति' और 'सुनक्षत्र' अनगार ने कहा–'हे गोशालक, तुम्हें अपने धर्माचार्य के प्रति इस प्रकार अशिष्टता प्रदर्शित नहीं करनी चाहिए ।'

गोशालक ने क्रुद्ध होकर उन दोनों अनगारों को तेजोलेश्या से वहीं पर भस्म कर दिया । दोनों आयु पूर्ण कर आठवें और बारहवें देवलोक में उत्पन्न हुए ।[११७] भगवान् के द्वारा प्रतिबोध देने पर भी गोशालक न समझा । **पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम्** की उक्ति के अनुसार उसने भगवान् श्री महावीर पर भी तेजोलेश्या फेंकी । पर वह तेजोलेश्या भगवान् के इर्दगिर्द चक्कर काटती हुई ऊपर आकाश में उछली और पुनः गोशालक के शरीर में प्रविष्ट हो गई । अपनी तेजोलेश्या से भगवान् को भस्म हुआ न देखकर गोशालक

आकुल-व्याकुल हो गया। वह बोला–'हे काश्यप ! तू छह मास में पित्त व दाह-ज्वर से पीड़ित होकर मर जायेगा।'

महावीर ने गंभीर गर्जना करते हुए कहा–'गोशालक ! मैं तो अभी सोलह वर्ष तक गंधहस्ती की तरह इस महीतल पर विचरण करूँगा, परन्तु स्मरण रखना, तू स्वयं सात रात्रि में पित्त-ज्वर से पीड़ित होकर छद्मस्थावस्था में ही काल करेगा।

भगवान् की यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई। तेजोलेश्या के प्रभाव से भगवान् महावीर को भी छहमास तक पित्त-ज्वर व रक्तातिसार हो गया था।[११८] केवलज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् तीर्थंकर का यह अतिशय होता है कि वे जहाँ भी रहते हैं वहाँ और उमके आस पास सौ योजन तक किसी भी प्रकार का वैर-भाव, मृगी, रोग एवं दुर्भिक्ष आदि उपद्रव नहीं होता,[११९] पर भगवान् महावीर को केवलज्ञान होने के पश्चात् और उन्हीं के समवसरण में यह उपसर्ग हुआ जो एक आश्चर्य है।

(२) **गर्भापहरण**–द्वितीय आश्चर्य गर्भापहरण है। तीर्थंकरों के गर्भ का अपहरण नही होता, पर श्रमण भगवान् महावीर का हुआ। दिगम्बर परम्परा प्रस्तुत घटना को मान्य नही करती, पर श्वेताम्बर परम्परा के माननीय आगमों में इसका स्पष्ट उल्लेख है।

आचाराङ्ग[१२०] समवायाङ्ग[१२१] स्थानाङ्ग[१२२] आवश्यक निर्युक्ति[१२३] प्रभृति में स्पष्ट वर्णन है कि श्रमण भगवान् महावीर बयासी [८२] रात्रि-दिवस व्यतीत होने पर एक गर्भ से दूसरे गर्भ में ले जाये गये। भगवती सूत्र में देवानन्दा ब्राह्मणी का परिचय देते हुए भगवान महावीर ने गौतम से कहा–'हे गौतम ! देवानन्दा ब्राह्मणी मेरी माता है।[१२४]

जैनागमों की तरह वैदिक परम्परा में भी गर्भ परिवर्तन-विधियों का उल्लेख है। कंस जब वसुदेव की सन्तानों को समाप्त कर देता था, तब विश्वात्मा योगमाया को यह आदेश देता है कि वह देवकी का गर्भ रोहिणी के उदर में रखे। विश्वात्मा के आदेश व निर्देश से योगमाया देवकी का गर्भ रोहिणी के

उदर में रख देती है। तब पुरवासी अत्यन्त दुःख के साथ कहने लगते हैं 'हाय बेचारी देवकी का यह गर्भ नष्ट हो गया।'[१२५]

आज का युग वैज्ञानिक युग है। वैज्ञानिकों ने अनेक स्थलों पर यह परीक्षण कर प्रमाणित कर दिया है कि गर्भ-परिवर्तन असम्भव नही है। इस सम्बन्ध में 'गुजरात वर्नाक्यूलर सोसायटी' द्वारा प्रकाशित 'जीवन-विज्ञान' (पृष्ठ ४३) में एक वर्णन प्रकाशित हुआ है, वह द्रष्टव्य है।

'एक अमरीकन डाक्टर को एक भाटिया स्त्री के पेट का आपरेशन करना था। समस्या यह थी कि स्त्री गर्भवती थी। अत डाक्टर ने एक गर्भिणी बकरी का पेट चीरकर उसके पेट का बच्चा बिजली-चालित एक डिब्बे में रखा और उस स्त्री के पेट का बच्चा बकरी के पेट में। आपरेशन कर चुकने के बाद डाक्टर ने पुनः स्त्री का बच्चा स्त्री के पेट में और बकरी का बच्चा बकरी के पेट में रख दिया। कालान्तर में स्त्री और बकरी ने जिन बच्चों को जन्म दिया वे स्वस्थ और स्वाभाविक रहे।'

(३) **स्त्रीतीर्थ**—तीर्थङ्कर पुरुष ही होते है,[१२६] स्त्री नही, परन्तु प्रस्तुत अवसर्पिणी काल में उन्नीसवें तीर्थङ्कर मल्लि भगवती स्त्री हुई हैं।[१२७] मल्लि भगवती का जीव पूर्व भव में अपर विदेह के सलिलावती विजय में महाबल राजा था।[१२८] उन्होंने अपने छह मित्रों सहित दीक्षा ग्रहण की। महाबल मुनि के अन्तर्मानस में यह विचार उद्बुद्ध हुआ कि यहाँ मैं अपने छहों साथियों का नेता हूँ। यदि मैं इनके साथ ही समान जप-तप करता रहूँगा तो भविष्य मे इनसे ज्येष्ठ व श्रेष्ठ नही बन सकूंगा। इस प्रकार विचार कर महाबल मुनि पारणा के समय बहानाबाजी कर उग्र तप करने लगे। तपादि के प्रभाव से तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया।[१२९] और माया के कारण सम्यक्त्व से च्युत होकर स्त्री वेद का।[१३०] जिससे वे स्त्री तीर्थङ्कर हुए।[१३१] यह भी एक आश्चर्य है।

(४) **अभावित परिषद्**—तीर्थङ्कर का प्रथम प्रवचन इतना प्रभाव पूर्ण

होता है कि उसे श्रवणकर भौतिकता में निमग्न मानव भी त्याग मार्ग को स्वीकार कर लेते हैं। भगवान् श्री महावीर को जृंभिका गाँव के बाहर ऋजु बालिका नदी के किनारे शाल-वृक्ष के नीचे केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न हुआ। देवों ने केवलज्ञान महोत्सव किया। समवसरण की रचना हुई भगवान् ने यह जान कर कि यहाँ कोई भी चारित्र धर्म अंगीकार करने वाला नही है, अतः एक क्षण तक प्रवचन किया।[१३२] पर किसीने भी चारित्र स्वीकारनही किया।[१३३] एतदर्थ हीं प्रथमपरिषद् को अभावित कहा है। तीर्थंकर का प्रवचन पात्र की अपेक्षा से निष्फल गया, यह भी एक आश्चर्य है।[१३४]

(५) कृष्ण का अपरकंका गमन--सतीशिरोमणि द्रौपदी के रूप-लावण्य की प्रशंसा सर्वत्र फैल चुकी थी। नारद ऋषि ने भी सुनी और वह उसे निहारने के लिये राजप्रासाद में पहुँचे। दृढ़धर्मा द्रौपदी ने गुरु बुद्धि से नारद को नमस्कार नही किया। नारद ऋषि ने अपना अपमान समझा और वे कुपित हो गए। द्रौपदी को इस अपमान का फल चखाने के लिए नारद ने उपाय सोचा। धातकीखण्ड द्वीप के अपरकंकाधीश पद्मनाभ को जो परदार-लुब्ध था, द्रौपदी का रूप वर्णन करते हुए कहा--पाण्डवों की पत्नी द्रौपदी इतनी सुन्दर है, मानो चांद का टुकड़ा हो। यदि तुम उसे प्राप्तकर सको तो तुम्हारे रणवास में चार-चांद लग जाएँगे।"

पद्मनाभ ने अपने मित्र देव की सहायता से सोई हुई द्रौपदी को अपने राजप्रासाद मे मंगवा लिया। द्रौपदी से भोग की भाषा में अभ्यर्थना की, पर पतिव्रता द्रौपदी ने उसे विवेकपूर्वक समझाकर रोका।

द्रौपदी को राजप्रासाद में न पाकर पाण्डव चिन्तित हुए। यत्र-तत्र सर्वत्र खोज की, परन्तु द्रौपदी का कही अता-पता न लगा। द्वारिकाधीश श्री कृष्ण से निवेदन किया। कृष्ण ने उपहास करते हुए कहा--'खेद है तुम पांच पति होते हुए भी द्रौपदी की रक्षा नहीं कर सके।' फिर श्रीकृष्ण ने नारद ऋषि से पता पा लिया कि वह अपरकंका में है। पाण्डवों सहित श्रीकृष्ण वहाँ पहुँचे। नृसिंह रूप बना श्रीकृष्ण ने पद्मनाभ को पराजित किया और वापस

लौटते हुए विजय शंख बजाया, जिसका गंभीर रव तीर्थंकर मुनिसुव्रत के पीयूष-वर्षी प्रवचनों का पान करते हुए धातकीखण्डस्थ भरत क्षेत्र के वासुदेव श्री कपिल ने सुना। श्रीकृष्ण से मिलने के लिये वे द्रुतगति से चले, पर श्रीकृष्ण तो पूर्व ही वहां से प्रस्थान कर चुके थे। दूर से ही रथ की ध्वजा को निहार कर कपिल वासुदेव ने शखनाद किया और उसके प्रत्युत्तर में श्रीकृष्ण ने भी।

यह नियम है कि वासुदेव व चक्रवर्ती सम्राट् अपनी सीमा से बाहर अन्य सीमा में नहीं जाते, पर श्री कृष्ण गए, यह एक आश्चर्य है।[१३५]

(६) **चन्द्र सूर्य का आकाश से उतरना**—एक समय श्रमण भगवान् श्री महावीर छद्मस्थावस्था में कौशाम्बी में विराज रहे थे। उस समय भगवान् के दर्शन हेतु सूर्य और चन्द्र दोनों अपने शाश्वत विमानों के साथ उपस्थित हुए।[१३६] सूर्य और चन्द्र तीर्थंकरों के दर्शनहेतु आते हैं, पर शाश्वत विमानों में नहीं। फिर भी आये, यह आश्चर्य है। इस सम्बन्ध में एक भिन्न मान्यता यह भी है—चन्द्र सूर्य का आगमन महावीर के समवसरण में हुआ। उस समय सती मृगावती भी वहीं बैठी थी, रात होने पर भी अंधकार न हुआ। चन्द्र सूर्य गए, अंधकार हुआ। मृगावती अपने स्थान पर गई, अग्रणी सती चन्दनबाला ने अकाल-वेला करने पर उलाहना दिया तब आत्मालोचन करते करते मृगावती को केवलज्ञान होगया।[१३७] यह घटना महावीर के २४वें वर्षावास की है।

(७) **हरिवंश कुल की उत्पत्ति**—कौशाम्बी के 'सम्मुख' नामक सम्राट् ने एक बार वीरक की पत्नी वनमाला को देखा। यौवन के मद में मदमाती वनमाला के सौन्दर्य ने सम्राट् को उन्मत्त बना दिया। सम्राट् के अनुनय-विनय से वह भी अपने धर्म से च्युत हो वीरक की झोंपड़ी छोड़कर वह गगन चुम्बी राजप्रासाद में पहुँची। वीरक उसके वियोग से व्यथित होकर पागल हो गया वर्षा की सुहावनी वेला थी। आकाश में उमड़-घुमड़कर घनघोर घटाएँ आ रही थी। चारु-चपला चमक रही थी। वनमाला के साथ सम्राट् आमोद-प्रमोद में तल्लीन था। पीक थूकने के लिये गवाक्ष से ज्योंही मुंह निकाला

त्योंही नीचे खड़े वीरक की दयनीय दशा देखकर उसका हृदय द्रवित हो गया। सोचा—'धिक्कार है हमें! हम वासना के कीड़े हैं।' यह विवेक का प्रकाश जगा ही था कि आकाश से बिजली गिरी और देखते-ही-देखते दोनों के प्राण-पखेरू उड़ गये। वीरक ने जब यह सुना तो उसका मस्तिष्क स्वस्थ हो गया और संसार के विनश्वर स्वभाव को समझकर वह एक एकान्त शान्त कानन में तप करने लगा। प्रशस्त भावना से सम्मुख और वनमाला वहां से हरिवर्ष क्षेत्र में युगलिये बने और वीरक भी तप के प्रभाव से आयु पूर्णकर सौधर्म कल्प में त्रिपल्योपम की स्थितिवाला किल्विषिक देव हुआ।[१३८] उस युगल को क्रीड़ा में निमग्न देखकर उस देव का पूर्व वैर उद्बुद्ध हो गया। उसने सोचा—यहाँ भी ये सुख के सागर पर तैर रहे हैं और यहां से देवलोक मे जायेंगे, वहां भी इसी तरह आनन्द करेंगे। अतः ऐसा प्रयत्न करूं जिससे इनका भावी जीवन दुःखमय बने। देव-शक्ति से दो कोस की ऊँचाई को सौ धनुष्य की करदी।[१३९] वहां से दोनों को उठाकर भरतक्षेत्र की चम्पानगरी में लाया। वहां के इक्ष्वाकुकुल सम्राट् का निधन हो गया था अतः वह 'हरि' वहां का सम्माननीय सम्राट् बना और हरिणी राजमहिषी। कुसंगति से दोनों ने सप्त व्यसनों का सेवन किया। जिससे वे वहा से मरकर नरक में गए। यौगलिक व्यसनों का सेवन नहीं करते और नरक में नही जाते पर वे गये, अतः यह आश्चर्य है।

(८) चमरेन्द्र का उत्पात—असुरराज चमरेन्द्र पूर्व भव में "पूरण" नाम का एक बाल-तपस्वी था वह छट्ठ-छट्ठ का तप करता और पारणा के दिन काष्ठ के चतुष्पुट पात्र में भिक्षा लाता। प्रथम पुट की भिक्षा पथिकों को प्रदान करता, द्वितीय पुट की भिक्षा पक्षियों को चुगाता, तृतीय पुट की भिक्षा जलचरों को देता और चतुर्थ पुट की भिक्षा समभाव से स्वयं ग्रहण करता। द्वादश वर्ष तक इस प्रकार घोर तप किया और एक मास के अनशन के पश्चात् आयु पूर्णकर चमरचंचा राजधानी में इन्द्र बना।

इन्द्र बनते ही उसने अवधिज्ञान से अपने ऊपर सौधर्मावतंसक विमान में शक्र नामक सिंहासन पर शक्रेन्द्र को दिव्य भोग भोगते हुए देखा। अन्तर्मानस में विचार किया—"यह मृत्यु को चाहने वाला, अशुभ लक्षणोंवाला, लज्जा

और शोभा रहित चतुर्दशी को जन्म लेने वाला, हीन पुण्य कौन है ? मैं इसकी शोभा को नष्ट करदू'। पर मुझमें इतनी शक्ति कहा है?' वह असुरराज सुसुमारपुर नगर के सन्निकटवर्ती उपवन में अशोक वृक्ष के नीचे जहाँ भगवान् महावीर छद्मस्थावस्था के बारहवे वर्ष में ध्यानस्थ खड़े थे, वहाँ आया। उसने भगवान् महावीर की शरण ग्रहणकर शक्रेन्द्र और उनके देवोंको त्रास देनेके लिए विराट् एवं विद्रूप का विकुर्वणा की और सीधा सुधर्मासभा के द्वार पर पहुँचकर डराने धमकाने लगा। शकेन्द्र ने भी कोप करके अपना वज्रायुध उसकी तरफ फेंका। आग की चिनगारियाँ उगलते हुए वज्र को देखकर चमरेन्द्र जिस मार्ग से आया था उसी मार्ग से पुनः लौट गया। शक्रेन्द्र ने अवधिज्ञान से देखा तो पता चला कि यह श्रमण भगवान् महावीर की शरण लेकर यहाँ आया है और पुनः वही भागा जा रहा है। कही यह वज्र भगवान् महावीर को कष्ट न दे ! तदर्थ वह शीघ्र ही उसे लेने के लिए दौड़ा। चमरेन्द्र ने अपना सूक्ष्म रूप बनाया और महावीर के चरणारविन्दों में आकर छिप गया। वज्र महावीर के निकट तक पहुँचने से पूर्व ही इन्द्र ने वज्र को पकड़ लिया और चमरेन्द्र को महावीर का शरणागत होने से क्षमा कर दिया। असुरराज सौधर्मसभा में कभी जाते नही है किन्तु अनन्तकाल के पश्चात् वे अरिहंत की शरण लेकर गये, यह भी एक आश्चर्य है।[१४०]

(६) **उत्कृष्ट अवगाहना के एक सौ आठ सिद्ध**—भगवान् श्री ऋषभदेव व उनके निन्यानवें पुत्र (भरत को छोड़कर) और भरत के आठ पुत्र इस प्रकार पांच सौ धनुष्य की उत्कृष्ट अवगाहना वाले एक सौ आठ सिद्ध एक ही समय में हुए।[१४१] उत्कृष्ट अवगाहना वाले एक साथ दो सिद्ध होते हैं, एक सौ आठ सिद्ध एक साथ नही होते, ऐसा शाश्वत नियम है[१४२] पर वे हुए, अतः आश्चर्य हुआ। आवश्यकनिर्युक्ति[१४३] आदि में दस सहस्र मुनियों के साथ भगवान् श्री ऋषभदेव की निर्वाणप्राप्ति का उल्लेख है। वह पृथक्-पृथक् समय और न्यूनाधिक अवगाहना की दृष्टि से है। एक समय में एक सौ आठ से अधिक सिद्ध नहीं होते।[१४४]

(१०) असंयत पूजा—संयत सदा पूजनीय और वन्दनीय होते हैं। किन्तु संयत की तरह असंयत की पूजा होना एक महान् आश्चर्य है। प्रस्तुत अवसर्पिणी काल में भगवान् सुविधिनाथ के तीर्थ में ऐसा समय आया जिस समय श्रमण व श्रमणियाँ नहीं रहीं और असंयतियों की ही पूजा हुई। यह भी आश्चर्य माना गया।[१४५]

ये दस आश्चर्य निम्न तीर्थंकरों के समय में हुए हैं:-(१) भगवान् ऋषभ के समय उत्कृष्ट अवगाहना वाले एक सौ आठ मुनि मोक्ष गये। (२) भगवान् शीतलनाथ के समय हरिवंश की उत्पत्ति हुई। (३) भगवान् अरिष्टनेमि के समय श्रीकृष्ण अपरकंका गये। (४) मल्लि भगवती स्वयं स्त्री तीर्थंकर हुई। (५) भगवान् सुविधिनाथ के तीर्थकाल में असंयत की पूजा हुई। शेष पाँच आश्चर्य (६) गर्भापहरण। (७) चमरेन्द्र का उत्पात (८) अभावित परिषद् (९) सूर्य चंद्र का आकाश से उतरना (१०) और अरिहंत को उपसर्ग ये भगवान् श्री महावीर के समय में हुए।[१४६]

मूल :—

अयं च णं समणे भगवं महावीरे जंबुद्दीवे दीवे भारहेवासे माहणकुंडग्गामे नयरे उसभदत्तस्स माहणस्स कोडालसगोत्तस्स भारिआए देवाणंदाए माहणीए जालंधरसगुत्ताए कुच्छिंसि गब्भत्ताए वक्कंते ॥१६॥

अर्थ—(शकेन्द्र विचार करता है) ये श्रमण भगवान् महावीर जम्बूद्वीप नामक द्वीप में, भारतवर्ष में, ब्राह्मण कुण्डग्राम नामक नगर में कोडालगोत्रीय ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी जालन्धर गोत्रीया देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में गर्भरूप में आये हैं।

——● हरिणैगमेषी को आह्वान

मूल :—

तं जीयमेयं तीयपच्चुप्पण्णमणागयाणं सक्काणं देविंदाणं

देवराईणं अरहंते भगवंते तहप्पगारेहिंतो अंतकुलेहिंतो वा पंत० तुच्छ० दरिद्द० भिक्खाग० किविणकुलेहिंतो वा तहप्पगारेसु उग्ग-कुलेसु वा भोगकुलेसु वा राइन्नकुलेसु वा नाय० खत्तिय० हरिवंस० अण्णतरेसु वा तहप्पगारेसु विसुद्धजातिकुलवंसेसु वा साहरावित्तए। तं सेयं खलु मम वि समणं भगवं महावीरं चरिमतित्थयरं पुव्वति-त्थयरनिद्दिट्ठं माहणकुंडग्गामाओ नयराओ उसभदत्तस्स माहणस्स कोडालसगोत्तस्स भारियाए देवाणंदाए माहणीए जालंधरसगोत्ताए कुच्छीओ खत्तियकुंडग्गामे नयरे नायाणं खत्तियाणं सिद्धत्थस्स खत्तियस्स कासवगोत्तस्स भारियाए तिसलाए खत्तियाणीए वासिट्ठ-सगोत्ताए कुच्छिसि गब्भत्ताए साहरावित्तए, जे वि य णं से तिस लाए खत्तियाणीए गब्भे तं पि य णं देवाणंदाए माहणीए, जालं-धरसगोत्ताए कुच्छिसि गब्भत्ताए साहरावित्ताए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, एवं संपेहित्ता हरिणेगमेसिं पायत्ताणियाहिवइं देवं सद्दावेइ, हरिणेगमेसिं० देवं सद्दावित्ता एवं वयासी ॥२०॥

अर्थ–अतीतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यत्काल के देवेन्द्र देवराज शक्रेन्द्र का यह जीताचार है कि अरिहत भगवान् को तथा प्रकार के अन्तकुल, प्रान्तकुल, तुच्छकुल, दरिद्रकुल, भिक्षुककुल, कृपणकुल, में से लेकर उग्रकुल, भोगकुल, राजन्यकुल, ज्ञातकुल, क्षत्रियकुल, हरिवंशकुल एव तथाप्रकार के अन्य भी विशुद्ध जाति कुल वंशों में संहरित करना। तो मेरे लिये श्रेयस्कर है कि श्रमण भगवान् महावीर चरम तीर्थंकर को, पूर्व-तीर्थकरों द्वारा निर्दिष्ट ब्राह्मणकुण्डग्राम नगर से कोडालगोत्रीय ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी जालंधर गोत्रीया देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि से क्षत्रिय कुण्डग्राम नगर के ज्ञातवंशीय क्षत्रियों में से काश्यपगोत्रीय सिद्धार्थ क्षत्रिय की भार्या वासिष्ठगोत्रीय त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में गर्भ रूप मे

परिवर्तन करना, और जो उस त्रिशला क्षत्रियाणी का गर्भ है, व उस जालंधर गोत्रीया देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में गर्भरूप में स्थापित करना। शक्रेन्द्र ने इस प्रकार विचार किया और विचार करके पदातिसेना के अधिपति हरिणैगमेषी[१४७] देव को बुलाता है और बुलाकर हरिणैगमेषी देव से इस प्रकार आदेश करता है।

मूल :—

एवं खलु देवाणुप्पिया! न एयं भूयं, न एयं भव्वं, न एवं भविस्सं, जन्नं अरहंता वा चक्कवट्टी वा, बलदेवा वा, वासुदेवा वा, अंतकुलेसु वा पंत०किविण०दरिद्द०तुच्छ० भिक्खागकुलेसु वा आयाइंसु वा३ एवं खलु अरहंता वा चक्क०बल० वासुदेवा वा उग्ग कुलेसु वा भोगकुलेसु वा राइन्न०नाय०खत्तिय० इक्खाग० हरिवंस-कुलेसु वा अन्नयरेसु वा तहप्पगारेसु विसुद्धजाइकुलवंसेसु आयाइंसु वा३ ॥२१॥

अर्थ—हे देवानुप्रिय। इस प्रकार निश्चय ही अतीतकाल में न ऐसा हुआ, न वर्तमान काल मे ऐसा होता है और न भविष्य काल में ऐसा होगा ही कि अरिहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, अन्तकुल, प्रान्तकुल, कृपणकुल, दरिद्र कुल, तुच्छकुल, भिक्षुककुल- आदि मे अतीतकाल मे आये थे, वर्तमान में आते है अथवा भविष्य में आयेंगे ही। निश्चय ही इस प्रकार अरिहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव, वसुदेव उग्रकुल में, भोगकुल मे. राजन्यकुल में, ज्ञातृकुल में, क्षत्रियकुल में, इक्ष्वाकुकुल में हरिवंशकुल मे तथाप्रकार के विशुद्ध जाति कुल वंशों में अतीतकाल में आये थे, वर्तमान में आते हैं और भविष्य में आयेंगे।

मूल :—

अत्थि पुण एस भावे लोगच्छेरयभूए अणंताहिं ओसप्पि-णि उस्सप्पिणीहिं विइक्कंताहिं समुप्पज्जति, नामगोत्तस्स वा कम्म-

स्स अक्खीणस्स अवेइयस्स अणिज्जिन्नस्स उदएणं जन्नं अरहंता वा चक्कवट्टी वा बलदेवा वा वासुदेवा वा अंतकुलेसु वा पंतकुलेसु वा तुच्छकुलेसु वा किविणकुलेसु वा दरिद्द० भिक्खागकुलेसु वा आयाइंसु वा३, नो चेव णं जोणीजम्मणनिक्खमणेणं निक्खमिंसु वा ३ ॥२२॥

अर्थः—किन्तु यह भाव भी लोग में आश्चर्यभूत है। ऐसी घटना अनन्त अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी व्यतीत होने पर होती है जब नाम गोत्र कर्म क्षीण नहीं होता, उसका पूर्ण वेदन नही होता, पूर्ण निर्जीर्ण नहीं होता, प्रत्युत जिसके उदय मे आ गया है वे अरिहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव वासुदेव, अन्तकुल मे, प्रांत कुल मैं, भिक्षुककुल में अतीत में आये थे, वर्तमान में आते हैं और भविष्य मे आयेंगे। किन्तु उन्होने वहां पर अतीतकाल मे जन्म नहीं लिया, वर्तमान में वे जन्म नहीं लेते और भविष्य में जन्म नही लेंगे।

मूल :—

अयं च णं समणे भगवं महावीरे जंबुद्दीवे दीवे भारहेवासे माहणकुंडग्गामे नयरे उंसभदत्तस्स माहणस्स कोडालसगोत्तस्स भारियाए देवाणंदाए माहणीए जालंधरसगोत्ताए कुच्छिसि गब्भत्ताए वक्कंते ॥२३॥

अर्थ—(किन्तु) ये श्रमण भगवान महावोर जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भारतवर्ष क्षेत्र में ब्राह्मण कुण्ड ग्राम नामक नगर में कोडाल गोत्रीय ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी जालंधर गोत्रीया देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि से गर्भरूप में उत्पन्न हुए हैं।

मूल :—

तं जीयमेयं तीयपच्चुप्पण्णमणागयाणं सक्काणं देविंदाणं

देवराईणं अरहंते भगवंते तहप्पगारेहिंतो वा अंत० पंत० तुच्छ० किविण० दरिद्द० वणीमग०जाव माहणकुलेहिंतो तहप्पगारेसु वा उग्गकुलेसु वा भोगकुलेसु वा राइन्न० नाय० खत्तिय० इक्खाग० हरिवंस० अण्णयरेसु वा तहप्पगारेसु विसुद्धजाति कुलवंसेसु साहरावित्तए ॥२४॥

अर्थ—तो अतीतकाल के, वर्तमानकाल के और भविष्यकाल के देवेन्द्र देवराज शक्रेन्द्र का यह कर्तव्य (कुलपरम्परा-कुलाचार) होता है कि वे अरिहंत भगवंत को तथाप्रकार के अंतकुल, प्रांतकुल, तुच्छकुल कृपणकुल, दरिद्रकुल भिक्षुककुल यावत् ब्राह्मणकुलों में से उन उग्रवंश के कुलों में भोगवश के कुलों में राजन्यवंश के कुलों में ज्ञातृवंश के कुलों में क्षत्रियवंश के कुलों में इक्ष्वाकु वंश के कुलों मे हरिवंश के कुलों में तथाप्रकार के अन्य भी विशुद्ध जाति कुल वाले वंशों में परिवर्तित कर देते है।

मूल :—

तं गच्छ णं तुमं देवाणुप्पिया ! समणं भगवं महावीरं माहणकुंडग्गामाओ नयराओ उसभदत्तस्स माहणस्स कोडालसगोत्तस्स भारियाए देवाणंदाए माहणीए जालंधरसगोत्ताए कुच्छीओ खत्तियकुंडग्गामे नयरे नायाणं खत्तियाणं सिद्धत्थस्स खत्तियस्स कासवसगोत्तस्स भारियाए तिसलाए खत्तियाणीए वासिट्ठ सगोत्ताए कुच्छिसि गब्भत्ताए साहराहि, साहरित्ता मम एयमाणत्तियं खिप्पमेव पच्चप्पिणाहि ॥२५॥

अर्थ—(हरिणगमैषी को आदेश देते हुए) हे देवानुप्रिय ! तो तुम जाओ, श्रमण भगवान महावीर को ब्राह्मणकुण्ड ग्राम नगर से कोडाल गोत्रीय ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी जालंधर गोत्रीया देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में से क्षत्रिय कुण्डग्राम नगर के ज्ञातवंशीय क्षत्रियों के काश्यप गोत्रीय सिद्धार्थ

क्षत्रिय की वासिष्ठगोत्रीया त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में गर्भरूप में स्थापित करो, और गर्भरूप में स्थापित करके पुनः मेरी आज्ञा मुझे अर्पित करो अर्थात् मुझे सूचित करो।

मूल :—

तए णं से हरिणेगमेसी पायत्ताणियाहिवई देवे सक्केणं देविंदेणं देवरन्ना एवं वुत्ते समाणे हट्ठे जाव हयहियए करयल जाव त्ति कट्टु एवं जं देवो आणवेइ त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेइ, वयणं पडिसुणित्ता सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो अंतियाओ पडिनिक्खमइ पडिनिक्खमित्ता उत्तरपुरच्छिमदिसीभागं अवक्कमइ, अवक्कमित्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ, वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइत्ता, संखेज्जाइं जोयणाइं दंडंनिसिरइ। तंजहा—रयणाणं वयराणं वेरुलियाणं लोहियक्खाणं मसारगल्लाणं हंसगब्भाणं पुलयाणं सोगंधियाणं जोइरसाणं अंजणाणं अंजणपुलयाणं रययाणं जायरूवाणं सुभगाणं अंकाणं फलिहाणं रिट्ठाणं अहाबायरेपोग्गले परिसाडेइ, २ त्ता अहासुहुमे पोग्गले परियादियति ॥२६॥

अर्थ—उसके पश्चात् पादति सेना का सेनापति हरिणगमेषी देव देवेन्द्र देवराज शक्रेन्द्र की आज्ञा श्रवणकर प्रसन्न हुआ। यावत् हर्षित हृदय से दोनों हाथों को सम्मिलित कर अंजलिबद्ध हो, "देव की जिस प्रकार की आज्ञा है" इस प्रकार वह आज्ञा-वचन को विनय पूर्वक स्वीकार करता है और स्वीकार करके देवेन्द्र देवराज शक्रेन्द्र के पास से निकलता है, निकलकर के उत्तर पूर्व दिशा की ओर अर्थात् ईशानकोण में जाता है। वहाँ जाकर के वैक्रियसमुद्घात से स्वशरीर में स्थित आत्म-प्रदेशों के व कर्म पुद्गलों के समूह को संख्यात योजन विस्तृत लम्बे दण्डे के आकार का बाहर निकालता है। भगवान् को एक

गर्भ से दूसरे गर्भ में स्थापित करने के लिए, अपने शरीर को अत्यन्त निर्मल बनाने के लिए, शरीरस्थ स्थूल पुद्गल-परमाणुओं को बाहर निकालता है जैसे कि रत्न के, वज्र के, वैडूर्य के, लोहिताक्ष के, मसारगल्ल के, हँसगर्भ के, पुलक के, सौगन्धिक के, ज्योतिरस के, अंजन के, अञ्जन-पुलक के, रजत के, जातरूप के, सुभग के, अङ्क के, स्फटिक के, और अरिष्ट आदि सभी जाति के, रत्नों के, स्थूल पुद्गल होते हैं वैसे ही अपने शरीर में जो स्थूल पुद्गल हैं उनको निकालता है और उनके बदले में सूक्ष्म और सार रूप पुद्गलों को ग्रहण करता है ।

मूल :—

परियादित्ता दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ, समोहणित्ता उत्तरवेउव्वियं रूवं विउव्वइ, उत्तरवेउव्वियं रूवं विउव्वित्ता ताए उक्किट्ठाए तुरियाए चवलाए चंडाए जयणाए उद्धुयाए सिग्घाए दिव्वाए देवगईए वीयीवयमाणे वीती २ तिरियमसंखेज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झं मज्झेणं जेणेव जंबुद्दीवे दीवे जेणेव भारहे वासे जेणेव माहणकुंडग्गामे नयरे जेणेव उसभदत्तस्स माहणस्स गिहे जेणेव देवाणंदा माहणी तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता आलोए समणस्स भगवओ महावीरस्स पणामं करेइ, करित्ता देवाणंदाए माहणीए सपरिजणाए ओसोवणिं दलयइ, ओसोवणिं दलइत्ता असुहे पोग्गले अवहरइ, अवहरित्ता सुहेपोग्गले पक्खिवइ, सुहे पोग्गले पक्खिवइत्ता 'अणुजाणउ मे भगवं !' ति कट्टु समणं भगवं महावीरं अव्वाबाहं अव्वाबाहेणं करयलसंपुडेणं गिण्हइ, समणं भगवं महावीरं अव्वाबाहं० २ त्ता जेणेव खत्तिय-कुंडग्गामे नयरे, जेणेव सिद्धत्थस्स खत्तियस्स गिहे, जेणेव तिसला खत्तियाणी तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता तिसलाए

खत्तियाणीए सपरिजणाए ओसोवणिं दलयइ, ओसोवणिं दलयित्ता असुहेपोग्गले अवहरइ, असुहेपोग्गले अवहरित्ता सुहेपोग्गले पक्खिवइ, सुहेपोग्गले पक्खिवइत्ता समणं भगवं महावीरं अव्वाबाहं अव्वाबाहेणं तिसलाए खत्तियाणीए कुच्छिसि गब्भत्ताए साहरइ। जे वि य णं से तिसलाए खत्तियाणीए गब्भे तं पि य णं देवाणंदाए माहणीए जालंधरसगोत्ताए कुच्छिसि गब्भत्ताए साहरइ, साहरित्ता जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए ॥२७॥

अर्थ–इस प्रकार वह (हरिणंगमेषी) भगवान् के पास में जाने के लिए अपने शरीर को श्रेष्ठ बनाने हेतु सूक्ष्म और शुभ पुद्गलो को ग्रहणकर पुनः दूसरी बार भी वैक्रिय समुद्घात करता है। अपने मूल शरीर से पृथक् द्वितीय उत्तर वैक्रिय शरीर बनाता है। बनाकर उस उत्कृष्ट त्वरायुक्त चपल, अत्यन्त तीव्र गतिवाली प्रचण्ड, अत्यन्त बेगवाली प्रचण्ड-पवन-प्रताड़ित धूम्र की तरह तेज वेगवाली, शीघ्र दिव्य देवगति से चलता है। चलकर तिरछे असख्य द्वीप समुद्रों के मध्य में होता हुआ जहाँ जम्बूद्वीप है, जहाँ भारतवर्ष है, जहाँ ब्राह्मणकुण्डग्राम नगर है, जहाँ पर ऋषभदत्त ब्राह्मण का घर है, जहाँ पर देवानन्दा ब्राह्मणी है, वहां आता है। आकर के श्रमण भगवान् महावीर को (गर्भस्थ) देखते ही प्रणाम करता है। प्रणाम करके देवानन्दा ब्राह्मणी को और सब परिजनों को अवस्वापिनी निद्रा (बेसुध करने वाली निद्रा) दिलाता है अर्थात् सुला देता है। अवस्वापिनी निद्रा देकर के अशुभ पुदगलों को दूर हटाता है, दूर हटाकर शुभ पुद्गलों को प्रक्षिप्त करता है। शुभ पुद्गलों को प्रक्षिप्त करके 'हे भगवन्! आपकी आज्ञा हो" इस प्रकार कहकर श्रमण भगवान् महावीर को किञ्चित् भी कष्ट न हो, इस तरह अंजलि (दोनो हाथों) में ग्रहण करता है। श्रमण भगवान् महावीर को ग्रहण करके जहां क्षत्रियकुण्ड-ग्राम नगर है, जहाँ सिद्धार्थ क्षत्रिय का घर हैं, जहां त्रिशला क्षत्रियाणी हैं, वहाँ आता है। वहां आकर के त्रिशला क्षत्रियाणी को सपरिवार अवस्वापिनी निद्रा दिलाता है। अवस्वापिनी निद्रा में सुलाकर अशुभ व अस्वच्छ

पुद्गलों को दूर करता है और शुभ पुद्गलों को प्रक्षिप्त करता है। शुभ पुद्गलों को प्रक्षिप्त करके श्रमण भगवान महावीर को सुखपूर्वक बाधारहित त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में गर्भरूप में प्रस्थापित करता हैं।' और जो त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में गर्भ था उसे जालंधर गोत्रीया देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में गर्भरूप में स्थापित करता है। स्थापित करके जिस दशा से वह आया था उसी दिशा में पुनः चला गया।[१४८]

मूल :—

उक्किट्ठाए तुरियाए चवलाए जइणाए उद्धुयाए सिग्घाए दिव्वाए देवगईए तिरियमसंखेज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झं मज्झेणं जोयणसाहस्सीएहिं विग्गहेहिं उप्पयमाणे २ जेणामेव सोहम्मेकप्पे मोहम्मवडिंसए विमाणे सक्कंसि सीहासणंसि सक्के देविंदे देवराया तेणामेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो एयमाणत्तियं खिप्पामेव पच्चप्पिणइ ॥२८॥

अर्थ--(तब वह) उत्कृष्ट, त्वरित (शीघ्रतायुक्त) चपल, (स्फूर्तियुक्त) वेगयुक्त ऊपर की ओर जाने वाली शीघ्र दिव्य देवगति से तिरछे असंख्यात द्वीप समुद्रों के बीचो-बीच होकर और हजार-हजार योजन के विराट पदन्यास (कदम) भरता हुआ ऊपर चढता है, ऊपर चढ़कर के जिस ओर सौधर्म नामक कल्प में, सौधर्मावतंसक विमान में, शक्र नामक सिहासन पर देवेन्द्र देवराज शक्रेन्द्र बैठा है वहां आता है। आकर के देवेन्द्र देवराज शक्र को उसकी आज्ञा शीघ्र ही समर्पित करता है अर्थात् आज्ञानुसार कार्य कर देने की सूचना देता है।

मूल :—

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे तिण्णाणोवगए यावि होत्था, साहरिज्जिस्सामि त्ति जाणइ, साहरिज्जमाणे नो जाणइ, साहरिए मि त्ति जाणइ ॥२९॥

अर्थ—उस काल उस समय श्रमण भगवान महावीर तीन ज्ञान से युक्त थे। मुझे यहाँ से संहरण किया जाएगा, यह वे जानते थे, संहरण करते हुए नहीं जानते थे, किन्तु 'संहरण' हो गया, यह जानते थे।[१४२]

मूल :—

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे जे से वासाणं तच्चे मासे पंचमे पक्खे आसोयबहुले तस्स णं आसोय बहुलस्स तेरसीपक्खेणं बासीइराइंदिएहिं विइक्कंतेहिं तेसीइमस्स राइंदियस्स अंतरा वट्टमाणे हियाणुकंपएणं देवेणं हरिणेगमेसिणा सक्कवयणसंदिट्ठेणं माहणकुंडग्गामाओ नयराओ उसभदत्तस्स माहणस्स कोडालसगोत्तस्स भारियाए देवाणंदाए माहणीए जालंधर-सगोत्ताए कुच्छीओ खत्तियकुंडग्गामे नयरे नायणं खत्तियाणं सिद्धत्थस्स खत्तियस्स कासवसगोत्तस्स भारियाए तिसलाए खत्तियाणीए वासिट्ठसगोत्ताए पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं अव्वाबाहं अव्वाबाहेणं कुच्छिसि साहरिए ॥३०॥

अर्थ--उस काल उस समय जब बर्षाॠतु चलती थी और बर्षाॠतु का वह प्रसिद्ध तृतीय मास और पाँचवां पक्ष चलता था अर्थात् आश्विन कृष्णा त्रयोदशी के दिन भगवान को स्वर्ग से च्युत हुए और देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में आये हुए बयासी रात्रि दिन व्यतीत हो गये थे, और तिरासीवां दिन चल रहा था, तब त्रयोदशी के दिन मध्यरात्रि के समय, उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र का योग आते ही हितानुकम्पी हरिणैगमेषी देव ने शक्र की आज्ञा से माहणकुण्ड ग्राम नगर में से कोडालगोत्रीय ॠषभदत्त ब्राह्मण की भार्या जालंधर गोत्रीया देवानंदा ब्राह्मणी की कुक्षि से क्षत्रियकुण्डग्राम नगर के ज्ञातृक्षत्रिय, काश्यपगोत्रीय सिद्धार्थ क्षत्रिय की भार्या वासिष्ठगोत्रीया त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में अपने दिव्य प्रभाव से सुख पूर्वक संस्थापित किया।

मूल :—

समणे भगवं महावीरे तिण्णाणोवगए आवि होत्था, साहरिज्जिस्सामि त्ति जाणइ, साहरिज्जमाणे नो जाणइ, साहरिए, मित्ति जाणइ ॥३१॥

अर्थ—श्रमण भगवान महावीर (उस समय) तीन ज्ञान से युक्त थे, "मेरा यहां से संहरण होगा" यह जानते थे, 'संहरण हो रहा है' यह नहीं जानते थे, 'संहरण हो गया है' यह जानते थे।

मूल :—

जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे देवाणंदाए माहणीए जालंधरसगोत्ताए कुच्छीओ तिसलाए खत्तियाणीए वासिट्ठसगोत्ताए कुच्छिंसि गब्भत्ताए साहरिए तं रयणिं च णं सा देवाणंदा माहणी सयणिज्जंसि सुत्तजागरा ओहीरमाणी ओहीरमाणी इणे एयारूवे ओराले कल्लाणे सिवे धन्ने मंगल्ले सस्सिरीए चोद्दस महासुमिणे तिसलाए खत्तियाणीए हडे त्ति पासित्ता णं पडिबुद्धा। तं जहा-गयउसह० गाहा ॥३२॥

अर्थ--जिस रात्रि को श्रमण भगवान महावीर जालंधर गोत्रीया देवानंदा ब्राह्मणी की कुक्षि में से वासिष्ठ गोत्रीया त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में गर्भरूप मे संस्थापित किए गए उस रात्रि में वह देवानंदा ब्राह्मणी अपनी शय्या में अर्ध निद्रावस्था मे थी, उस समय उसने स्वप्न देखा कि मेरे उदार, कल्याणरूप, शिवरूप, धन्य, मंगलरूप श्रीयुक्त चौदह महास्वप्न त्रिशला क्षत्रियाणी ने हर लिए हैं। ऐसा देखकर वह जागृत हुई। वे चौदह महास्वप्न हैं हाथी वृषभ आदि।

——● त्रिशला का स्वप्न-दर्शन

मूल :—

जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे देवाणंदाए माहणीए

जालंधरसगोत्ताए कुच्छीओ तिसलाए खत्तियाणीए वासिट्ठसगो-त्ताए कुच्छिसि गब्भत्ताए साहरिए तं रयणिं च णं सा तिसला खत्तियाणी तंसितारिसगंसि वासघरंसि अब्भितरओ सचित्तकम्मे बाहिरओ दूमियघट्ठमट्ठे विचित्तउल्लोयतले मणिरयणपणासियंधयारे बहुसमसुविभत्तभूमिभागे पंचवण्णसरससुरहिमुक्कपुप्फपुंजोवयार-कलिए कालागरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कडज्झंतधूवमघमघेंतगंधुद्धुयाभिरामे सुगंधवरगंधगंधिए गंधवट्टिभूए तंसि तारिसगंसि सयणिज्जंसि सालिंगणवट्टिए उभओ बिब्बोयणे उभओ उन्नये मज्झे णयगंभीरे गंगापुलिणवालुउद्दालसालिसए तोयवियखोमियदुगुल्लपट्टपडिच्छन्ने सुविरइयरयत्ताणे रत्तंसुयसंवुए सुरम्मे आयीणगरूयवूरनवणीयतूल फासे सुगंधवरकुसुमचुण्णसयणोवयारकलिए पुव्वरत्तावरत्तकालस-मयंसि सुत्तजागरा ओहीरमाणी ओहीरमाणी इमेयारूवे ओराले चोद्दस महासुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धा।३३।

अर्थ--जिस रात्रि में श्रमण भगवान् महावीर जालंधरगोत्रीया देवानंदा ब्राह्मणी की कुक्षि से वासिष्ठगोत्रीया त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में गर्भरुप में संस्थापित किए गए, उस रात्रि में वह त्रिशला क्षत्रियाणी भव्य भवन में प्रचला निद्रा ले रही थी। उस वासगृह का आभ्यंतरीय भाग चित्रों से चित्रित था, बाह्यभाग चूने से पोता हुआ था और घिसकर चिकना व चमकदार बनाया हुआ था। ऊपर छत में विविध प्रकार के चित्र बनाए हुए थे। मणि-रत्नों की जगमगाहट ज्योति से वहां का अन्धकार नष्ट हो गया था, तल-भाग (भूमि भाग-फर्श) सम और सुरचित था, उस पर पांच वर्णों के सरस-सुरभित-सुमन यत्र तत्र बिखरे हुए थे। वह वासगृह काले अगर, उत्तम कुन्दरु, लोमान, आदि विविधि प्रकार की धूप से महक रहा था। अन्य भी सुगन्धित पदार्थों के सौरभ से वह सुरभित था। गंध द्रव्य की गुटिका की तरह वह सुगन्धित था। ऐसे श्रेष्ठ वासगृह में वह उस प्रकार के पलंग पर प्रसुप्त थी जिस पर प्रमाण-

युक्त उपधान (तकिया) था, शिर और पैर के दोनों ओर उपधान रखे हुए थे। वह शय्या दोनों ओर से उन्नत और मध्य में नीची थी। गंगा नदी के तट की रेती के समान वह मुलायम थी। स्वच्छ अलसी के वस्त्र से वेष्टित थी। रजस्त्राण से आच्छादित थी। उस पर रक्तवस्त्र की मच्छरदानी लगी हुई थी। वह मृगचर्म, बढियारुई, बूर वनस्पति, मक्खन, आक की रुई, आदि कोमल वस्तुओं की तरह मुलायम थी। तथा शय्या सजाने की कला के अनुसार वह सजाई हुई थी, उसके सन्निकट सुगन्धित पुष्प और सुगन्धित चूर्ण बिखरा हुआ था। उस शय्या पर अर्धनिद्रावस्था में प्रसुप्त (त्रिशला क्षत्रियाणी ने), पश्चिम रात्रि में इस प्रकार के उदार चौदह महास्वप्नों को देखा और देख कर जागृत हुई।[१५०]

मूल :—

तं जहा–

गय वसह सीह अभिसेय, दाम ससि दिणयरं भय कुंभं।
पउमसर सागर विमाण भवण रयणुच्चय सिहिं च ॥१॥

अर्थ—वे चौदह महास्वप्न ये हैं.—

(१) गज, (२) वृषभ, (३) सिंह, (४) लक्ष्मी, (५) पुष्पमाला, (६) चन्द्र, (७) सूर्य, (८) ध्वजा, (९) कुम्भ, (१०) पद्मसरोवर, (११) समुद्र, (१२) विमान, (१३) रत्न-राशि, (१४) निर्धूम अग्नि।

मूल :—

तए णं सा तिसला खत्तियाणी तप्पढमयाए तओयचउ-द्दतमूसियगलियविपुलजलहरहारनिकरखीरसागरससंकिरणदग-रयरययमहासेलपंडरतरं समागयमहुयरसुगंधदाणवासियकवोलमूलं देवरायकुंजरंवरप्पमाणं पेच्छइ, सजलघणविपुलजलहरगज्जिय-गंभीरचारुघोसं इभं सुभं सव्वलक्खणकयंबियं वरोरुं १ ॥३४॥

अर्थ—वह त्रिशला क्षत्रियाणी सर्व प्रथम स्वप्न में हाथी को देखती है। वह हाथी चार दांत वाला और ऊंचा था, तथा वह बरसे हुए मेघ की तरह श्वेत, सम्मिलित मुक्ताहार की तरह उज्ज्वल, क्षीरसमुद्र की तरह धवल, चन्द्र किरणों की तरह चमकदार, पानी की बूंद की तरह निर्मल, और चांदी के पर्वत की तरह श्वेत था। उसके गंडस्थल से मद चू रहा था। सौरभ लेने के लिए भ्रमर मंडरा रहे थे। वह हाथी शक्रेन्द्र के ऐरावत हाथी की तरह उन्नत था, सजल व सघन मेघ की तरह गम्भीर गर्जना करने वाला था, वह अत्यन्त शुभ तथा शुभ लक्षणों से युक्त था। उसका उरु भाग विशाल था। ऐसे हाथी को त्रिशला प्रथम स्वप्न में देखती है।[१५१]

मूल :—

तओ पुणो धवलकमलपत्तपयराइरेगरूवप्पभं पहासमुद-ओवहारेहिं सव्वओ चेव दीवयंतं अइसिरिभरपिल्लणाविसप्पंत-कंतसोहंतचारुककुहं तणुसुइसुकुमाललोमनिद्धच्छविं थिरसुबद्धमंस-लोवचियलट्ठसुविभत्तसुंदरंगं पेच्छइ, घणवट्टलट्ठउक्किट्ठविसिट्ठतुप्प-ग्गतिक्खसिंगं दंतं सिवं समाणसोभंतसुद्धदंतं वसभं अमियगुण-मंगलमुहं २ ॥३५॥

अर्थ—उसके पश्चात् त्रिशला माता वृषभ को देखती है। वह वृषभ श्वेत कमल की पखुंडियों के समूह से भी अधिक रूप की प्रभावाला था। कांतिपुञ्ज की दिव्य प्रभा से सर्वत्र प्रदीप्त था। उसका विराट् स्कंध अत्यन्त उभरा हुआ व मनोहर था, उसके रोम सूक्ष्म व अति सुन्दर थे, व सुकोमल थे। उसके अंग स्थिर, सुगठित, मांसल व पुष्ट थे। उसके शृंग वर्तुलाकार, सुन्दर घी जैसे चिकने व तीक्ष्ण थे। उसके दांत अक्रूर, उपद्रव रहित, एक सदृश, कान्तिवाले, प्रमाणोपेत तथा श्वेत थे। वह वृषभ अगणित गुणों वाला और मांगलिक मुखवाला था।

मूल :—

तओ पुणो हारनिकरखीरसागरससंककिरणदगरयरयय-महासेलपंडरगोरं रमणिज्जपेच्छणिज्जं थिरलट्ठपउट्ठं वट्टपीवरसुसिलिट्ठविसिट्ठतिक्खदाढाविडंबियमुहं परिकम्मियजच्चकमलकोमल-माइयसोभंतलट्ठउट्ठं रत्तोप्पलपतमउयसुकुमालतालुनिल्लालियग्गजीहं मूसागयपवरकणगतावियआवत्तायंतवट्टविमलतडिसरिसनयणं विसालपीवरवरोरुं पडिपुन्नविमलखंधं मिउविसयसुहुमलक्खणपसत्थविच्छिन्नकेसराडोवसोहिय ऊसियसुनिम्मियसुजायअप्फोडियनंगूलं सोम्मं सोम्माकारं लीलायंतं नहयलाओ ओवयमाणं नियगवयणमइवयंतं पेच्छइ सा गाढतिक्खनहं सीहं वयणसिरीपल्लवपत्तचारुजीहं ३ ॥३६॥

अर्थ—उसके पश्चात् त्रिशला क्षत्रियाणी स्वप्न में सिंह देखती है। वह सिंह हार-समूह, क्षीर सागर, चन्द्र किरणें, जल-कण एवं रजत-पर्वत के समान अत्यन्त उज्ज्वल था, रमणीय था, दर्शनीय था, स्थिर और दृढ पंजों वाला था। उसकी दांढें गोल, अतीव पुष्ट एवं अन्तर-रहित, श्रेष्ठ व तीक्ष्ण थीं, जिन से उसका मुंह सुशोभित हो रहा था। उसके दोनों ओष्ठ स्वच्छ, उत्तम कमल की तरह कोमल, प्रमाणोपेत व सुन्दर थे। उसका तालु रक्तकमल की तरह लाल व सुकोमल था। उसकी अग्र-जिह्वा लपलपा रही थी। उसके दोनों नेत्र सुवर्णकार के पात्र में रखे हुये तप्त गोल स्वर्ण के समान चमकदार और विद्युत की तरह चमकीले थे। उसकी विशाल जंघाएँ अत्यन्त पुष्ट व उत्तम थी। उसके स्कंध परिपूर्ण और निर्मल थे। उसकी दीर्घ केसर (अयाल) कोमल, सूक्ष्म, उज्ज्वल, श्रेष्ठ लक्षणयुक्त व विस्तृत थी। उसकी उन्नत पूंछ कुण्डलाकार एवं शोभायुक्त थी। उसके नाखून अतीव तीक्ष्ण थे, उसकी आकृति बड़ी ही सौम्य थी, और नवीन पल्लव की तरह फैली हुई मनोहर जिह्वा थी। ऐसे सिंह को आकाश से लीला पूर्वक, नीचे उतरते और मुंह में प्रवेश करते देखती है।

मूल :—

तओ पुणो पुण्णचंदवयणा उच्चागयठाणलट्ठसंठियं पसत्थ-रूवं सुपइट्ठियकणगकुम्भसरिसोवमाणचलणं अच्चुन्नयपीणरइयमंस-लउन्नयतणुतंबनिद्धनहं कमलपलाससुकुमालकरचरणकोमलवरंगुलिं कुरुविंदावत्तवट्टाणुपुब्वजंघं निगूढजाणुं गयवरकरसरिसपी-वरोरुं चामीकररइयमेहलाजुत्तकंतविच्छिन्नसोणिचक्कं जच्चंजणभम-रजलयपकरउज्जुयसमसंहियतणुयआदेज्जलडहसुकुमालमउयरमणि-ज्जरोमराई नाभीमंडलविसालसुंदरपसत्थजघणं करयलमाइयपस-त्थतिवलीयमज्झं नाणामणिरयणकणगविमलमहातवणिज्जाहारण-भूसणविराइयंगमंगिं हारविरायंतकुंदमालपरिणद्धजलजलिंतथण-जुयलविमलकलसं आइयपत्तियविभूसिएण य सुभगजालुज्जलेण मुत्ताकलावएणं उरत्थदीणारमालियविरइएणं कंठमणिसुत्तएण य कुंडलजुयलुल्लसंतअंसोवसत्तसोभंतसप्पभेणं सोभागुणसमुदएण आणणकुडुंबिएण कमलामलविसालरमणिज्जलोयणं कमलपज्जलं-तकरगहियमुक्कतोयं लीलावायकयपक्खएणं सुविसयकसिणघणम-ण्हलंवंतकेसहत्थं पउमद्दहकमलवासिणिं सिरिं भगवइं पिच्छइ हिमवंतसेलसिहरे दिसागइंदोरुपीवरकराभिसिच्चमाणिं ४ ॥३७॥

अर्थ—उसके पश्चात् पूर्ण चन्द्रवदना त्रिशला क्षत्रियाणी स्वप्न में लक्ष्मी देवी को देखती है। वह लक्ष्मी समुन्नत हिमवान् पर्वत पर उत्पन्न हुए श्रेष्ठ कमल के आसन पर संस्थित थी। प्रशस्त रूपवती थी, उसके चरण-युगल सम्यक् प्रकार से रक्खे हुए सुवर्णमय कच्छप के समान उन्नत थे। उसके अंगुष्ठ उभरे हुए और पुष्ट थे। उसके नाखून रंग से रंजित न होने पर भी रंजित प्रतीत हो रहे थे, तथा मांस-युक्त, उभरे हुए, पतले ताम्र की तरह रक्त

और स्निग्ध थे। उसके हाथ और पैर कमल-दल के समान कोमल थे। उसकी अंगुलियां भी सुकोमल व श्रेष्ठ थी। पिंडलियाँ-जंघाएँ कुरुवृन्द (नागरमोथा) के आवर्त के समान अनुक्रम गोल थीं। उसके दोनों घुटने शरीर पुष्ट होने से बाहर दिखलाई नहीं दे रहे थे। उसकी जंघाएँ उत्तम हाथी की सूंड की तरह परिपुष्ट थी। उसका कटि तट कान्त और सुविस्तृत कनकमय कटि-सूत्र से युक्त था। उसकी रोमराजि श्रेष्ठ अञ्जन, भ्रमर व मेघ समूह के समान श्याम वर्णवाली तथा सरस सीधी, क्रमबद्ध, अत्यन्त पतली, मनोहर, पुष्पादि की तरह मृदु और रमणीय थी। नाभिमण्डल के कारण उसकी जंघाएं सरस, सुन्दर और विशाल थी। उमकी कमर मुट्ठी में आ जाय इतनी पतली और सुन्दर त्रिवली से युक्त थी। उसके अङ्गोपाङ्ग अनेक विध मणियों, रत्नों, स्वर्ण तथा विमल-लाल सुवर्ण के आभूषणों से सुशोभित थे। उसके स्तनयुगल सुवर्ण कलश की तरह गोल व कठिन थे तथा वक्षस्थल मोतियों के हार से और कुन्द पुष्पमाला से देदीप्यमान था। उसके गले में नेत्रों को प्रिय लगे इस प्रकार के हार थे, जिनमें मोतियों के झूमके लटक रहे थे। सुवर्णमाला भी विराज रही थी और मणिसूत्र भी। उसके दोनों कानों में चमकदार कुण्डल पहने हुए थे और वे स्कन्ध तक लटक रहे थे। मुख से अभिन्न शोभा गुण के कारण वह अतीव सुशोभित थी। उसके विशाल लोचन कमल के समान निर्मल एवं मनोहर थे। उसके दोनों करो में देदोप्यमान कमल थे। जिनमें से मकरन्द की बूँदे टपक रही थी। वह आनन्द के लिए (गर्मी के अभाव में भी) बीजे जाते पँखे से सुशोभित थी। उसका केशपाश पृथक्-पृथक् व गुच्छे रहित तथा काला, सघन, सुचिक्कण और कमर तक लम्बायमान था। उसका निवास पद्मद्रह के कमल पर था। उसका अभिषेक हिमवन्त पर्वत के शिखर पर स्थित दिग्गजों की विशाल और पुष्ट शुण्ड से निकलती हुई जलधारा से हो रहा था। ऐसी भगवती लक्ष्मी देवी को त्रिशला माता ने स्वप्न में देखा।

मूल :—

तओ पुणो सरसकुसुममंदारदामरमणिज्जभूयं चंपगासोग-

पुण्णागनागपियंगुसिरीसमोग्गरगमल्लियाजाइजूहियंकोल्लकोज्ज-कोरिंटपत्तदमणयणवमालियबउलतिलयवासंतियपउमुप्पलपाडलकुंदाइमुत्तसहकारसुरभिगंधिं अणुवममणोहरेणं गंधेणं दस दिसाओ वि वासयंतं सव्वोउयसुरभिकुसुममल्लधवलविलसंतकंतबहुवन्नभत्ति-चित्तं छप्पयमहुयरिभमरगणगुमुगुमायंतमिलंतगुंजंतदेसभागं दामं पेच्छइ नभंगणतलाओ ओवयंतं ५ ॥३८॥

अर्थ–उसके पश्चात् त्रिशला क्षत्रियाणी ने स्वप्न में आकाश में से नीचे उतरती हुई सुन्दर पुष्पों की माला देखी। वह माला मन्दार के ताजा फूलों से गुंथी हुई बड़ी रमणीय थी। उस माला में चम्पक, अशोक, पुन्नाग, नागकेसर, प्रियंगु, शिरीष, मोगरा, मल्लिका, जाई, जूही, अंकोल, कोज्ज, कोरंट, दमनकपत्र नवमल्लिका, वकुल, तिलक, वासन्ती, सूर्य विकासी और चन्द्र विकासी कमल, पाटल, (गुलाब) कुन्द, अतिमुक्तक, और सहकार के फूल गुंथे हुए थे, जिससे उसकी मधुर सौरभ से दशों दिशाएँ महक रही थीं। सर्व ऋतुओं में खिलने वाले पुष्पों से वह निर्मित थी। उस माला का रंग मुख्यत: श्वेत था और यत्र-तत्र विविध रंगों के पुष्प भी गुंथे हुए थे, जिससे वह बहुत ही मनोहर और रमणीय प्रतीत हो रही थी। विविध रंगों के कारण वह आश्चर्य उत्पन्न करती थी। उसके ऊपर-मध्य और नीचे सर्वत्र भोंरे गुञ्जार करते हुए मडरा रहे थे। ऐसी माला को त्रिशला माता ने देखा।

मूल :—

ससिं च गोखीरफेणदगरयरययकलसपंडरं सुभं हिययन-यणकंतं पडिपुन्नं तिमिरनिकरघणगहिरवितिमिरकरं पमाणपक्खं-तरायलेहं कुमुदवणविबोहयं निसासोभगं सुपरिमट्ठदप्पणतलोवमं हंसपडुवन्नं जोइसमुहमंडगं तमरिपुं मयणसरापूरं समुद्दगपूरगं दुम्मणं जणं दतियवज्जियं पायएहिं सोसयंतं पुणो सोम्मचारुरूवं

पेच्छइ सा गगणमंडलविसालसोम्मचंकम्ममाणतिलगं रोहिणिम-णहिययवल्लहं देवी पुन्नचंदं समुल्लसंतं ६ ॥३९॥

अर्थ—उसके पश्चात् छट्ठे स्वप्न में त्रिशला माता चन्द्र को देखती है। वह चन्द्र गोदुग्ध, पानी के झाग, जलकण, एवं रजत-घट की तरह शुभ्र था, शुभ था,और हृदय व नयनों को अत्यन्त प्रिय था, परिपूर्ण था,गहनतम अन्धकार को नष्ट करने वाला था। पूर्णिमा के चन्द्र की तरह पूर्णकला युक्त था। कुमुद-वनों को विकसित करने वाला था, रात्रि की शोभा को बढ़ाने वाला था। वह स्वच्छ किए हुए दर्पण ने समान चमक रहा था। हंस के समान श्वेत था। वह तारागण और नक्षत्रों में प्रधान था। उनकी श्री की अभिवृद्धि करने वाला था। वह अन्धकार का शत्रु था। अनङ्गदेव के बाणों को भरने वाला तरकस था, समुद्र के पानी को उछालने वाला था, विरहिणियों को व्यथित करने वाला था, वह सौम्य और सुन्दर था, विराट् गगन मण्डल में अच्छी तरह से परिभ्रमण करने वाला था, मानो वह आकाश मण्डल का चलता फिरता तिलक हो। वह रोहिणी के मन को आल्हादित करने वाला उसका पति था। इस प्रकार समुल्लिसित पूर्णचन्द्र को त्रिशला माता देखती है।

मूल :—

तओ पुणो तमपडलपरिप्फुडं चेव तेयसा पज्जलंतरूवं रत्तासोगपगासकिंसुयसुगमुहगुंजद्धरागसरिसं कमलवणालंकरणं अंकणं जोइसस्स अंबरतलपईवं हिमपडलगलग्गहं गहगणोरुनायगं रत्तिविणासं उदयत्थमणेसु मुहुत्तसुहदंसणं दुन्निरिक्खरूवं रत्तिमुद्धा-यंतदुप्पयारपमद्दणं सीयवेगमहणं पेच्छइ मेरुगिरिसययपरियट्टयं विसालं सूरं रस्सीसहस्सपयलियदित्तसोहं ७ ॥४०॥

अर्थ—उसके पश्चात् त्रिशलामाता स्वप्न में सूर्य को देखती है। वह सूर्य अंधकार के समूह को नष्ट करने वाला और तेज से जाज्वल्यमान था। रक्त अशोक, विकसित किंशुक, तोते की चोंच, चिर्मी के अर्ध लाल भाग के

समान वह रक्त वर्ण वाला था। कमल वनों को सुशोभित करने वाला, ज्योतिष-चक्र पर संक्रमण करने के कारण उसके लक्षणों को बताने वाला था। वह आकाश का प्रदीप, हिम को नष्ट करने वाला, ग्रहमण्डल का मुख्य नायक, रात्रि को नष्ट करने वाला, उदय और अस्त के समय ही थोड़ी देर सुखपूर्वक देखा जा सकने योग्य, अन्य समयमे नही देखने योग्य, निशा मे विचरण करने वाले जारों व तस्करों का प्रमर्दक, शीत-हर्ता, मेरुपर्वत की प्रदक्षिणा करने वाला, अपनी सहस्र किरणों से चमकते हुए चाँद और तारागणों की शोभा को नष्ट करने वाला था। ऐसे सूर्य को त्रिशलामाता देखती है।

मूल :—

तओ पुणो जच्चकणगलट्ठिपइट्ठियं समूहनीलरत्तपीय-सुक्किल्लसुकुमालुल्लसियमोरपिंछकयमुद्धयं फालियसंखंककुंददगर-यरययकलसपंडरेण मत्थयत्थेण सीहेण रायमाणेणं रायमाणं भेत्तुं गगणतलमंडलं चेव ववसिएणं पेच्छइ सिवमउयमारुयलयाहयपकं-पमाणं अतिप्पमाणं जणपिच्छणिज्जरूवं ८ ॥४१॥

अर्थ—उसके पश्चात् त्रिशलामाता स्वप्न में ध्वजा देखती है। वह ध्वजा-श्रेष्ठ सुवर्ण की यष्टि पर प्रतिष्ठित थी। वह नील, रक्त, पीत, श्वेत आदि विविध रंगों के वस्त्रों से निर्मित थी। हवा से लहराती हुई वह ध्वजा मयूरपंख के समान शोभित हो रही थी। वह ध्वजा अत्यधिक शोभा-सुन्दरता युक्त थी। उस ध्वजा के ऊर्ध्व भाग में श्वेत वर्ण का सिंह चित्रित था जो स्फटिक, टूटे शंख, अंक-रत्न, मोगरा, जल-कण एवं रजत-कलश के समान उज्ज्वल था। पवन-प्रताड़ित ध्वजा इधर-उधर डोलायमान हो रही थी। जिससे यह प्रतीत होता था कि सिंह आकाशमण्डल को भेदन करने का उद्यम कर रहा हैं। वह ध्वजा सुखकारी मन्द-मन्द पवन से लहरा रही थी, वह अतिशय उन्नत थी, मनुष्यों के लिए दर्शनीय थी, ऐसी ध्वजा त्रिशलामाता देखती है।

मूल :—

तओ पुणो जच्चकंचणुज्जलंतरूवं निम्मलजलपुन्नमुत्तमं

दिप्पमाणसोहं कमलकलावपरिरायमाणं पडिपुण्णसव्वमंगलभेयस-मागमं पवररयणपरायंतकमलट्ठियं नयणभूसणकरं पभासमाणं सव्वओ चेव दीवयंतं सोमलच्छीनिभेलणं सव्वपावपरिवज्जियं सुभं भासुरं सिरिवरं सव्वोउयसुरभिकुसुमआसत्तमल्लदामं पेच्छइ सा रययपुन्नकलसं ६ ॥४२॥

अर्थ—उसके पश्चात् त्रिशलामाता कलश का स्वप्न देखती है। वह कलश विशुद्ध सुवर्ण की तरह चमक रहा था। निर्मल नीर से परिपूर्ण था, देदीप्यमान था, चारों ओर कमलोंसे परिवेष्टित था, सभी प्रकार के मंगल-चित्र उस पर चित्रित होने से वह सर्व मंगलमय था। श्रेष्ठ रत्नों से निर्मित कमल पर वह कलश सुशोभित था जिसे निहारते ही नेत्र आनन्द विभोर हो जाते थे। उसकी प्रभा चारों दिशाओं में फैल रही थी। जिससे सभी दिशाएं आलोकित थी। लक्ष्मी देवी का वह प्रशस्त घर था। सभी प्रकार के दूषणों से रहित, शुभ और चमकदार व उत्तम था। सर्व ऋतुओं के सुगन्धित सुमनों की मालाएं कलश के कंठ पर रखी हुई थी, ऐसे चाँदी के पूर्ण कलश को त्रिशला माता स्वप्न में देखती है।

मूल :—

तओ पुणो रविकिरणतरुणबोहियसहस्सपत्तसुरहितरपिंजरजलं जलचरपहगरपरिहत्थगमच्छपरिभुज्जमाणजलसंचयं महंतं जलंतमिव कमलकुवलयउप्पलतामररसपुंडरीयउरुसप्पमाणसिरिसमुदएहिं रमणिज्जरूवसोभं पमुइयंतभमरगणमत्तमहुकरिगणोक्करोलिब्भमाणकमलं कादंबगबलाहगचक्काककलहंससारसगव्वियसउणगणमिहुणसेविज्जमाणसलिलं पउमिणिपत्तोवलग्गजलबिंदुमुत्तचित्तं च पेच्छइ सा हिययणयणकंतं पउमसरं नाम सरं सररुहाभिरामं १० ॥४३॥

अर्थ–उसके पश्चात् त्रिशलामाता स्वप्न में पद्मसरोवर को देखती है। वह पद्मसरोवर प्रातःकालीन सूर्य रश्मियों से विकसित सहस्र पंखुड़ियों वाले कमल के सौरभ से सुगन्धित था। उसका पानी कमल पराग के गिरने से रक्त और पीतवर्ण का दृष्टिगोचर हो रहा था। उसमें जलचर जीवों का समूह इतस्ततः परिभ्रमण कर रहा था। मत्स्यादि उसके मधुर जल का पान कर रहे थे। वह सरोवर अत्यन्त गहरा और लम्बा चौड़ा था। सूर्य विकासी कमल, चन्द्र विकासी कमल, रक्त कमल, बड़े कमल, श्वेत कमल, इन सभी प्रकार के कमलों से वह शोभायुक्त था। वह अतीव रमणीय था। प्रमोद युक्त भ्रमर और मत्त मधुमक्षिकाएं कमलों पर बैठकर उनका रसपान कर रही थीं। उस सरोवर पर मधुर कलरव करने वाले कलहंस, बगुले, चक्रवाक, राजहंस, सारस, आदि विविध पक्षियों के युगल जल-क्रीड़ा कर रहे थे। उसमें कमलिनी दल पर गिरे हुए जल-कण सूर्य की किरणों से मुक्ता की तरह चमक रहे थे। वह सरोवर हृदय और नेत्रों को परम शान्ति प्रदाता था और कमलों से रमणीय था। ऐसे सरोवर को त्रिशला माता स्वप्न में देखती है।

मूल :—

तओ पुणो चंदकिरणरासिसरिससिरिवच्छसोहं चउगमणपवड्ढमाणजलसंचयं चवलचंचलुच्चायप्पमाणकल्लोललोलंतोयपडुपवणाहयचालियचवलपागडतरंगरंगंतभंगखोखुब्भमाणसोभंतनिम्मलउक्कडउम्मीसहसंबंधधावमाणोनियत्तभासुरतराभिरामं महामगरमच्छतिमितिमिंगिलनिरुद्धतिलितिलियाभिघायकप्पूरफेणपसरमहानईतुरियवेगसमागयभमगंगावत्तगुप्पमाणुच्चलंतपच्चोनियत्तभममाणलोलसलिलं पेच्छइ खीरोयसागारं सरयरयणिकरसोम्मवयणा ११ ॥४४॥

अर्थ–उसके पश्चात् वह त्रिशला माता स्वप्न में क्षीर सागर को देखती है। उस क्षीर सागर का मध्य भाग चन्द्र किरणों के समूह की तरह शोभायमान

था और अत्यन्त उज्ज्वल था । चारों ओर प्रवर्धमान पानी से अत्यन्त गहरा था, उसकी लहरें चंचल थीं । वे अधिक उछल रही थीं, जिससे उसका पानी तरंगित था । पवन से प्रताड़ित होने पर वह बार-बार शीघ्र तरंगित ही नहीं हो रहा था अपितु ऐसा लग रहा था कि तट से टकराकर दौड़ रहा हो । उस समय वे लहरें नृत्य करती हुई-सी और भय-विह्वल हुई-सी अतिशय क्षुब्ध प्रतीत हो रही थीं । वे उद्धत एवं सुहावनी उर्मियाँ कभी इस प्रकार ज्ञात होती थी मानो अभी-अभी तट को उल्लंघन कर जायेंगी और कभी पुनः लौटती हुई ज्ञात होती थीं । उसमें स्थित विराट् मकरमच्छ, तिमिमच्छ, तिमिङ्गलमच्छ, निरुद्ध, तिलतिलय आदि जलचर अपनी पूंछ को जब पानी पर फटकारते थे तब उनके चारो ओर कपूर जैसे उज्ज्वल फेन फैल जाते थे । महा नदियों के प्रबल प्रवाह गिरने से उसमें गंगावर्त नामक भंवर (चक्र) उत्पन्न होते थे । उन भंवरों में पानी उछलता, पुनः वही गिरता तथा चारों ओर चक्कर लगाता हुआ चंचल प्रतीत होता था । ऐसे क्षीर समुद्र को शरदृऋतु के चन्द्र समान सौम्य मुख वाली त्रिशला माता ने देखा ।

मूल :—

तओ पुणो तरुणसूरमंडलसमप्पभं उत्तमकंचणमहामणिसमूहपवरतेयअट्ठसहस्सदिप्पंतनभप्पईवं कणगपयरपलंबमाणमुत्तासमुज्जलं जलंतदिव्वदामं ईहामिगउसभतुरगनरमगरविहगवालगकिन्नररुरुसरभचमरसंसत्तकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्तं गंधव्वोपवज्जमाणसंपुण्णघोसं निच्चं सजलघणविउलजलहरगज्जियसद्दाणुणादिणा देवदुंदुहिमहारवेणं सयलमविजीवलोयं पपूरयंतं कालागरुपवर कुंदुरुक्कतुरुक्कडज्झंतधूवमघमघितगंधुद्धुयाभिरामं निच्चालोयं सेयं सेयप्पभं सुरवराभिरामं पिच्छइ सा सातोवभोगं विमाणवरपुंडरीयं । १२ ॥४५॥

अर्थ—उसके पश्चात् त्रिशलामाता स्वप्न में श्रेष्ठदेव विमान देखती है ।

वह देवविमान नवोदित सूर्य-बिम्ब के सदृश प्रभा वाला-देदीप्यमान था। उसमें स्वर्ण निर्मित और महामणियों से जटित एक सहस्र अष्ट स्तम्भ थे, जो अपने अलौकिक आलोक से आकाश मण्डल को आलोकित कर रहे थे। उसमें स्वर्ण पत्रों पर जड़े हुए मुक्ताओं के गुच्छे लटक रहे थे। इस कारण उसमें आकाश अधिक चमकीला लग रहा था। दिव्य मालाएँ भी लटक रही थीं। उस विमान पर वृक, वृषभ, अश्व, नर, मकर, विहग, सर्प, किन्नर, रुरुमृग, शरभ, (अष्टापद) चमरीगाय, तथा विशेष प्रकार के जगली पशु, हस्ती, वनलता, पद्मलता, आदि के विविध प्रकार के चित्र चित्रित थे। उसमें गन्धर्व मधुर गीत गा रहे थे, वाद्य बज रहे थे जिससे वह गर्जता हुआ प्रतीत हो रहा था। उसमे देव-दुन्दुभि का घोष हो रहा था जिससे वह विपुल मेघ की गम्भीर गर्जना की तरह सम्पूर्ण देवलोक को शब्दायमान करता हुआ-सा लगता था। कालागरु, श्रेष्ठकुन्दरुक, तुरुष्क (लोमान) तथा जलती हुई धूप से वह महक रहा था और मनोहर लग रहा था। उस विमान में नित्य प्रकाश रहता था, वह श्वेत और उज्ज्वल प्रभा वाला था। देवों से सुशोभित सुखोपभोग रूप श्रेष्ठ पुण्डरीक के सदृश विमान को माता त्रिशला देखती है।[१५२]

मूल :—

तओ पुणो पुलगवेरिंदनीलसासगकक्केयणलोहियक्खमरगयमसारगल्लपवालफलिहसोगंधियहंसगब्भअंजणचंदप्पभवररयणमहियलपइट्ठियं गगणमंडलं तं पभासयंतं तुंगं मेरुगिरिसन्निगासं पिच्छइ सा रयणनियररासिं। १३ ॥४६॥

अर्थ—उसके पश्चात् त्रिशलामाता ने स्वप्न में रत्नराशि देखी। वह रत्नराशि भूमि पर रखी हुई थी, पर उसकी चमक-दमक गगन मण्डल के अन्तिम छोर तक परिव्याप्त थी, उसमें पुलक, वज्र, इन्द्रनील, सासक, कर्केतन, लोहिताक्ष, मरकत, मसारगल्ल, प्रवाल, स्फटिक, सौगन्धिक, हंसगर्भ, अंजन, चन्द्रप्रभ, प्रभृति श्रेष्ठ रत्न प्रभास्वर हो रहे थे। वह रत्नों का समूह मेरुपर्वत, के समान उच्च प्रतीत हो रहा था। ऐसी रत्न राशि माता ने स्वप्न में देखी।

मूल :—

सिहिं च सा विउलुज्जलपिंगलमहुघयपरिसिच्चमाणनिद्धूमधगधगाइयजलंतजालुज्जलाभिरामं तरतमजोगेहिं जालपयरेहिं अण्णमण्णमिव अणुपइण्णं पेच्छइ जालुज्जलणग अंबरं व कत्थइ-पयंतं अइवेगचंचलं सिहिं। १४ ॥४७॥

अर्थ – उसके पश्चात् त्रिशला माता स्वप्न मे निर्धूम अग्नि देखती है। उस अग्नि की शिखाएँ ऊपर की ओर उठ रही थी। वह उज्ज्वल घृत और पीत मधु से परिसिंचित होने के कारण निर्धूम देदीप्यमान उज्ज्वल ज्वालाओं से मनोहर थीं। वे ज्वालाएं एक दूसरे से मिली हुई प्रतीत होती थीं। उनमें कुछ ज्वालाएँ छोटी थी और कुछ ज्वालाएँ बड़ी थीं, वे इस प्रकार ज्ञात हो रहीं थी कि मानो आकाश को पकड़ रही हैं। वे ज्वालाएँ अतिशय वेग के कारण अत्यधिक चंचल थीं। इस प्रकार चौदहवें स्वप्न में त्रिशला माता निर्धूम प्रज्ज्वलित अग्नि शिखा देखती है।

मूल :—

एमेते एयारिसे सुभे सोमे पियदंसणे सुरूवे सुविणे दट्ठूण सयणमज्झे पडिबुद्धा अरविंदलोयणा हरिसपुलइयंगी।

एए चोद्दस सुमिणे सव्वा पासेइ तित्थयरमाया।
जं रयणिं वक्कमई, कुच्छिंसि महायसो अरहा। १ ॥४८॥

अर्थ–इस प्रकार के इन शुभ, सौम्य प्रियदर्शन एवं सुरूप स्वप्नों को निहारकर अरविन्द के समान विकसित नयन वाली माता त्रिशला के शरीर के रोम-रोम प्रसन्नता से पुलकित हो गए। वह अपनी शय्या पर जागृत हुई।

जिस रात्रि को महायशस्वी तीर्थंकर माता की कुक्षि में आते हैं, उस रात्रि में प्रत्येक तीर्थंकर की माताएं इन चौदह स्वप्नों को देखती हैं।

—— ● सिद्धार्थ से स्वप्न-चर्चा

मूल :—

तए णं सा तिसला खत्तियाणी इमेयारूवे ओराले चोद्दस महासुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धा समाणी हट्ठ जाव हयहियया धाराहयकलंबपुप्फगं पिव समूससियरोमकूवा सुमिणोग्गहं करेइ, सुमिणोग्गहं करित्ता सयणिज्जाओ अब्भुट्ठेइ, सयणिज्जाओ अब्भुट्ठित्ता पायपीढातो पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता अतुरियं अचव-लमसंभंताए अविलंबियाए रायहंससरिसीए गईए जेणेव सयणिज्जे जेणेव सिद्धत्थे खत्तिए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सिद्धत्थं खत्तियं ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं पियाहिं मणुन्नाहिं मणामाहिं ओरा-लाहिं कल्लाणाहिं सिवाहिं धन्नाहिं मंगल्लाहिं सस्सिरियाहिं हिययगमणिज्जाहिं हिययपल्हायणिज्जाहिं मियमहुरमंजुलाहिं गिराहिं संलवमाणी संलवमाणी पडिबोहेइ ॥४६॥

अर्थ—उसके पश्चात् वह त्रिशला क्षत्रियाणी इस प्रकार पूर्वोक्त चौदह महास्वप्नों को देखकर जागृत हुई। हर्षित और सन्तुष्ट हुई यावत् मेघधारा से आहत कदम्ब पुष्प के समान उसके रोम-रोम पुलकित हो गए। वह स्वप्नों को स्मरण करती है, स्मरण करके शय्या से उठती है और उठकर पादपीठ पर उतरती है और उतरकर अन्त्वरित, (धीमे-धीमे) अचपल, असंभ्रान्त, (धैर्यपूर्वक) अविलम्ब राजहंसी-सी मन्द-मन्द गति से चलकर जहां पर सिद्धार्थ क्षत्रिय का शयन कक्ष है और जहां पर सिद्धार्थ क्षत्रिय सुखपूर्वक सोया है, वहां आती है। आकर सिद्धार्थ क्षत्रिय को इष्ट, कान्त, प्रिय मनोज्ञ, मनोहर, उदार, कल्याण-रूप, शिवरूप, धन्य, मंगलकारी, शोभायुक्त हृदय को रुचिकर और हृदय को आल्हादकारी मित, मधुर एवं मञ्जुल शब्दों से जगाती है।

मूल :—

तए णं सा तिसला खत्तियाणी सिद्धत्थेणं रन्ना अब्भणुन्नाया समाणी नाणामणिरयणभत्तिचित्तंसि भद्दासणंसि निसीयइ, निसीइत्ता आसत्था वीसत्था सुहासणवरगया सिद्धत्थं खत्तियं ताहिं इट्ठाहिं जाव संलवमाणी संलवमाणी एवं वयासी ॥५०॥

अर्थ—उसके पश्चात् वह त्रिशला क्षत्रियाणी सिद्धार्थ राजा की आज्ञा प्राप्त कर विविध मणि-रत्नों से रचित भद्रासन पर बैठती है। बैठकर चलने के श्रम को दूर कर, क्षोभ रहित होकर सिद्धार्थ क्षत्रिय को इष्ट यावत् हृदय को आह्लादित करने वाली वाणी से संलाप करती--करती वह इस प्रकार बोली:—

मूल :—

एवं खलु अहं सामी! अज्ज तंसि तारिसयंसि सयणिज्जंसि वन्नओ जाव पडिबुद्धा। तं जहा—गयवसह० गाहा। तं एतेसिं सामी! ओरालाणं चोद्दसण्हं महासुमिणाणं के मन्ने कल्लाणे फलवित्तिविसेसे भविस्सइ? ॥५१॥

अर्थ—इस प्रकार हे स्वामिन्! मैं आज उस रमणीय शयनीय कक्ष में शय्या पर सोई हुई थी (जिसका वर्णन पूर्व किया जा चुका है) यावत् प्रतिबुद्ध हुई। वे चौदह महास्वप्न गज, वृषभ, आदि जो थे देखे। हे स्वामिन्! उन उदार चौदह महास्वप्नों का क्या कल्याण-रूप फल विशेष होगा?

मूल :—

तए णं से सिद्धत्थे राया तिसलाए खत्तियाणीए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठचित्ते आणंदिए पीइमणे परमसोमणसिए हरिसवसविसप्पमाणहियए धाराहयनीवसुरहिकुसुमचुंचुमालइयरोमकूवे ते सुमिणे ओगिण्हति, ते सुमिणे ओगिण्हित्ता ईहं

अणुपविसइ, ईहं अणुपविसित्ता अप्पणो साहाविएणं मइपुव्वएणं बुद्धिविन्नाणेणं तेसिं सुमिणाणं अत्थोग्गहं करेइ, अत्थोग्गहं करित्ता सलाखत्तियाणीं ताहिं इट्ठाहिं जाव मंगल्लाहिं मियमहुरंसस्सिरीयाहिं वग्गूहिं संलवमाणे संलवमाणे एवं वयासी ॥५२॥

अर्थ—उसके पश्चात् वह सिद्धार्थ राजा त्रिशला क्षत्रियाणी से इस *अर्थ* को श्रवण कर और हृदय में विचारकर हर्षित और सन्तुष्ट चित्तवाला हुआ। आनन्दित हुआ। मन में प्रीति समुत्पन्न हुई। उसका मन अत्यधिक आह्लादित हुआ। हर्ष से उसका हृदय फूलने लगा। मेघ की धारा से आहत कदम्ब पुष्प की तरह उसके रोम-रोम उल्लसित हो गए। वह उन स्वप्नों को ग्रहण करता है। ग्रहण करके उन पर सामान्य विचार करता है और सामान्य विचार करने के पश्चात् पुनः उन स्वप्नों का पृथक पृथक रूप से विशिष्ट विचार करता है। विशिष्ट विचार करके अपनी स्वाभाविक प्रज्ञा सहित बुद्धि विज्ञान से उन स्वप्नों का विशेष फल पृथक्-पृथक् रूप से निश्चय करता है। विशेष प्रकार से निश्चय करके इष्ट यावत् मंगलरूप परिमित मधुर एवं शोभायुक्त वाणी से त्रिशला क्षत्रियाणी को इस प्रकार बोला:—

मूल :—

ओराला णं तुमे देवाणुप्पिए ! सुमिणा दिट्ठा, कल्लाणा णं तुमे देवाणुप्पिए ! सुमिणा दिट्ठा, एवं सिवा धन्ना मंगल्ला सस्सिरीया आरोग्गतुट्ठिदीहाउयकल्लाणमंगल्लकारगा णं तुमे देवाणुप्पिए ! सुमिणा दिट्ठा ! तं जहा—अत्थलाभो देवाणुप्पिए ! भोगलाभो देवाणुप्पिए ! पुत्तलाभो देवाणुप्पिए ! सोक्खलाभो देवाणुप्पिए ! रज्जलाभो देवाणुप्पिए ! एवं खलु तुमं देवाणुप्पिए ! नवण्ह मासाणं बहुपडिपुन्नाणं अद्धट्ठमाण य राइंदियाणं विइक्कंताणं अम्हं कुलकेउं अम्हं कुलदीवं कुलपव्वयं कुलवडिंसयं कुलतिलयं कुलकित्तिकरं कुलवित्तिकरं

कुलदिणयरं कुलआहारं कुलनंदिकरं कुलजसकरं कुलपायवं कुलविवद्धणकरं सुकुमालपाणिपायं अहीणसंपुन्नपंचेंदियसरीरं लक्खणवंजणगुणोववेयं माणुम्माणपमाणपडिपुन्नसुजायसव्वंगसुंदरंगं ससिसोमाकारं कंतं पियं सुदंसणं दारयं पयाहिसि ॥५३॥

अर्थ–हे देवानुप्रिये ! तुमने उदार, कल्याणकारी, शिवरूप, मगलकारी, शोभायुक्त, अरोग्यप्रद[१५४] तुष्टिप्रद, दीर्घायुप्रद, कल्याणप्रद स्वप्न देखे हैं। हे देवानुप्रिये ! तुमने जो स्वप्न देखे है उनसे अर्थलाभ, भोगलाभ, पुत्रलाभ, सुखलाभ, और राज्यलाभ होगा। हे देवानुप्रिये ! तुम परिपूर्ण नो मास और साढ़े मात अहोरात्रि के व्यतीत होने पर हमारे कुलमें केतु रूप (ध्वजा के समान) कुलप्रदीप, कुलपर्वत, (कुल में पर्वत के समान उच्च) कुलावतंसक, (मुकुट के समान) कुलतिलक, कुलकीर्तिकर, कुलवृत्तिकर, कुल दिनकर, कुलाधार, कुल में आनन्द करने वाला, कुल यशस्कर, कुल पादप (वृक्ष के समान सब को आश्रय दाता) कुल विवर्धक, सुकोमल हाथ पैर वाले, सम्पूर्ण पंचेन्द्रिय शरीर वाले, लक्षणो (स्वस्तिक आदि चिन्ह) व्यंजनों (मष तिल आदि) एवं गुणो से युक्त[१५५] मान. उन्मान, प्रमाण[१५६] से परिपूर्ण, शोभायुक्त, सर्वाङ्ग सुन्दर शरीर वाले, चन्द्र के समान सौम्याकार कान्त, प्रियदर्शी एव सुरूप बालक को जन्म दोगी।

मूल :—

से वि य णं दारए उम्मुक्कबालभावे विन्नायपरिणयमित्ते जोव्वणगमणुप्पत्ते सूरे वीरे विक्कंते विच्छिन्नविउलबलवाहणे रज्जवई राया भविस्सइ, तं जहा ओराला णं तुमे जाव दोच्चं पि तच्चं पि अणुवूहइ ॥५४॥

अर्थ--और वह बालक बालभाव (बचपन) से उन्मुक्त होकर समझदार तथा कलादि में कुशल बनकर युवावस्था को प्राप्त करने पर दान में शूर, संग्राम

में वीर-पराक्रमी होगा। उसके पास विपुल बल, वाहन (सेना आदि) होंगे। वह राज्य का अधिपति राजा होगा। हे देवानुप्रिये! तुमने जो महास्वप्न देखे हैं, वे उत्तम है", इस प्रकार सिद्धार्थ राजा त्रिशला रानी से दूसरी और तीसरी वार कहकर उसके चित्त को बढ़ावा देकर प्रफुल्लित करता है।

मूल :—

तए णं सा तिसला खत्तियाणी सिद्धत्थस्स रन्नो अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठा जाव हियया करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी ॥५५॥

अर्थ-उसके पश्चात् वह त्रिशला क्षत्रियाणी सिद्धार्थ राजा से इस प्रकार स्वप्न का अर्थ श्रवणकर हृदय में धारण कर हर्षित सन्तुष्ट यावत् प्रसन्न चित्तवाली होती हुई दोनों हाथ जोड़ कर, दस नख सम्मिलित करके मस्तिष्क पर शिरसावर्त युक्त अजलि करके इस प्रकार बोली—

मूल :—

एवमेयं सामी! तहमेयं सामी! अवितहमेयं सामी! असंदिद्धमेयं सामी! इच्छियमेयं सामी! पडिच्छियमेयं सामी! इच्छियपडिच्छियमेयं सामी! सच्चे णं एसमट्ठे से जहेयं तुब्भे वयह त्ति कट्टु ते सुमिणे सम्मं पडिच्छइ, ते सुमिणे सम्मं पडिच्छित्ता सिद्धत्थेणं रन्ना अब्भणुन्नायासमाणी नाणामणिरयणभत्तिचित्ताओ भद्दासणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठित्ता अतुरियमचवलमसंभंताए अविलंबियाए रायहंससरिसीए गईए, जेणेव सए सयणिज्जे तेणेव उवागच्छइ तेणेव उवागच्छित्ता एवं वयासी ॥५६॥

अर्थ--'हे स्वामिन्! यह ऐसा ही है। जैसा आपने कहा है वैसा ही है। आपका कथन सत्य है। यह सन्देह रहित है। यह इष्ट है। यह पुनः पुनः इष्ट है। हे स्वामिन्! यह इष्ट और अत्यधिक इष्ट है। आपने स्वप्नों का जो फल

बताया है वह सत्य है।' इस प्रकार कहकर वह स्वप्नों के अर्थ को सम्यक् प्रकार से स्वीकार करती है तथा सिद्धार्थ राजा की आज्ञा प्राप्त करके विविध प्रकार के रत्नादि से जड़े हुए भद्रासन से खड़ी होती है। खड़ी होकर शनैः शनैः, अचपल, शीघ्रता रहित, अविलम्ब, राजहंसी के समान मंद गति से चल कर जहाँ पर अपनी शय्या है, वहाँ आती है। वहाँ आकर इस प्रकार मन-ही-मन बोली अर्थात् मन में विचार करने लगी।

मूल :—

मा मे ते उत्तमा पहाणा मंगल्ला महासुमिणा अन्नेहिं पावसुमिणेहिं पडिहम्मिस्संति त्ति कट्टु देवयगुरुजणसंबद्धाहिं पसत्थाहिं मंगल्लाहिं धम्मियाहिं लट्ठाहिं कहाहिं सुमिणजागरियं जागरमाणी पडिजागरमाणी विहरइ ॥५७॥

अर्थ—मेरे वे उत्तम, प्रधान, मंगल रूप, महास्वप्न अन्य स्वप्नों से प्रतिहत निष्फल न हो जाएँ, एतदर्थ मुझे जागृत रहना चाहिए। ऐसा विचार करके देव-गुरुजन सम्बन्धी प्रशस्त, मांगलिक, धार्मिक रसप्रद कथाओं के अनुचिन्तन से अपने महास्वप्नों की रक्षा के लिए अच्छी तरह जागृत रहने लगी।

मूल :—

तए णं सिद्धत्थे खत्तिए पच्चूसकालसमयंसि कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ कोडुंबियपुरिसे सद्दावित्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! अज्ज सविसेसं बाहिरिज्जं उवट्ठाणसालं गंधोदय-सित्तसम्मज्जिओवलित्तं सुगंधवरपंचवन्नपुप्फोवयारकलियं कालागरु-पवरकुंदुरुक्कतुरुक्कडज्झंतधूवमघमघेंतगंधुद्धुयाभिरामं सुगंधवरगंधियं गंधवट्टिभूयं करेह, कारवेह, करेत्ता कारवेत्ता य सीहासणं रयावेह, सीहासणं रयावित्ता ममेयमाणत्तियं खिप्पामेव पच्चप्पिणह ॥५८॥

अर्थ–अनन्तर सिद्धार्थं क्षत्रिय प्रभात काल होने पर कौटुम्बिक पुरुषों को बुलवाता है। बुलवाकर के इस प्रकार कहता है—हे देवानुप्रियो! शीघ्र ही आज बाहर की उपस्थानशाला (राज-सभा भवन) को विशेष रूप से सुगन्धित जल से सिंचन करो। साफ करके उसका (गोबर आदि से) लेपन करो, स्थान-स्थान पर श्रेष्ठ सुगन्धित पञ्चवर्णों के पुष्प समूह से सुशोभित करो। काले अगर, उत्तम-कुन्दरु तुर्की धूप से सुगन्धित बनाओ। यत्र-तत्र सुगन्धित चूर्णो को छिटककर सुगन्धित गुटिका के समान बनाओ। स्वयं करो, दूसरों से करवाओ, और करके तथा करवाकरके, वहाँ पर एक सिंहासन रक्खो, सिंहासन रखकर (कार्य सम्पन्न करके) मुझे मेरी आज्ञा पुन. शीघ्र ही लौटाओ अर्थात् सूचित करो।

मूल :–

तए णं ते कोडुंबियपुरिसा सिद्धत्थेणं रण्णा एवं वुत्ता समाणा हट्ठ जाव हियया करयल जाव कट्टु 'एवं सामि!' त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणंति, एवं सामि! त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणित्ता सिद्धत्थस्स खत्तियस्स अंतियाओ पडिनिक्खमंति, पडिनिक्खमित्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता खिप्पामेव सविसेसं बाहिरियं उवट्ठाणसालं गंधोदयसित्त जाव सीहासणं रयावेंति, सीहासणं रयावित्ता जेणेव सिद्धत्थे खत्तिए तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु सिद्धत्थस्स खत्तियस्स तमाणत्तियं पच्चप्पिणंति ॥५६॥

अर्थ–अनन्तर वे कौटुम्बिक पुरुष सिद्धार्थ राजा के द्वारा इस प्रकार आदेश देने पर अत्यन्त प्रसन्न हुए, यावत् उल्लसित हृदय से पूर्व की भांति मस्तिष्क पर अञ्जलि करके "हे स्वामिन् जैसी आपकी आज्ञा है" इस प्रकार कहकर आज्ञा को विनयपूर्वक वचन से स्वीकारते हैं। विनयपूर्वक स्वीकार

करके सिद्धार्थ क्षत्रिय के पास से बाहर निकलते हैं। बाहर निकल करके जहाँ पर बाह्य उपस्थानशाला है, वहाँ आते है। आकर के शीघ्र ही उपस्थानशाला को सुगन्धित जल से सिंचन कर यावत् सिंहासन सजाते हैं। सिंहासन सजाकर जहा पर सिद्धार्थ क्षत्रिय है वहां पर आते हैं। आ करके करतल परिगृहीत दश नखों से मस्तिष्क पर शिरसावर्त के साथ अंजलिबद्ध होकर सिद्धार्थ क्षत्रिय की आज्ञा को पुनः सर्मपित करते हैं।

मूल :—

तए णं सिद्धत्थे खत्तिए कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए फुल्लुप्पलकमलकोमलुम्मिल्लियम्मि अह पंडरे पहाए रत्तासोयपगासकिंसुयसुयमुहगुंजद्धरागसरिसे कमलायरसंडबोहए उट्ठियम्मि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे तेयसा जलंते य सयणिज्जाओ अब्भुट्ठेइ ॥६०॥

अर्थ—अनन्तर वह सिद्धार्थ क्षत्रिय प्रातःकाल के समय (उषः काल में) जब उत्पल कमल-विकसित होने लगे हैं, हरिणों के कोमल नेत्र खुलने लगे हैं, उज्ज्वल प्रभात होने लगा है, और रक्त अशोक के प्रभा-पुञ्ज सदृश, किंशुक के रँग के समान, तोते की चोंच और चिर्मी के अर्ध-लाल रँग के समान आरक्त बड़े बड़े जलाशयों में समुत्पन्न कमलों को विकसित करने वाला, सहस्ररश्मि, तेज से प्रदीप्त दिनकर उदित हुआ, तब शयनासन से उठते हैं अर्थात् शयनकक्ष से बाहर आते हैं।

मूल :—

सयणिज्जाओ अब्भुट्ठित्ता पायपीढाओ पच्चोरुहइ, पायपीढाओ पच्चोरुहित्ता जेणेव अट्टणसाला तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता अट्टणसालं अणुपविसइ, अट्टणसालं अणुपविसित्ता अणेगवायामजोगवग्गणवामद्दणमल्लजुद्धकरणेहिं संते परिस्संते

सयपाग सहस्सपागेहिं सुगंधवरतेल्लमाइएहिं पीणणिज्जेहिं जिंघणिज्जेहिं दीवणिज्जेहिं दप्पणिज्जेहिं मयणिज्जेहिं विंहणिज्जेहिं सव्विंदियगायपल्हायणिज्जेहिं अब्भंगिए समाणे तेल्लचम्मंसि णिउणेहिं पडिपुन्नपाणिपायसुकुमालकोमलतलेहिं पुरिसेहिं अब्भंगणपरिमद्दणुव्वलणकरणगुणनिम्माएहिं छेएहिं दक्खेहिं पट्ठेहिं कुसलेहिं मेधावीहिं जियपरिस्समेहिं अट्ठिसुहाए मंससुहाए तयासुहाए रोमसुहाए चउव्विहाए सुहपरिकम्मणाए संवाहिए समाणे अवगयपरिस्समे अट्टणसालाओ पडिनिक्खमइ ॥६१॥

अर्थ—महाराज सिद्धार्थ शयन आसन से उठते हैं, पादपीठिका से नीचे उतरते हैं, पादपीठिका से उतरकर जहां व्यायामशाला थी वहाँ आते हैं, वहां आकर के व्यायामशाला में प्रवेश करते हैं। प्रवेश करके व्यायाम करने के लिए श्रम करते हैं (१) योग्या (शस्त्रों का अभ्यास), (२) वल्गन-कूदना, (३) व्यामर्दन-एक दूसरे की भुजा, आदि अंगो को मरोड़ना, (४) मल्लयुद्ध-कुश्ती करना, (५) करण-पद्मासन आदि विविध आसन करना। इन व्यायामों को करने से जब वे परिश्रान्त हो गये तब थकान को दूर करने के लिए विविध औषधियों के संमिश्रण से सौ बार पकाये गये अथवा सौ मुद्राओ के व्यय से बने हुए ऐसे शतपाकतैल से, एवं जो हजार बार पकाया गया हो, या जिसको पकाने में हजार मोहरें लगी हो ऐसे सहस्रपाक आदि सुगन्धित तैलों से मर्दन किया।[१०७] वे तैल अत्यन्त गुणकारी रसरुधिर आदि धातुओं की वृद्धि करने वाले, क्षुधा को दीप्त करने वाले, बल, मांस और तेजस् को बढ़ाने वाले, कामोद्दीपक, पुष्टिकारक और सब इन्द्रियों को सुखदायक थे। अंगमर्दन करने वाले भी सम्पूर्ण उँगलियों सहित सुकुमार हाथ पैर वाले, मर्दन करने में प्रवीण, स्फूर्ति से मर्दन करने वाले, मर्दनकला के विशेषज्ञ, बोलने में चतुर, शरीर के संकेत समझने में कुशल, बुद्धिमान तथा परिश्रम से हार नहीं मानने वाले थे। ऐसे मालिश करने वाले पुरुषों ने अस्थि के सुख के लिए, मांस के सुख के लिए, त्वचा के सुख के लिए, रोमराजि के सुख के लिए, इस प्रकार चार प्रकार की सुखदायक

अंगशुश्रूषा वाली मालिश की। मालिश से जब थकान नष्ट हो गई, तब क्षत्रिय सिद्धार्थ व्यायामशाला से बाहर निकला।

मूल :—

अट्टणसालाओ पडिनिक्खमित्ता जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता मज्जणघरं अणुपविसइ, अणुप्पविसित्ता समुत्तजालकलावाभिरामे विचित्तमणिरयणकोट्टिमतले रमणिज्जे ण्हाणमंडवंसि नाणामणिरयणभत्तिचित्तंसि ण्हाणपीढंसि सुहनिसन्ने पुप्फोदएहि य गंधोदएहि य उण्होदएहि य सुहोदएहि य सुद्धोदएहि य कल्लाणकरणपवरमज्जणविहीए मज्जिए, तत्थ कोउयसएहिं बहुविहेहिं कल्लाणगपवरमज्जणावसाणे पम्हलसुकुमालगंधकासातियलूहियंगे अहयसुमहग्घदूसरयणसुसंवुए सरससुरहिगोसीसचंदणाणुलित्तगत्ते सुइमालावन्नगविलेवणे आविद्धमणिसुवन्ने कप्पियहारद्धहारतिसरयपालंबपलंबमाणकडिसुत्तयकयसोहे पिणद्धगोविज्जे अंगुलिज्जगललियकयाभरणे वरकडगतुडियथंभियभुए अहियरूवसस्सिरीए कुंडलउज्जोइयाणणे मउडदित्तसिरए हारोत्थयसुकयरइयवच्छे मुद्दियापिंगलंगुलीए पालंबपलंबमाणसुकयपडउत्तरिज्जे नाणामणिकणगरयणविमलमहरिहनिउणोवियमिसिमिसिंतविरइयसुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठआविद्धवीरवलए। किं बहुणा? कप्परुक्खते चेव अलंकियविभूसिए नरिंदे सकोरिंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं सेयवरचामराहिं उद्धुव्वमाणीहिं मंगलजयसद्दकयालोए अणेगगणनायगदंडनायगराईसरतलवरमाडंबियकोडुंबियमंतिमहामंतिगणगदोवारियअमच्चचेडपीढमद्दण-

गरनिगमसेट्ठिसेणावइसत्थवाहदूयसंधिपालसद्धिं संपरिवुडे धवलमहामेहनिग्गए इव गहगणदिप्पंतरिक्खतारागणाणमज्झे ससि व्व पियदंसणे नरवई मज्जणघराओ पडिनिक्खमइ ॥६२॥

अर्थ–(सिद्धार्थ) व्यायामशाला से बाहर निकल कर जहां पर मज्जनगृह (स्नानगृह) है वहां पर आते है। वहां आकर के मज्जनगृह में प्रवेश करते हैं। प्रवेश करके मुक्ताओं के समूह से रमणीय, विविध मणियों तथा रत्नों से जटित भाग वाले सुन्दर स्नान-मण्डप में विविध मणि रत्नादि की कलापूर्ण कारीगरी से निर्मित अद्‌भुत स्नान-पीठ पर सुखपूर्वक बैठते हैं। वहां सिद्धार्थ क्षत्रिय को पुष्पोदक, गधोदक, उष्णोदक, शुभोदक, शुद्धोदक से कल्याणकारक विधि से स्नान विधि विशेषज्ञों द्वारा स्नान कराया गया। तथा स्नान करते समय बहुत प्रकार के सैकड़ों कौतुक उनके शरीर पर किए गये। कल्याणप्रद श्रेष्ठ स्नानविधि पूर्ण होने पर रोएँदार,[१५८] मुलायम, सुगन्धित रक्त वस्त्र (अंगोछा) से शरीर को पोछा गया। अनन्तर श्रेष्ठ नवीन एवं बहुमूल्य वस्त्र धारण किये।[१५९] शरीर पर सरस सुगंधित गोशीर्ष चन्दन से लेप किया। पवित्र माला पहनी। शरीर पर केसर मिश्रित सुगंधित चूर्ण का छिटकाव किया। मणियों से जड़े हुए स्वर्ण आभूषण पहने। अठारह, नौ, तीन, और एक लड़ी के हार गले में धारण किए। लम्बा लटकता हुआ कटिसूत्र (करघनी) धारण कर सुशोभित लगने लगे। और कंठ को शोभित करने वाले विविध प्रकार के भूषण धारण किए। अँगुलियों में अंगूठियां पहनीं। रत्न-जटित स्वर्ण के कड़े से और भुजबंध से राजा सिद्धार्थ की दोनों भुजाएँ प्रभास्वर हो उठी। इस प्रकार वह सिद्धार्थ राजा शरीर सौन्दर्य की अद्‌भुत प्रभा से दिव्य लगने लगा। कुण्डल पहनने से उसका मुख चमक रहा था, और मुकुट धारण करने से मस्तक आलोक से जगमगाने लगा था। हृदय हारों से आच्छन्न होने पर दर्शनीय बन गया। अंगूठियों से अंगुलियों की आभा दमक उठी। अनन्तर लम्बे लटकते हुए बहुमूल्य वस्त्र का उत्तरासन धारण किया। निपुण कलाकारों द्वारा निर्मित विविध मणि-रत्नों से जटित श्रेष्ठ बहुमूल्य प्रभासमान सुन्दर वीर-वलय पहने। अधिक वर्णन क्या किया जाए! मानो वह सिद्धार्थ क्षत्रिय साक्षात् कल्पवृक्ष ही हो, इस प्रकार अलंकृत

और विभूषित हुआ। ऐसे सिद्धार्थ राजा के सिर पर छत्र धारकों ने कोरंट के पुष्पों की मालाएँ जिसमें लटक रही थीं, ऐसा छत्र धारण किया। श्वेत व उत्तम चामरों से बींजन किया गया। उन्हें निहारते ही जनता के मुख से 'जय हो, जय हो, इस प्रकार का मंगलनाद झंकृत होने लगा।

इस प्रकार अलंकृत होकर अनेक गणनायकों, (गण के स्वामियों) दण्डनायकों (तन्त्र का पालन करने वालों और अपने राष्ट्र की चिन्ता करने वालों) राइसरों (युवराज) तलवरों (प्रसन्न होकर राजा ने जिन्हें पट्टबंध से विभूषित किया हो) माडम्बिको (जिसके चारों ओर आधे योजन तक ग्राम न हो उसे मडम्ब कहते है। और मडम्ब के स्वामी माडम्बिक कहलाते है) कौटुम्बिकों (कतिपय कुटुम्बों के स्वामी) मंत्रियों (राज्य के अधिष्ठायक सचिव) महामत्रियों (मंत्रिमण्डल के प्रधान) गणकों (ज्योतिषी) दौवारिकों (द्वारपाल) अमात्यो (प्रधान) तथा चेट (दास) पीटमर्दक (निकट में रहकर सेवा करने वाले) नागर (नगर निवासी) निगम (व्यापार करने वाले) श्रेष्ठी (नगर के मुख्य व्यवसायी) सेनापति (चतुरग सेनाधिपित) सार्थवाह (सार्थ का मुखिया) दूत (दूसरो को राज्यादेश का निवेदन करने वाले) सन्धिपाल (सन्धि की रक्षा करने वाले) आदि से घिरा हुआ सिद्धार्थ जैसे श्वेत महामेघ से चन्द्र निकलता है, वैसे ही निकला। जैसे ग्रह, नक्षत्र, और तारागणों के मध्य चन्द्र शोभता है, वैसे ही वह शोभायमान हो रहा था। चन्द्र की तरह वह प्रियदर्शी नरपति मज्जन गृह से बाहर निकला।

मूल :—

मज्जणघराओ पडिनिक्खमित्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छइ तेणेव उवागच्छित्ता सीहासणंसि पुरत्थाभिमुहे निसीयइ, निसीइत्ता अप्पणो उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए अट्ठभद्दासणाइं सेयवत्थपच्चत्थुयाइं सिद्धत्थयकयमंगलोवयाराइं रयावेइ, रयावित्ता अप्पणो अदूरसामंते नाणामणिरयणमंडियं

अहियपेच्छणिज्जं महग्घवरपट्टणुग्गयं सण्हपट्टभत्तिसतचित्तमाणं ईहामियउसहतुरगनरमगरविहगवालगकिन्नररुरुसरभचमरकुंजरव-णलयपउमलयभत्तिचित्तं अब्भिंतरियं जवणियं अंछावेइ, अंछा-वेत्ता नाणामणिरयणभत्तिचित्तं अत्थरयमिउमसूरगोत्थयं सेयव-त्थपच्चत्थुयं सुमउयं अंगसुहफरिसगं विसिट्ठं तिसलाए खत्तियाणीए भद्दासणं रयावेइ ॥६३॥

अर्थ—मज्जनगृह से बाहर निकलकर (सिद्धार्थ) जहां बाह्य उपस्थान शाला है, वहां पर आते हैं। वहां आकर के सिंहासन पर पूर्व दिशा की ओर मुंह कर बैठते हैं। बैठकर अपने से उत्तर पूर्व दिशा में (ईशान कोण में) श्वेत वस्त्र से आच्छादित और जिन पर सरसों आदि से मांगलिक उपचार किए गये हैं ऐसे आठ भद्रासन लगवाए। लगवाकर के अपने पास से न अति-सन्निकट और न अतिदूर विविध मणिरत्नों से मण्डित, बहुत दर्शनीय, व महा-मूल्यवाली, बड़े और प्रतिष्ठित नगर में निर्मित पारदर्शक पट्टसूत्र पर सैकड़ों चित्रों से चित्रित की हुई, ईहामृग, वृषभ, अश्व, मनुष्य, मगर, पक्षी सर्प, किन्नर, रुरु (मृग विशेष), अष्टापद, चमरीगाय, हस्ती, वनलता, पद्मलता आदि के चित्र खिंचे हुए ऐसी अन्तःपुर में लगाने योग्य यवनिका (पर्दा) लग-वाता है। यवनिका के अन्दर के भाग में विविध मणि-रत्नों से जटित, चित्र-विचित्र, तकियेवाला, मुलायम गद्दीवाला, श्वेत वस्त्र से आच्छादित, अत्यधिक मृदु, शरीर के लिए सुखकारी स्पर्शवाला विशिष्ट प्रकार का भद्रासन त्रिशला क्षत्रियाणी के लिए लगवाता है।

—— • स्वप्न-पाठक को बुलाना

मूल :—

भद्दासणं रयावित्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! अट्ठंगमहानिमित्तसुत्त-त्थपारए विविहसत्थकुसले सुविणलक्खणपाढए सद्दावेह ॥६४॥

अर्थ–भद्रासन लगवा करके राजा सिद्धार्थ कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाता है। बुलाकर उन्हें इस प्रकार कहता है–हे देवानुप्रियो ! शीघ्र ही अष्टाङ्गमहानिमित्त के सूत्र व अर्थ के पारगामी, विविधशास्त्रों में कुशल ऐसे स्वप्न-लक्षण-पाठकों-स्वप्नशास्त्रियों को बुलाके लाओ !

मूल :—

तए णं ते कोडुंबियपुरिसा सिद्धत्थेणं रन्ना एवं वुत्ता समाणा हट्ठा जाव हयहियया करयल जाव पडिसुणेंति पडिसुणित्ता सिद्धत्थस्स खत्तियस्स अंतियाओ पडिनिक्खमंति, पडिनिक्खमित्ता कुंडग्गामं नगरं मज्झं मज्झेणं जेणेव सुमिणलक्खणपाढगाणं गिहाइं तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता सुविणलक्खणपाढए सद्दाविंति ॥६५॥

अर्थ–अनन्तर वे कौटुम्बिक पुरुष सिद्धार्थराजा के द्वारा इस प्रकार कहने पर प्रसन्न हुए, यावत् उनका हृदय आनन्दित हुआ। वे दोनों हाथों को जोड़कर राजाज्ञा को विनययुक्त वचन से स्वीकार करते हैं। स्वीकार करके सिद्धार्थ क्षत्रिय के पास से निकलते है। निकल करके वे कुण्डग्राम नगर के बीचोंबीच होकर जहाँ स्वप्न-लक्षण-पाठकों के गृह हैं, वहां आते हैं। वहाँ आकर के स्वप्न-लक्षण पाठकों को बुलाते है।

मूल :—

तए णं ते सुविणलक्खणपाढगा सिद्धत्थस्स खत्तियस्स कोडुंबियपुरिसेहिं सद्दाविया समाणा हट्ठतुट्ठ जाव हियया ण्हाया कयबलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ता सुद्धप्पावेसाइं मंगलाइं वत्थाइं पवराइं परिहिया अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरा सिद्धत्थकहरियालियकयमंगलमुद्धाणा सएहिं सएहिं गेहेहिंतो निग्गच्छंति।६६॥

अर्थ–तदनन्तर सिद्धार्थक्षत्रिय के कौटुम्बिक पुरुषों द्वारा बुलाये गये वे स्वप्नलक्षण पाठक हर्षित एवं तुष्ट हुए, यावत् प्रसन्नचित्त हुए। उन्होंने स्नान किया, बलिकर्म किया, कौतुक (कपाल में तिलक आदि) तथा सरसों, दही, अक्षत, दूर्वादि मंगलों से माँगलिक कृत्य (दुष्टस्वप्न आदि के फल को निष्फल करने के लिए प्रायश्चित्त रूप कृत्य) किया। [१६०] राज्य सभा में जाने योग्य शुद्ध मंगलरूप उत्तम वस्त्रों को धारण किया। अल्प (भार) किंतु बहुमूल्य आभरणों से शरीर को अलंकृत किया, मस्तिष्क पर श्वेतसरसों और और अक्षत आदि मंगल हेतु लगाये, और वे अपने-अपने गृह से निकले।

मूल :—

निग्गच्छित्ता खत्तियकुंडग्गामं नगरं मज्झं मज्झेणं जेणेव सिद्धत्थस्स रन्नो भवणवरवडिंसगपडिदुवारे तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता भवणवरवडिंसगपडिदुवारे एगयओ मिलंति, एगयओ मिलित्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव सिद्धत्थे खत्तिए तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता करतलपरिग्गहियं जाव कट्टु सिद्धत्थं खत्तियं जएण विजएणं वद्धाविंति ॥६७॥

अर्थ–बाहर निकलकर क्षत्रिय कुण्डग्राम नगर के मध्य मे होते हुए जहां सिद्धार्थराजा के उत्तम भवन का प्रधान प्रवेशद्वार है, वहां आते हैं। वहा आकरके इकट्ठे होते है। इकट्ठे होकर जहां बाह्य उपस्थापनशाला है और जहां सिद्धार्थ क्षत्रिय है, वहां आते है। वहाँ आकरके हाथ जोड़कर मस्तिष्क पर अंजलि कर 'जय हो, विजय हो' इस प्रकार आशीर्वाद वचनों से बधाते हैं।

मूल :—

तए णं ते सुविणलक्खणपाढगा सिद्धत्थेणं रन्ना वंदिय-पूइयसक्कारियसम्माणिया समाणा पत्तेयं पत्तेयं पुव्वण्णत्थेसु भद्दासणेसु निसीयंति ॥६८॥

अर्थ—अनन्तर सिद्धार्थराजा ने स्वप्न-लक्षण पाठकों को वन्दन किया, उनकी अर्चना की, सत्कार और सम्मान किया। फिर वे (स्वप्न पाठक) पृथक-पृथक पूर्व स्थापित भद्रासनों पर बैठ जाते हैं।

मूल :—

तए णं सिद्धत्थे खत्तिए तिसलं खत्तियाणिं जवणियंतरियं ठावेइ, ठवित्ता पुप्फफलपडिपुन्नहत्थे परेणं विणएणं ते सुमिणलक्खणपाढए एवं वयासि—एवं खलु देवाणुप्पिया! अज्ज तिसला खत्तियाणी तंसि तारिसगंसि जाव सुत्तजागरा ओहीरमाणी ओहीरमाणी इमेयारूवे ओराले जाव चोद्दस महासुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धा। तं जहा—गय उसभ० गाहा। तं एतेसिं चोद्दसण्हं महासुमिणाणं देवाणुप्पिया! ओरालाणं जाव के मण्णे कल्लाणे फलवित्तिविसेसे भविस्सइ ? ॥६६॥

अर्थ—तदनन्तर सिद्धार्थ क्षत्रिय त्रिशला क्षत्रियाणी को यवनिका (पर्दे) के पीछे बिठाता है। बैठाकर हाथ में फल-फूल लेकर विशेष विनय के साथ स्वप्न-लक्षण पाठको को इस प्रकार कहा—हे देवानुप्रियो! निश्चय ही आज त्रिशला क्षत्रियाणी ने तथा प्रकार की उत्तम शय्या पर शयन करते हुए अर्धनिद्रावस्था में इस प्रकार के उदार, चौदह महान् स्वप्न देखे, स्वप्न देखकर जागृत हुई। वे स्वप्न हैं--गज, वृषभ आदि। हे देवानुप्रियो! उन उदार चौदह महास्वप्नों का क्या कल्याणकारी फल विशेष होगा ?

——— ● **स्वप्न-फल कथन**

मूल :—

तए णं ते सुमिणलक्खणपाढगा सिद्धत्थस्स खत्तियस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठ जाव हियया ते सुविणे ओगिण्हंति, ओगिण्हित्ता ईहं अणुपविसंति, ईहं २ त्ता अन्नमन्नेणं

सद्धिं संलाविंति, संलावित्ता तेसिं सुमिणाणं लद्धट्ठा गहियट्ठा पुच्छियट्ठा विणिच्छियट्ठा अहिगयट्ठा सिद्धत्थस्स रन्नो पुरओ सुमिणसत्थाइं उच्चारेमाणा उच्चारेमाणा सिद्धत्थं खत्तियं एवं वयासी ॥७०॥

अर्थ–उसके पश्चात् वे स्वप्न-लक्षण-पाठक सिद्धार्थ क्षत्रिय से प्रस्तुत वृत्त को जानकर एवं समझकर, अत्यन्त प्रफुल्लित हुए। उन्होंने प्रथम उन स्वप्नों पर सामान्य रूप से विचार किया। उसके पश्चात् स्वप्नों के अर्थ पर विशेष रूप से चिन्तन करने लगे। उस सम्बन्ध मे वे एक दूसरे से परस्पर संलाप-विचार-विनिमय करने लगे। इस प्रकार वे स्वयं चिन्तन एवं विचार-विनिमय के द्वारा स्वप्नों के अर्थ को जान पाये। उन्होंने उस विषय में परस्पर एक दूसरे का अभिप्राय पूछा और तदनन्तर निश्चितमत निर्धारण किया। जब वे सभी एकमत हो गये तब सिद्धार्थराजा के समक्ष स्वप्न शास्त्रों के अनुसार वचन बोलते हुए इस प्रकार कहने लगे।

विवेचन–भारतीय साहित्य मे स्वप्न के सम्बन्ध में गहराई से चिन्तन किया गया है। वहाँ स्वप्न आने के नौ निमित्त बताये गए हैं। (१) जिन वस्तुओं का अनुभव किया हो (२) जिनके सम्बन्ध में श्रवण किया हो (३) जो वस्तु देखी हो (४) वात, पित्त अथवा कफ की विकृति के कारण (५) स्वप्निल प्रकृति के कारण (६) चित्त-चिन्ता युक्त होने के कारण (७) देवता आदि का सान्निध्य होने पर (८) धार्मिक-स्वभाव होने पर (९) अतिशय पाप का उदय होने पर। स्वप्न आने के इन नौ प्रकारों में से प्रथम छह प्रकार के स्वप्न शुभ और अशुभ दोनों होते हैं, पर उनका कोई फल नही होता। तीन प्रकार के अन्तिम स्वप्न सत्य होते हैं और उनका शुभ एवं अशुभ फल निश्चित मिलता है।[१६१]

स्वप्न-शास्त्र की एक यह भी धारणा है कि रात्रि के प्रथम पहर में जो स्वप्न दीखता है उसका फल बारह मास में प्राप्त होता है। द्वितीय पहर में जो स्वप्न देखे जाते हैं, उनका फल छह मास में प्राप्त होता है। तृतीय प्रहर में

देखे गए स्वप्न का फल तीन मास में प्राप्त होता है और चतुर्थ पहर में जो स्वप्न दीखते हैं उनका फल एक मास में प्राप्त होता हैं। सूर्योदय से दो घड़ी पूर्व जो स्वप्न देखे जाते हैं उनका फल दस दिन में प्राप्त होता है और सूर्योदय के समय देखे जाने वाले स्वप्न का फल शीघ्र ही प्राप्त होता है।[१६२]

भारत की प्राचीन स्वप्न-शास्त्र सम्बन्धी मान्यता का कुछ दिग्दर्शन नीचे कराया जाता है–जो व्यक्ति एक स्वप्न के पश्चात् दूसरा स्वप्न देखता हो, मानसिक अथवा शारीरिक व्याधि से ग्रसित होकर स्वप्न देखता हो, मल-मूत्र की रुकावट के कारण स्वप्न देखता हो उसका स्वप्न निरर्थक होता है।[१६३]

जो व्यक्ति धर्मनिष्ठ है, जिसके शरीर की धातुएँ सम है, चित्त स्थिर है जो इन्द्रिय विजेता है, संयमी और दयालु है, उसका स्वप्न यथेष्ट फल प्रदाता होता है। यदि किसी को किसी प्रकार का दु स्वप्न आ जाए तो, उसे किसी भी अन्य व्यक्ति के सामने नहीं कहना चाहिए। न कहने से वह स्वप्न फल नहीं देता। यदि दु:स्वप्न आने के पश्चात् नींद आ जाय तो दु:स्वप्न का फल भी नष्ट हो जाता है।

किसी ने उत्तम स्वप्न देखा हो तो उस स्वप्न को गुरु या योग्य व्यक्ति के सामने कहना चाहिए। यदि योग्य व्यक्ति का अभाव हो तो गाय के कान में ही कह देना चाहिए। उत्तम स्वप्न देखकर पुनः नहीं सोना चाहिए, क्योंकि सोने से उसका फल नष्ट हो जाता है। अतः शेष रात्रि धर्म ध्यान व भगवत्–स्मरण में ही व्यतीत करनी चाहिए।

जो मानव प्रथम अशुभ-स्वप्न देखता है और उसके पश्चात् शुभ-स्वप्न देखता है, उसको शुभ स्वप्न का ही फल प्राप्त होता है। जो प्रथम शुभ स्वप्न देखता है और पश्चात् अशुभ-स्वप्न देखता है उसको अशुभ-स्वप्न का फल प्राप्त होता है। जो मनुष्य स्वप्न में सिंह, तुरङ्ग, हस्ती वृषभ और गाय से युक्त (जुते हुए) रथ पर स्वयं को आरूढ़ देखता है, वह राजा बनता है। जो स्वप्न मे हस्ती, वाहन, आसन, गृह या वस्त्र आदि का अपहरण होता देखता है उस पर राजा की शंका होती है। बन्धुओं से विरोध, और धन की हानि होती है।

जो स्वप्न में सूर्य, चन्द्र को निगलता है, वह दरिद्र होने पर भी राजा बनता है। जो स्वप्न में शस्त्र, मणि-मुक्ता, स्वर्ण, रजत आदि का अपहरण होते देखता है, उसके धन की हानि होती है, अपमान होता है, और वह मृत्यु को प्राप्त करता है। जो मानव स्वप्न में गजारूढ होता है, सरिता के सुन्दर तट पर चावल का भोजन करता है, वह धर्मनिष्ठ और धनवान होता है। जो स्वप्न में दाहिनी भुजा को श्वेत सर्प से दंसित देखता है, उसको पाँच ही रात्रि में एक हजार स्वर्ण मुद्राएं प्राप्त होती हैं। जो स्वप्न में किसी मानव के मस्तिष्क का भक्षण करता हुआ देखता है उसे राज्य प्राप्त होता है। जो पैर का भक्षण करता है उसे सहस्र स्वर्ण मुद्राएँ प्राप्त होती हैं। जो भुजा का भक्षण करता है उसे पाँच सौ मुद्राएँ प्राप्त होती हैं।

जो स्वप्न में सरोवर, समुद्र, जल-परिपूरित सरिता, और मित्र मरण देखता है, वह अकस्मात् ही अत्यधिक धन प्राप्त करता है।

जो स्वप्न में हँसता है वह शोकाकुल होकर रोता है, जो स्वप्न में नृत्य करता है, वह वध और बन्धन को प्राप्त करता है।

स्वप्न में गाय, वृषभ, तुरङ्ग, राजा और हस्ती के अतिरिक्त कोई काली वस्तु देखना अशुभ है। कपास और नमक के अतिरिक्त अन्य श्वेत वस्तु देखना शुभ है।

जो मानव स्वप्न में स्वयं से सम्बन्धित कोई वस्तु देखता है उसका शुभाशुभ उसे ही मिलता है, यदि दूसरे के लिए देखता है तो उसे मिलता है।

जो स्वप्न में घृत, मधु, और पय-कुम्भ को सिर पर लेता है वह उसी भव में मोक्ष प्राप्त करता है। जो स्वप्न में स्वर्ण राशि, रत्न-राशि, रजत-राशि, तथा सीशे की राशि पर बैठता है वह सम्यक्त्व को प्राप्त कर मोक्ष जाता है।

मूल :—

एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं सुमिणसत्थे बायालीसं सुविणा तीसं महासुमिणा बावत्तरिं सव्वसुमिणा दिट्ठा, तत्थ णं

देवाणुप्पिया ! अरहंतमातरो वा चक्कवट्टिमायरो वा अरहंतंसि वा चक्कहरंसि वा गब्भं वक्कममाणंसि एतेसिं तीसाए महासुमिणाणं इमे चोद्दस महासुमिणे पासित्ता णं पडिबुज्झंति, तं जहा-गय गाहा ॥७१॥

अर्थ—हे देवानुप्रिय ! निश्चित रूप से हमारे स्वप्न-शास्त्र में बयालीस स्वप्न (सामान्य फल वाले) कहे है, और तीस महास्वप्न (विशेष फल वाले) बताए हैं । इस प्रकार बयालीस और तीस कुल मिलाकर बहत्तर स्वप्न बतलाए गए हैं । उनमें से हे देवानुप्रिय ! अरिहन्त की माता, और चक्रवर्ती की माता जब अरिहन्त या चक्रवर्ती गर्भ मे आते है तब वह तीस महास्वप्नों में से इन चौदह महास्वप्नों को देखकर जागृत होती है । जैसे कि हाथी, वृषभ आदि ।[१६६]

मूल :—

वासुदेवमायरो वा वासुदेवंसि गब्भं वक्कममाणंसि एएसिं चोद्दसण्हं महासुमिणाणं अण्णतरे सत्त महासुमिणे पासित्ता णं पडिबुज्झंति ॥७२॥

अर्थ—वासुदेव की माताए वासुदेव के गर्भ में आने पर इन चौदह महा स्वप्नो में से कोई सात महास्वप्नो को देखकर जागृत होती है ।

मूल :—

बलदेवमायरो वा बलदेवंसि गब्भं वक्कममाणंसि एएसिं चोद्दसण्हं महासुमिणाणं अन्नयरे चत्तारि महासुमिणे पासित्ता णं पडिबुज्झंति ॥७३॥

अर्थ—बलदेव की माताएँ, जब बलदेव गर्भ में आते है तब इन चौदह महास्वप्नों में से कोई भी चार महास्वप्नों को देखकर जागृत होती हैं ।

मूल :—

मंडलियमायरो वा मंडलियंसि गब्भं वक्कंते समाणे एएसिं चोद्दसण्हं महासुमिणाणं अन्नयरं एगं महासुमिणं पासित्ता णं पडिबुज्झंति ॥७४॥

अर्थ—माण्डलिकराजा की माताएँ जब माण्डलिक गर्भ में आते हैं, तब इन चौदह महास्वप्नों में से कोई एक महास्वप्न देखकर जागृत होती हैं।

मूल :—

इमे य णं देवाणुप्पिया ! तिसलाए खत्तियाणीए सुमिणा दिट्ठा, जाव मंगल्लकारगा णं देवाणुप्पिया ! तिसलाए खत्तियाणीए सुमिणा दिट्ठा, तं जहा—अत्थलाभो देवाणुप्पिया ! भोगलाभो देवाणुप्पिया ! पुत्तलाभो देवाणुप्पिया ! सुक्खलाभो देवाणुप्पिया ! रज्जलाभो देवाणुप्पिया !, एवं खलु देवाणुप्पिया ! तिसला खत्तियाणीया नवण्हं मासाणं बहुपडिपुन्नाणं अद्धट्ठमाण य राइंदियाणं विइक्कंताणं तुम्हं कुलकेउं कुलदीवं कुलपव्वयं कुलवडिंसयं कुलतिलकं कुलकित्तिकरं कुलनंदिकरं कुलजसकरं कुलाधारं कुलपायवं कुलविविद्धिकरं सुकुमालपाणिपायं अहीण-पडिपुन्नपंचिंदियसरीरं लक्खणवंजणगुणोववेयं माणुम्माणप्पमा-णपडिपुन्नसुजायसव्वंगसुंदरंगं ससिसोमाकारं कंतं पियदंसणं सुरूवं दारयं पयाहिइ ॥७५॥

अर्थ—हे देवानुप्रिय ! त्रिशला क्षत्रियाणी ने जो ये चौदह महास्वप्न देखे हैं। वे मंगलकारी हैं। हे देवानुप्रिय ! त्रिशला क्षत्रियाणी ने ये जो स्वप्न

देखे हैं, वे अर्थ का लाभ करने वाले हैं। भोग का लाभ करने वाले है। पुत्र का लाभ करने वाले हैं, सुख का लाभ करने वाले हैं, राज्य का लाभ करने वाले हैं। हे देवानुप्रिय ! निश्चित ही त्रिशला क्षत्रियाणी नौ मास और साढ़े सात दिन व्यतीत होने पर, तुम्हारे कुल में ध्वजा के समान, कुल में दीपक के समान, कुल में पर्वत के समान, कुल में मुकुट के समान, कुल में तिलक के समान और कुल की कीर्ति बढानेवाला, कुल की समृद्धि करने वाला, कुल के यश का विस्तार करनेवाला, कुल के आधार के समान, कुल में वृक्ष के समान, कुल की विशेष वृद्धि करनेवाला, हाथ पैर मे सुकुमार, हीनता रहित, पांच इंद्रियों वाला, लक्षणों, व्यंजनों और गुणों से युक्त, मान, उन्मान, प्रमाण से प्रतिपूर्ण, सुजात, सर्वाङ्ग-सुन्दर चन्द्र के समान, सौम्य आकृतिवाला, कान्त प्रियदर्शी और सुरूप पुत्र को जन्म देगी।

विवेचन—स्वप्न पाठको ने स्वप्न-शास्त्र के अनुसार व्याख्या करके चौदह महास्वप्नों का पृथक्-पृथक् अर्थ भी बतलाया।

१ चार दांत वाले हाथी को देखने से वह चार प्रकार के धर्म (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप) का कहने वाला होगा।

२ वृषभ को देखने से भरत क्षेत्र मे बोधि-बीज का वपन करेगा।

३ सिंह को देखने से कामदेव आदि विकार रूप उन्मत्त हाथियों से नष्ट होते भव्यजीव रूप वन का संरक्षण करेगा।

४ लक्ष्मी को देखने से वार्षिक दान देकर तीर्थंकर पद के अपार ऐश्वर्य का उपभोग करेगा।

५ माला को देखने से तीन भुवन के मस्तक पर धारण करने योग्य अर्थात् त्रिलोकपूज्य होगा।

६ चन्द्र को देखने से भव्य जीवरूप चन्द्रविकासी कमलो को विकसित करने वाला होगा, अथवा चन्द्रमा के समान शान्ति दायी क्षमाधर्म का उपदेश करेगा।

७ सूर्य को देखने से अज्ञानरूप अन्धकार नाश करके ज्ञान का उद्योत फैलाएगा।

८ ध्वजा-दर्शन से अर्थ है धर्म रूप-ध्वजा को विश्व क्षितिज पर लहरायेगा, या ज्ञात-कुल में ध्वजा रूप होगा।

९ कलश देखने से कुल या धर्म रूपी प्रासाद के शिखर पर यह कलश-रूप होगा।

१० पद्मसरोवर को देखने से देव-निर्मित स्वर्णकमल पर उनका आसन लगेगा।

११ समुद्र को देखने से समुद्र की तरह अनन्त ज्ञान-दर्शन रूप मणिरत्नों का धारक होगा।

१२ विमान को देखने से वैमानिक देवताओं का पूज्य होगा।

१३ रत्नराशि को देखने से मणि-रत्नों से विभूषित होगा।

१४ निर्धूम अग्नि को देखने से धर्मरूप सुवर्ण को विशुद्ध व निर्मल करने वाला होगा।

मूल :—

से वि य णं दारए उम्मुक्कबालभावे विण्णायपरिणयमेत्ते जोव्वणगमणुप्पत्ते सूरे वीरे विक्कंते विच्छिण्णविपुलबलवाहणे चाउरंतचक्कवट्टी रज्जवई राया भविस्सइ जिणे वा तिलोक्कनायए धम्मवरचक्कवट्टी, तं ओराला णं देवाणुप्पिया! तिसलाए खत्तियाणीए सुमिणा दिट्ठा जाव आरोग्गतुट्ठिदीहाउकल्लाणमंगलकारगा णं देवाणुप्पिया! तिसलाए खत्तियाणीए सुमिणा दिट्ठा ॥७६॥

अर्थ—और वह पुत्र भी बाल्यावस्था पूर्णकर, पढ़ लिखकर जब पूर्ण ज्ञान वाला होगा, यौवन को प्राप्त करेगा तब वह शूर, वीर और अत्यन्त परा-

क्रमी होगा। उसके पास विराट् सेना व वाहन होंगे। चतुर्दिक समुद्र के अन्त पर्यन्त भूमण्डल का स्वामी चक्रवर्ती सम्राट् होगा। अथवा तीन लोक का नेता धर्म चक्रवर्ती, धर्मचक्र प्रवर्तन करने वाला जिन तीर्थंकर बनेगा। इस प्रकार हे देवानुप्रिय ! त्रिशला क्षत्रियाणी ने उदार स्वप्न देखे हैं, यावत् हे देवानुप्रिय ! त्रिशला क्षत्रियाणी ने जो स्वप्न देखे है वे आरोग्य करने वाले, तुष्टि करने वाले, दीर्घ आयुष्य के सूचक, कल्याण और मंगल करने वाले है।

मूल :—

तए णं से सिद्धत्थे राया तेसिं सुविणलक्खणपाढगाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ जाव हियए करयल जाव ते सुमिणलक्खणपाढगे एवं वयासी ॥७७॥

अर्थ—उसके पश्चात् वह सिद्धार्थ राजा स्वप्न-लक्षणपाठको से यह वृत्त सुनकर, समझकर, अत्यन्त प्रसन्न हुआ, अत्यधिक तुष्ट हुआ। प्रसन्नता से उसका हृदय फूलने लगा। उसने हाथ जोडकर स्वप्नलक्षणपाठकों से इस प्रकार कहा —

मूल :—

एवमेयं देवाणुप्पिया ! तहमेयं देवाणुप्पिया ! अवितहमेयं देवाणुप्पिया ! इच्छियमेयं देवाणुप्पिया ! पडिच्छियमेयं देवाणुप्पिया ! इच्छियपडिच्छियमेयं देवाणुप्पिया ! सच्चे णं एसमट्ठे से जहेयं तुब्भे वयह त्ति कट्टु ते सुमिणे सम्मंविणएणं पडिच्छइ, ते सुमिणे २ त्ता ते सुमिणलक्खणपाढए णं विउलेणं पुप्फगंधवत्थ-मल्लालंकारेणं सक्कारेइ सम्माणेइ, सक्कारित्ता सम्माणित्ता विपुलं जीवियारिहं पीइदाणं दलयति, विपुलं जीवयारिहं पीइदाणं दलइत्ता पडिविसज्जेइ ॥७८॥

अर्थ—हे देवानुप्रियो ! आपने जो कहा है वह इसी प्रकार है। हे देवा-

नुप्रियो ! आपने जो कहा है वह अन्यथा नहीं है। आपका कथन यथार्थ है। आपका यह कथन हमें इष्ट है, स्वीकृत है, मन को पसन्द है। हे देवानुप्रियो ! यह कथन सत्य है जो आपने कहा है। इस प्रकार वे उन स्वप्नों को विनय के साथ स्वीकार करते हैं। स्वीकार कर स्वप्नलक्षणपाठकों को विपुल पुष्प-सुगन्धित चूर्ण, वस्त्र, मालाएं, आभूषण आदि प्रदान कर उनका अत्यन्त सत्कार सम्मान करते है। सत्कार-सम्मानकर उनके सम्पूर्ण जीवन के योग्य प्रीतिदान देते हैं। इस प्रकार प्रीतिदान देकर उन्होंने स्वप्नलक्षण-पाठकों को सम्मान पूर्वक विदा किया।

विवेचन—प्रीतिदान का भावात्मक अर्थ है—दाता प्रसन्न होकर अपनी इच्छा से जो दान देता है। जिस दान में अर्थी की ओर से याचना या प्रस्ताव रखा जाता है और उस पर मन नहीं होते हुए भी दाता को देना पड़ता है वह प्रीतिदान नहीं है।

प्रीतिदान का व्यावहारिक अर्थ है—इनाम या पुरस्कार, पारितोषिक।[१६४]

मूल :—

तए णं से सिद्धत्थे खत्तिए सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ, सीहासणाओ अब्भुट्ठित्ता जेणेव तिसला खत्तियाणी जवणियंतरिया तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता तिसलं खत्तियाणिं एवं वयासी ॥७६॥

अर्थ—उसके पश्चात् सिद्धार्थ क्षत्रिय अपने सिंहासन से उठते है। सिंहासन से उठकर जहां त्रिशला क्षत्रियाणी पर्दे के पीछे थीं वहाँ आते हैं, वहाँ आकर त्रिशला क्षत्रियाणी को इस प्रकार कहते हैं—

मूल :—

एवं खलु देवाणुप्पिए ! सुविणसत्थंसि बायालीसं सुमिणा जाव एगं महासुमिणं सुमिणे पासित्ता णं पडिबुज्झंति ॥८०॥

अर्थ--हे देवानुप्रिये ! इस प्रकार निश्चय ही स्वप्नशास्त्र में बयालीस स्वप्न कहे हैं--'तीर्थंकर, चक्रवर्ती, माण्डलिक राजा आदि जब गर्भ में आते हैं तब उनकी माता तीस महास्वप्नों में से कोई भी एक महास्वप्न देखकर जागृत होती है, वहां तक सम्पूर्ण वृत्त, जो स्वप्नलक्षणपाठकों ने कहा था, त्रिशला क्षत्रियाणी को सुनाते हैं।

मूल :--

इमे य णं तुमे देवाणुप्पिए ! चोद्दस महासुमिणा दिट्ठा, तं० ओराला णं तुमे जाव जिणे वा तेलोक्कनायए धम्मवरचक्कवट्टी ॥८१॥

अर्थ-हे देवानुप्रिये ! तुमने जो ये चौदह महास्वप्न देखे हैं, वे सभी बहुत ही श्रेष्ठ हैं, यहां से लेकर तुम तीन लोक के नायक, धर्मचक्र का प्रवर्तन करने वाले, जिन बनने वाले पुत्र को जन्म प्रदान करोगी, यहाँ तक का सम्पूर्ण वृत्त त्रिशला क्षत्रियार्णी को सुनाते हैं।

मूल :--

तए णं सा तिसला खत्तियाणी सिद्धत्थस्स रन्नो अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठा जाव हियया करयल जाव ते सुमिणे सम्मं पडिच्छइ ॥८२॥

अर्थ-उसके पश्चात् वह त्रिशला क्षत्रियाणी सिद्धार्थ से यह वृत्त सुनकर, समझकर बहुत प्रसन्न हुई, अत्यधिक सन्तोष को प्राप्त हुई। अत्यन्त प्रसन्न होने से उसका हृदय विकसित हुआ। वह दोनों हाथ जोड़कर स्वप्नों के अर्थ को सम्यक् प्रकार से स्वीकार करती है।

मूल :--

सम्मं पडिच्छित्ता सिद्धत्थेणं रन्ना अब्भणुन्नाया समाणी नाणामणिरयणभत्तिचित्ताओ भद्दासणाओ अब्भुट्ठेइ अब्भुट्ठित्ता

अतुरियं अचवलं असंभंताए अविलंबियाए रायहंससरिसीए गईए जेणेव सते भवणे तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता सयं भवणं अणुपविट्ठा ॥८३॥

अर्थ—स्वप्नों के अर्थ को सम्यक् प्रकार से स्वीकार करने के पश्चात् सिद्धार्थ राजा की आज्ञा पाकर वह विविध मणि-रत्नों की रचना से चमचमाते हुए भद्रासन से खड़ी होती है। खड़ी होकर शीघ्रता रहित, चपलता रहित, वेगरहित, अविलम्ब राजहंसी जैसी गति से चलकर जहाँ अपना भवन है, वहा आकर अपने भवन में प्रविष्ट हुई।

मूल :—

जप्पभिइं च णं समणे भगवं महावीरे तं नायकुलं साहरिए तप्पभिइं च णं बहवे वेसमणकुंडधारिणो तिरियजंभगा देवा सक्कवयणेणं से जाइं इमाइं पुरापोराणाइं महानिहाणाइं भवंति, तं जहा—पहीणसामियाइं पहीणसेउयाइं पहीणगोत्तागाराइं उच्छन्नसामियाइं उच्छन्नसेउकाइं उच्छन्नगोत्तागाराइं गामाऽऽगर-नगरखेडकव्वडमडंबदोणमुहपट्टणासमसंवाहसन्निवेसेसु सिंघाडएसु वा तिएसु वा चउक्केसु वा चच्चरेसु वा चउम्मुहेसु वा महापहेसु वा गामट्ठाणेसु वा नगरट्ठाणेसु वा गामनिद्धमणेसु वा नगर-निद्धमणेस वा आवणेसु वा देवकुलेसु वा सभासु वा पवासु वा आरामेसु वा उज्जाणेसु वा वणेसु वा वणसंडेसु वा सुसाणसुन्नागा-रगिरिकंदरसंतिसेलोवट्ठाणभवणगिहेसु वा सन्निक्खित्ताइं चिट्ठंति ताइं सिद्धत्थरायभवणंसि साहरंति ॥८४॥

अर्थ—जब से श्रमण भगवान् महावीर ज्ञातकुल में संहरित हुए तब से वैश्रमण (कुबेर) के अधीनस्थ, तिर्यक् लोक मे निवास करने वाले, बहुत से जृम्भकदेव इन्द्र की आज्ञा से जो अत्यन्त प्राचीन महानिधान थे उन्हें लाकर

सिद्धार्थ राजा के भवन में एकत्रित करने लगे। प्राप्त होने वाले उन प्राचीन महानिधानों (धन भण्डारों) का परिचय इस प्रकार है: —

उन धन भण्डारों का वर्तमान मे कोई भी अधिकृत अधिकारी नहीं रहा, उसमें कोई भी वृद्धि करने वाला नही रहा, उन धन भण्डारों के जो स्वामी थे उनके गोत्र मे भी कोई नहीं रहा। उन धन भण्डारों के अधिकारियों का भी उच्छेद हो गया, और अधिकारियों के गोत्रस्थ व्यक्तियों का भी उच्छेद हो गया, उन घरों का नाम निशान भी अवशेष नहीं रहा। ऐसे धन-भण्डार जहां कही भी ग्रामों में, (जहां पर कर आदि नही लगता) आगर—खदानों में, नगरों में, खेटकों में (धूली से निर्मित गढवाले ग्रामों मे) नगर की पंक्ति में न शोभित हों ऐसे ग्रामों मे, जिन ग्रामों के सन्निकट चारों तरफ दो-दो कोस तक ग्राम न हों, ऐसे मडम्बों में, जल और स्थल इन दोनों मार्गों से जहाँ जाया जा सके ऐसे द्रोणमुखों में, जल और स्थल मार्ग में से जहाँ केवल एक मार्ग से जाया जाए ऐसे पत्तनों में, तीर्थस्थल या तापसो के निवासस्थल आश्रमों में, सम-भूमि में जहाँ किसान कृषि करके धान्य की रक्षा हेतु धान्य रखता है ऐसे संवाहों में, सेनाएँ, सार्थवाह और पथिक जहा ठहरते हैं ऐसे सन्निवेशों में अर्थात् पड़ावों में, या सिंघाड़े की तरह तीन मार्ग एकत्रित होते है वहां तिराहे, पर, चारमार्ग एकत्रित होते है वहां चौराहे पर, या अनेक मार्ग एकत्रित होते है वहां पर, राजपथ मे, देवालयों में, ग्राम अथवा नगर के उच्च स्थानों में निर्जन गाँव और नगर के स्थलों मे, नालियों मे, बाजार और दुकानें जहाँ हो, ऐसे स्थलों में, देवगृह, चौराहा, प्याऊ और उद्यानों में, उजामण (गोठ) करने के स्थलों में, वन में, वन खण्डों मे, श्मशान में, शून्यगृहों में, पर्वत की गुफाओं में, शान्तिगृहों में, (जहां पर बैठकर शान्ति कर्म किया जाता है) पर्वत को कुरेद कर बनाए गए गृहों में, सभास्थलों में, किसान जहां रहते हों ऐसे घरों में, भूमि में, जहां पर गुप्त रूप से रखे हुए धन भण्डार है, उन्हें लाकर वे जृम्भकदेव सिद्धार्थ राजा के भवन में स्थापित करते हैं।

मूल :—

जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे नायकुलंसि

साहरिए तं रयणिं च णं नायकुलं हिरण्णेणं वड्ढित्था सुवण्णेणं वड्ढित्था धणेणं धन्नेणं रज्जेणं रट्ठेणं बलेणं वाहणेणं कोसेणं कोट्ठागारेणं पुरेणं अंतेउरेणं जणवएणं जसवाएणं वड्ढित्था, विपुलधणकणगरयणमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालरत्तरयणमाइएणं संतसारसावएज्जेणं पीइसक्कारसमुदएणं अईव अईव अभिवड्ढित्था ॥८५॥

अर्थ–जिस रात्रि में श्रमण भगवान् महावीर ज्ञातृकुल में लाये गये उस रात्रि से ही सम्पूर्ण ज्ञातृकुल चाँदी से, स्वर्ण से, धन-धान्य से, राज्य से, राष्ट्र (जनपद) से, सेना से, वाहन से, कोश से, कोष्ठागार (धान्यगृह) से, नगर से, अन्तःपुर से, जनपद से, यश और कीर्ति से वृद्धि प्राप्त करने लगा।

उसी प्रकार विपुल धन (गोकुल), स्वर्ण, रत्न, मणि, मुक्ता, दक्षिणावर्त शंख, राजपट्ट, प्रवाल, पद्मराग, माणिक, आदि सारभूत सम्पत्ति से भी ज्ञातृकुल की वृद्धि होने लगी। ज्ञातृकुल के लोगों में परस्पर प्रीति, आदर और सत्कार-सद्भाव बढ़ने लगा।

विवेचन–प्रस्तुत सूत्र में जो धन शब्द व्यवहृत हुआ है, उस धन के चार प्रकार है (१) गणिम—जो वस्तु गिनकर दी जाए, जैसे फल-फूल आदि। (२) धरिम—जो वस्तु तोलकर दी जाए–जैसे शक्कर गुड़ आदि। (३) मेय—जो वस्तु माप करदी जाए जैसे कपड़ा आदि। (४) परिच्छेद्य–जो वस्तु परख कर दी जाए जैसे हीरा पन्ना आदि जवाहरात।

धान्य शब्द के अन्तर्गत चौबीस प्रकार के धान्यों को लिया गया है, वे धान्य यों है:—

(१) गेहूं, (२) जौ, (३) जुवार, (४) बाजरी, (५) डांगर (शाल) (६) वरी, (७) बंटी (वरटी), (८) बावटो, (९) कांगनी, (१०) चिण्योझिण्यो, (११) कोदरा, (१२) मक्का। इन बारह की दाल न बनने के कारण ये 'लहा' धान्य कहलाते है।

(१३) मूंग, (१४) मोठ, (१५) उड़द, (१६) तुवर, (१७) झालर काबली चने, (१८) मटर, (१९) चंवले, (२०) चने, (२१) कुलत्थी, (२२) कांग, (राजगरे के समान एक जाति का अन्न), (२३) मसुर, (२४) अलसी इन बारह की दाल बन सकने के कारण ये 'कठोल' कहे जाते है।

मूल :—

तए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अम्मापिऊणं अयमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था-जप्पभिइं च णं अम्हं एस दारए कुच्छिसि गब्भत्ताए वक्कंते तप्पभिइं च णं अम्हे हिरण्णेणं वड्ढामो सुवन्नेणं वड्ढामो, धणेणं धन्नेणं रज्जेणं रट्ठेणं बलेणं वाहणेणं कोसेणं कोट्ठागारेणं पुरेणं अंतेउरेणं जणवएणं जसवाएणं वड्ढामो, विपुलधणकणगरयणमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालरत्तरयणमाइएणं संतसारसावएज्जेणं पिइसक्कारसमुदएणं अतीव अतीव अभिवड्ढामो तं जया णं अम्हं एस दारए जाए भविस्सइ तया णं अम्हे एयस्स दारगस्स एयाणुरूवं गोन्नं गुणनिप्फन्नं नामधिज्जं करिस्सामो 'वद्धमाणो' त्ति ॥८६॥

अर्थ—उसके पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर के माता-पिता के मानस में इस प्रकार चिन्तन, अभिलाषा रूप मनोगत संकल्प उत्पन्न हुआ कि—जब से यह हमारा पुत्र कुक्षि में, गर्भ रूप से आया है तब से हमारी हिरण्य से, सुवर्ण से, धन से, धान्य से, राज्य से, राष्ट्र से, सेना से, वाहनों से, धन-भण्डार से, पुर से, अन्तःपुर से, जनपद से, यशःकीर्ति से वृद्धि हो रही है। तथा धन, कनक, रत्न, मणि, मुक्ता, शंख, शिला, प्रवाल और माणिक आदि निश्चय ही हमारे यहाँ अत्यधिक रूप से बढ़ने लगे है तथा हमारे सम्पूर्ण ज्ञातृकुल में परस्पर अत्यन्त प्रीति बढ़ने लगी है, एवं अत्यधिक आदर-सत्कार भी बढ़ने

लगा है, अतएव जब हमारा यह पुत्र जन्म लेगा तब हम इस पुत्र का इसके अनुरूप गुणों का अनुसरण करने वाला, गुण निष्पन्न 'वर्द्धमान' नाम रखेंगे ।

——● गर्भ की स्थिरता पर शोक

मूल :—

तए णं समणे भगवं महावीरे माउअणुकंपणट्ठाए निच्चले निप्फंदे निरेयणे अल्लीणपल्लीणगुत्ते या वि होत्था ॥८७॥

अर्थ—उसके पश्चात् श्रमण भगवान महावीर माता के प्रति अनुकम्पा करने के लिए अर्थात् 'गर्भ में हलन-चलन करूँगा तो माता को कष्ट होगा' यह सोचकर निश्चल हो गये, उन्होंने हिलना-डुलना बन्द कर दिया, अकम्प बन गये, अपने अङ्गोपाङ्ग को सिकोड़ लिए, इस प्रकार माता की कुक्षि में हलन-चलन रहित हो गए ।

मूल :—

तए णं तीसे तिसलाए खत्तियाणीए अयमेयारूवे जाव समुप्पज्जित्था-'हडे मे से गब्भे, मडे मे से गब्भे, चुए मे से गब्भे, गलिए मे से गब्भे एस मे गब्भे पुव्विं एयति इयाणिं नो एयति त्ति कट्टु ओहतमणसंकप्पा चिंतासोगसायरं संपविट्ठा करयलपल्हत्थमुही अट्टज्झाणोवगया भूमिगयदिट्ठीया झियायइ । तं पि य सिद्धत्थरायभवणं उवरयमुइंगतंतीतलतालनाडइज्जजणमणुज्जं दीणविमणं विहरइ ॥८८॥

अर्थ—तब त्रिशला क्षत्रियाणी के मन मे इस प्रकार का यह विचार आया कि—मेरा यह गर्भ हरण कर लिया गया है, मेरा गर्भ मर गया है, मेरा यह गर्भ च्युत हो गया है, मेरा गर्भ पहले हिलता-डुलता था, अब हिलता-डुलता नहीं है । इस प्रकार विचार कर वह खिन्न मन वाली होकर चिन्ता और शोक के सागर में निमग्न हो गई । हथेली पर मुँह रखकर आर्तध्यान

करने लगी। भूमि की ओर दृष्टि केन्द्रित कर चिन्ता करने लगी। उस समय सिद्धार्थ राजा का सम्पूर्ण घर शोकाकुल हो गया। जहाँ पर पहले मृदङ्ग, वीणा आदि वाद्य बजते थे, रास क्रीड़ाएँ होती थी, नाटक होते थे जय-जयकार होता था, वहाँ सर्वत्र शून्यता व्याप्त हो गई, उदासी छा गई।

विवेचन—माँ वात्सल्य की अमरमूर्ति है। उसकी ममता निराली है। संसार की कोई भी शक्ति उस ममता की होड़ नही कर सकती। पुत्र, माँ की ममता का मेरु है, हृदय है, प्राण है! उसके लिए वह स्वयं कष्ट की धधकती ज्वालाओं में झुलसती है, पर प्यारे लाल को तनिक भी कष्ट में देखना नहीं चाहती। उसका तनिक कष्ट भी उसके लिए असह्य है।

भगवान् महावीर ने मातृस्नेह के कारण ज्योंही हिलना-डुलना बन्द किया, त्योंही माता त्रिशला अकल्पनीय कल्पना के प्रवाह में बहकर फूट-फूटकर रोने लगी। दारुण-विलाप करने लगी।

"हाय! यह क्या हो गया। मेरा गर्भस्थ बालक हिलता-डुलता क्यो नही है? क्या उसका अपहरण हो गया है? क्या वह नष्ट हो गया है? क्या किसी ने मेरे पुत्र-रत्न को छीन लिया है?"

"हे भगवन्! ऐसा मैंने कौन-सा भयकर पाप किया था जिसके कारण ऐसा अनर्थ हुआ है। हे भगवन्! क्या मैंने पूर्वभव में किसी का गर्भ गिराया? क्या मैने किसी माँ से प्यारे लाल का बिछोह कराया? क्या मैंने किन्हीं पक्षियों के अण्डे नष्ट किये? क्या मैंने चूहों के बिलो में गर्म पानी डालकर उनके बच्चों का घात किया? हाय प्रभो! अब यह करुण कहानी किसे सुनाऊँ? हे भगवन्! मैं वस्तुतः पापिनी हूँ! अभागिनी हूँ!"

महारानी त्रिशला के करुण-क्रन्दन को सुनकर दासियाँ दौड़ आयीं। वाणी में मिश्री घोलती हुई बोली—"रानीजी! आप क्यों रो रही हैं? आपका मुख कमल क्यों मुरझा गया है? आपका देह तो स्वस्थ है न? आपका गर्भस्थ बालक तो सकुशल है न?

रानी ने निश्वास डालते हुए कहा—"क्या कहूँ! हृदय फट रहा है, मन

वेदना से विदीर्ण हो रहा है। प्यारा लाल''....कहते कहते गला रुंध गया। आँखों से आंसुओं की वर्षा होने लगी, रानी मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़ी। महारानी की यह अवस्था देखकर दासियाँ घबरा गई, वे पखे से हवा करने लगी, सारे अन्तःपुर में शोक की लहर व्याप्त हो गई।

महाराज सिद्धार्थ ने सुना, वह भी दौड़कर महल में आये। महारानी की यह दयनीय दशा देखकर उनके आँखों से भी आँसू छलक पड़े। तथापि धैर्य बटोर कहा—''रानी! घबराओ मत, धैर्य रखो। सब कुछ ठीक हो जायेगा, अधीर मत बनो।''

मूल :—

तए णं समणे भगवं महावीरे माऊए अयमेयारूवं अज्झत्थियं पत्थियं मणोगयं संकप्पं समुप्पण्णं विजाणित्ता एगदेसेणं एयइ ॥८६॥

अर्थ—तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर माता के मन मे उत्पन्न हुए इस प्रकार के विचार, चिन्तन अभिलाषा रूप मनोगत सकल्प को जानकर अपने शरीर के एक भाग को हिलाते हैं।

विवेचन—भगवान् ने अवधिज्ञान से माता पिता और परिजनो को शोक विह्वल देखा। सोचा—

> **किं कुर्म. ? कस्य वा ब्रूमो ?, मोहस्य गतिरीदृशी !**
> **दुषेर्धातोरिवास्माकं, दोषनिष्पत्तये गुणः ॥**

'अरे! यह क्या हो रहा। मैंने तो माता के सुख के लिए यह कार्य किया था पर यह तो उल्टा उनके दुःख का कारण बन गया। मोह की गति बड़ी विचित्र है। जैसे दुष् धातु से गुण करने से 'दोष' की निष्पत्ति होती हैं वैसे ही मैंने सुख के लिए जो कार्य किया उससे उल्टा दुःख ही निष्पन्न हुआ।' ऐसा विचार कर उन्होंने अपने शरीर के एक भाग को हिलाया।

मूल :—

तए णं सा तिसला खत्तियाणी हट्ठतुट्ठ जाव हियया एवं वयासि–नो खलु मे गब्भे हडे जाव नो गलिए, मे गब्भे पुव्विं नो एयइ इयाणिं एयइ त्ति कट्टु हट्ठतुट्ठ जाव एवं वा विहरइ ॥६०॥

अर्थ--उसके पश्चात् वह त्रिशला क्षत्रियाणी परम प्रसन्न हुई, तुष्ट हुई। प्रसन्नता से उसका हृदय विकसित हुआ। प्रसन्न होकर वह इस प्रकार सोचने लगी–"निश्चय ही मेरे गर्भ का हरण नहीं हुआ है और न मेरा गर्भ गला ही है। मेरा गर्भ पहले हिलता नहीं था, अब हिलने लगा है।" इस प्रकार सोचकर वह अत्यन्त प्रसन्न हुई, सन्तोष को प्राप्त हुई और अतीव आह्लाद पूर्वक रहने लगी।

——● अभिग्रह

मूल :–

तए णं समणे भगवं महावीरे गब्भत्थे चेव इमेयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ नो खलु मे कप्पइ अम्मापिएहिं जीवंतेहिं मुंडे भवित्ता अगारवासाओ अणगारियं पव्वइत्तए ॥६१॥

अर्थ–उसके पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर ने गर्भ में रहते ही इस प्रकार अभिग्रह (नियम संकल्प) स्वीकार किया– "जब तक मेरे माता पिता जीवित रहेगे तब तक मैं मुण्डित होकर गृहवास का त्याग कर दीक्षा अंगीकार नही करूंगा।"

विवेचन–श्रमण भगवान् महावीर ने सोचा "अभी तो मै गर्भ में हूँ, माँ ने मेरा मुंह भी नही देखा है तथापि माता का इतना मोह है, तो जन्म के पश्चात् कितना मोह होगा? माता पिता की विद्यमानता में यदि मैं संयम लूंगा तो उन्हें बहुत ही कष्ट होगा, अतः मातृ-स्नेह के वश सातवें महीने में उन्होंने उपर्युक्त प्रतिज्ञा ग्रहण की।"[६६]

—— ● गर्भ परिपालना

मूल :—

तए णं सा तिसला खत्तियाणी ण्हाया कयबलिकम्मा कय-कोउयमंगलपायच्छित्ता सव्वालंकारभूसिया तं गब्भं नाइसीएहिं नाइउण्हेहिं नाइतित्तेहिं नाइकडुएहिं नाइकसाइएहिं नाइअंबिलेहिं नाइमहुरेहिं नातिनिद्धेहिं नातिलुक्खेहिं नातिउल्लेहिं नातिसुक्केहिं उडुभयमाणसुहेहिं भोयणच्छायणगंधमल्लेहिं ववगयरोगसोगमोहभयपरित्तासा जं तस्स गब्भस्स हियं मियं पत्थं गब्भपोसणं तं देसे य काले य आहारमाहारेमाणी विवित्तमउएहिं सयणासणेहिं पइरिक्कसुहाए मणाणुकूलाए विहारभूमीए पसत्थदोहला संपुन्नदोहला सम्माणियदोहला अविमाणियदोहला वुच्छिन्नदोहला विणीयदोहला सुहं सुहेणं आसयइ सयति चिट्ठइ निसीयइ तुयट्टइ सुहं सुहेणं तं गब्भं परिवहइ ॥६२॥

अर्थ—उसके पश्चात् त्रिशला क्षत्रियाणी ने स्नान किया, बलिकर्म किया कौतुक मगल और प्रायश्चित्त किया। सम्पूर्ण अलंकारों से भूषित हुई। वह गर्भ का पोषण करने लगी। उसने अत्यन्त शीत, अत्यन्त उष्ण, अत्यन्त तीक्ष्ण, अत्यन्त कटुक, अत्यन्त कसैले, अत्यन्त खट्टे, अत्यन्त मीठे, अत्यन्त स्निग्ध, अत्यन्त रूक्ष, अत्यन्त आर्द्र ऋतु से प्रतिकूल भोजन, वस्त्र, गंध और मालाओ का त्याग कर दिया। ऋतु के अनुकूल सुखकारी भोजन, वस्त्र, गंध और मालाओं को धारण किया। वह रोगरहित, शोकरहित, मोहरहित, भयरहित, त्रास रहित, रहने लगी। तथा उस गर्भ के लिए हितकर, परिमित पथ्य और गर्भ का पोषण करने वाला आहार-विहार करती हुई उपयोग पूर्वक रहनेलगी। वह देश और काल के अनुसार आहार करती। दोष रहित, मुलायम आसनपर बैठती, एकान्त शान्त-विहारभूमि में रहने लगी।

उसको गर्भ के प्रभाव से प्रशस्त दोहद उत्पन्न हुए। उन दोहदों को

सम्मान पूर्वक पूर्ण किया। दोहदों का तनिकमात्र भी अपमान (उपेक्षा) नहीं किया। उसके मनोवांच्छित दोहद पूर्ण होने से हृदय शान्त हो गया। अब उसे दोहद उत्पन्न नहीं होते, वह सुखपूर्वक सहारा लेकर बैठती है, सोती है, खड़ी रहती है, आसन पर बैठती है, शय्या पर सोती है और सुख पूर्वक गर्भ को धारण करती है।

विवेचन–भारतीय आयुर्वेद साहित्य में जो जैन दृष्टि से प्राणावाय पूर्व का ही एक अङ्ग है, गर्भवती माता का आहार, विहार और चर्या कैसी होनी चाहिए इस पर गहराई से विचार किया गया है। यहां पर हम विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही उसका सारांश सूचित कर रहे हैं।

गर्भवती माता को किस ऋतु में कौन-सा पदार्थ अधिक लाभप्रद होता है? इस पर चर्चा करते हुए बताया है कि वर्षा ऋतु में नमक, शरद् ऋतु में पानी, हेमन्त ऋतु में गोदुग्ध, शिशिरऋतु में आम्ल रस, बसन्त ऋतु में घृत और ग्रीष्मऋतु में गुड़ का सेवन हितकारी है।[१६७]

वाग्भट्ट ने कहा है—'यदि गर्भवती माता वात-प्रधान आहार करती है तो गर्भस्थ बालक कुब्ज, अंध, मूर्ख और वामन होता है। यदि पित्त-प्रधान आहार करती है तो गर्भस्थ बालक के सिर मे टाट, व शरीर पीतवर्ण वाला होता है। यदि कफप्रधान आहार करती है तो गर्भस्थ बालक श्वेत-कुष्ठी होता है।

'अत्यन्त उष्ण आहार करने से गर्भस्थ बालक का बल नष्ट होता है। अत्यन्त शीत आहार करने से गर्भस्थ बालक को वायु-प्रकोप होता है। अत्यन्त नमक प्रधान आहार करने से गर्भस्थ बालक के नेत्र नष्ट होते हैं। अत्यन्त घृत प्रधान स्निग्ध आहार करने से पाचनक्रिया विकृत होती है।'

सुश्रुत में कहा है—'यदि गर्भवती महिला दिन में सोती है, तो उसकी सन्तान आलसी व निद्रालु होती है। यदि नेत्रों में अञ्जन आँजती है तो संतान अंधी होती है। यदि वह रोती है तो सन्तान की दृष्टि विकृत होती है। यदि वह अधिक स्नान और विलेपन करती है तो संतान दुराचारिणी होती है। शरीर पर तेल आदि का मर्दन करती है तो संतान कुष्ठ रोगी होती है। बार-

बार नाखून काटती है, तो सन्तान के नाखून असुन्दर होते हैं। दौड़ती है तो संतान की प्रकृति चंचल होती है। जोर से अट्टहास करती हैं तो संतान के दांत ओष्ठ, तालु और जीभ श्याम होते है। यदि वह बहुत बोलती है, तो सन्तान भी अधिक बकवास करने वाली होती है। अधिक गाती या वीणा आदि वाद्य अधिक बजाती है तो सतान बहरी होती है। यदि वह अधिक भूमि को खोदती है तो संतान के सिर मे केश विरल होते हैं अर्थात् कहीं-कही पर टाट निकल जाती है। यदि वह पंखे आदि की हवा करती है तो सन्तान उन्मत्त प्रकृति की होती है। गर्भवती माता के चिन्तन, आचरण व्यवहार, वातावरण आदि का सन्तान के निर्माण में, उसके चरित्र एवं शरीर संघटना पर बहुत असर होता है। यह तथ्य प्राचीन आयुर्वेद से ही सम्मत नहीं, बल्कि आधुनिक शरीर-विज्ञान एवं मनोविज्ञान के परीक्षणों से भी सम्पुष्ट है।

हां, तो महारानी त्रिशला की प्रतिभा-सम्पन्न विलक्षण सहेलियाँ समय समय पर महारानी को इस बात का ध्यान दिलाती रहती थी कि आप "शनैः शनैः चले। शनैः शनैः बोले, क्रोध न करें, हितमित और पथ्य भोजन करें। पेट को अधिक न कसें, अधिक चिन्ता व अधिक हास-परिहास न करें। अधिक चढ़ने उतरने का श्रम भी न करें।"

महारानी त्रिशला भी सहेलियों की बात को ध्यान से सुनती और विवेकपूर्वक गर्भ का पालन करती।

गर्भ के प्रभाव से माता त्रिशला को दिव्य दोहद उत्पन्न हुए। मैं अपने हाथों से दान दूं, सद्गुरुओं को आहार आदि प्रदान करूं, देश में अमारी पटह बजवाऊँ, कैदियों को कारागृह से मुक्त कराऊं समुद्र, चन्द्र और पीयूष का पान करूँ, उत्तम प्रकार के भोजन, आभूषण धारण करुं, सिंहासन पर बैठकर शासन का सँचालन करुँ और हस्ती पर बैठकर उद्यान में आमोद-प्रमोद करुँ। राजा सिद्धार्थ ने रानी के समस्त दोहद पूर्ण किये।

कहा जाता है कि एक बार रानी त्रिशला को एक विचित्र दोहद उत्पन्न हुआ। मैं इन्द्राणी के कानों से कुण्डल-युगल छीनकर पहनूं। दोहद पूर्ण

होना असंभव था। उसी समय इन्द्र ने अवधिज्ञान से देखा, रानी के दोहद को पूर्ण करने के लिए वह भूमण्डल पर आया। किले का निर्माण कर सिद्धार्थ को युद्ध के लिए आह्वान किया। स्वयं युद्ध में पराजित हुआ, किले पर सिद्धार्थ ने अधिकार किया, इद्राणी के कानों से कुण्डल छीनकर त्रिशला रानी को पहनाये, दोहद पूर्ण होने से त्रिशला अत्यन्त प्रमुदित हुई। इस प्रकार के दोहदों द्वारा गर्भस्थ शिशु के दया, शौर्य, वीरता आदि गुणो का माता के मन पर स्पष्ट प्रतिबिम्बित होना दृष्टिगोचर होता है।

मूल :—

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे जे से गिम्हाणं पढमे मासे दोच्चे पक्खे चित्तसुद्धे तस्स णं चित्तसुद्धस्स तेरसीदिवसेण नवण्हं मासाणं बहुपडिपुन्नाणं अद्धट्ठमाण य राइं-दियाणं विइक्कंताणं उच्चट्ठाणगतेसु गहेसु पढमे चंदजोगे सोमासु दिसासु वितिमिरासु विसुद्धासु जतिएसु सव्वसउणेसु पयाहिणाणु-कूलंसि भूमिसप्पिंसि मारुयंसि पवातंसि निप्फण्णमेदिणीयंसि कालंसि पमुदितपक्कीलिएसु जणवएसु पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं आरोगं दारयं पयाया ॥६३॥

अर्थ—उस काल उस समय मे (श्रमण भगवान् महावीर) जब ग्रीष्म ऋतु चल रही थी, ग्रीष्म का प्रथम मास-चैत्र मास और उसका द्वितीय पक्ष (शुक्ल पक्ष) चल रहा था, चैत्र मास के शुक्ल पक्ष का तेरहवां दिन था अर्थात् चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन, नव मास और सार्द्ध सप्त दिन व्यतीत होने पर जब सभी ग्रह उच्च स्थान में आये हुए थे, चन्द्र का प्रथम योग चल रहा था दिशाएँ सभी सौम्य, अंधकार रहित और विशुद्ध थी, जय-विजय के सूचक सभी प्रकार के शकुन थे, दाक्षिणात्य (दक्षिण दिशिका) शीतल-मन्द सुगंधित पवन प्रवाहित था, पृथ्वी धान्य से सुसमृद्ध थी, देश के सभी जनों के मन में प्रमोद भावनाएं अठखेलियां कर रहीं थीं, तब मध्यरात्रि के समय हस्तोत्तरा नक्षत्र

अर्थात् उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के योग में त्रिशला क्षत्रियाणी ने आरोग्य पूर्वक और नीरोग, स्वस्थ पुत्र को जन्म दिया।

विवेचन–आचार्यों ने सभी तीर्थंकरों के गर्भकाल का उल्लेख करते हुए यह बताया है कि कौन तीर्थंकर कितने काल तक माता के गर्भ में रहे। भगवान् ऋषभदेव नव मास और चार दिन गर्भ में रहे। श्री अजितनाथ आठ मास और पच्चीस दिन, श्री संभवनाथ नौ मास और छह दिन श्री अभिनन्दन आठ मास और अट्ठाईस दिन, श्री सुमितनाथ नौ मास और छह दिन, श्री पद्म प्रभ नौ मास और छह दिन, श्री सुपार्श्वनाथ नौ मास और उन्नीस दिन, श्री चन्द्रप्रभ नौ मास और सात दिन, श्री सुविधिनाथ आठ मास और छब्बीस दिन, श्री शीतलनाथ नौ मास और छह दिन, श्री श्रेयांसनाथ नौ मास और छह दिन, श्री वासुपूज्य आठ माह और बीस दिन, श्री विमलनाथ आठ माह और इक्कीस दिन, श्री अनन्तनाथ नौ माह और छह दिन, श्री धर्मनाथ आठ माह और छब्बीस दिन, श्री शान्तिनाथ नौ माह और छह दिन, श्री कुंथुनाथ नौ माह और पाँच दिन, श्री अरनाथ नौ माह और आठ दिन, श्री मल्लिनाथ नौ माह और सात दिन, श्री मुनिसुव्रत स्वामी नौ माह और आठ दिन, श्री नमिनाथ नौ माह और आठ दिन, श्री नेमिनाथ नौ माह और आठ दिन, श्री पार्श्वनाथ नौ माह और छह दिन, श्री महावीर नौ माह और सात दिन गर्भ मे रहे।[१६८]

भगवान महावीर के जन्म के समय सभी ग्रह उच्च स्थान मे थे। जैसे

जन्म कुण्डली
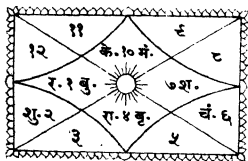
राशि	ग्रह	अंश
मेष	सूर्य	१०
वृषभ	चन्द्र	३
मकर	मंगल	२८
कन्या	बुध	१५
कर्क	गुरु	५
मीन	शुक्र	२७
तुला	शनि	२०

प्राचीन ज्योतिष सम्बन्धी मान्यता के अनुसार जिसके जन्म समय में तीन ग्रह उच्च होते हैं वह राजा होता है। पांच ग्रह उच्च होने पर अर्ध चक्रवर्ती होता है, छह ग्रह उच्च स्थान में हो तो चक्रवर्ती होता है और सात ग्रह उच्च होने पर तीर्थंकर बनता है।

भगवान् महावीर के जन्म लेने से केवल क्षत्रियकुण्डपुर ही नहीं, अपितु क्षण भर के लिए समस्त संसार लोकोत्तर प्रकाश से प्रकाशित हो गया। राजा सिद्धार्थ ने ही नहीं, संसार भर के प्राणिगण ने अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव किया।

तीर्थंकर का धरा पर जन्म धारण करना अध्यात्म, धर्म और ज्ञान के महाप्रकाश का साक्षात् रूप में अवतरण है। उनके उपदेश व ज्ञान से सिर्फ मनुष्यलोक ही नही, बल्कि तीनों लोक प्रकाशमान हो जाते हैं। इसी दृष्टि से तीर्थंकर के जन्म समय में, दीक्षा एवं केवल ज्ञानोत्पत्ति के समय में तीनों लोक में अपूर्व उद्योत होने की बात आगम में आई है।[१६१]

—— ● जन्म महोत्सव

मूल :—

जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे जाए सा णं रयणी बहूहिं देवेहि य देवीहि य उवयंतेहि य उप्पयंतेहि य उप्पिंजलमाण-भूया कहकहभूया यावि होत्था ॥९४॥

अर्थ—जिस रात्रि में श्रमण भगवान् महावीर ने जन्म ग्रहण किया उस रात्रि में बहुत से देव और देवियों के ऊपर-नीचे आवागमन से लोक में एक हलचल मच गई और सर्वत्र कल-कलनाद व्याप्त हो गया।

विवेचन—भगवान् का जन्मोत्सव करने के लिए छप्पन दिक्कुमारिकाएँ आईं। दिक्कुमारिकाओं के नाम इस प्रकार हैं—

(१) भोगंकरा, (२) भोगवती, (३) सुभोगा, (४) भोगमालिनी, (५) सुवत्सा, (६) वत्समित्रा, (७) पुष्पमाला, (८) अनिन्दिता। ये आठों दिक्कुमारियाँ अधोलोक में रहती हैं। उन्होंने आकर नमस्कार कर

ईशान दिशा में सूतिका गृह का निर्माण किया (९) मेघंकरा, (१०) मेघवती, (११) सुमेघा, (१२) मेघमालिनी, (१३) तोयधारा, (१४) विचित्रा, (१५) वारिषेणा, (१६) बलाहिका। ये आठों दिक्कुमारियाँ ऊर्ध्वलोक में रहती हैं। उन्होंने आकर नमस्कार किया, सुगन्धित जल और पुष्पों की वृष्टि की। (१७) नंदा, (१८) उत्तरानन्दा, (१९) आनन्दा, (२०) नंदिवर्धना, (२१) विजया, (२२) वैजयन्ती, (२३) जयंती, (२४) अपराजिता। ये आठों दिक्कुमारियाँ पूर्व दिशा के रुचक पर्वत में रहती हैं। मुख दिखाने हेतु दर्पण सामने करती हैं। (२५) समाहारा, (२६) सुप्रदत्ता, (२७) सुप्रबुद्धा, (२८) यशोधरा, (२९) लक्ष्मीवती, (३०) शेषवती, (३१) चित्रगुप्ता, (३२) वसुन्धरा। ये आठों दिक्कुमारियाँ दक्षिण दिशा के रुचक पर्वत में रहती हैं, स्नान हेतु जल सम्पूरित कलश लाती है। (३३) इलादेवी, (३४) सुरादेवी, (३५) पृथिवी, (३६) पद्मवती, (३७) एकनासा, (३८) नवमिका, (३९) भद्रा और (४०) शीता, ये आठों दिक्कुमारियाँ पश्चिम दिशा के रुचक पर्वत पर रहती हैं। ये पवन करने के लिए पंखा लेकर आती हैं। (४१) अलबुसा, (४२) मितकेशी, (४३) पुंडरीका, (४४) वारुणी, (४५) हासा, (४६) सर्वप्रभा, (४७) श्री और (४८) ह्री ये आठों दिक्कुमारियाँ उत्तर दिशा के रूचक पर्वत पर रहती हैं। ये चामर वींजती है। (४९) चित्रा, (५०) चित्रकनका, (५१) शतोरा, (५२) वसुदामिनी, ये चारों दिक्कुमारियाँ रूचक पर्वत की विदिशाओ में से आती हैं। दीपक लेकर विदिशाओ में खड़ी रहती है। (५३) रूपा, (५४) रूपासिका, (५५) सुरूपा और (५६) रूपकावती ये चारों दिक्कुमारियाँ रुचक द्वीप में रहती हैं। ये भगवान् के नाल का छेदन करती है। तेल का मर्दन कर स्नान कराती है।

विभिन्न दिशाओं में रहने वाली ये दिक्कुमारियां आई और भगवान का सूतिका कर्म करके, जन्मोत्सव मनाया और अपने स्थान को चली गई।

भगवान् का जन्म होते ही शक्रेन्द्र का सिंहासन कम्पित हुआ। वह अवधिज्ञान से भगवान् का जन्म जानकर आह्लादित हुआ। अनेक देव-देवियों के परिवार के साथ कुण्डपुर आया। साथ ही, भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवनिकाय के इन्द्र और देवगण भी आये।[१७०] उन्होंने भगवान्

को और माता त्रिशला को तीन बार प्रदक्षिणा कर नमस्कार किया। माँ को अवस्वापिनी निद्रा देकर और भगवान का प्रतिबिम्ब वहाँ रखकर भगवान् को मेरुशिखर पर ले गये। स्नानाभिषेक करने के लिए जब सब देव जलकलश लेकर खड़े हुए तो सौधर्मेन्द्र के मानस में शंका हुई कि यह नवजात बालक इतने जल प्रवाह को कैसे सहन करेगा? अवधिज्ञान से इन्द्र की शंका को जानकर भगवान् ने बाएँ पांव के अंगूठे से मेरु पर्वत को दबाया जिससे सम्पूर्ण पर्वत कम्पायमान हो गया।[१७१] इन्द्र को प्रथम क्रोध आया, किंतु जब इसे नवजात बालक रूप में अनन्तशक्ति सपन्न भगवान् का ही कृत्य समझा तो, उसे भगवान् की अनन्त शक्ति का परिज्ञान हुआ, उसने क्षमा याचना की। जन्मोत्सव मनाने के पश्चात् पुनः इन्द्र ने भगवान् को माता के पास रख दिया। एवं नन्दीश्वर द्वीप में अष्टान्हिक महोत्सव कर स्वस्थान गये।

मूल :—

जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे जाए तं रयणिं च णं बहवे वेसमणकुंडधारिणो तिरियजंभगा देवा सिद्धत्थरायभवणंसि हिरन्नवासं च सुवन्नवासं च रयणवासं च वयरवासं च वत्थवासं च आहरणवासं च पत्तवासं च पुप्फवासं च फलवासं च बीयवासं च मल्लवासं च गंधवासं च वण्णवासं च चुण्णवासं च वसुहारवासं च वासिंसु ॥६५॥

अर्थ—जिस रात्रि को श्रमण भगवान् महावीर ने जन्म ग्रहण किया उस रात्रि में कुबेर की आज्ञा में रहे हुए, तिर्यक् लोक में रहने वाले अनेक जृम्भिक देवों ने सिद्धार्थ राजा के भवन में चांदी की, स्वर्ण की, रत्नों की, वज्र रत्नों की, वस्त्रों की, आभूषणों की, (नागर) पत्रों की, पुष्पों की, फलों की, बीजों की, मालाओं की, सुगन्धित पदार्थों की, विविध प्रकार के रंगों की, सुगन्धित चूर्णों की और स्वर्ण मुद्राओं की वृष्टि की।

विवेचन—त्रिशला रानी ने जब पुत्ररत्न को जन्म दिया तब सर्वप्रथम प्रियंवदा नाम की दासी ने राजा सिद्धार्थ के पास जाकर पुत्र जन्म की शुभ

सूचना दी। यह शुभ सूचना सुनकर राजा बहुत ही प्रसन्न हुआ। और इस प्रसन्नता के उपलक्ष में राजा ने मुकुट के सिवाय अपने समस्त आभूषण उतार कर दासी को पुरस्कार में दे डाले और उसे दासी कर्म से मुक्त करके उचित सन्मानार्ह पद दिया।

मूल :—

तए णं से सिद्धत्थे खत्तिए भवणवइवाणमन्तरजोइसवेमाणिएहिं देवेहिं तित्थयरजम्मणाभिसेयमहिमाए कयाए समाणीए पच्चूसकालसमयंसि नगरगुत्तिए सद्दावेइ नगरगुत्तिए सद्दावित्ता एवं वयासी ॥९६॥

अर्थ—उसके पश्चात् सिद्धार्थ क्षत्रिय, भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों द्वारा तीर्थंकर जन्माभिषेक-महिमा संपन्नकर चुकने के पश्चात् प्रातः नगररक्षक को बुलाता है, नगर रक्षक को बुलाकर इस प्रकार कहता है:—

मूल :—

खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! कुंडपुरे नगरे चारगसोहणं करेह, चारगसोहणं करित्ता, माणुम्माणवद्धणं करेह, माणुम्माणवद्धणं करित्ता कुंडपुरं नगरं सब्भितरबाहिरियं आसियसम्मज्जियोवलेवियं सिंघाडगतियचउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहपहेसु सित्तसुइसम्मट्ठरत्थंतरावणवीहियं मंचाइमंचकलियं नाणाविहरागभूसियज्झयपडागमंडियं लाउल्लोइयमहियं गोसीससरसरत्तचंदणदद्दरदिण्णपंचंगुलितलं उवचियचंदणकलसं चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागं आसत्तोसत्तविपुलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावं पंचवन्नसरससुरहिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलियं कालागुरुपवरकुंदरु-

क्कतुरुक्कडज्झंतधूवमघमघितगंधुद्धुयाभिरामं सुगंधवरगंधियं गंधवट्टिभूयं नडनट्टगजल्लमल्लमुट्ठियवेलंबगपवगकहगपढकला-सकआइंखगलंखमंखतूणइल्लतुंववीणियअणेगतालायराणुचरियं करेह कारवेह, करेत्ता कारवेत्ता य जूयसहस्सं च मुसलसहस्सं च उस्सवेह, उस्सवित्ता य मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणेह ॥६७॥

अर्थ–हे देवानुप्रिय ! शीघ्र ही कुण्डपुर नगर के कारागृह को खाली करदो अर्थात् सब बन्दियों को मुक्त करदो। तोल-माप को बढ़ाओ, (अर्थात् व्यापारियों से कहो कि घृत अन्नादि पदार्थ सस्ते बेचो, (सस्ते बेचने से जो नुकसान होगा उसकी पूर्ति राज्यकोष से की जायेगी) तोल माप को बढ़ाने के पश्चात् कुण्डपुर नगर के अन्दर और बाहर सुगन्धित पानी का छिड़काव कराओ, साफ कराओ, लेपन कराओ, कुण्डपुर नगर के त्रिकों मे, चतुष्कों में, चत्वरों (जहां बहुत से रास्ते मिलते हों) में, राजमार्ग या सामान्य सभी मार्गों में पानी का छिड़काव कराओ, उन्हें पवित्र बनाओ, जहाँ तहाँ सभी गलियों में और सभी बाजारों में पानी का छिडकाव और स्वच्छ कर उन स्थानों पर देखने हेतु आने वाले दर्शकों के बैठने के लिए मंच बनाओ, विविध रंगो से सुशोभित ध्वजा और पताकाएँ बंधाओ, सारे नगर को लिपा-पुताकर स्वच्छ बनाओ, नगर के भवनों की भीतों पर गोशीर्ष चन्दन के, सरस रक्त चन्दन के, दर्दर (मलय) चन्दन के, पांचों अँगुलियां उभरी हुई दृष्टिगोचर हों इस प्रकार थापे लगाओ। घरों के भीतर चौक में चन्दन-कलश रखाओ, द्वार-द्वार पर-चन्दन घटों के सुन्दर तोरण बंधाओ, जहां तहां सुन्दर प्रतीत होने वाली एवं पृथ्वी को स्पर्श करती लम्बी गोल मालाएँ लटकवाओ, पञ्चवर्ण के सुन्दर सुगंधित सुमनों के ढेर कराओ, पुष्पों को इधर-उधर विकीर्ण करवाओ, स्थान-स्थान पर गुलदस्ते रखाओ, यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रज्वलित श्याम अगर, उत्तम कुन्दरु, लोमान तथा धूप की सुगन्ध से सम्पूर्ण नगर को सुगंधित करो। सुगंध से सारा नगर महक उठे ऐसा करो। सुगंध की अत्यधिकता के कारण सारा नगर गंध गुटिका के समान प्रतीत हो ऐसा बनाओ।

जन-रञ्जन के लिए स्थान-स्थान पर नट नाटक करें, नृत्य करने वाले नृत्य करें, रस्सी पर खेल बताने वाले खेल बताएँ, मल्ल कुश्ती करें, मुष्टि से कुश्ती करने वाले मुष्टि से कुश्ती करें, विदूषक लोगों को हँसावे, कूदने वाले कूदकर अपने खेल बताएँ, कथावाचक कथा कर जन-मन को प्रसन्न करें, सुभाषित बोलने वाले पाठक सुभाषित बोले। रास क्रीड़ा करने वाले रास की क्रीड़ा करें, भविष्य कहने वाले भविष्य कहें, लम्बे बांस पर खेलने वाले बांस पर खेल करें, मंखलोग—हाथ में चित्र रखकर चित्र बताए, तूणी लोग तूण नामक वाद्य बजावें। वीणा बजाने वाले वीणा बजावें, ताल देकर नाटक करने वाले नाटक दिखायें, इस प्रकार जन रञ्जन हेतु नगर में यह सब व्यवस्था करो, और दूसरों से कराओ, और ऐसा करवा के हजारों गाड़ियों के जूए और हजारो मूसल ऊंचे स्थान पर खड़े करवाओ अर्थात् जूए में जुड़े हुए बैलों को बंधन मुक्त करके आराम पाने दो, और मूशल आदि से होने वाली हिंसा को रोको यह सब उपक्रम करके मेरी आज्ञा पुनः अर्पित करो, अर्थात् जो मैंने कहा है वह सभी कार्य करके मुझे सूचित करो।

मूल :—

तए णं ते णगरगुत्तिया सिद्धत्थेणं रन्ना एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठ जाव हियया करयल जाव पडिसुणित्ता खिप्पामेव कुंडपुरे नगरे चारगसोहणं जाव उस्सवेत्ता जेणेव सिद्धत्थे राया तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता करयल जाव कट्टु सिद्धत्थस्स रन्नो एयमाणत्तियं पच्चप्पिणंति ॥९८॥

अर्थ—उसके पश्चात् सिद्धार्थ राजा ने जिनको आज्ञा प्रदान की उन नगरगुप्तिक को (नगर के रक्षक, कोतवाल)[१७२] को अपार आनन्द हुआ-सन्तोष हुआ, यावत् प्रसन्न होने से उनका हृदय प्रफुल्लित हुआ। उन्होंने दोनों हाथ जोड़कर सिद्धार्थ राजा की आज्ञा विनयपूर्वक स्वीकार की। अब वे शीघ्र ही कुण्डपुर नगर में सर्व प्रथम कारागृह को खोलकर बन्दियों को मुक्त करते हैं और मूसल उठवाकर रखने तक के पूर्वोक्त सभी कार्य करते हैं। कार्य करने

के पश्चात् वे जहां सिद्धार्थ राजा है, वहां आते हैं, आकर दोनों हाथ जोड़कर मस्तिष्क पर अंजलि करके सिद्धार्थ राजा को उनका वह आदेश पुनः अर्पित करते हैं अर्थात् "आपने जो आदेश प्रदान किया था उसके अनुसार सभी कार्य हम कर आए हैं" यह सूचना देते हैं ।

मूल :—

तए णं से सिद्धत्थे राया जेणेव अट्टणसाला तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता जाव सव्वोरोहेणं सव्वपुप्फगंधवत्थमल्लालंकारविभूसाए सव्वतुडियसद्दनिनाएण महया इड्ढीए महया जुतीए महया बलेणं महया वाहणेणं महया समुदएणं महया वरतुडियजमगसमगप्पवाइएणं संखपणवपडहभेरिझल्लरिखरमुहिहुडुक्कमुरवमुइंगदुंदुहिनिग्घोसणादितरवेणं उस्सुकं उक्करं उक्किट्ठं अदेज्जं अमेज्जं अभडप्पवेसं अडंडकोडंडिमं अधरिमं गणियावरनाडइज्जकलियं अणेगतालायराणुचरियं अणुद्धुयमुइंगं अमिलायमल्लदामं पमुइयपक्कीलियसपुरजणजाणवयं दसदिवसट्ठिइपडियं करेइ ॥६६॥

अर्थ—उसके पश्चात् सिद्धार्थ राजा जहाँ अखाड़ा अर्थात् जहां सार्वजनिक उत्सव करने का स्थान है वहां आता है, आकर के यावत् अपने अन्तःपुर के साथ सभी प्रकार के पुष्प, गंध, वस्त्र, मालाएं आदि अलंकारों से अलंकृत होकर, सभी प्रकार के वाद्यों को बजवा करके, बड़े वैभव के साथ, महती द्युति के साथ, महान् लश्कर के साथ, बहुत से वाहनो के साथ, बृहद् समुदाय के साथ और एक साथ बजते हुए अनेक वाद्यों की ध्वनि के साथ अर्थात् शंख, पणव, भेरी, झल्लरी खरमुखी हुडूक, ढोल, मृदंग और दुंदुभी आदि वाद्यों की ध्वनि के साथ दस दिन तक अपनी कुलमर्यादा के अनुसार उत्सव करता है । इस उत्सव के समय नगर में से चुंगी (जकात) तथा कर लेना बन्द कर दिया

गया। जिसको किसी वस्तु की आवश्यकता है वह बिना मूल्य दिये दुकानों से प्राप्त कर सकता है, इस प्रकार की व्यवस्था की गई। खरीदना और बेचना बन्द कर दिया गया। किसी भी स्थान पर जप्ती करने वाले राजपुरुषों का प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया। जिस किसी पर ऋण है उसे स्वयं राजा चुकाएगा, जिससे किसी को भी ऋण चुकाने की आवश्यकता न रहे, ऐसी व्यवस्था की गई। उस उत्सव में अनेक प्रकार के अपरिमित पदार्थ एकत्रित किये गये। उत्सव में सभी को अदण्डनीय कर दिया गया। उत्तम गणिकाओ और नाटक करने वालों के नृत्य प्रारम्भ किये गये। उत्सव में निरन्तर मृदंग बजते रहे, ताजा मालाएँ लटकाई गईं, नगर के तथा देश के सभी मानव प्रमुदित क्रीडा परायण हुए, दस दिन तक इस प्रकार का उत्सव मनाते रहे।

मूल :—

तए णं से सिद्धत्थे राया दसाहियाए ठिइपडियाते वट्टमाणीए सइए य साहस्सिए य सयसाहस्सिए य जाए य दाए य भाए य दलमाणे य दवावेमाणे य सइए य साहस्सिए य सयसाहस्सिए य लंभे पडिच्छेमाणे य पडिच्छावेमाणे य एवं वा विहरइ ॥१००॥

अर्थ—उसके पश्चात् वह सिद्धार्थ राजा दस दिन तक जो उत्सव चला उसमें सैकड़ों हजारों और लाखों प्रकार के यागो (पूजा सामग्रियाँ) को, दानों और भोगों (विशेष देय हिस्सा) को देता और दिलवाता तथा सैकडो- हजारों और लाखों प्रकार की भेंट स्वीकार करता और करवाता रहा।

मूल :—

तए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पढमे दिवसे ठिइपडियं करेंति, तइए दिवसे चंदसूरस्स दंसणियं करिंति, छट्ठे दिवसे जागरियं करेंति, एक्कारसमे दिवसे विइक्कंते निव्व-

त्तिए असुतिजातकम्मकरणे संपत्ते बारसाहदिवसे विउलं असण-पाणखाइमसाइमं उवक्खडाविंति, उवक्खाडावित्ता मित्तनाइनिय-गसयणसंबंधिपरिजणं नायए य खत्तिए य आमंतेत्ता तओ पच्छा ण्हाया कयबलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ता सुद्धप्पा-वेसाइं मंगल्लाइं वत्थाइं पवरपरिहिते भोयणवेलाए भोयणमंडवंसि सुहासणवरगया तेणं मित्तनाइनियगसयणसंबंधिपरिजणेणं नाय-एहि य सद्धिं तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं आसाएमाणा विसाएमाणा परिभुंजेमाणा परिभाएमाणा विहरंति ॥१०१॥

अर्थ--उसके पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर के माता-पिता प्रथम दिन कुल परम्परा के अनुसार पुत्र जन्म निमित्त करने योग्य अनुष्ठान करते है। तृतीय दिन चन्द्र और सूर्य के दर्शन का उत्सव करते हैं। छट्ठे दिन रात्रि जागरण का उत्सव करते है। ग्यारहवां दिन व्यतीत होने के पश्चात् सर्वप्रकार की अशुचि निवारण होने पर जब बारहवा दिन आया तब विपुल प्रमाण मे भोजन पानी विविध स्वादिम और खादिम पदार्थ तैय्यार कराते है, तैय्यार कराके अपने मित्रों, ज्ञातिजनों, स्वजनों और अपने साथ सम्बन्ध रखने वाले परिवारवालों को तथा ज्ञातृवंश के क्षत्रियों को आमंत्रण देते है। पुत्र जन्म-समा-रोह में आने के लिए निमंत्रित करते है। फिर स्नान किए हुए, बलिकर्म किए हुए टीले-टपके और दोष निवारण हेतु मगलरूप प्रायश्चित किए हुए, श्रेष्ठ और उत्सव में जाने योग्य मंगलमय वस्त्रों को धारण किए हुए, भोजन का समय होने पर भोजन मण्डप में आते हैं। भोजन मण्डप में आकर उत्तम सुखासन पर बैठते है और मित्रों, ज्ञातिजनों, स्वजनों, परिजनों व ज्ञातृवंश के क्षत्रियों के साथ विविध प्रकार के भोजन पान खाद्य और स्वाद्य का आस्वादन करते है--स्वयं भोजन करते हैं और दूसरों को करवाते है।

मूल :—

जिमियभुत्तोत्तरागया वि य णं समाणा आयंता चोक्खा

परमसुईभूया तं मित्तनाइनियगसयणसंबंधिपरिजणं नायए य खत्तिए य विउलेणं पुप्फवत्थगंधमल्लालंकारेणं सक्कारेंति सम्माणेंति सक्कारित्ता सम्माणित्ता तस्सेव मित्तनाइनियगसयणसंबंधिपरिजणस्स नायाण य खत्तियाण य पुरओ एवं वयासी ॥१०२॥

अर्थ–भोजन करने के पश्चात् विशुद्ध जल से कुल्ले करते है, दात और मुख को स्वच्छ करते है। इस प्रकार परम विशुद्ध स्वच्छ बने हुए, माता-पिता, आए हुए उन मित्रों, ज्ञातिजनों, स्वजनो, परिजनो और ज्ञातृवंश के क्षत्रियो को बहुत मे पुष्प, वस्त्र, सुगंधित मालाए और आभूषण प्रदान कर उनका स्वागत करते है। सत्कार और सम्मान करते है। सत्कार और सम्मान करके इन मित्रों, ज्ञातिजनों, स्वजनो, परिजनो और ज्ञातृवंशीय क्षत्रियो के समक्ष भगवान् के माता-पिता इस प्रकार बोले —

मूल :—

पुव्विं पि य णं देवाणुप्पिया ! अम्हं एयंसि दारगंसि गब्भं वक्कंतंसि समाणंसि इमेयारूवे अब्भत्थिए चिंतिए जाव समुप्पज्जित्था–जप्पभिइं च णं अम्हं एस दारए कुच्छिंसि गब्भत्ताए वक्कंते तप्पभिइं च णं अम्हे हिरन्नेणं वड्ढामो सुवन्नेणं धणेणं धन्नेणं जाव सावएज्जेणं पीइसक्कारेणं अईव अईव अभिवड्ढामो सामंतरायाणो वसमागया य तं जया णं अम्हं एस दारए जाए भविस्सइ तया णं अम्हे एयस्स दारगस्स एयाणुरूवं गोन्नं गुणनिप्फन्नं नामधिज्जं करिस्सामो वद्धमाणु त्ति, तं होउ णं कुमारे वद्धमाणे वद्धमाणे नामेणं ॥१०३॥

अर्थ–हे देवानुप्रियो ! जब यह पुत्र गर्भ में आया तब (उस समय) हमारे मन में इस प्रकार का विचार चिन्तन यावत् संकल्प उत्पन्न हुआ कि

जब से हमारा यह पुत्र गर्भ में आया तब से लेकर हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य की दृष्टि से व प्रीति और सत्कार की दृष्टि से हमारी अभिवृद्धि होने लगी है, सामन्त राजा लोग भी हमारे वश में हुए है, इस कारण जब हमारा पुत्र जन्म लेगा तब हम उसके अनुरूप उसके गुणों का अनुसरण करने वाला, गुण निष्पन्न और यथार्थनाम 'वर्द्धमान' रखेगे। तो अब इस कुमार का नाम 'वर्द्धमान हो अर्थात् यह कुमार वर्द्धमान के नाम से प्रसिद्ध हो (ऐसा हमारा विचार है)।

———● **बाल्य काल एवं यौवन**

मूल :—

समणे भगवं महावीरे कासवगोत्ते णं. तस्स णं तओ नामधेज्जा एवमाहिज्जंति. तं जहा—अम्मापिउसंतिए वद्धमाणे१, सहसम्मुईयाते समणे२, अयले भयभेरवाणं परीसहोवसग्गाणं खंतिखमे पडिमाणं पालए धीमं अरतिरतिसहे दविए वीरियसंपन्ने देवेहिं से णामं कयं समणे भगवं महावीरे३ ॥१०४॥

अर्थ—श्रमण भगवान् महावीर काश्यप गोत्र के थे। उनके तीन नाम इस प्रकार कहे जाते है—उनके माता-पिता ने उनका प्रथम नाम 'वर्द्धमान' रखा। स्वाभाविक स्मरण शक्ति के कारण (सहज सद्बुद्धि के कारण भी) उनका द्वितीय नाम 'श्रमण' हुआ अर्थात् सहज शारीरिक एव बौद्धिक स्फूर्ति व शक्ति से उन्होने तप आदि आध्यात्मिक साधना के मार्ग में कठिन परिश्रम किया एतदर्थ वे श्रमण कहलाये। किसी भी प्रकार का भय, (देव, दानव, मानव और तिर्यंच सम्बन्धी) उत्पन्न होने पर भी अचल रहने वाले, अपने सकल्प से तनिक मात्र भी विचलित नही होने वाले निष्कम्प, किसी भी प्रकार के परीषह-क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि के सकट आए या उपसर्ग उपस्थित हो तथापि चलित नही होते। उन परीषहो और उपसर्गों को शान्त भाव से सहन करने में समर्थ भिक्षु प्रतिमाओं का पालन करने वाले, धीमान् शोक और हर्ष मे समभावी, सद्गुणों के आगार अतुलबली होने के कारण देवताओं ने उनका तृतीय नाम 'महावीर' रखा।

विवेचन—भगवान् महावीर का लालन पालन उच्च एवं पवित्र संस्कारों के भव्य वातावरण में हुआ। उनके सभी लक्षण होनहार के थे। सुकुमार सुमन की तरह उनका बचपन नई अंगड़ाई ले रहा था। उनका इठलाता हुआ तन सुगठित, बलिष्ठ और स्वर्ण प्रभा-सा कान्तिमान् था और मुखमण्डल सूर्य-सा तेजस्वितापूर्ण। उनका हृदय मखमल-सा कोमल और भावनाएँ समुद्र-सी विराट् थी। बालक होने पर भी वे वीर, साहसी और धैर्यशाली थे।

शुक्ल पक्ष के चन्द्र की तरह वे बढ रहे थे। उनके मन मे सहज शौर्य और पराक्रम की लहरें उठ रही थी। एक बार वे अपने हमजोले सगी साथियों के साथ गृहोद्यान (प्रमदवन) में क्रीड़ा कर रहे थे। इस क्रीडा में सभी बालक किसी एक वृक्ष को लक्ष्य करके दौड़ते, जो बालक सबसे पहले वृक्ष पर चढ़कर नीचे उतर आता वह जीत जाता। विजयी बालक पराजित बच्चो के कंधों पर चढ़कर उस स्थान पर जाता जहाँ से दौड़ शुरु की थी। इसे सुंकली या आमलकी क्रीड़ा कहा जाता था।[१७३] उस समय देवराज देवेन्द्र ने बालक वर्धमान के वीरत्व एवं पराक्रम की प्रशंसा की। एक अभिमानी देव शक्र की प्रशसा की चुनौती देता हुआ उनके साहस की परीक्षा लेने के लिए भयंकर सर्प का रूप धारण कर उस वृक्ष पर लिपट गया। अन्य सभी बालक फुंकार करते हुए नागराज को निहार कर भयभीत होकर वहाँ से भाग गये, पर किशोर वर्धमान ने बिना डरे और बिना झिझके उस सर्प को पकड एक तरफ रख दिया।[१७४]

बालक पुनः एकत्र हुए और खेल फिर प्रारम्भ हुआ, इस बार वे 'तिंदुषक क्रीड़ा' खेलने लगे। जिसमें किसी एक वृक्ष को अनुलक्ष कर सभी बालक दौड़ते। जो सर्वप्रथम वृक्ष को छू लेता, वह विजयी होता और जो पराजित होता उसकी पीठ पर विजयी बालक आरूढ़ होता। इस बार वह देव भी किशोर का रूप धारण कर उस क्रीड़ादल में सम्मिलित हो गया। खेल में वर्धमान के साथ हार जाने पर नियमानुसार उसे वर्धमान को पीठ पर बैठा-कर दौड़ना पड़ा। किशोर रूप धारी देव दौड़ता-दौड़ता बहुत आगे निकल गया। और उसने अपना विकराल रूप बना वर्धमान को डराना चाहा। देखते ही देखते किशोर ने लम्बा ताड़-सा भयकर पिशाच रूप बना लिया।[१७५] किन्तु

वर्धमान उसकी यह करतूत देखकर के भी घबराये नही। वे अविचलित रहे और साहस के साथ उसकी पीठ पर ऐसा मुष्ठि प्रहार किया कि देवता वेदना से चीख उठा। शीघ्र ही विकराल पिशाच का रूप सिमट कर नन्हा-सा किशोर बन गया। उसका गर्व खण्डित हो गया। उसने बालक वर्धमान के पराक्रम का लौहा माना और वन्दन करते हुए कहा—"प्रभो ! आप में इन्द्र के द्वारा प्रशंसित व वर्णित शक्ति से भी अधिक शक्ति है, आप वीर ही नही अपितु महावीर हैं।[१७६] मै परीक्षक बनकर आया था, मगर प्रशंमक बनकर जा रहा हूँ।

महावीर बाल्यकाल से ही विशिष्ट प्रतिभा के धनी थे। उनकी वीरता, धीरता, योग्यता और ज्ञान-गरिमा अपूर्व तथा अनूठी थी। सागर की तरह गंभीर प्रकृति होने के कारण उनकी कुशाग्र बुद्धि, एव चमत्कारपूर्ण प्रतिभा का परिज्ञान माता पिता को भी न हो सका। आठ वर्ष पूर्ण होने पर उन्होंने बालक महावीर को लेखशाला में विद्याध्ययन के लिए भेजा।

महावीर के बुद्धि वैभव तथा सहज प्रतिभा का परिचय विद्यागुरु तथा जनता को कराने की दृष्टि से देवराज इन्द्र वृद्ध ब्राह्मण का रूप बनाकर लेखशाला मे आये। उसने बालक महावीर से व्याकरण सम्बन्धी अनेक जटिल जिज्ञासाएँ प्रस्तुत कीं। उनका तर्क पूर्ण और अस्खलित उत्तर सुनकर अध्यापक अवाक् और हतप्रभ रह गया। उसने भी अपने मन की कुछ पुरानी शंकाए निवेदन की, भगवान से समाधान पाकर वह आश्चर्य मुद्रा में महावीर को देखने लगा। तब उस वृद्ध ब्राह्मण ने कहा—'पण्डित ! आप इन्हे साधारण बालक न समझे। यह विद्या का सागर और ज्ञान का निधि है। सकल शास्त्र मे पारंगत है, यह महान् आत्मा भविष्य में धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कर ससार का उद्धार-समुद्धार करेगा। बालक महावीर के उत्तरों को सुनकर ब्राह्मण ने उसे 'ऐन्द्र व्याकरण' के रूप में संग्रथित किया।[१७७] उसी समय इन्द्र ने अपना असली रूप प्रकट किया और भगवान् को वन्दन कर अन्तर्धान हो गया।

महावीर की नव नव उन्मेषशालिनी प्रतिभा से माता-पिता परिजन-पौरजन सभी चकित हुए, सभी का मन अत्यन्त प्रमुदित हो उठा।[१७८]

जीवन के उष.काल से ही महावीर चिन्तनशील थे। उनका उर्वर मस्तिष्क सदा-सर्वदा अध्यात्म सागर की गहराई में डुबकियाँ लगाता रहता था। वे संसार में थे, किन्तु जल मे कमल की तरह उससे सदा निर्लिप्त रहते। बाहर में सब कुछ था पर अन्तर मे वे सदा अपने को एकाकी आत्मरूप, देखते थे। बचपन से जब यौवन के मधुर उद्यान में प्रवेश किया तब भी वे उसी प्रकार अनासक्त एवं उदासीन थे। उनकी यह उदासीनता देखकर माता-पिता के मन में चिता भरे विकल्प उठे कि—कही पुत्र श्रमण न बन जाय। तदर्थ उन्होंने महावीर को ससार की मोहमाया मे बाधने हेतु विवाह का प्रस्ताव किया। उधर वसन्तपुर के महासामन्त समरवीर ने भी लावण्य व रूप मे अद्वितीय सुन्दरी अपनी पुत्री यशोदा के साथ वर्धमान के पाणिग्रहण का प्रस्ताव सिद्धार्थ राजा के पास भेजा।[158] महावीर की अन्तरात्मा उसे स्वीकार करना नही चाहती, किन्तु माता के प्रेम भरे आग्रह को और पिता के हठ को उनका भावुक हृदय टाल नही सका। उन्होंने विवाह का बन्धन स्वीकार किया[159] किन्तु विषय-वासना की कर्दम मे वे कमल की भाँति सदा ऊपर उठे रहे। यशोदा की कुक्षि से एक पुत्री भी हुई, जिसका नाम प्रियदर्शना रखा गया।[160] उसका पाणिग्रहण भगवान् की भगिनी सुदर्शना के पुत्र जमालि के साथ हुआ।[161]

मूल :—

समणस्स णं भगवओ महावीरस्स पिया कासवे गोत्तेणं, तस्स णं तओ नामधेज्जा एवमाहिज्जंति, तं जहा—सिद्धत्थे इ वा सेज्जंसे इ वा जसंसे इ वा ॥१०५॥

अर्थ—श्रमण भगवान् महावीर के पिता काश्यप गोत्र के थे। उनके तीन नाम इस प्रकार है यथा — सिद्धार्थ, श्रेयांस और यशस्वी।

मूल :—

समणस्स णं भगवओ महावीरस्स माया वासिट्ठा गोत्तेणं

तीसेणं तओ नामधिज्जा एवमाहिज्जंति, तं जहा–तिसला इ वा विदेहदिण्णा इ वा पियकारिणी इ वा ॥१०६॥

अर्थ–श्रमण भगवान् महावीर की माता वासिष्ठ गोत्र की थी। उनके तीन नाम इस प्रकार कहने में आये है। यथा–(१) त्रिशला, (२) विदेह दिण्णा और (३) प्रियकारिणी।

मूल :–

समणस्स णं भगवओ महावीरस्स पित्तिज्जे सुपासे जेट्ठे भाया नंदिवद्धणे, भगिणी सुदंसणा, भारिया जसोया कोंडिन्ना गोत्तेणं ॥१०७॥

अर्थ–श्रमण भगवान् महावीर के चाचा का नाम सुपार्श्व था। बड़े भ्राता का नाम नन्दिवर्धन था, बहिन का नाम सुदर्शना था, पत्नी का नाम यशोदा था और उसका गोत्र कौडिन्य था।

विवेचन––भगवान महावीर के विवाह के प्रश्न पर श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा मे गहरा मतभेद है। भगवान के विवाह के सम्बन्ध में श्वेताम्बर आम्नाय के मूल आगमों आचारांग आदि में तथा निर्युक्ति, भाष्य एव चूर्णि साहित्य मे पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध होते है। दिगम्बर ग्रन्थों में महावीर के लिए 'कुमार' शब्द का प्रयोग हुआ है।[१८१] और संभवत इसी शब्द के कारण उन्हें अविवाहित मानने की भ्रांति हुई है। प्रस्तुतः 'कुमार' का अर्थ 'कुँआरा' अविवाहित ही नही होता है, बल्कि कुमार का अर्थ 'युवराज'[१८२] 'राजकुमार'[१८३] आदि भी होता है और इसी अर्थ को व्यक्त करते हुए श्वेताम्बर ग्रन्थो ने भी वीर, अरिष्टनेमि, पार्श्व, मल्लि और वासुपूज्य के लिए '**कुमार वासम्मि पव्वइया**'[१८४] कहकर 'कुमार' शब्द का प्रयोग किया है।

मूल :—

समणस्स णं भगवओ महावीरस्स णं धूया कासवी गोत्तेणं,

तीसे णं दो नामधिज्जा एवमाहिज्जंति, तं जहा—अणोज्जा इ वा पियदंसणा इ वा ॥१०८॥

अर्थ—श्रमण भगवान महावीर की पुत्री काश्यप गोत्र की थी। उसके दो नाम इस प्रकार कहे जाते है। अणोज्जा (अनवद्या) एव प्रियदर्शना।

मूल :—

समणस्स णं भगवओ महावीरस्स नत्तुई कासवी गोत्तेणं नीसे णं दो नामधिज्जा एवमाहिज्जंति, तं जहा—सेसवई इ वा जस्सवई इ वा ॥१०६॥

अर्थ—श्रमण भगवान् महावीर की दौहित्री (पुत्री की पुत्री) काश्यप गोत्र की थी। उसके दो नाम इस प्रकार कहने मे आते है—शेषवती और यशस्वती।

—— ● **अभिनिष्क्रमण**

मूल :—

समणे भगवं महावीरे दक्खे दक्खपतिन्ने पडिरूवे आलीणे भद्दए विणीए नाए नायपुत्ते नायकुलचंदे विदेहे विदेहदिन्ने विदेहजच्चे विदेहसूमाले तीसं वासाइं विदेहंसि कट्टु अम्मापिईहिं देवत्तगएहिं गुरुमहत्तरएहिं अब्भणुन्नाए समत्तपइन्ने पुणरवि लोयंतिएहिं जियकप्पिएहिं देवेहिं ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं पियाहिं मणुन्नाहिं मणामाहिं ओरालाहिं कल्लाणाहिं सिवाहिं धन्नाहिं मंगल्लाहिं मियमहुरसस्सिरीयाहिं हिययगमणिज्जाहिं हिययपल्हायणिज्जाहिं गंभीराहिं अपुणरुत्ताहिं वग्गूहिं अणवरयं अभिनंदाणा य अभिथुव्वमाणा य एवं वयासी जय जय नंदा! जय जय भद्दा! भद्दं ते जय जय खत्तियवरवसहा! बुज्भाहि

भगवं लोगनाहा! पवत्ते हि धम्मतित्थं हियसुहनिस्सेयसकरं सव्वलोए सव्वजीवाणं भविस्सई त्ति कट्टु जय जय सद्दं पउंज्जंति ॥११०॥

अर्थ—श्रमण भगवान् महावीर दक्ष थे। उनकी प्रतिज्ञा भी दक्ष (विवेक युक्त) थी। वे अत्यन्त रूपवान् थे, आलीन (कूर्म की तरह इन्द्रियों को गोपन करने वाले) थे। भद्र, विनीत और ज्ञात (सुप्रसिद्ध) थे अथवा ज्ञात वंश के थे। ज्ञातृवंश के पुत्र थे, अर्थात् ज्ञातृवंशीय राजा सिद्धार्थ के पुत्र थे, ज्ञातृवंश के कुल मे चन्द्र के समान थे, विदेह थे अर्थात् उनका देह दूसरों के देह की अपेक्षा विलक्षण था। विदेहदिन्न-या विदेहदिन्ना—त्रिशला माता के पुत्र थे। विदेहजच्च अर्थात् त्रिशला माता के शरीर से जन्म ग्रहण किया हुआ था।[१८५] अथवा विदेहवासियो मे श्रेष्ठ (विदेह जात्य) थे,'विदेह सुकुमाल' थे अर्थात् वे 'अत्यन्त सुकुमाल थे। तीस वर्ष तक गृहस्थाश्रम मे रहकर अपने माता पिता के स्वर्गस्थ होने पर अपने से ज्येष्ठ पुरुषों की अनुज्ञा प्राप्त कर अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण होने पर तथा लोकान्तिक जीतकल्पी देवों ने उस प्रकार की इष्ट, मनोहर, प्रिय, मनोज्ञ, मन को आह्लाद करने वाली उदार, कल्याणरूप, शिवरूप, धन्यरूप, मंगलरूप, परिमित, मधुर-शोभायुक्त, हृदय को रुचिकर लगने वाली, हृदय को प्रसन्न करने वाली गंभीर, पुनरुक्ति आदि से रहित वाणी से भगवान् को निरन्तर अभिनन्दन अर्पित करके भगवान् की स्तुति करते हुए वे देव इस प्रकार बोले—हे नन्द! (आनन्द रूप) तुम्हारी जय हो, विजय हो, हे भद्र! तुम्हारी जय हो, विजय हो, भद्र हो! हे उत्तमोत्तम क्षत्रिय! हे क्षत्रियनरपुङ्गव! तुम्हारी जय हो, विजय हो, हे भगवन्! लोकनाथ! बोध प्राप्त करो! सम्पूर्ण जगत में सभी जीवो का हित, सुख और निःश्रेयस् करने वाला धर्म-तीर्थ, धर्मचक्र प्रवर्तन करो! यह धर्मचक्र सम्पूर्ण जगत् मे सभी जीवों के हितकर, सुखकर और निःश्रेयस को करने वाला होगा। इस प्रकार कहकर वे देव 'जय-जय' का नाद करने लगते है।

विवेचन—अट्ठाईस वर्ष की उम्र मे माता-पिता के स्वर्गस्थ होने पर भगवान से परिजन और प्रजा का प्रेम भरा आग्रह रहा कि आप राज्य सिंहासन

को सुशोभित करें, परन्तु भगवान् महावीर ने स्पष्ट रूप से निषेध करते हुए संयम ग्रहण की अत्युत्कट भावना अभिव्यक्त की।[१८६] ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन ने स्नेह-विह्वल होकर कहा—बन्धुवर! इस समय आपका गृह त्याग का कथन घाव पर नमक छिड़कने जैसा है, कुछ समय तक आप घर में और ठहरें।[१८७] ज्येष्ठ भ्राता के आग्रह से वे दो वर्ष गृहस्थाश्रम में रहे। पर उस समय उन्होंने सचित्त जल का उपयोग नही किया। रात्रि भोजन नहीं किया, सर्वस्नान नहीं किया। वे पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए निर्लेप रहे।[१८८]

उदारमना महावीर ने उनतीसवाँ वर्ष दीन दुखियों के उद्धार में लगाया। वे प्रतिदिन प्रातः एक प्रहर दिन चढ़े तक १ करोड़ ८ लाख स्वर्ण[१८९] (सिक्का विशेष) का दान करते थे। उन्होने एक वर्ष में तीन अरब अठासी करोड़ अस्सी लाख स्वर्ण मुद्राएँ दान में दी।

अभिनिष्क्रमण का संकल्प करते ही नौ लोकान्तिक देव वहाँ उपस्थित हुए। उन्होंने भगवान् के निश्चय का अनुमोदन करते हुए कहा—'हे भगवन् आपकी जय हो! अब आप शीघ्र ही धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करे जिससे सभी जीवो का कल्याण हो।

मूल :—

पुव्विं पि य णं समणस्स भगवओ महावीरस्स माणुस्साओ गिहत्थधम्माओ अणुत्तरे आहोहिए अप्पडिवाई नाणदंसणे होत्था। तए णं समणे भगवं महावीरे तेणं अणुत्तरेणं आहोहिएणं नाणदंसणेणं अप्पणो निक्खमणकालं आभोएइ, अप्पणो निक्खमणकालं आभोइत्ता चेच्चा हिरण्णं चेच्चा सुवन्नं चेच्चा धणं चेच्चा रज्जं चेच्चा रट्ठं एवं बलं वाहणं कोसं कोट्ठागारं चेच्चा पुरं चेच्चा अंतेउरं चेच्चा जणवयं चेच्चा विपुलधणकणगरयणमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालरत्तरयणमाइयं संतसारसावतेज्जं विच्छड्डइत्ता विगो-

वइत्ता दाणं दायारेहिं परिभाएत्ता दाइयाणं परिभाएत्ता जे से हेमंताणं पढमे मासे पढमे पक्खे मग्गसिरबहुले तस्स णं मग्गसिरबहुलस्स दसमीपक्खेणं पाईणगामिणीए छायाए पोरिसीए अभिनिविट्टाए पमाणपत्ताए सुव्वएणं दिवसेणं विजएणं मुहुत्तेणं चंदप्पभाए सीयाए सदेवमणुयासुराए परिसाए समणुगम्ममाणमग्गे संखियचक्कियनंग-लियमुहमंगलियवद्धमाणगपूसमाणगघंटियगणेहिं ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं पियाहिं मणुण्णाहिं मणामाहिं ओरालाहिं कल्लाणाहिं सिवाहिं धन्नाहिं मंगल्लाहिं मियमहुरसस्सिरीयाहिं वग्गूहिं अभिनं-दमाणा अभिसंथुवमाणा य एवं वयासी ॥१११॥

अर्थ–श्रमण भगवान् महावीर को प्रथम गृहस्थधर्म में प्रवेश करने के पूर्व भी उत्तम, आभोगिक--जो कभी भी नष्ट न हो ऐसा अवधि ज्ञान व अवधि दर्शन प्राप्त था। उसमे श्रमण भगवान 'अभिनिष्क्रमण के योग्य काल आ गया है' ऐसा देखते हैं। इस प्रकार देखकर जानकर, हिरण्य को त्यागकर, सुवर्ण को त्याग कर, धन को त्यागकर, राज्य को त्याग कर, राष्ट्र को त्यागकर, इसी प्रकार सेना, वाहन, धन-भण्डार, कोष्ठागार को त्याग कर, नगर, अन्तःपुर, जनपद को त्यागकर, विशाल धन, कनक, रत्न, मणि मुक्ता, शंख, राजपट्ट, राजावर्त, प्रवाल, माणिक आदि सत्वयुक्त, सारयुक्त सभी द्रव्यों को छोड़कर, अपने द्वारा नियुक्त देने वालों से वह सम्पूर्ण धन खुला करके उसको दान रूप में देने का विचार करके अपने गोत्र के लोगों में सम्पूर्ण धन-धान्य, हिरण्य, रत्न, आदि को प्रदान करके, हैमन्त ऋतु का प्रथम मास और प्रथम पक्ष अर्थात् मृगसर कृष्णा दशमी का दिन आने पर जब छाया पूर्व दिशा की ओर ढल रही थी, प्रमाणयुक्त पौरसी आई थी, उस समय सुव्रत नामक दिन में, विजय नामक मुहूर्त में भगवान चन्द्रप्रभा नामक पालकी में (पूर्व दिशा की ओर मुख करके) बैठे। पालकी के पीछे देव, दानव और मानवों के समूह चल रहे थे। उस जलूस में कितने ही देव आगे शंख बजा रहे थे, कितने ही देव आगे चक्र-

धारी चल रहे थे। कितने ही हलधारी चल रहे थे। कितने ही गले मे स्वर्ण का हल लटकाने वाले विशेष प्रकार के भाट लोग चल रहे थे। कितने ही मुंह से मीठा शब्द बोलने वाले थे। कितने ही वर्धमानक अर्थात् अपने कंधों पर दूसरों को बैठाए हुए थे। कितने ही चारण थे, कितने ही घण्टे बजाने वाले घांटिक थे। इन सभी से घिरे हुए, भगवान् को पालकी मे बैठे हुए देखकर भगवान् के कुल महत्तर (कुल के वृद्ध पुरुष) इष्ट प्रकार की मनोहर, कर्ण-प्रिय, मन को प्रमुदित करने वाली उदार, कल्याणरूप, शिवरूप, धन्य मगलरूप परिमित, मधुर, और शोभायुक्त वाणी से भगवान् का अभिनन्दन करते है, वे भगवान् की स्तुति करते हुए इस प्रकार कहने लगे —

मूल :—

जय जय नंदा ! जय जय भद्दा ! भद्दंते अभग्गेहिं णाण-दंसणचरित्तेहिं अजियाइं जिणाहि इंदियाइं, जियं च पालेहि समण-धम्मं, जिअविग्घो वि य वसाहि तं देव ! सिद्धिमज्झे निहणाहि रागदोसमल्ले तवेणं, धिइधणियबद्धकच्छे मद्दाहि अट्ठकम्मसत्तू झाणेणं उत्तमेणं सुक्केणं अप्पमत्तो हराहि आराहणपडागं च वीर ! तेलो-क्करंगमज्झे, पावय वितिमिरमणुत्तरं केवलं वरणाणं, गच्छ य मोक्खं परमपयं जिणवरोवदिट्ठेणं मग्गेणं अकुडिलेणं, हंता परीसहचमूं, जय जय खत्तियवरवसहा ! बहूइं दिवसाइं बहूइं पक्खाइं बहूइं मासाइं बहूइं उऊइं बहूइं अयणाइं बहूइं संवच्छराइं अभीए परीस-होवसग्गाणं खंतिखमे भयभेरवाणं धम्मे ते अविग्घं भवउ त्ति कट्टु जय जय सद्दं पउंजंति ॥११२॥

अर्थ—हे नन्द ! आपकी जय हो ! विजय हो ! हे भद्र ! आपकी जय हो ! जय हो ! आपका भद्र (कल्याण) हो ! निरतिचार ज्ञान दर्शन और चारित्र से तुम नही जीती हुई इन्द्रियों को जीतो, जीते हुए श्रमण धर्म का पालन करो।

विघ्नों को जीतकर हे देव ! तुम अपने साध्य की सिद्धि में रहो। तप से तुम राग द्वेष रूपी मल्लों का हनन करो। धैर्य रूप मजबूत कच्छ बांधकर उत्तम शुक्ल ध्यान से अष्ट कर्म शत्रुओं को मसल दो। हे वीर ! अप्रमत्त बनकर तीन लोक के रंग मण्डप में विजय पताका फहरा दो, अन्धकार रहित उत्तम प्रकाशरूप केवल ज्ञान प्राप्त करो। जिनेश्वरों द्वारा उपदिष्ट सरल मार्ग का अनुसरण कर तुम परमपद रूप मोक्ष को प्राप्त करो। परीषहों की सेना को पराजित करो। हे उत्तम क्षत्रिय ! हे क्षत्रिय नरपुङ्गव ! तुम्हारी जय हो ! विजय हो ! बहुत दिनों तक, बहुत पक्षो तक, बहुत महीनों तक, बहुत वर्षों तक, परीषहो और उपसर्गों से निर्भय होकर, भयकर और अत्यन्त भय उत्पन्न करने वाले प्रसंगो में क्षमाप्रधान होकर तुम विचरण करो। तुम्हारी धर्म साधना में विघ्न न हो" इस प्रकार कहकर वे लोग भगवान् का जय जयकार करने लगे।

मूल :—

तए णं समणे भगवं महावीरे नयणमालासहस्सेहिं पेच्छिज्जमाणे पेच्छिज्जमाणे वयणमालासहस्सेहिं अभिथुव्वमाणे अभिथुव्वमाणे हिययमालासहस्सेहिं ओनंदिज्जमाणे ओनंदिज्जमाणे मणोरहमालासहस्सेहिं विच्छिप्पमाणे विच्छिप्पमाणे कंतिरूवगुणेहिं पत्थिज्जमाणे पत्थिज्जमाणे अंगुलिमालासहस्सेहिं दाइज्जमाणे दाइज्जमाणे दाहिणहत्थेणं बहूणं नरनारिसहस्साणं अंजलिमालासहस्साइं पडिच्छमाणे पडिच्छमाणे भवणपंतिसहस्साइं समतिच्छमाणे समतिच्छमाणे तंतीतलतालतुडियगीयवाइयरवेणं महुरेण य मणहरेणं जयजयसद्दघोसमीसिएणं मंजुमंजुणा घोसेण य पडिबुज्झमाणे पडिबुज्झमाणे सव्विड्ढीए सव्वजुईए सव्वबलेणं सव्ववाहणेणं सव्वसमुदएणं सव्वादरेणं सव्वविभूतीए सव्वविभूसाए सव्वसंभमेणं

सव्वसंगमेणं सव्वपगतीहिं सव्वणाडएहिं सव्वतालायरेहिं सव्वो-रोहेणं सव्वपुप्फवत्थगंधमल्लालंकारविभूसाए सव्वतुडियसद्दसण्णि-णादेणं महता इड्ढीए महताजुतीए महता बलेणं महता वाहणेणं-महता समुदएणं महत्ता वरतुडितजमगसमगप्पवादितेणं संखपणव-पडहभेरिझल्लरिखरमुहिहुड्डुक्कदुंदुभिनिग्घोसनादियरवेणं कुंडपुरं नगरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव णायसंडवणे उज्जाणे जेणेव असोगवरपायवे तेणेव उवागच्छइ ॥११३॥

अर्थ–उसके पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर हजारो नेत्रों से देखे जाते हुए, हजारों मुखों से प्रशंसा किए जाते हुए, हजारों हृदयों से अभिनन्दन प्राप्त करते हुए चले। भगवान् को निहारकर लोग हजारों प्रकार के मनोरथ (सकल्प) करने लगे। भगवान् की मनोहर कांति और रूप को देखकर लोग वैसे ही कांति व रूप की चाहना करने लगे। वे हजारों अंगुलियों से दिखलाए जा रहे थे। भगवान् अपने दाहिने हाथ से हजारों नर-नारियों के प्रणाम को स्वीकार करते हुए, हजारों गृहों की पंक्तियों को पार करते हुए, वीणा, हस्तताल, वादित्र, गाने और बजाने के मधुर व सुन्दर जय-जयनाद के साथ, मधुर मधुर जयनाद के घोष को सुनकर सावधान बनते बनते, छत्र, चामर आदि सभी वैभव से युक्त, अग-अङ्ग मे पहिने हुए समस्त आभूषणों की कांति से मण्डित, सम्पूर्ण सेना से परिवृत, हस्ती, अश्व, ऊँट, खच्चर, पालखी, म्याना आदि सभी वाहनों से परिवृत, सम्पूर्ण जन समुदाय के साथ, पूर्ण आदर अर्थात् औचित्य पूर्वक, अपनी सम्पत्ति व सम्पूर्ण शोभा के साथ, सम्पूर्ण प्रकार की उत्कण्ठा के साथ, समस्त प्रजा अर्थात् वणिक्, चंडाल, भिल्ल आदि अठारह वर्णो के साथ, सभी प्रकार के नाटक करने वाले व सभी प्रकार के ताल बजाने वाले से संवृत सभी प्रकार के अन्तःपुर तथा फूल गध, माला और अलंकारो की शोभा के साथ सभी प्रकार के वाद्यो के शब्दों के साथ, इस प्रकार महान् ऋद्धि, महान् द्युति, विराट् सेना, विशाल वाहन, वृहद् समुदाय और एक साथ बजते हुए वाद्यों की प्रतिध्वनि के साथ, अर्थात् शंख, मिट्टी के ढोल, काष्ठ के ढोल, भेरी, झालर, खरमुखी,

हुडुक्क, दुन्दुभि आदि वाद्यों के निनाद के साथ, भगवान् कुण्डपुर नगर के मध्य-मध्य में होकर निकले। निकलकर जहाँ पर ज्ञातखण्डवन नामक उद्यान है और जहाँ उत्तम अशोक वृक्ष है, वहाँ आते हैं।

मूल :—

जेणेव असोगवरपायवे तेणेव उवागच्छित्ता असोगवरपायवस्स अहे सीयं ठावेइ, अहे सीयं ठावित्ता सीयाओ पच्चोरुहइ, सीयाओ पच्चोरुहित्ता सयमेव आहरणमल्लालंकारं ओमुयइ, आहरणमल्लालंकारं ओमुइत्ता सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेइ, सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करित्ता छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं एगं देवदूसमादाय एगे अबीए मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइए ॥११४॥

अर्थ—जहाँ उत्तम अशोक वृक्ष है वहाँ पहुँच कर उस अशोक वृक्ष के नीचे भगवान् की पालकी रखी जाती है। भगवान पालकी से नीचे उतरते है, उतरकर अपने हाथ से हार आदि आभूषण, पुष्पों की मालाएँ, अँगूठियां आदि अलकार उतारते हैं, उतारकर स्वयं ही पञ्चमुष्ठि लोच करते हैं अर्थात् चार मुष्ठि सिर के और एक मुष्ठि से दाढ़ी के बाल निकालते है। इस प्रकार केश लुंचन करके निर्जल षष्ठ भक्त (बेला) किए हुए, हस्तोत्तरा नक्षत्र का योग (उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र) आते ही एक देवदूष्य वस्त्र को लेकर अकेले ही मुंडित होकर आगारवास को त्यागकर अनगार धर्म को स्वीकार करते हैं।

विवेचन—तीस वर्ष के कुसुमित यौवन में राज्य-वैभव को ठुकराकर, भोग विलास को तिलाञ्जलि देकर मृगसर कृष्ण दशमी के दिन विजय मुहूर्त में राजकुमार महावीर आत्म-ज्योति को प्रज्ज्वलित करने के लिए, ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन की अनुमति लेकर[११०] स्वयं आभरणों को हटाते हैं, स्वयं सिर का लुंचन करते हैं[१११] और सिद्धों को नमस्कार करके यह प्रतिज्ञा ग्रहण करते

हैं—[१९२] "मैं समभाव को स्वीकार करता हूँ, सर्व सावद्ययोग का त्याग करता हूँ। आज से जीवन पर्यन्त मानसिक, वाचिक और कायिक सावद्य योगमय आचरण न मैं करूँगा, न कराऊँगा और न करते हुए का अनुमोदन करूँगा। पूर्व-कृत सावद्य आचरण से निवृत्त होता हूँ उसकी गर्हा करता हूँ, और अपने पूर्वकालिक सावद्य जीवन का त्याग करता हूँ।"

उक्त प्रतिज्ञा पूर्वक सर्वविरति चारित्र को स्वीकार करते ही भगवान् को मनः पर्यवज्ञान की उपलब्धि हुई।[१९३] उस समय भगवान ने यह दृढ़ निश्चय किया कि 'जब तक मुझे केवल ज्ञान प्राप्त नही होगा तब तक मै इस शरीर की सेवा-शुश्रूषा व सार-संभाल नही करूँगा। देव मानव और तिर्यंच सम्बन्धी जो भी उपसर्ग आएँगे उन्हें समभाव से सहन करूँगा और मन में किसी भी प्रकार का किञ्चित् भी उद्वेग नही आने दूँगा।[१९४]

भगवान् श्री महावीर ने जिस समय दीक्षा ग्रहण की, उनके साथ दूसरा कोई भी दीक्षित नही हुआ। जबकि पूर्ववर्ती तीर्थंकरो के साथ अनेक पुरुष दीक्षित हुए। जैसे कि—भगवान् ऋषभदेव ने चार हजार पुरुषो के साथ, भगवती मल्ली और भगवान् पार्श्वनाथ ने तीन-तीन सौ पुरुषों के साथ, भगवान् वासुपूज्य ने छह सौ पुरुषों के साथ और अवशेष उन्नीस तीर्थकरो ने हजार-हजार पुरुषों के साथ दीक्षा ग्रहण की थी।[१९५]

—— ● साधना काल

मूल :—

समणे भगवं महावीरे संवच्छरं साहियं मासं जाव चीवरधारी होत्था, तेण परं अचेले पाणिपडिग्गहए ॥११५॥

अर्थ—श्रमण भगवान महावीर एक वर्ष से अधिक एक महीने तक यावत् चीवरधारी अर्थात् वस्त्र को धारण करने वाले थे, उसके पश्चात् अचेल-- वस्त्र रहित हुए, तथा पाणि-पात्र हुए।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में एवं आचारांग[१९६] के मूल मे दरिद्र ब्राह्मण को वस्त्र देने का उल्लेख नहीं है। परन्तु आवश्यकचूर्णि, निर्युक्ति, वृत्ति, चउप्प-

न्नमहापुरुषचरियं, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र और कल्प सूत्र की टीकाओं में वह वर्णन आया है जो इस प्रकार है—

प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् भगवान वहाँ से प्रस्थान करते हैं। जन-जन के नयन तब तक टकटकी लगाकर निहारते रहे जब तक भगवान नजर से ओझल न हो गए। ओझल होते ही नेत्रों से आँसूओं के मोती बरस पड़े और उनके हृत्तंत्री के सुकुमार तार झनझना उठे।

——— ● दरिद्र ब्राह्मण का उद्धार

समभाव में निमग्न महावीर अकिंचन भिक्षु बनकर बढ़े जा रहे थे। उन्हें मार्ग में सिद्धार्थ का परिचित मित्र सोम नामक वृद्ध ब्राह्मण मिला।[१९७] महावीर से नम्र निवेदन करता हुआ कहने लगा—भगवन् ! मैं दीन और दरिद्र हूँ, न खाने को अन्न है, न पहनने को पूरे वस्त्र हैं और न रहने को अच्छा झौंपड़ा ही है। भगवन् ! जिस समय आपने सांवत्सरिक दान किया था उस समय मै भूख से विलखते परिवार को छोड़कर धन की आशा से दूरस्थ प्रदेश में भीख मांगने गया हुआ था।[१९८] मुझ अभागे को यह पता ही न चला कि आप धन की वर्षा कर रहे हैं। हताश और निराश होकर खाली हाथ घर लौटा। पत्नी ने भाग्य की भर्त्सना करते हुए कहा—पतिदेव ! यहाँ सोने का मेह उमड़-घुमड़कर बरस रहा था, उस समय आप कहाँ भटकते रहे ? अब भी शीघ्र जाओ और महावीर से याचना करो। वे दीनबन्धु आपको निहाल कर देंगे।[१९९] भगवन् ! कृपा कीजिए, यह दीन ब्राह्मण आपके सामने भीख माग रहा है।

महावीर—भद्र ! इस समय मैं एक अकिंचन भिक्षु हूँ।[२००]

ब्राह्मण—भगवन् ! क्या कल्पवृक्ष के पास आकर के भी मेरी मनोवांछित कामना पूर्ण नहीं होगी? यह कहते-कहते उसका गला रुंध गया। आँखें आँसुओं मे छलछला आईं। वह महावीर के चरणारविन्दों से लिपट गया।

ब्राह्मण की दयनीय दशा को देखकर महावीर का दयालु हृदय द्रवित हो गया। उन्होंने उसी क्षण इन्द्र द्वारा प्रदत्त देवदूष्य चीवर का अर्ध भाग उसे प्रदान कर दिया।[२०१] ब्राह्मण अपने भाग्य को सराहता हुआ चल दिया।

ब्राह्मणी उसे देखकर परम सन्तुष्ट हुई। उसके छोर को ठीक करने के लिए उसने रफूगर को वह चीवर दिया।[२०२] रफूगर उस अमूल्य चीवर की चमक-दमक देखकर चौंक उठा। ब्राह्मण ने उसके आश्चर्य का समाधान करते हुए सारी कहानी सुना दी। रफूगर की प्रेरणा से उत्प्रेरित होकर वह पुनः अर्ध चीवर को लेने गया। एक वर्ष और एक मास के पश्चात् वह चीवर महावीर के स्कंध से नीचे गिर पड़ा।[२०३] ब्राह्मण ने लेकर उस रफूगर को दिया, उसने उसे ठीक कर दिया और एक लाख दीनार में नन्दीवर्धन को बेच दिया।[२०४] ब्राह्मण जीवन भर के लिए परम सुखी बन गया।

——● क्षमामूर्ति महावीर

क्षमामूर्ति महावीर उस दिन एक मुहूर्त दिन अवशेष रहने पर कुर्मार-ग्राम में[२०५] जिसका नाम वर्तमान में 'कामन छपरा' है[२०६] वहाँ पधारे। गाँव के बाहर वृक्ष के नीचे नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि केन्द्रित कर स्थाणु की तरह ध्यान में स्थिर हो गये।

उस समय एक ग्वाला वहाँ आया। वह भगवान् के पास बैलों को छोड़कर गायों को दोहने के लिए गाँव में चला गया। क्षुधा और पिपासा से पीड़ित वे बैल चरते-चरते अटवी में दूर तक चले गये। कुछ समय के पश्चात् वह ग्वाला लौटा, पर बैलो को वहाँ नही देखा, तब उसने महावीर से पूछा—बतलाओ ! मेरे बैल कहाँ गए ? महावीर ध्यानस्थ थे। कुछ उत्तर नही पाकर वह आगे बढ़ गया और रात भर बैलों की जंगल में खोजबीन करता रहा। प्रातः निराश होकर पुनः लौटा और इधर वे बैल भी अटवी में से फिरते-फिरते महावीर के पास आकर बैठ गये। ग्वाले ने महावीर के पास बैलों को बैठे हुए देखा तो वह आपे से बाहर हो गया। वह रात भर घूमने से थका हुआ तो था ही, महावीर को उसने चोर समझकर मन का सारा क्रोध और कुढ़न उन पर निकालने के लिए बैलों को बाँधने की रस्सी से महावीर को मारने दौड़ा।

उस समय सभा में बैठे हुए देवराज इन्द्र ने विचार किया कि देखू इस समय भगवान महावीर क्या कर रहे है ? अवधिज्ञान से ग्वाले को इस प्रकार

मारने को सन्नद्ध देखकर इन्द्र ने उसे वहीं स्तम्भित कर दिया और साक्षात् प्रकट होकर कहा—"अरे दुष्ट! क्या कर रहा है ? तुझे पता नहीं है ये सिद्धार्थ नन्दन वर्धमान हैं।" ग्वाला हक्का-बक्का रह गया, फिर क्षमा मांगी और भगवान को तथा इन्द्र को वन्दन कर चला गया।[२०७]

——● स्वावलम्बी महावीर

महावीर की साधना पूर्ण स्वावलम्बी थी। अपनी सहायता के लिए किसी के सामने हाथ पसारना तो दूर रहा, भक्ति-भावना से विभोर होकर अभ्यर्थना करने वालों का सहयोग भी उन्होंने कभी नहीं चाहा। ग्वाले की मूढ़ता को देखकर देवराज के मन में आया और प्रभु से प्रार्थना की—भगवन् ! वर्तमान में मानव अज्ञानी व मूढ़ हैं। वह आप जैसे घोर तपस्वियों को भी प्रताडित करने पर उतारू हो जाता है, आने वाले बारह वर्ष तक आपको विविध कष्टों का सामना करना पड़ेगा, अतः आज्ञा प्रदान कीजिए कि तब तक मैं आपकी सेवा में रहकर कष्ट-निवारण किया करूँ।[२०८]

उत्तर देते हुए महावीर ने कहा— देवराज ! न अतीत में कभी ऐसा हुआ है, न वर्तमान मे हो सकता है और न भविष्य में होगा कि "देवेन्द्र या असुरेन्द्र की सहायता से अर्हन् केवल ज्ञान और सिद्धि प्राप्त करें। अर्हन् तो अपने ही बल और पुरुषार्थ से केवल ज्ञान और सिद्धि प्राप्त करते हैं।[२०९]

——● प्रथम पारणा

द्वितीय दिन वहाँ से विहार कर भगवान् वर्धमान कोल्लाग सन्निवेश में पहुँचे। वहाँ बहुल नामक ब्राह्मण के घर घृत और शक्कर मिश्रित परमान्न (खीर) की भिक्षा प्राप्त कर षष्टभक्त का पारणा किया।[२१०] समवायाङ्ग में कहा है—"ऋषभदेव के अतिरिक्त शेष तेवीस तीर्थकरों ने दूसरे दिन पारणा किया और पारणा में अमृत सदृश मधुर खीर उन्हे प्राप्त हुई।"[२११]

वहां से विहारकर भगवान् मोराकसन्निवेश के दूईज्जन्तक जाति के तापसों (पाषण्डस्थों) के आश्रम में पधारे। वहाँ का कुलपति भगवान् के पिता सिद्धार्थ का परम मित्र था।[२१२] भगवान् को आते देखकर वह स्वागतार्थ खड़ा

हुआ। भगवान् ने भी पूर्व के अभ्यासवश उनसे मिलने हेतु दोनों बाहे पसारी[२१३] और उनके मधुर आग्रह को सम्मान देकर वे एक दिन वहाँ विराजे। प्रस्थान करते समय कुलपति ने निवेदन किया—"कुमार वर! प्रस्तुत आश्रम आपका ही है। आप इसे दूसरे का न समझे। कुछ समय यहाँ पर स्थिति रखें व एकान्त शान्त स्थान में वर्षावास की इच्छा हो तो यहाँ अवश्य पधारें। मैं अनुग्रहीत होऊँगा।[२१४] भगवान् ने वहाँ से विहार किया, सन्निकटस्थ क्षेत्रों में परिभ्रमण कर पुनः वर्षावास हेतु वहाँ पधारे। कुलपति ने एक पर्णकुटी प्रदान की। भगवान् वहाँ हिमालय की तरह अचल, निष्कंप, ध्यान-योग में स्थिर हो गये। वर्षा विलम्ब से होने के कारण अभी तक घास नहीं उगी थी, अतः क्षुधा से पीडित गायें आदि पशु पर्णकुटियों का घास खाने को मुँह मारती थी, अन्य तापसगण उन्हें भगाकर कुटियों की रक्षा करते पर, महावीर तो ध्यान में तल्लीन थे। वे गायों को रोकते भी कैसे? तापसों ने कुलपति से कहा—तुम्हारा यह मेहमान कैसा आलसी है, अपनी कुटिया की भी रक्षा नहीं कर सकता? दूसरी कुटी कौन छाकर देगा?[२१५] कुलपति ने भी महावीर से निवेदन किया—कुमारवर! पक्षिगण भी अपने घोंसले की रक्षा करते हैं, पर आप राजकुमार होकर भी इतनी उपेक्षा क्यो रखते हैं? दुष्टों को दण्ड देना आपका कर्तव्य है। फिर कर्तव्य विमुख क्यों हो रहे है?[२१६] इस प्रकार संकेत कर कुलपति अपने स्थान चला गया। महावीर ने विचार किया मेरे कारण आश्रमस्थ व्यक्तियों का मानस व्यथित हो रहा है अतः मेरा यहाँ रहना उचित नहीं है।" वर्षावास के पन्द्रह दिन व्यतीत होने पर भी उन्होंने वहाँ से विहार किया।[२१७] उस समय भगवान् महावीर ने पाँच प्रतिज्ञाएँ ग्रहण की।

(१) अप्रीतिकारक स्थान मे नहीं रहूँगा।
(२) सदा ध्यानस्थ रहूँगा।
(३) मौन रखूँगा।
(४) हाथ में भोजन करूँगा।
(५) गृहस्थों का विनय नहीं करूँगा।[२१८]

स्मरण रखना चाहिए कि आचारांग[२१९] के अनुसार महावीर ने कभी

भी दूसरे के पात्र में भोजन नही किया। पर आचार्य मलयगिरि के अभिमतानुसार प्रस्तुत प्रतिज्ञा ग्रहण करने के पूर्व भगवान् ने गृहस्थ के पात्र का उपयोग किया था[२२०] और केवल ज्ञान होने के पश्चात् प्रवचन लाघव के कारण वे स्वयं भिक्षा हेतु नही पधारते थे। उस समय शिष्यों के द्वारा पात्र में लाई गई भिक्षा का उपयोग करते थे।[२२१] एतदर्थ ही वह लोहार्य अनगार धन्य माना गया जिसने भगवान् को केवल ज्ञान होने पर भिक्षा लाकर प्रदान की।[२२२]

——— ● शूलपाणि यक्ष का उपद्रव

भगवान् श्री महावीर आश्रम से विहार कर अस्थिग्राम की ओर चल पड़े। संध्या के धुंधलके (गोधूलिवेला) में वहाँ पहुँचे। गांव में एकान्त स्थान की याचना करते हुए नगर के बाहर यक्षायतन मे ठहरने की आज्ञा ली, तब गांव वासियों ने कहा—"भगवन्! वहाँ एक यक्ष रहता है, उसका स्वभाव बड़ा ही क्रूर है, वह रात्रि मे किसी को रहने नही देता है। अतः आप यहाँ न ठहर कर अन्य स्थान मे ठहरे।[२२३] पर, भगवान् ने यक्ष को प्रतिबोध देने हेतु उसी स्थान की पुन. याचना की, ग्राम निवासियो ने आज्ञा प्रदान की। भगवान् एक कौने मे ध्यानस्थ हो गये। साध्य अर्चना हेतु इन्द्रशर्मा नाम का पुजारी आया, अर्चना के पश्चात् सभी यात्रियो को यक्षायतन से बाहर निकाला। भगवान् से उसने कहा—परन्तु वे मौन थे, ध्यानस्थ थे, इन्द्रशर्मा ने पुनः यक्ष के भयंकर उत्पात का रोमांचक वर्णन किया, फिर भी भगवान् विचलित नहीं हुए और वे वही स्थिर रहे, इन्द्रशर्मा चला गया।[२२४]

सन्ध्या की सुहावनी वेला समाप्त हुई। कुछ अधकार होने पर शूलपाणि यक्ष प्रकट हुआ। भगवान् को वहां देखकर उसने कहा—मृत्यु को चाहने वाला यह गांव निवासियों व देवार्चक द्वारा निषेध करने पर भी न माना। ज्ञात होता है इसे अभी तक मेरे प्रबल पराक्रम का परिचय नही है।" पराक्रम का परिचय देने के लिए उसने भयंकर अट्टहास किया[२२५] जिससे सारा वनप्रान्त कांप उठा। पर महावीर तो मेरु की तरह अडोल व अकम्प खड़े रहे। उसने हाथी का रूप बनाया, दन्त प्रहार करने और पाँव से रौंदने पर भी वे अचल रहे। यक्ष ने पिशाच का विकराल रूप बनाकर तीक्ष्ण नाखून व दाँतों

से महावीर के अङ्गों को नोंचा तो भी उनके मन मे रोष नहीं आया। मुँह से 'सी' नहीं निकला। उसने सर्प बनकर जोर से काटा तो भी महावीर का ध्यान भङ्ग नहीं हुआ। अन्त में उसने अपनी दिव्य देव शक्ति से उनके आँख, कान, नाक, सिर, दाँत, नख और पीठ में भयंकर वेदना उत्पन्न की। इस प्रकार की एक वेदना से भी साधारण प्राणी छटपटाता हुआ तत्क्षण मृत्यु को प्राप्त हो जाता है[२२६] पर महावीर तो उन सभी प्रकार की वेदनाओं को शान्त भाव से सहन कर गये। राक्षसी-बल महावीर के आत्मबल से परास्त हो गया। उसका धैर्य ध्वस्त हो गया। प्रभु की अद्‌भुत तितिक्षा देखकर वह चकित व स्तंभित-सा रह गया, अन्त में हारकर महावीर के चरणों मे गिर पड़ा। "भगवन्! मेरा अपराध क्षमा कीजिए। मैंने आपको पहचाना नहीं!" इस प्रकार वह विनम्र होकर प्रभु की स्तुति करने लग गया।

——— ● **भगवान् के स्वप्न**

एक मुहूर्त रात्रि अवशेष रहने पर भगवान् को उस रात में निद्रा आ गई।[२२७] उस समय उन्होंने दस स्वप्न देखे।[२२८]

(१) मैं एक भयंकर ताड-सदृश पिशाच को मार रहा हूँ।

(२) मेरे सामने एक श्वेत पुंस्कोकिल उपस्थित है।

(३) मेरे सामने एक रंग-बिरंगा पुंस्कोकिल उपस्थित है।

(४) दो रत्न मालाएँ मेरे सम्मुख हैं।

(५) एक श्वेत गोकुल मेरे सम्मुख है।

(६) एक विकसित पद्मसरोवर मेरे सामने स्थित है।

(७) मैं तरंगाकुल महासमुद्र को अपने हाथों से तैर कर पार कर चुका हूँ।

(८) जाज्वल्यमान सूर्य सारे विश्व को आलोकित कर रहा है।

(९) मैं अपनी वैडूर्य वर्ण आंतों से मानुषोत्तर पर्वत को आवेष्टित कर रहा हूँ।

(१०) मै मेरु पर्वत पर चढ़ रहा हूँ।

स्वप्नानन्तर भगवान् की नींद खुल गई। साधना काल में भगवान् को इसी रात्रि में कुछ नींद आई थी और वह भी सोये-सोये नहीं, अपितु खड़े-खड़े ही।[२२९]

रात्रि में शूलपाणि के भयंकर अट्टहास को श्रवण कर ग्रामवासियों ने उसी समय अनुमान लगा लिया था कि मंदिर में स्थित वह साधु सदा के लिए चल बसा है। और प्रातःकाल के पूर्व जब संगीत की सुमधुर स्वर लहरियाँ सुनी तो उनका अनुमान और अधिक दृढ़ हो गया कि साधु की मृत्यु से ही यक्ष अपने हृदय की प्रसन्नता संगीत के माध्यम से अभिव्यक्त कर रहा है।[२३०]

उत्पल नामक एक निमित्तज्ञ अस्थिक ग्राम में रहता था। पहले वह भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा में श्रमण बना था। पर कुछ कारणों से श्रमणत्व से भ्रष्ट हो गया था। जब उसे भगवान् महावीर के यक्षायतन में ठहरने के समाचार ज्ञात हुए तो अनिष्ट की कल्पना से उसका हृदय धड़क उठा।[२३१] प्रातः इन्द्रशर्मा पुजारी के साथ वह यक्षायतन पहुँचा, पर अपनी कल्पना से विपरीत यक्ष के द्वारा भगवान् महावीर को अर्चित देखकर उसके आश्चर्य का आर-पार नहीं रहा। वे दोनों ही प्रभु के चरणों में नमस्कार करने लगे—"प्रभो, आपका आत्म-तेज अपूर्व है। आपने यक्षप्रकोप को शान्त कर दिया है।"

निमित्तज्ञ ने निवेदन किया—"प्रभो, आपने जो रात्रि के पश्चिम प्रहर में दस स्वप्न देखे हैं उनका फल इस प्रकार होगा—

(१) आप मोहनीय कर्म को नष्ट करेंगे।
(२) सदा-सर्वदा आप शुक्ल ध्यान में रहेंगे।
(३) विविध ज्ञानमय द्वादशाङ्ग श्रुत की प्ररुपणा करेंगे।
(४) ....?
(५) चतुर्विध सघ आपकी सेवा में संलग्न रहेगा।
(६) चतुर्विध देव भी आपकी सेवा में रहेंगे।
(७) संसार सागर को आप पार करेंगे।
(८) केवल ज्ञान और केवल दर्शन को आप प्राप्त करेंगे।
(९) यत्र-तत्र सर्वत्र आपकी कीर्ति-कौमुदी चमकेगी।
(१०) समवरण में सिंहासन पर विराजकर आप धर्म की संस्थापना करेंगे।[२३२]

इस प्रकार इन नौ स्वप्नों का फल मुझे ज्ञात हो गया, पर चतुर्थ स्वप्न का फल मेरी समझ में नही आया। भगवान् ने चतुर्थ स्वप्न का फल बताते हुए कहा—उत्पल, मैं सर्वविरति व देश-विरति रूप दो प्रकार के धर्म की प्ररूपणा करूँगा।[२३३]

प्रस्तुत वर्षावास में भगवान् ने पन्द्रह-पन्दह दिन के आठ अर्धमास उपवास किये।[२३४]

वहाँ से वर्षावास के पश्चात् विहार कर भगवान् मोराकसन्निवेश पधारे और उद्यान में विराजे।[२३५] वहाँ भगवान् के तपःपूत जीवन और ज्ञान की तेजस्विता से जन-जन के मन में श्रद्धा के दीप प्रज्वलित हो उठे। ध्यान परायण महावीर के चारों ओर जनता श्रद्धा पूर्वक आकर जमने लगी।

प्रस्तुत सन्निवेश में अच्छन्दक पाषण्डस्थ रहते थे जो अपनी जीविका ज्योतिष आदि से चलाते थे। महावीर की तेजस्वी प्रतिभा से उनकी प्रतिभा प्रभाहीन हो गई। उन्होंने भगवान् से निवेदन किया—"भगवन्! आपका व्यक्तित्त्व अपूर्व है। आप अन्यत्र पधारें, क्योंकि आपके यहाँ विराजने से हमारी जीविका नहीं चलती, हम अन्यत्र जायें तो परिचय और प्रतिभा के अभाव में हमें कोई भी पूछेगा नही। करुणावतार महावीर ने वहाँ से विहार कर दिया।[२३६]

——● चण्ड कौशिक को प्रतिबोध

दक्षिण वाचाला से उत्तर वाचाला जाने के दो मार्ग थे। एक कनखल आश्रम से होकर और दूसरा बाहर से। आश्रम का मार्ग सीधा होने पर भी निर्जन, भयानक व विकट संकट से युक्त था। बाहर का पथ केशराशि की तरह कुटिल व दीर्घ था, पर सुगम और विपदा से मुक्त था। आत्मा की मस्ती में गजराज की तरह झूमते हुए महावीर सीधे पथ पर ही अपने कदम बढ़ाते हुए चले जा रहे थे।[२३७]

ग्वालों ने टोकते हुए कहा—"देवार्य! इधर न पधारिये! इस पथ में एक भयंकर दृष्टि विष सर्प रहता है जिसकी विषैली फुंकार से मानव तो क्या, पशु-पक्षी गण भी सदा के लिए आँख मूंद लेते हैं। वह इतना भयंकर है कि

जिधर देखता है, जहर बरसने लगता है, आग की लपटें उठने लगती हैं। उसके कारण आस-पास के वृक्ष भी सूख गये हैं। चारों ओर सुनसान हो गया है। अतः श्रेयस्कर यही है कि आप बाहर के मार्ग से पधारें।

पर महावीर मौन थे। वे अपने लक्ष्य की ओर बढ़े जा रहे थे। पथ से विचलित होना उन्होंने सीखा ही न था।

ग्वालों ने पुनर्वार रोकने का प्रयास किया, किन्तु वे सफल न हो सके। भगवान् आगे बढ़ गये। चण्डकौशिक के स्थान पर जाकर ध्यान लगाकर खड़े हो गये।[२३८] उनके मन में प्रेम का पयोधि उछ्वलित हो रहा था। भयंकर फुंकार करता हुआ नागराज बाहर निकला। बांबी के पास भगवान् को देखकर वह सहम गया। उसने क्षुब्ध होकर फुंकार मारी। किन्तु भगवान् पर कुछ भी असर नहीं हुआ। उसने अनेक बार दंश प्रहार किया, तथापि भगवान् को शान्त-प्रशान्त देखकर वह स्तब्ध हो गया।[२३९]

आश्चर्य में निमग्न विषधर महावीर की मुख-मुद्रा को एक टक देख रहा था। उसमे कही पर भी रोष और क्रोध की रेखाएँ नहीं थी, अपितु मधुर मुस्कान खिल रही थी। अन्त में अमृत ने विष को परास्त कर दिया।

महावीर ने नागराज को शान्त देखकर ध्यान से निवृत्त होकर कहा— "चण्डकौशिक! शान्त होओ! **उवसम भो चण्डकोसिया**! जागृत होओ! अज्ञानान्धकार में कहाँ भटक रहे हो, पूर्व जन्म के दुष्कर्मों के कारण तुम्हें सर्प बनना पड़ा है, यदि अब भी तुम न सँभले तो भविष्य तिमिराच्छन्न है।[२४०]

भगवान् के सुधा-सिक्त वचनों ने नागराज के अन्तर्मानस मे विचार ज्योति प्रज्ज्वलित कर दी। चिन्तन करते-करते पूर्व जन्म का चलचित्र नेत्रों के सामने नाचने लगा।[२४१] "मैं पूर्व जन्म में श्रमण था, असावधानी से भिक्षा के लिए जाते समय पैर के नीचे मण्डूकी आ गई। शिष्य के द्वारा प्रेरणा देने पर भी मैंने आलोचना नही की और अस्मिता के वश शिष्य को मारने दौड़ा। अंधकार में स्तम्भ से शिर टकराया, आयु:पूर्ण कर ज्योतिष्क देव बना और वहाँ से प्रस्तुत आश्रम में कौशिक तापस बना। मेरी क्रूर प्रकृति से सभी कांपते थे।

एक बार श्वेताम्बी के राजकुमारों ने आश्रम के फल-फूल तोड़े। मैं तीक्ष्ण कुल्हाड़ी से उन्हें मारने दौड़ा पर पाँव फिसल गया और उस तीक्ष्ण कुल्हाड़ी से मैं स्वयं कट गया, वहाँ से आयु : पूर्ण कर सर्प बना।" इस प्रकार पूर्व-पापों की संस्मृति से हृदय विकल व विह्वल हो उठा। आत्म-भान होते ही वह अपनी की हुई भूलों पर पश्चात्ताप करने लगा। भगवान् के चरणारविन्दों में आकर झुक गया। उसका प्रस्तर-हृदय पिघल गया। भगवान् के पावन प्रवचन से वह पवित्र हो गया। उसने दृढ़ प्रतिज्ञा ग्रहण की कि 'आज से मैं किसी को न सताऊँगा। उसने आजीवन अनशन कर लिया।[२४२] भगवान को वहाँ खड़ा देखकर लोग आने लगे। नागराज में यह अद्भुत परिवर्तन देखकर जनता चकित थी। जिसे मारने के लिए एकदिन जनता उन्मत्त थी, आज वही उसकी अर्चना कर आनन्द-विभोर हो रही थी।

वहाँ से भगवान् उत्तर वाचाला पधारे। 'नागसेन' के यहाँ पन्द्रह दिन के उपवास का पारणा कर श्वेताम्बी पधारे। सम्राट् प्रदेशी ने भाव-भीना स्वागत किया, वहाँ से सुरभिपुर पधार रहे थे कि मार्ग में सम्राट् प्रदेशी के पास जाते हुए पाँच नैयिक राजाओं ने भगवान् की वन्दना-नन्दना की।[२४३]

——— ● नाव किनारे लग गई

सुरभिपुर पधारते समय गंगा को पार करने हेतु भगवान् सिद्धदत्त की नौका मे आरूढ़ हुए। नौका ने ज्यों ही प्रस्थान किया, त्योंही दाहिनी ओर से उल्लूक के कर्ण कटु शब्दों को श्रवण कर खेमिल निमित्तज्ञ ने यात्रियों से कहा— बड़ा अपशकुन हुआ है, पर प्रस्तुत महापुरुष की प्रबल पुण्यवानी से हम बच जायेंगे।[२४४] आगे बढ़ते ही आँधी और तूफान से नौका आवर्त मे फँस गई। कहते हैं कि त्रिपृष्ट वासुदेव के भव में जिस सिंह को मारा था वह सुदंष्ट्र नाम का देव हुआ और पूर्व वैर के कारण उसने गंगा में तूफान खड़ा कर दिया। अन्य यात्रीगण भय से काँप उठे, पर, महावीर निष्कम्प थे। अन्त में महावीर के प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व से नौका किनारे लग गई।

——— ● धर्म चक्रवर्ती

नाव से उतरकर भगवान् गंगा के किनारे स्थित थूणाक सन्निवेश के

बाहर ध्यान मुद्रा लेकर खड़े हो गए । भगवान् के चरण-चिह्नों को देखकर पुष्य नामक एक निमित्तज्ञ के मानस में विचार उठा कि ये चरण-चिह्न तो अवश्य ही किसी चक्रवर्ती सम्राट् के हैं जो अभी किसी विपदा से ग्रसित होकर अकेला घूम रहा है। मैं जाकर उसकी सेवा करूँ। चक्रवर्ती सम्राट् बनने पर वह प्रसन्न होकर मुझे निहाल कर देगा।[२४५] वह चरण-चिह्नों को देखता हुआ भगवान् के पास पहुँचा, किन्तु भिक्षुक के वेष में भगवान् को देखकर उसके आश्चर्य का पार नहीं रहा। वह यह नहीं समझ सका कि चक्रवर्ती सम्राट् के सम्पूर्ण लक्षण शरीर पर विद्यमान होते हुए भी यह भिक्षुक कैसे ? उसे ज्योतिष शास्त्र का कथन मिथ्या प्रतीत हुआ। वह ज्योतिष शास्त्र को गगा मे बहाने के लिए तैयार हो ही रहा था कि देवेन्द्र ने प्रकट होकर कहा– "पुष्य ! यह कोई साधारण भिक्षुक नही है। धर्म-चक्रवर्ती हैं। चक्रवर्ती सम्राट् से भी बढकर हैं। देवों व इन्द्रों के द्वारा भी वन्दनीय और अर्चनीय है।[२४६] पुष्य भगवान् को वन्दना करके चल दिया।

——— ● गोशालक की भेंट :

भगवान् महावीर ने द्वितीय वर्षावास राजगृह के उपनगर नालन्दा को तन्तुवायशाला (बुनकर की उद्योगशाला) में किया । वहाँ मंखलि पुत्र गोशालक[२४७] भी वर्षावास हेतु आया हुआ था। वह भगवान् के तप और त्याग से आकर्षित हुआ। वास्तव मे उसने भगवान के मासक्षपण के पारणें में पांच दिव्य प्रकट हुए देखे, आकाश में देव-दुन्दुभि सुनी तो वह उनके चामत्कारिक तप से आकृष्ट होकर उनका शिष्य बनने के लिए उत्सुक हो गया। वह भगवान से शिष्य बनाने की प्रार्थना करने लगा, प्रभु मौन रहे।[२४८] उस वर्षावास में भगवान् ने एक-एक मास का दीर्घ-तप किया। वर्षावास की पूर्णाहुति के दिन गोशालक भिक्षा के लिए निकला तो उसने प्रभु से जिज्ञासा की–तपस्वी ! "आज मुझे भिक्षा में क्या प्राप्त होगा ?" उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा–"कोदों का बासी तन्दुल, खट्टी छाछ और खोटा रुपया।" भगवान् की भविष्यवाणी को मिथ्या करने हेतु वह श्रेष्ठियों के गगनचुम्बी भव्य भवनों में पहुँचा, पर हताश और निराश होकर पुनः खाली लौट आया। फिर गरीबों

की झोंपड़ियों की ओर बढ़ा। एक लुहार के घर पर उसे खट्टी छाछ, बासी भात, व दक्षिणा में एक रुपया प्राप्त हुआ। बस, इस घटना ने उसे नियतिवाद की ओर आकर्षित किया। वह सोचने लगा–जो होना होता है, वह होकर रहता है. और वह सब कुछ पहले से ही निश्चित रहता है।

भगवान् महावीर नालंदा से विहार कर कोल्लागसन्निवेश पधारे और वहाँ एक ब्राह्मण के घर पर चतुर्मासक्षपण का पारणा किया। इधर गोशालक भिक्षा से लौटा। भगवान् को वहाँ नही पाकर ढूँढता हुआ कोल्लाग-सन्निवेश में आ पहुंचा। भगवान् से शिष्य बना लेने को पुनः पुनः अभ्यर्थना की, किन्तु भगवान् ने स्वीकार नही की।[२४९]

गोशालक प्रकृति से चचल, उद्धत व लोलुप था। वह भगवान् के साथ ही कोल्लाग सन्निवेश से सुवर्णखल जा रहा था। मार्ग में एक ग्वाल मण्डली खीर पका रही थी। खीर को देखकर गोशालक का मन उसे खाने के लिए मचल उठा। महावीर से निवेदन किया। महावीर ने कहा–"खीर पकने के पूर्व ही हण्डी फूटने के कारण धूल मे मिल जायेगी।" गोशालक ने ग्वालों को सचेत किया और स्वयं खीर खाने को अभिलाषा से वहीं रुक गया। भगवान् आगे बढ़ गये। ग्वालों के द्वारा हण्डी की सुरक्षा करने पर भी हण्डी फूट गई और खीर धूल मे मिल गई।[२५०] गोशालक नन्हा-सा मुंह लिए महावीर के पास पहुंचा। इस घटना से उसकी यह धारणा दृढ़ हो गई कि होनहार कभी टल नही सकती। वह 'नियतिवाद' का पक्का समर्थक बन गया।

वहाँ से विहार कर भगवान् 'ब्राह्मण गाँव' पधारे। उसके दो विभाग थे। एक 'नन्दपाटक' और द्वितीय 'उपनन्दपाटक'। भगवान् नन्दपाटक में नन्द के घर पर भिक्षा के लिए पधारे। भगवान् को वासी भोजन प्राप्त हुआ, परंतु शान्त भाव से उन्होंने उसको स्वीकार किया। गोशालक उपनन्दपाटक में उपनन्द के यहाँ भिक्षा के लिए गया, दासी बासी तन्दुलों की भिक्षा देने लगी तो गोशालक ने मुँह मंचका कर उसे लेने से इन्कार कर दिया। गौशालक के अभद्र व्यवहार से उपनन्द क्रुद्ध हो गया और दासी से कहा–वह भिक्षा न ले

तो उसके शिर पर फेंक दें। दासी ने स्वामी की आज्ञा से उसी के शिर पर डाल दिया। गोशालक आपे से बाहर हो गया। शाप देकर बकता हुआ वहाँ से चल दिया।

भगवान् वहां से अंगदेश की राजधानी चम्पानगरी पधारे।[२५१] गोशालक भी साथ ही था। भगवान् ने तृतीय वर्षावास वहीं व्यतीत किया। वर्षावास में दो-दो मास के उत्कट तप के साथ विविध आसन व ध्यान-योग की साधना की। प्रथम पारणा चम्पा में किया और द्वितीय चम्पा से बाहर।

वर्षावास के पश्चात् कालाय सन्निवेश पधारे, वहाँ से पत्तकालाय पधारे ओर दोनों ही स्थानों पर खण्डहरों में स्थित होकर ध्यान किया। दोनों ही स्थानों पर गोशालक अपनी विकार युक्त एवं अविवेकी प्रवृत्ति के कारण लोगों के द्वारा पीटा गया।[२५२] भगवान् तो रात-रात भर ध्यान में लीन रहे।

वहाँ से भगवान् कुमारक सन्निवेश पधारे, वहाँ पर चम्पकरमणोय उद्यान में कायोत्सर्ग प्रतिमा धारण करके रहे।[२५३]

भिक्षा का समय होने पर गोशालक ने भिक्षा के लिए चलने हेतु महावीर से प्रार्थना की। भगवान् ने कहा-'मेरे उपवास है।'

गोशालक चला! उस समय पार्श्वापत्य मुनिचन्द्रस्थविर कुमार-सन्निवेश में कुम्हार कूवणय की शाला में ठहरे हुए थे। गोशालक ने पार्श्वापत्य मुनियों के रंग विरंगे वस्त्र देखकर पूछा-"तुम कौन हो?" उन्होंने उत्तर दिया-"हम निर्ग्रन्थ हैं और भगवान पार्श्वनाथ के शिष्य हैं।"

गोशालक ने कहा-"तुम कैसे निर्ग्रन्थ हो? इतना सारा वस्त्र और पात्र रखा है, फिर भी अपने को निर्ग्रन्थ कहते हो। ज्ञात होता है अपनी आजीविका चलाने के लिए ही यह प्रपंच कर रखा है। देखिए—सच्चे निर्ग्रन्थ तो मेरे धर्माचार्य हैं, जो वस्त्र व पात्र से रहित हैं तथा तप और त्याग की साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं।"

पार्श्वापत्य श्रमणों ने कहा-"जैसा तू है, वैसे ही तेरे धर्माचार्य भी स्वयं-गृहीतलिंग होंगे।"

गोशालक ने क्रुद्ध होकर कहा—"मेरे धर्माचार्य की तुम लोग निन्दा कर रहे हो। मेरे धर्माचार्य के दिव्य तपस्तेज से तुम्हारा उपाश्रय जलकर भस्म हो जायें।"

पार्श्वापत्य श्रमणों ने कहा—"हम तुम्हारे जैसो के शाप से भस्म होने वाले नहीं हैं।"

लम्बे समय तक वाद-विवाद करने के पश्चात् गोशालक लौटकर महावीर के पास आया और बोला—"आज मेरी सारम्भ और सपरिग्रह श्रमणों से भेंट हुई। मेरे शाप देने पर भी उनका तनिक भी बालवाका नहीं हुआ।"

भगवान् ने बताया कि वे पार्श्वापत्य अनगार है।[२५४]

वहाँ से विहार कर भगवान् चोराक सन्निवेश पधारे।[२५५] वहाँ तस्करो का अत्यधिक भय था। अतः आरक्षक (पहरेदार) सतत सावधान रहते थे। आरक्षकों ने परिचय प्राप्त करने के लिए भगवान से प्रश्न किया, पर भगवान् मौन रहे। आरक्षको ते गुप्तचर समझकर भगवान को अनेक यातनाएं दी। सोमा और जयन्ती नामक परिव्राजिकाओं को जो उत्पल नैमित्तिक को बहनें थी, जब वह ज्ञात हुआ तब वे शीघ्र ही वहाँ पहुँची और आरक्षको को बताया कि ये 'सिद्धार्थनन्दन महावीर हैं। आरक्षकों ने उन्हे मुक्त कर दिया।[२५६]

वहाँ से पृष्ठ चम्पा पधारे और चतुर्थ वर्षावास वहाँ पर व्यतीत किया। प्रस्तुत वर्षावास में चार मास के लिए आहार का परिहार कर आत्म-चिन्तन, व ध्यान मुद्रा में खड़े रहे।

वर्षावास के पश्चात् भगवान् कयंगला नगरी पधारे, वहाँ दरिद्दथेर के देवल मे ध्यानस्थ हुए।[२५७] वहाँ से विहार कर श्रावस्ती के बाहर ध्यान किया। कड़कड़ाती सर्दी पड़ रही थी, तथापि भगवान् सर्दी की बिना परवाह किये रात भर ध्यान में रहे।[२५८] सर्दी से गोशालक बहुत परेशान हुआ। इधर देवल में धार्मिक उत्सव होने से स्त्री-पुरुष आदि एकत्र होकर नृत्य-गाना बजाना कर रहे थे। गोशालक उनकी मजाक करने लगा—"यह कैसा धर्म है, जिसमें स्त्री-पुरुष साथ-साथ निर्लज्ज होकर नाचे जायें।" लोगों ने गोशालक को पकड़-

कर बाहर धकेल दिया। वह सर्दी में ठिठुरने लगा, बोला—"इस ससार में सच बोल कर विपत्ति मोल लेना है।' लोगों ने देवार्य का शिष्य समझकर पुनः भीतर बुलाया, मगर वह तो अपनी आदत से लाचार था, पहले युवकों ने पीटा, फिर वृद्धों ने उसकी बातें अनसुनी करके खूब जोर से बाजे बजाने के लिए कहा। प्रातः भगवान वहां से विहार कर श्रावस्ती पधारे। श्रावस्ती में शिवदत्त ब्राह्मण की पत्नी ने मृत बालक के रुधिर मांस से खीर बनाई और वह गोशालक को दी। गोशालक ने खाई, प्रभु ने रहस्योद्घाटन किया। गोशालक ने वमन किया, वही सब चीजें देखकर उसे नियतिवाद पद दृढ विश्वास हो गया।

श्रावस्ती से विहारकर "हलिद्दुग" गॉव पधारे। गॉव के समीप ही एक "हलिद्दुग" नामक विराट् वृक्ष था। भगवान् ने ध्यान हेतु उपयुक्त स्थल समझ का वहीं अवस्थिति की। अन्य अनेक पथिकों ने भी रात्रि में वहाँ विश्राम लिया। उन्होंने सर्दी से बचने के लिए अग्नि जलाई। उन पथिकों ने सूर्योदय के पूर्व ही वहाँ से आगे प्रस्थान कर दिया। वह अग्नि धीरे-धीरे ध्यानस्थ महावीर के निकट तक आ पहुँची। गोशालक ने ज्यों ही आग की लपलपाती लपटों को अपनी ओर आते हुए देखा त्यों ही वहाँ से भाग छूटा। परन्तु महावीर अपने ध्यान में मग्न थे। ज्वाला आगे बढ़ी, महावीर के पैर उस ज्वाला की लपट से झुलस गये, तथापि वे ध्यान से विचलित नही हुए।[२५७] मध्याह्न में वहाँ से आगे प्रयाण किया। 'नंगला' होते हुए "आवर्त्त" पधारे और क्रमशः वासुदेव तथा बलदेव के मन्दिरों में ध्यान किया।

इस प्रकार अन्य अनेक क्षेत्रों को पाद-पद्मों से पवित्र करते हुए भगवान् 'चोराक सन्निवेश' पधारे। यहाँ गोशालक को गुप्तचर समझकर बहुत पीटा गया।[२६१] वहाँ से भगवान् 'कलंबुका' सन्निवेश को जा रहे थे कि मार्ग से वहाँ के अधिकारी कालहस्ती तस्करों का पीछा करते हुए उधर से निकले तो मार्ग में भगवान महावीर और गोशालक मिले। उन्होंने परिचय पूछा, परन्तु महावीर मौन थे और कुतूहल देखने के लिए गोशालक भी चुप रहा। दोनो को तस्कर समझकर उन्होंने अनेक यातनाएँ दी। तथापि मौन भंग नही किया। आखिर रस्सियों से जकड़ कर उन्हें अपने ज्येष्ठ भ्राता मेघ के पास भेज दिया।

मेघ ने गृहस्थाश्रम में क्षत्रियकुण्ड में महावीर को देखा था, अतः देखते ही स्मृति जाग उठी, और पहचान लिया, शीघ्र ही बन्धनों से मुक्त कर अपने अज्ञानवश किए गए अपराध की क्षमा याचना की।[२६१]

——● लाढ़ प्रदेश में

गंभीर विचार-मंथन के पश्चात् भगवान महावीर ने कर्मों की विशेष निर्जरा हेतु लाढ़ प्रदेश (संभवतः बंगाल में गंगा का पश्चिम किनारा) की ओर प्रस्थान किया।[२६२] यह प्रदेश उस युग में अनार्य माना जाता था। वहाँ विचरण करना अत्यन्त दुष्कर था।[२६३]

उस प्रान्त के दो भाग थे। एक वज्रभूमि और द्वितीय शुभ्र भूमि।[२६४] ये उत्तर राढ़ और दक्षिण राढ़ के नाम से भी प्रसिद्ध थे। इन दोनों के मध्य में अजय नदी बहती थी। भगवान् ने दोनों ही स्थानों में विचरण किया। उस क्षेत्र में भगवान् को जो उग्र उपसर्ग उपस्थित हुए उसका रोमांचक वर्णन आर्य सुधर्मा ने आचारांग में निम्न प्रकार से किया है—

"वहाँ रहने के लिए उन्हें अनुकूल आवास प्राप्त नहीं हुए। अनेक प्रकार के उपसर्ग सहन करने पड़े। रूखा-सूखा बासी भोजन भी कठिनता से उपलब्ध होता था। कुत्ते भगवान् को दूर से देखकर ही काटने के लिए झपटते थे। वहाँ पर ऐसे बहुत कम व्यक्ति थे जो काटते और नौचते हुए कुत्तों को हटाते, किन्तु इसके विपरीत वे कुत्तों को छुछकार कर काटने के लिए उत्प्रेरित करते। पर भगवान् महावीर उन प्राणियों पर किसी भी प्रकार का दुर्भाव नहीं लाते। उन्हें अपने तन पर किसी प्रकार की ममत्व बुद्धि नहीं थी। आत्म-विकास का हेतु समझ कर ग्राम-संकटों को सहर्ष सहन करते हुए वे सदा प्रसन्न रहते।"[२६५]

"जैसे संग्राम में गजराज शत्रुओं के तीखे प्रहारों की तनिक भी परवाह किये बिना आगे ही बढ़ता जाता है, उसी प्रकार भगवान् महावीर भी लाढ़ प्रदेश में उपसर्गों की किञ्चित् परवाह किए बिना आगे बढ़ते रहे। वहाँ उन्हें ठहरने के लिए कभी दूर-दूर तक गाँव भी उपलब्ध नहीं होते, तो भयंकर अरण्य

में ही रात्रिवास करते। जब वे किसी गाँव में जाते तो गाँव के सन्निकट पहुँचते ही गाँव के लोग बाहर निकलकर उन्हें मारने-पीटने लगते और अन्य गाँव जाने को कहते। वे अनार्य लोग भगवान् पर दण्ड, मुष्ठि, भाला, पत्थर व ढेलों से प्रहार करते और फिर प्रसन्न होकर चिल्लाते।[२६६]

वहाँ के क्रूर मनुष्यों ने भगवान् के सुन्दर शरीर को नौंच डाला, उन पर विविध प्रकार के प्रहार किये। भयंकर परीषह उनके लिए उपस्थित किये। उन पर धूल फेंकी। वे भगवान् को ऊपर उछाल-उछाल कर गेंद की तरह पटकते। आसन पर से धकेल देते, तथापि भगवान शरीर के ममत्व से रहित होकर बिना किसी प्रकार की इच्छा व आकाक्षा के संयम-साधना में स्थिर रहकर कष्टों को शान्ति से सहन करते।"[२६७]

"जैसे कवच पहने हुए शूरवीर का शरीर युद्ध में अक्षत रहता है, वैसे ही अचेल भगवान् महावीर ने अत्यन्त कठोर कष्टों को सहते हुए भी अपने सयम को अक्षत रखा।"[२६८]

इस प्रकार समभाव पूर्वक भयंकर उपसर्गों को सहनकर भगवान् ने बहुत कर्मों की निर्जरा कर डाली। वे पुन आर्य प्रदेश की ओर कदम बढ़ा रहे थे कि पूर्णकलश मीमा प्रान्त पर दो तस्कर मिले। वे अनार्य प्रदेश में चोरी करने जा रहे थे। भगवान् को सामने से आते देख उन्होंने अपशकुन समझा। वे तीक्ष्ण शस्त्र लेकर भगवान् को मारने के लिए लपके। उम ममय स्वयं इन्द्र ने प्रकट होकर तस्करों का निवारण किया।[२६९]

भगवान् आर्य प्रदेश के मलय देश मे विहार करने लगे और उस वर्ष मलय की राजधानी भद्दिला नगरी में अपना पाँचवा चातुर्मास किया, चातुर्मासिक तप और विविध आसनों के साथ ध्यान साधना करते हुए वर्षावास व्यतीत किया।[२७०]

वर्षावास पूर्ण होने पर भद्दिल नगरी के बाहर चातुर्मासिक तप का पारणा कर 'कदली समागम' "जम्बू सण्ड', होकर 'तंबाय सन्निवेश' पधारे।

उस समय पार्श्वापत्य स्थविर नन्दिषेण वहाँ पर विराज रहे थे। गोशालक ने उनसे भी वाद-विवाद किया।

तंबाय से 'कूपिय सन्निवेश' पधारे। वहाँ लोगों ने गुप्तचर समझकर भगवान को पकड़ लिया। अनेक यातनाएं दीं और कारागृह में कैद कर लिया गया। 'विजया' और 'प्रगल्भा' नाम की परिव्राजिकाओं को परिज्ञात होने पर वे वहाँ पहुँची, और अधिकारियों को भगवान का परिचय दिया। अधिकारियो ने अपनी अज्ञता पर पश्चात्ताप करते हुए भगवान् को मुक्त कर दिया।[२७१]

भगवान् ने वहाँ से वैशाली की ओर विहार किया। गोशालक ने भगवान् महावीर से कहा—"मुझे आपके साथ रहते हुए अनेक दुःसह यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। पेट की समस्या भी हल नहीं हो पाती। आप इनका निवारण नहीं करते, अतः मैं अब पृथक् विहार करूँगा।" इस बात पर भगवान् मौन रहे। गोशालक ने राजगृह की ओर प्रस्थान कर दिया।[२७२]

भगवान् क्रमशः विहार करते हुए वैशाली पधारे और लुहार के यंत्रालय (कम्मारशाला) में ध्यानस्थ स्थिर हुए। वह लुहार छह मास से अस्वस्थ था। भगवान् के आने के दूसरे ही दिन कुछ स्वस्थता अनुभव होने पर वह अपने यंत्र लेकर यंत्रालय में पहुँचा। वहाँ एकान्त मे भगवान् को ध्यान मुद्रा में देखकर उसने अमंगल रूप समझा और हथोड़ा लेकर महावीर पर प्रहार करने के लिए ज्यों ही वह उधर बढ़ा त्यों ही दिव्य देव-शक्ति से सहसा वही स्तब्ध हो गया।[२७३]

वैशाली से विहार कर भगवान् ग्रामक-सन्निवेश पधारे और विभेलक यक्ष के यक्षायतन में ध्यान किया। भगवान् के तपोमय जीवन से यक्ष प्रभावित होकर गुणकीर्तन करने लगा।[२७४]

● कूटपूतना का उपद्रव

भगवान् महावीर ग्रामक सन्निवेश से विहार कर शालीशीर्ष के रमणीय उद्यान में पधारे। माघ माह का सनसनाता समीर प्रवहमान था। साधारण मनुष्य घरों में गर्म वस्त्रों से वेष्टित होने पर भी काँप रहे थे, किन्तु उस ठण्डी

रात में भी भगवान् वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ खड़े थे। उस समय कूटपूतना (कटपूतना) नामक व्यन्तरी देवी वहाँ आई। भगवान् को ध्यानावस्था में देखकर उसका पूर्व-वैर उद्बुद्ध हो गया। वह परिव्राजिका का रूप बना कर मेघधारा की तरह जटाओं से भीषण जल बरसाने लगी और भगवान् के कोमल स्कंधों पर खड़ी होकर तेज हवा करने लगी। बर्फ-सा शीतल वह जल और पवन तलवार के प्रहार से भी अधिक तीक्ष्ण प्रतीत हो रहा था, तथापि भगवान ध्यान से विचलित नही हुए। उस समय समभावों की उच्च श्रेणी पर चढ़ने से भगवान् को विशिष्ट अवधिज्ञान (परम अवधिज्ञान) की उपलब्धि हुई। परीषह सहन करने की अमित क्षमता को देखकर कूटपूतना अवाक् थी, विस्मित थी। प्रभु के धैर्य के समक्ष वह पराजित होकर चरणों में झुक गई और अपने अपराध के लिए क्षमायाचना करने लगी।[२७५]

गोशालक भी छह मास तक पृथक् भ्रमण कर अनेक कष्ट पाता हुआ आखिर पुनः महावीर के पास आ गया।

भगवान् वहाँ से परिभ्रमण करते हुए भद्दिया नगरी पधारे। चातुर्मासिक तप तथा आसन व ध्यान की साधना करते हुए छट्ठा वर्षावास वहीं पर किया। वर्षावास पूर्ण होने पर नगर के बाहर पारणा कर मगध की ओर प्रयाण किया। मगध के अनेक ग्रामो में घूमते हुए आलंभिया पधारे। चातुर्मासिक तप के साथ ध्यान करते हुए सातवाँ चातुर्मास वहाँ पूर्ण किया।[२७६] चातुर्मासिक तप का नगर के बाहर पारणा कर कुंडाग-सन्निवेश और फिर मद्दनसन्निवेश पधारे। दोनों ही स्थलों पर क्रमशः वासुदेव और बलदेव के आलय (मंदिर) में स्थिर होकर ध्यान किया।

वहाँ से लोहार्गला पधारे। उस समय लोहार्गला के पड़ोसी राज्यों से कुछ संघर्ष चल रहे थे, अतः वहाँ के सभी अधिकारीगण आने जाने वाले यात्रियों से पूर्ण सतर्क रहते थे। परिचय के बिना राजधानी में किसी का भी प्रवेश निषिद्ध था। भगवान् से भी परिचय पूछा गया, पर वे मौन थे। परिचयाभाव से अधिकारी उन्हें निगृहीत कर राजसभा में ले गये। वहाँ अस्थिक ग्राम मे उत्पल नैमित्तिक आया हुआ था। उसने ज्यों ही भगवान् को देखा त्यों ही

उठकर वन्दन किया और बोला—"ये गुप्तचर नहीं, अपितु सिद्धार्थ नन्दन महावीर हैं, धर्मचक्रवर्ती हैं।" परिचय प्राप्त होते ही राजा जितशत्रु ने भगवान् और गोशालक को सत्कार पूर्वक विदा किया।[२७७]

लोहार्गला से भगवान् ने पुरिमताल नगर की ओर प्रस्थान किया। नगर के बाहर कुछ समय तक शकटमुख उद्यान में ध्यान किया। 'वग्गुर' श्रावक ने यहाँ आपका सत्कार किया। वहाँ से उन्नाग, गोभूमि को पावन करते हुए राजगृह पधारे। वहाँ चातुर्मासिक तप ग्रहण कर विविध आसनो के साथ ध्यान करते रहे।[२७८] ऊँची-नीची और तिरछी तीनों दिशाओं में स्थित पदार्थों पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हुए प्रभु ने वहाँ ध्यान किया,[२७९] वहीं पर आठवाँ वर्षावास व्यतीत किया। नगर के बाहर चातुर्मासिक तप का पारणा कर विशेष कर्मनिर्जरा करने के लिए पुन. अनार्यभूमि की ओर (राढ़ देश की ओर) प्रयाण किया। पूर्व की भाँति ही अनार्य प्रदेश मे कष्टों से क्रीड़ा करते हुए कर्मों की घोर निर्जरा की। योग्य आवास न मिलने के कारण वृक्षो के नीचे खण्डहरों में तथा घूमते-घामते वर्षावास पूर्ण किया। छह मास तक अनार्य प्रदेश में विचरण कर पुनः आर्य प्रदेश में पधारे।[२८०]

—— ● तिल का प्रश्न : वैश्यायन तापस

आर्य भूमि में प्रवेश कर भगवान् सिद्धार्थपुर से कूर्मग्राम की ओर पधार रहे थे। गोशालक भी साथ ही था। पथ में सप्त पुष्पवाले एक तिल के लह-लहाते हुए पौधे को देखकर गोशालक ने जिज्ञासा की कि 'भगवन् ! क्या यह पौधा फलयुक्त होगा ?"

समाधान करते हुए भगवान् ने कहा—'यह पौधा फलवान होगा और सातों ही फूलों के जीव एक फली में उत्पन्न होंगे।' भगवान् के कथन को मिथ्या करने की दृष्टि से गोशालक ने पीछे रहकर उस पौधे को उखाड़कर एक किनारे फेंक दिया।[२८१] संयोगवश उसी समय थोड़ी वृष्टि हुई और वह तिल का पौधा पुनः जड़ जमाकर खड़ा हो गया। वे सात पुष्प भी उक्त प्रकार से तिल की फली में सात तिल के रूप में उत्पन्न हुए।

भगवान् कूर्मग्राम आये। कूर्मग्राम के बाहर वैश्यायन नामक तापस प्राणायामा-प्रव्रज्या स्वीकार कर सूर्यमंडल के सम्मुख दृष्टि केन्द्रित कर दोनों हाथ ऊपर उठाये आतापना ले रहा था। आतप संतप्त होकर जटा से यूकाएँ (जुएँ) पृथ्वी पर गिर रही थीं और वह उन्हें उठा-उठाकर पुनः जटा में रख रहा था। गोशालक ने यह दृश्य देखा तो, कुतूहलवश भगवान् के पास से उठ कर उस तपस्वी के निकट आया और बोला—'तू कोई तपस्वी है, या जूओं का शय्यातर ? तपस्वी शान्त रहा। इसी बात को गोशालक पुनः पुनः दुहराता रहा। तपस्वी क्रोध में आ गया। वह अपनी आतापना भूमि से सात-आठ पग पीछे गया और जोश में आकर उसने अपनी तपोलब्ध तेजोलब्धि गोशालक को भस्म करने के लिए छोड़ दी। गोशालक मारे डर के भागा, और प्रभु के चरणों में छुप गया, दयालु महावीर ने शीतललेश्या से उसको प्रशान्त कर दिया। गोशालक को सुरक्षित खड़ा देखकर तापस सारा रहस्य समझ गया। उसने अपनी तेजोलेश्या का प्रत्यावर्तन किया और विनम्र शब्दों में बोलता रहा—"भगवन् ! मैंने आपको जाना। मैंने आपको जान लिया।" गोशालक ने इस चमत्कारी शक्ति को प्राप्त करने की विधि पूछी। भगवान् महावीर ने उसे तेजोलेश्या की उपलब्धि की विधि बतलाई।[२८२]

भगवान् ने कुछ समय के पश्चात् पुनः वहाँ से सिद्धार्थपुर की ओर प्रयाण किया। तिल पौधे के स्थान पर आते ही गोशालक को अतीत की घटना की स्मृति हो आई। उसने कहा—"भगवन् ! आपकी वह भविष्य वाणी मिथ्या हो गई है।' महावीर ने कहा—'नहीं, वह अन्य स्थान पर लगा हुआ जो तिल का पौधा है, वही है जिसे तूने उखाड कर फेंका था।' गोशालक श्रद्धाहीन था, वह तिल के पौधे के पास गया और तिल की फली को तोड़कर देखा तो सात ही तिल निकले। प्रस्तुत घटना से भी गोशालक नियतिवाद की ओर आकृष्ट हुआ। उसका यह विश्वास सुदृढ़ बन गया कि 'सभी जीव मर कर पुनः अपनी ही योनि में उत्पन्न होते हैं।'[२८३]

वहा से गोशालक ने भगवान् का साथ छोड़ दिया। वह श्रावस्ती गया, और 'हालाहला' नाम की कुंभारिन की भाण्डशाला में ठहर कर महावीर द्वारा

बताई विधि के अनुसार तेजोलब्धि की साधना करने लगा। यथासमय सिद्धि प्राप्त हुई। उसका प्रथम परीक्षण करने के लिए कुएँ पर गया। वहां पर जल भरती हुई एक महिला के घड़े पर ककड़ मारा। घडा टुकड़े होकर गिर पड़ा, पानी वह गया। महिला ने क्रुद्ध होकर गाली दी, तो गोशालक ने तेजोलेश्या से उसे वहीं भस्म करके ढेर बना दिया।

फिर अष्टांगनिमित्त के ज्ञाता शोण, कलिन्द, कार्णीकार, अछिद्र, अग्निवेशायन और अर्जुन प्रभृति से गोशालक ने निमित्त शास्त्र का अध्ययन किया। जिससे वह सुख-दुःख, लाभ-हानि, जीवन और मरण आदि बताने लगा और लोगों में वचनसिद्ध नैमित्तिक हो गया। इन सिद्धियों के चमत्कार से प्रसिद्धि हुई और वह अपने आपको आजीवक सम्प्रदाय का तीर्थंकर बताकर प्रख्यात हुआ।[२८४]

भगवान् सिद्धार्थपुर से वैशाली पधारे। नगर के बाहर ध्यानस्थ मुद्रा में भगवान् को देखकर अबोध बालकों ने उन्हें पिशाच समझा। वे अनेक यातनाएँ देने लगे। अकस्मात् उस पथ से राजा सिद्धार्थ के स्नेही सखा शंख नृपति निकल आये। उन्होंने बालकों को हटाया और स्वयं भगवान् का अभिवादन कर आगे चल दिये।[२८५]

वहां से भगवान् ने वाणिज्य ग्राम की ओर विहार किया। बीच मे गंडकी नदी आती थी, उसे पार करने के लिए नौका मे बैठकर परले किनारे पहुँचे, नाविक ने भाडा मांगा। पर भगवान् मौन थे। उसने क्रुद्ध होकर भगवान् को किराया न देने के कारण तप्त तवे-सी रेती पर खड़ा कर दिया। संयोगवश उस समय शंख राजा का भगिनीपुत्र 'चित्र' वहां आ पहुँचा और उसने नाविक से भगवान् को मुक्त करवा दिया।[२८६]

वहाँ से भगवान वाणिज्यग्राम पधारे। वहाँ पर आनन्द नाम के श्रमणोपासक को अवधिज्ञान की उपलब्धि हुई थी। वह महावीर के चरणों में पहुँचा और नम्र निवेदन किया—'प्रभो ! आपको शीघ्र ही केवलज्ञान उत्पन्न होगा।[२८७] यहाँ पर स्मरण रखना चाहिए कि उपासकदशांग सूत्र मे वर्णित गाथापति आनन्द से यह आनन्द भिन्न है।

भगवान वाणिज्यग्राम से विहार कर श्रावस्ती पधारे। विविध प्रकार के तप व योग-क्रियाओं की साधना के द्वारा आत्मा को भावित करते हुए दसवाँ वर्षावास वहां पूर्ण किया।[२८८]

वर्षावास के पूर्ण होने पर 'सानुलट्ठिय सन्निवेश' पधारे और वहाँ सोलह दिन का निरन्तर उपवास किया, तथा विविध प्रक्रिया के द्वारा ध्यानमग्न होकर भद्र, महाभद्र, और सर्वतोभद्र प्रतिमाओं की आराधना करते रहे।[२८९]

पारणा करने के लिए भगवान् परिभ्रमण करते हुए आनन्द के वहाँ पधारे। उसकी बहुला भृत्तिका (दासी) अवशेष अन्न को बाहर फेकने के लिए ज्योंही निकली भगवान् को द्वार पर खड़ा देखा, उसने प्रभु की ओर प्रश्नभरी दृष्टि से देखा तो प्रभु ने दोनो हाथ भिक्षा के लिए फैलाए, दासी ने भक्ति-भावना से विभोर होकर वह अवशेष अन्न प्रभु को भिक्षा में प्रदान किया, और भगवान् ने उस बासी अन्न से ही पारणा किया।[२९०]

——● संगम के उपसर्ग

भगवान् ने वहाँ से दृढ़भूमि की ओर प्रस्थान किया। पेढाल गाँव के सन्निकट पेढाल उद्यान में अष्टमतप कर और एक अचित्त पुद्गल पर दृष्टि केन्द्रित कर ध्यानस्थ हो गए।[२९१] भगवान् की इस अपूर्व एकाग्रता, कष्ट सहिष्णुता और अचल धैर्य को देखकर देवराज इन्द्र ने भरी सभा में गद्-गद् स्वर में प्रभु को वन्दन करते हुए कहा—"प्रभो! आपका धैर्य, आपका साहस, आपका ध्यान अनूठा है! मानव तो क्या शक्तिशाली देव और दैत्य भी आपको इस साधना से विचलित नहीं कर सकते।"[२९२] शक्र की भावना का सारी सभा ने तुमुल जयघोष के साथ अनुमोदन किया। किन्तु संगमदेव के अन्तर्मानस में यह बात न पैठ सकी। उसे अपनी दिव्य दैवी शक्ति पर बड़ा गर्व था। उसने विरोध किया, और भगवान को साधना मार्ग से चलित करने की दृष्टि से देवेन्द्र का वचन लेकर वहीं पहुँचा जहाँ भगवान् ध्यानमग्न थे। उसने आते ही उपसर्गों का जाल बिछा दिया।[२९३] एक के पश्चात् एक भयंकर विपत्तियों का वात्याचक्र चलाया। जितना भी वह कष्ट दे सकता था दिया। तन के कण-कण

में पीड़ा उत्पन्न की। पर, भगवान् जब प्रतिकूल उपसर्गों से तनिक भी प्रकम्पित नहीं हुए तब अनुकूल उपसर्ग प्रारम्भ किए। प्रलोभन के और विषय वासना के मोहक दृश्य उपस्थित किये। गगन-मण्डल से तरुण सुन्दरियाँ उतरीं, हाव-भाव और कटाक्ष करती हुई प्रभु से काम-याचना करने लगी। पर महावीर तो निष्प्रकंप थे, प्रस्तरमूर्ति ज्यों, उन पर कोई असर नहीं हुआ। वे सुमेरु की तरह ध्यान में अडिग रहे। एक रात भर मे बीस भयंकर उपसर्ग [२०४] देने पर भी उनका मुख कुन्दन-सा चमक रहा था। मानो मध्याह्न का सूर्य हो।

पौ फटी, अंधेरा छंट गया, धीरे-धीरे उषा की लाली चमक उठी, और सूर्य की तेजस्वी किरणें धरती पर उतरी। महावीर ने ध्यान से निवृत्त हो आगे प्रयाण किया। यद्यपि महावीर की अदम्य-शक्ति से एक रात में ही सगम की समस्त आशाओं पर तुषारापात हो गया था, तथापि वह धीठ प्रभु का पीछा नहीं छोड़कर साथ रहा, और 'बालुका' 'सुभोग' 'सुच्छेत्ता' 'मलय' और हस्ती-शीर्ष आदि नगरों में जहां भी भगवान् पधारे वहाँ, अपनी काली करतूतो का परिचय देता रहा।[२०५]

जब भगवान् तोसलि गांव के उद्यान मे ध्यानस्थ थे तब वह सगम श्रमण की वेषभूषा पहनकर गाँव में गया और घरों में सेंध लगाने लगा। पकड़ा जाने पर बोला—"मुझे क्यों पकड़ते हो ?, मैंने गुरु आज्ञा का पालन किया है। यदि तुम्हें पकड़ना ही है तो उद्यान मे जो ध्यान किये मेरे गुरु खड़े हैं, उन्हें पकड़ो।" उसी क्षण लोग वहाँ आये और महावीर को पकडने लगे। रस्सियो से जकड़कर गाँव में ले जाने लगे कि महाभूतिल ऐन्द्रिजालिक ने भगवान् को पहचान लिया और लोगों को डांटते हुए समझाया। लोग संगम के पीछे दौड़े तो उसका कहीं अतापता नही लगा।[२०६]

जब भगवान् मोसलि ग्राम पधारे तब संगम ने वहाँ पर भी भगवान् पर तस्करकृत्य का आरोप लगाया। भगवान् को पकडकर राज्य परिषद् में ले जाया गया, तब वहाँ सम्राट् सिद्धार्थ के स्नेही-साथी सुमागद्य राष्ट्रीय (प्रान्त का अधिपति-वर्तमान कमिश्नर जैसा) बैठे थे। उन्होंने भगवान् का अभिवादन किया और बन्धन मुक्त करवाया।

वहाँ से तोसलि के उद्यान मे पधारकर पुनः ध्यान किया। संगम ने चोरी कर के भारी शस्त्रास्त्र महावीर के सन्निकट लाकर रखे। लोगों ने चोर समझकर महावीर को पकड़ा। परिचय पूछा गया, पर, प्रश्न का उत्तर न मिलने से तोसलि क्षत्रिय ने छद्मवेशी श्रमण समझकर फाँसी की सजा दी। फाँसी के तख्ते पर चढाकर गर्दन में फाँसी का फन्दा डाल दिया। ओर नीचे से तख्ते को हटाया। पर ज्यों ही तख्ता हटा कि फन्दा टूट गया। पुनः फंदा लगाया और पुनः टूट गया। इस प्रकार सात बार फंदा टूट जाने पर सभी चकित रह गये। क्षत्रिय को सूचना दी, उसने प्रभु को कोई महापुरुष समझकर मुक्त कर दिया।

भगवान् वहाँ से सिद्धार्थपुर आये, संगम जो शिकारी कुत्ते की तरह महावीर के पीछे लगा हुआ था, वहाँ भी उसने महावीर पर चोरी का आरोप लगाकर पकडवाया, पर कौशिक नामक घोड़े के व्यापारी ने भगवान् का परिचय देकर मुक्त करवाया।[२९७]

भगवान् वहाँ से व्रजगांव पधारे। उस दिन पर्व का पुनीत दिन होने से सब घरों में खीर बनी हुई थी। भगवान् भिक्षा के लिए पधारे। पर संगम ने सर्वत्र अनेषणीय कर दिया। भगवान् भिक्षा बिना लिए ही लौट आए।[२९८]

छह मास तक अगणित कष्ट देने के पश्चात् भी महावीर साधना पथ से विचलित नहीं हुए तो संगम का धैर्य ध्वस्त हो गया। वह हताश और निराश हो गया। उसका मुख मलिन हो गया। वह हारा हुआ भगवान् के पास आकर बोला—"भगवन् ! देवराज इन्द्र ने जो आपके सम्बन्ध में कहा वह पूर्ण सत्य है। मैं भग्न प्रतिज्ञ हूं, आप सत्य प्रतिज्ञ हैं।[२९९] अब आप प्रसन्नता से भिक्षा के लिए पधारिये। मैं किसी प्रकार की विघ्न-बाधाएँ उपस्थित नहीं करूँगा।[३००] छह मास तक मैंने अनेक कष्ट दिये है, जिससे आप सुखपूर्वक संयम साधना नही कर सके हैं। अब आनन्द के साथ साधना कीजिए, मैं जा रहा हूँ। अन्य देवों को भी मैं रोक दूँगा। वे आपको कोई कष्ट नही देंगे।[३०१]

संगम के कथन पर भगवान् ने कहा—'संगम ! मैं किसी की प्रेरणा से

प्रेरित होकर या किसी के कथन को संकल्प में रखकर तप नहीं करता । मुझे किसी के आश्वासन वचन की अपेक्षा नहीं है ।[302]

संगम के प्रस्थान के पश्चात् द्वितीय दिन भगवान् छह मास की कठिन तपस्या पूर्णकर व्रजग्राम में पारणा हेतु पधारे । वहाँ वत्सपालक वृद्धा ने प्रसन्नता से प्रभु को पायस की भिक्षा दी ।[303]

व्रजग्राम से आलंभिया, श्वेताम्बिका, श्रावस्ती, कौशाम्बी, बाराणसी, राजगृह, मिथिला आदि को पावन करते हुए वैशाली पधारे और नगर के बाहर समरोद्यान में बलदेव के मन्दिर में चातुर्मासिक तप के साथ वर्षावास व्यतीत किया ।[304]

——● जीर्ण की भावना : पूर्ण का दान

वैशाली में एक भावुक श्रावक जिनदत्त रहता था, उसकी संपत्ति क्षीण हो जाने से लोग उसे जीर्ण सेठ कहने लग गए । वह सामुद्रिक शास्त्र का वेत्ता था ।[305] भगवान् की पाद-रेखाओं के अनुसंधान में वह उसी उद्यान में गया, वहाँ प्रभु को ध्यानस्थ देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ । अब वह प्रतिदिन भगवान् को नमस्कार करने आता और आहारादि की अभ्यर्थना करता । निरन्तर चार मास तक चातक की तरह चाहने पर भी उसकी भव्य भावना पूर्ण नहीं हुई । चातुर्मास समाप्ति के पश्चात् भगवान् भिक्षा के लिए निकले और अपने संकल्प के अनुसार भिक्षान्वेषण करते हुए अभिनव श्रेष्ठी के द्वार पर रुके, यह नया धनी था, मूलनाम 'पूर्ण' था । श्रेष्ठी ने लापरवाही से दासी को आदेश दिया, और उसने एक चम्मच-कुलत्थ (बाकुले) दिये और भगवान ने उसी से चार माह की तपस्या का पारणा किया ।[306] देव दुन्दुभि बजी, पंच दिव्यवृष्टि हुई, किंतु इधर जीर्ण श्रेष्ठी की प्रतीक्षा, प्रतीक्षा ही रही, वह भावना के अत्यन्त उच्च व निर्मल शिखर पर पहुँच रहा था । कहते हैं यदि दो घड़ी देवदुन्दुभि नहीं सुन पाता तो केवलज्ञान हो जाता ।

वर्षावास पूर्णकर भगवान वहाँ से सुंसुमारपुर पधारे।[307] शक्रेन्द्र के वज्र से भयभीत हुआ चमरेन्द्र भगवान के चरणारविन्दों में आया और शरण-ग्रहण कर मुक्त हुआ । इसका विस्तृत वर्णन भगवती सूत्र में भगवान ने स्वयं श्रीमुख से किया है ।[308] जो पीछे दस आश्चर्य प्रकरण में कर चुके हैं ।

वहाँ से भोगपुर, नन्दीग्राम और मेढियग्राम पधारे। वहां ग्वालों ने उपसर्ग दिया।[309]

——● घोर अभिग्रह

मेढ़ियग्राम से भगवान कौशाम्बी पधारे और पौष-कृष्णा प्रतिपदा के दिन एक घोर अभिग्रह ग्रहण किया—

"अविवाहित कुलीन राजकन्या हो, दासी बनकर रह रही हो; उसके हाथों में हथकड़ियाँ और पैरों में बेडियाँ हो, सिर मुँड़ा हुआ हो, तीन दिन की उपवासी हो, पके हुए उडद के बाकुले सूप के एक कौने में लेकर भिक्षा का समय व्यतीत होने के पश्चात् जो अपलक प्रतीक्षा कर रही हो, गृहद्वार के बीच बैठो हो, एक पैर बाहर, एक भीतर हो, आँखों में आँसू हो, ऐसी राजकन्या से भिक्षा प्राप्त होगी तो लूँगा अन्यथा नहीं लूँगा।"[310]

इस प्रकार कठोरतम प्रतिज्ञा को स्वीकार करके महावीर प्रतिदिन भिक्षा के लिए कौशाम्बी मे पर्यटन करते। उच्च अट्टालिकाओं से लेकर गरीबों की झोंप ड़ियों तक पधारते। भावुक भक्त भिक्षा देने के लिए लपकते, पर, भगवान् बिना कुछ लिए उलटे पैरों लौट जाते। जन-जन के अन्तर्मानस में एक प्रश्न कचोट रहा था कि—इन्हें क्या चाहिए। अमात्या नन्दा के यहाँ से जब बिना कुछ लिए लौटे तो उसका मन खिन्न हो गया। वह जल रहित मीन की तरह छटपटाने लगी। अपने भाग्य की भर्त्सना करने लगी। परिचारिकाओं ने कहा—आप इतनी क्यों घबराती हैं। देवार्य तो आज ही नहीं चार-चार मास से बिना कुछ लिए ही इसी तरह लौट जाते हैं। जब उसने यह बात सुनी तो वह और अधिक चिन्तित हो गई। उसने अमात्य सुगुप्त से नम्र निवेदन किया कि "आप कैसे प्रधान मंत्री है, कि चार मास पूर्ण हो गये हैं, भगवान् श्री महावीर को भिक्षा उपलब्ध नहीं हो रही है। उनका क्या अभिग्रह है, पता नहीं लगा पाये हैं। यह बुद्धिमानी फिर क्या काम आयेगी।"

अमात्य को अपनी त्रुटि का अनुभव हुआ। शीघ्र ही अन्वेषणा का आश्वासन दिया। प्रस्तुत संलाप विजया प्रतिहारी ने सुन लिया, उसने महारानी

मृगावती से निवेदन किया और मृगावती ने सम्राट् शतानीक से ।[३११] सम्राट और सुगुप्त नामक अमात्य ने अत्यधिक प्रयास किया, तब राजा ने प्रजा को भी नियमोपनियम का परिचय कराकर प्रभु का अभिग्रह पूर्ण करने की सूचना दी, परन्तु भगवान् का अभिग्रह पूर्ण नहीं हुआ। पाँच मास और पच्चीस दिन व्यतीत हो जाने पर भी उनकी मुख मुद्रा उसी प्रकार तेजोदीप्त थी।

एक दिन अपने नियमानुसार कौशाम्बी में परिभ्रमण करते हुए भगवान् धन्नाश्रेष्ठी के द्वार पर पहुँचे। राजकुमारी चन्दना सूप में उड़द के बाकुले लिए हुए तीन दिन की भूखी-प्यासी द्वार के बीच वहीं पिता के आगमन की प्रतीक्षा कर रही थी। दूर से ही भगवान् महावीर को आते देखकर उसका मन-मयूर नाच उठा। हृदय कमल खिल उठा। हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ झनझना उठी। वह अपलक दृष्टि मे प्रभु को निहार रही थी कि भगवान् आए और जैसे कुछ देखकर बिना कुछ लिए हो लौटने लगे। यह देख उसकी आँखें छलछला आई। गला रुंध गया, हृदय भर गया। अवरुद्ध कंठ से ही उसने पुकारा— "प्रभो ! इस अभागिनी से क्या अपराध हो गया है ?" बिना कुछ लिए यों ही लोटे गए ? आँखों से आँसू ढुलकते हुए देखकर भगवान् पुनः लौटे और चन्दना के आगे करपात्र फैला दिया। चन्दना ने भक्ति भावना से गद्गद् होकर उड़द के बाकुले प्रदान किये। भीष्म प्रतिज्ञा पूर्ण हुई।[३१२] आकाश मे देवदुन्दुभि बजी, पंचदिव्य प्रगट हुए, चन्दना का रूप सौन्दर्य पहले से सौ गुना चमक उठा।

भगवान् श्री महावीर वहाँ से प्रस्थान कर सुमंगल, सुच्छेत्ता, पालक, प्रभृति क्षेत्रों को पावन करते हुए चम्पानगरी पधारे और चातुर्मासिक तप मे आत्मा को भावित करते हुए स्वातिदत्त ब्राह्मण की यज्ञशाला में बारहवाँ वर्षावास व्यतीत किया।[३१३]

भगवान् के तपःपूत जीवन मे प्रभावित होकर पूर्णभद्र और माणिभद्र नाम के दो यक्ष सेवा करने के लिए आते। जिसे निहार कर स्वातिदत्त को भी यह दृढ़ विश्वास हो गया कि यह देवार्य अवश्य ही कोई विशिष्ट ज्ञानी है। उसने भगवान् श्री महावीर से जिज्ञासा की—आत्मा क्या है ?

प्रभु ने समाधान दिया—"जो 'मैं' शब्द का वाच्यार्थ है। वही आत्मा है।"

स्वातिदत्त ने पुन जिज्ञासा की—आत्मा का स्वरूप और लक्षण क्या है?

प्रभु ने समाधान दिया—'वह अत्यन्त सूक्ष्म और रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि से रहित है, तथा चेतना गुण से युक्त है।'

प्रश्न उत्पन्न हुआ—"सूक्ष्म क्या है ?"

उत्तर दिया—"जो इन्द्रियों से जाना पहचाना न जाय।"

पुनः जिज्ञासा प्रस्तुत हुई कि-क्या आत्मा को शब्द, रूप, गंध और पवन के सदृश सूक्ष्म समझा जाय। प्रभु ने स्पष्टीकरण किया "नही, ये इन्द्रिय—ग्राह्य हैं। श्रोत्र के द्वारा शब्द, नेत्र के द्वारा रूप, घ्राण के द्वारा गंध और स्पर्श के द्वारा पवन ग्राह्य हैं, पर जो इन्द्रिय ग्राह्य नहीं हो वह सूक्ष्म है।"

प्रश्न—क्या ज्ञान का नाम ही आत्मा है ?

उत्तर—ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है, ज्ञान का आधार आत्मा-ज्ञानी है।

इस प्रकार की जिज्ञासाओ के समाधान से उसका मन अत्यधिक आह्लादित था।[३१४]

——● कानों में शलाका

वर्षावास पूर्ण होने पर भगवान् जभिय ग्राम 'मिंढिय ग्राम' होते हुए 'छम्माणि' पधारे और गाँव के बाहर ध्यान मुद्रा मे अवस्थित हुए। सान्ध्य-वेला मे एक ग्वाला बैलों को लेकर वहाँ आया। बैलों को महावीर के पास रखकर वह गाँव में कार्य हेतु गया। बैल चरते-चरते आसपास की झाड़ियों में छिप गए। ग्वाला लौटकर आया, बैल दिखाई नही दिए तो महावीर से पूछा, भगवान् मौन थे। क्रुद्ध होकर उसने भगवान् महावीर के कानों मे काँसे की तीक्ष्ण शलाकाएँ डाल दीं और उन शलाकाओं को कोई न देखले अत. उनका बाह्य भाग छेद दिया। भगवान् को अत्यधिक वेदना हो रही थी तथापि वे शान्त एवं प्रसन्न थे। उनके अन्तर्मानस में किञ्चित् भी खिन्नता नहीं थी।

वे चिन्तन कर रहे थे कि त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में हँसते हुए मैंने जो शय्या-पालक के कानों में गर्म शीशा उडेलवाया था उसी घोर कर्म का यह प्रतिफल मुझे प्राप्त हुआ है।

वहाँ से विहार कर भगवान् मध्यमपावा पधारे। भिक्षा के लिए परिभ्रमण करते हुए सिद्धार्थ श्रेष्ठी के घर पर पहुँचे। उस समय सिद्धार्थ श्रेष्ठी वैद्य-प्रवर खरक से वार्तालाप कर रहा था। प्रतिभा सम्पन्न वैद्य ने सर्व लक्षण सम्पन्न महावीर के सुन्दर व सुडौल तन को देखकर कहा कि इनके "शरीर में शल्य है। उसे निकालना हमारा कर्तव्य है।" वैद्य और श्रेष्ठो के द्वारा अभ्यर्थना करने पर भी भगवान् वहाँ रुके नहीं। वे वहाँ से चल दिये और गाँव के बाहर आकर ध्यानस्थ हो गए।

खरक वैद्य और श्रेष्ठी औषधि आदि सामग्री लेकर भगवान् को देखते-देखते उद्यान में गये। वहाँ भगवान् ध्यानस्थ थे। उन्होंने कानों में से शलाकाएँ निकालने के पूर्व भगवान् के शरीर का तैल से मर्दन किया और सन्डासी से पकड़कर शलाकाएँ निकालीं। कानों से रक्त की धाराएँ प्रवाहित हो गई। कहा जाता है कि उस अतीव भयंकर वेदना से भगवान् के मुँह से एक चीत्कार निकल पड़ी जिससे सारा उद्यान व देवकुल संभ्रमित हो गया। वैद्य ने शीघ्र ही संरोहण औषधि से रक्त को बन्द कर दिया और घाव पर लगा दी। प्रभु को नमन व क्षमायाचना कर वैद्य और श्रेष्ठी अपने स्थान पर चले आये।[३१८]

इस प्रकार भगवान् को साधना काल में अनेक रोम-हर्षक कष्टों का सामना करना पड़ा। ताड़ना, तर्जना, अपमान और उत्पीडन ने प्रायः पद-पद पर प्रभु की कठोर परीक्षा ली। उन सभी उपसर्गों को तीन भागों में विभक्त करें तो जघन्य उपसर्गों में कूटपूतना का उपसर्ग महान् था। मध्यम उपसर्गों में संगमक का कालचक्र उपसर्ग विशिष्ट था और उत्कृष्ट उपसर्गों में कर्णों से शलाकाएं निकालना अत्यन्त उत्कृष्ट था।[३१६] आश्चर्य की बात है कि भगवान् का पहला उपसर्ग भी कर्मार ग्राम में एक ग्वाले से प्रारम्भ हुआ था, यह अन्तिम उपसर्ग भी एक ग्वाले के द्वारा उपस्थित किया गया।

मूल :—

समणे भगवं महावीरे साइरेगाइं दुवालस वासाइं निच्चं वोसट्ठकाए चियत्तदेहे जे केइ उवसग्गा उप्पज्जंति, तं जहा—दिव्वा वा, माणुस्सा वा, तिरिक्खजोणिया वा अणुलोमा वा पडिलोमा वा ते उप्पन्ने सम्मं सहइ खमइ तितिक्खइ अहियासेइ ॥११६॥

अर्थ--श्रमण भगवान् महावीर दीक्षा स्वीकार करने के पश्चात् बारह वर्ष से कुछ अधिक समय तक साधनाकाल में शरीर की ओर से बिल्कुल उदासीन रहे। उतने समय तक उन्होंने शरीर की ओर तनिक मात्र भी ध्यान नहीं दिया, शरीर को त्याग दिया हो इस प्रकार रहे। साधना काल में देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी जो अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्ग आते उनको निर्भय होकर सम्यक् प्रकार से सहन करते; क्रोध रहित, बिना किसी की भी अपेक्षा रखे, मन को स्थिर कर सहन करते।

मूल :—

तए णं समणे भगवं महावीरे अणगारे जाए इरियासमिए, भासासमिए, एसणासमिए आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिए उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमिए मणसमिए, वइसमिए कायसमिए मणगुत्ते वयगुत्ते कायगुत्ते गुत्ते गुत्तिंदिए गुत्तबंभयारी अकोहे अमाणे अमाए अलोभे संते पसंते उवसंते परिनिव्वुडे अणासवे असमे अकिंचणे छिन्नगंथे निरुवलेवे, कंसपाई इव मुक्कतोये, संखो इव निरंजणे, जीवो इव अप्पडिहयगइ, गगणं पिव निरावलंबणे, वायुरिव अप्पडिबद्धे, सारयसलिलं व सुद्धहियए, पुक्खरपत्तं व निरुवलेवे, कुम्मो इव गुत्तिंदिए खग्गिविसाणं व एगजाए, विहग इव विप्पमुक्के, भारुंडपक्खी इव अप्पमत्ते, कुंजरो इव सोडीरे, वसभो इव जायथामे, सीहो

इव दुद्धरिसे, मंदरो इव अप्पकंपे, सागरो इव गंभीरे; चंदो इव सोमलेसे, सूरो इव दित्ततेए जच्चकणगं व जायरूवे, वसुंधरा इव सव्वफासविसहे, सुहुय हुयासणो इव तेयसा जलंते ॥११७॥

अर्थ–उसके पश्चात् श्रमण भगवान महावीर अनगार हुए। ईर्यासमिति भाषा समिति, एषणा समिति, आदानभांडमात्रनिक्षेपणा समिति, उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपरिस्थापनिका समिति, मन समिति, वचन समिति, काय समिति, मनगुप्ति, वचन गुप्ति, काय गुप्ति, गुप्तेन्द्रिय, गुप्त ब्रह्मचारी, क्रोध, मान, माया और लोभ से रहित हुए। शान्त, उपशान्त, और सभी प्रकार के संताप से मुक्त हुए। वे आश्रव रहित, ममता रहित, परिग्रह रहित, अकिंचन निर्ग्रन्थ हुए। कांस्य पात्र की तरह निर्लेप हुए। जैसे शख पर किसी भी प्रकार के रंग का असर नहीं होता वैसे ही भगवान् पर राग-द्वेष के रंग का असर नही होता था। जीव की तरह अप्रतिहत गति वाले हुए। गगन की तरह आलंबन रहित हुँए, वायु की तरह अप्रतिबद्ध विहारी हुए। शरद्ऋतु के पानी की तरह उनका हृदय निर्मल हुआ। कमलपत्र की तरह निर्लेप हुए। कूर्म की तरह गुप्तेन्द्रिय हुए। महावराह के मुंह पर जैसे एक ही सींग होता है, वैसे ही भगवान् एकाकी हुए। पक्षी की तरह विप्रमुक्त हुए। भारंडपक्षी की तरह अप्रमत्त हुए, हाथी की तरह शूर हुए, बैल की तरह पराक्रमी हुए, सिंह की तरह विजेता हुए, सुमेरु पर्वत की तरह अडिग, सुस्थिर हुए, सागर की तरह गंभीर, चन्द्र की तरह सौम्य, सूर्य की तरह तेजस्वी, स्वर्ण की तरह कान्तिमान पृथ्वी की तरह क्षमाशील और अग्नि की तरह जाज्वल्यमान तेजस्वी हुए।

मूल :—

एतेसिं पदाणं इमातो दुन्नि संघयणगाहाओः—
कंसे संखे जीवे, गगणे वायू य सरयसलिले य।
पुक्खरपत्ते कुम्मे, विहगे खग्गे य भारंडे ॥१॥
कुंजर वसभे सीहे, णगराया चेव सागरमखोभे।
चंदे सूरे कणगे, वसुंधरा चेव हूयवहे ॥२॥

नत्थि णं तस्स भगवंतस्स कत्थइ पडिबंधो भवति । से य पडिबंधे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ । दव्वओ णं सच्चित्ताचित्तमीसिएसु दव्वेसु । खेत्तओ णं गामे वा नगरे वा अरण्णे वा खित्ते वा खले वा घरे वा अंगणे वा णहे वा । कालओ णं समए वा आवलियाए वा आणापाणुए वा थोवे वा खणे वा लवे वा मुहुत्ते वा अहोरत्ते वा पक्खे वा मासे वा उऊ वा अयणे वा संवच्छरे वा अन्नयरे वा दीहकाल संजोगे वा । भावओ णं कोहे वा माणेवा मायाए वा लोभे वा भये वा हासे वा पेज्जे वा दोसे वा कलहे वा अब्भक्खाणे वा पेसुन्ने वा परपरिवाए वा अरतिरती वा मायामोसे वा मिच्छादंसणसल्ले वा । (ग्रं० ६००) तस्स णं भगवंतस्स नो एवं भवइ ॥११८॥

अर्थ—इन पदों की दो संग्रह गाथाएँ हैं:—कांस्य वर्तन, शंख, जोव, आकाश, वायु, शरद् ऋतु का पानी, कमल पत्र, कूर्म, पक्षी, महावराह, भारण्ड पक्षी, हस्ती, वृषभ सिंह, पर्वतराज सुमेरु, सागर, चन्द्र, सूर्य, सुवर्ण पृथ्वी, और अग्नि ।

उन भगवान् को कहीं पर भी प्रतिबन्ध नहीं था, वे अप्रतिबध विहारी थे । प्रतिबंध चार प्रकार का होता है—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से । द्रव्य से—सचित्त, अचित्त और मिश्र । क्षेत्र से—गाव, नगर, अरण्य, खेत, खलिहान, गृह, आंगन और आकाश । काल से—समय, आवलिका, आन प्राण, स्तोक, क्षण, लव, मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, महिना ऋतु, अयन, वर्ष, अथवा दूसरा कोई भी दीर्घ काल का संयोग, ऐसा किसी भी प्रकार का सूक्ष्म या स्थूल, लघु या दीर्घकाल का बंधन नहीं होता । भाव से—क्रोध मान, माया, लोभ, भय, हास्य, राग द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद, अरतिरती, माया मृषावाद मिथ्यादर्शन शल्य । वे इन सभी प्रकार के प्रति बन्धनों से मुक्त हुए ।

मूल :—

से णं भगवं वासावासवज्जं अट्ठ गिम्हहेमंतिए मासे गामे

एगराईए नगरे पंचराईए वासीचंदणसमाणकप्पे समतिणमणिलेट्ठु कंचणे समदुक्खसुहे इहलोगपरलोगअपडिबद्धे जीवियमरणे निरवकंखे संसारपारगामी कम्मसंगनिग्घायणट्ठाए अब्भुट्ठिए एवं च णं विहरइ ॥११६॥

अर्थ–भगवान् वर्षावास के समय के अतिरिक्त ग्रीष्म और हेमन्त ऋतु में आठ मास तक विचरण करते थे। गांव में एक रात्रि और नगर में पांच रात्रि से अधिक नहीं रहते थे। बसूना और चन्दन के स्पर्श में भी समान संकल्प वाले, तृण एवं मणि में लोष्ट और सुवर्ण इन सभी के प्रति समान वृत्ति वाले, दुःख और सुख को एक भाव से सहन करने वाले, इहलोक और परलोक के प्रतिबंध से रहित, जीवन और मरण की आकांक्षा से मुक्त हो संसार को पार करने वाले, कर्म और संग को नाश करने वाले सम्यक् प्रकार से उद्यमवंत बने, तत्पर हुए इस प्रकार विहार करते हैं।

विवेचन—उपर्युक्त चार सूत्रों में भगवान महावीर के साधक जीवन की आँतरिक मनः स्थिति का सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया हैं। दीक्षा ग्रहण करते ही उन्होंने वज्र संकल्प किया—कि भविष्य में मुझ जो भी घोरातिघोर उपसर्ग उपस्थित होंगे, उन्हें अविचल धैर्य एवं मनोबल के साथ विजय करूँगा–वज्र संकल्प ही साधक जीवन का विजय संकल्प है।

हाथी, सिंह, वृषभ, सुमेरु एवं पृथ्वी की उपमा के द्वारा उनके अनन्त पराक्रम एव मनोबल का परिचय कराया गया है तथा शख, शरद् सलिल कमल पत्र, महावराह, वायु आदि की उपमा से भगवान की आंतरिक पवित्रता, निःसंगता तथा अप्रतिबद्धता का दिग्दर्शन हुआ है। वस्तुतः उनका मनोबल एवं जीवन की उज्ज्वलता तो अनुपमेय थी।

श्रमण भगवान् महावीर पक्के घुमक्कड थे। एक स्थान पर दीर्घकाल तक स्थिर होकर रहना उन्हें पसन्द नहीं था। वर्षावास में जीवों की रक्षा के लिए चार मास तक एक स्थान पर रुकते थे और आठ मास तक घूमते हुए साधना करते थे। भगवान् को साधना काल में अनेक उपसर्ग आये।

परन्तु भगवान् उपसर्गों में सर्वदा शान्त रहे, कभी भी उन्होंने रोष और द्वेष नहीं किया, विरोधियों के प्रति भी उनके हृदय में स्नेह का सागर उमड़ता रहा। वर्षा में, सर्दी में, धूप में, छाया में, आँधी और तूफानों में भी उनका साधना-दीप जगमगाता रहा। देव-दानव-मानव और पशुओं के द्वारा भीषण कष्ट देने पर भी अदीनभाव से, अव्यथित मन से, अम्लान चित्त से, मन वचन और काया को वश में रखते हुए सब कुछ सहन किया। वे वीर सेनानी की भाँति निरन्तर आगे बढ़ते रहे, कभी पीछे कदम नहीं रखा।[३१७]

निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु का मन्तव्य है कि अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा महावीर का तपः कर्म अधिक उग्र था। 'जैसे समुद्रों में स्वयंभूरमण श्रेष्ठ है, रसों में इक्षुरस श्रेष्ठ है, उसी प्रकार तप उपधान में मुनि वर्धमान जयवन्त श्रेष्ठ हैं।'[३१८]

भगवान ने बारह वर्ष और तेरह पक्ष की लम्बी अवधि में केवल तीन सौ उनपचास दिन आहार ग्रहण किया। शेष दिन निर्जल और निराहार रहे।[३१९]

संक्षेप मे भगवान का छद्मस्थकाल का तप इस प्रकार है—[३२०]

एक छः मासी तप,
एक पाँच दिन न्यून छःमासी
नौ चातुर्मासिक
दो त्रिमासिक
दो सार्ध द्विमासिक
छह द्विमासिक
दो सार्ध मासिक
बारह मासिक
बहत्तर पाक्षिक
एक भद्र प्रतिमा, (दो दिन)
एक महाभद्र प्रतिमा (चार दिन)
एक सर्वतोभद्र प्रतिमा (दस दिन)

दो सौ उनतीस छट्ठभक्त

बारह अष्टमभक्त

तीन सौ उन पच्चास दिन पारणे के ।

एक दिन दीक्षा का ।

आचारांग के अनुसार दशमभक्त आदि तपस्याएँ भी भगवान ने की थी ।[३२१]

● केवल ज्ञानोत्पत्ति

मूल :—

तस्स णं भगवंतस्स अणुत्तरेणं नाणेणं अणुत्तरेणं दंसणेणं अणुत्तरेणं चरित्तेणं अणुत्तरेणं आलएणं अणुत्तरेणं विहारेणं अणुत्तरेणं वीरिएणं अणुत्तरेणं अज्जवेणं अणुत्तरेणं मद्दवेणं अणुत्तरेणं लाघवेणं अणुत्तराए खंतीए अणुत्तराए मुत्तीए अणुत्तराए गुत्तीए अणुत्तराए तुट्ठीए अणुत्तरेणं सच्चसंजमतवसुचरिय सोवचइयफल-परिनिव्वाणमग्गेणं अप्पाणं भावेमाणस्स दुवालस संवच्छराइं विइक्कंताइं। तेरसमस्स संवच्छरस्स अंतरा वट्टमाणस्स जे से गिम्हाणं दोच्चे मासे चउत्थे पक्खे वइसाहसुद्धे तस्स णं वइसाहसुद्धस्स दसमीए पक्खेणं पाईणगामिणीए छायाए पोरिसीए अभिनिवट्टाए पमाणपत्ताए सुव्वएणं दिवसेणं विजएणं मुहुत्तेणं जंभियगामस्स नगरस्स बहिया उज्जुवालियाए नईए तीरे वियावत्तस्स चेईयस्स अदूरसामंते सामागस्स गाहावइस्स कट्ठकरणंसि सालापायवस्स अहे गोदोहियाए उक्कुडुयनिसिज्जाए आयावणाए आयावेमाणस्स छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं झाणंतरियाए वट्टमाणस्स अणंते अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुन्ने केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने ॥१२०॥

अर्थ—इस प्रकार विचरण करते-करते अनुपम उत्तम ज्ञान, अनुपम दर्शन, अनुपम संयम, अनुपम निर्दोष वसति, अनुपम विहार, अनुपम वीर्य, अनुपम सरलता, अनुपम कोमलता, (नम्रता) अनुपम अपरिग्रह भाव, अनुपम क्षमा अनुपम अलोभ, अनुपम गुप्ति, अनुपम प्रसन्नता, अनुपम सत्य, संयम, तप आदि सद्गुणों का सम्यक् आचरण करने से, जिनसे कि निर्वाण का मार्ग अर्थात् सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र पुष्ट बनते हैं तथा जिन सद्गुणों से मुक्ति का लाभ अत्यन्त सन्निकट आता है, उन सभी सद्गुणों से आत्मा को भावित करते हुए भगवान् को बारह वर्ष व्यतीत हो जाते हैं। तेरहवें वर्ष का मध्यभाग अर्थात् ग्रीष्म ऋतु का द्वितीय मास और चतुर्थ पक्ष चलता है, वह चतुर्थ पक्ष, अर्थात् वैसाख मास का शुक्ल पक्ष, उस वैशाख माम के शुक्ल पक्ष की दशमी के दिन जब छाया पूर्व की ओर ढल रही थी, पिछली पौरसी पूर्ण हुई, जब सुव्रत नामक दिन था, विजय नामक मुहूर्त था, तब भगवान् जृंभिकाग्राम के बाहर, ऋजुबालिका नदी के किनारे एक खण्डहर जैसे पुराने चैत्य[३२१] से न अत्यधिक सन्निकट और न अत्यधिक दूर ही श्यामक नामक गृहपति के खेत में शाल वृक्ष के नीचे गोदोहिका आसन में अवस्थित थे। आतापना द्वारा तप कर रहे थे। छट्ठम तप था। जिस समय उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र का योग आया, भगवान् ध्यानान्तरिका में मग्न थे। उस समय भगवान् को अन्तरहित उत्तमोत्तम, व्याघातरहित, आवरण रहित, समग्र व परिपूर्ण ऐसा केवलज्ञान और केवल दर्शन उत्पन्न हुआ।

मूल :—

तए णं से भगवं अरहा जाए जिणे केवली सव्वन्नू सव्वदरिसी सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स परियायं जाणइ पासइ, सव्वलोए सव्वजीवाणं आगइं गइं ठिइं चवणं उववायं तक्कं मणो माणसियं भुत्तं कडं पडिसेवियं आविकम्मं रहोकम्मं अरहा–अरहस्सभागी तं तं कालं मणवयणकायजोगे वट्टमाणाणं सव्व-जीवाणं सव्वभावे जाणमाणे पासमाणे विहरइ ॥१२१॥

अर्थ—उसके पश्चात् भगवान् अर्हत् हुए, जिन केवली, सर्वज्ञ और सर्व-दर्शी हुए। अब भगवान् देव मानव और असुर सहित लोक में सम्पूर्ण पर्याय जानते हैं, देखते हैं। सम्पूर्ण लोक में सभी जीवों के आगमन, गमन, स्थिति, च्यवन, उपपात, उनका मानसिक संकल्प, भोजन, प्रभृति सभी श्रेष्ठ और कनिष्ठ प्रवृत्तियाँ, चाहे वे (आवीकम्म) प्रकट हैं, या (रहोकम्म) अप्रकट हैं—उन्हें भगवान् जानते है। भगवान् अर्हत् हुए अतः उनसे अब कोई भी रहस्य छिपा हुआ नहीं है, अरहस्य के भागी हुए—उनके समीप करोड़ों देव सेवा में संलग्न रहने के कारण अब एकान्त में रहने की स्थिति नहीं रही। इस प्रकार अर्हत् हुए, भगवान् उस काल में मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियों में रहते हुए समग्र लोक के, समस्त जीवों के, सम्पूर्ण भावों को जानते हुए, देखते हुए विचरते हैं।

विवेचन—मध्यम पावा से प्रस्थान कर भगवान् जंभियग्राम के निकट ऋजुबालिका सरिता के उत्तर तट पर साधना में लीन हुए। साधना में बारह वर्ष पूर्ण हो चुके थे। तेरहवाँ वर्ष चल रहा था।[३२२] वैशाख मास था, शुक्ला दशमी के दिन का अन्तिम प्रहर था। भगवान् सघन शालवृक्ष के नीचे गोदोहिका आसन से आतापना ले रहे थे। आत्म-मंथन चरम सीमा पर पहुँच रहा था, आत्मा पर से घनघाति कर्मों का आवरण हटा। साधना सफल हुई, केवल-ज्ञान, केवलदर्शन प्रकट हुआ। भगवान् अब जिन और अरिहन्त बन गये! सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो गये।

ऐसा एक शाश्वत नियम है कि जिस स्थान पर केवलज्ञान की उपलब्धि होती है वहां पर तीर्थंकर एक मुहूर्त तक ठहरते हैं। भगवान् भी एक मुहूर्त तक वहाँ ठहरे।[३२३]

भगवान् को केवलज्ञान उत्पन्न होते ही देवगण आए, समवसरण की रचना की। पर, देवता सर्वविरति के योग्य न होने के कारण भगवान् ने एक क्षण ही उपदेश दिया। वहां पर मनुष्य की उपस्थिति नहीं थी, अतः किसी ने भी विरतिरूप धर्म-चारित्र-धर्म स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार की घटना जैनागमों में एक आश्चर्य के रूप में उट्टङ्कित की गई है।

——● इन्द्रभूति

उन दिनों मध्यमपावापुरी में सोमिलार्य नामक धनाढ्य ब्राह्मण अपने यहां एक विराट् यज्ञ का आयोजन कर रहा था। उस यज्ञ में भाग लेने के लिए भारत के जाने-माने चोटी के क्रियाकाण्डी विद्वान् और आचार्य आए हुए थे। इनमें इंद्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति ये तीन विद्वान् चौदह विद्याओं के पारंगत थे। प्रत्येक के साथ पांच-पांच सौ शिष्य (छात्र) थे। तीनों ही गौतम गोत्रीय व मगध जनपद के गोवरग्राम के निवासी थे।

व्यक्त और सुधर्मा नाम के दो विद्वान् कोल्लाग-सन्निवेश से आये थे। व्यक्त भारद्वाज गोत्रीय थे और सुधर्मा अग्नि-वैश्यायन। इनके साथ भी पांच-पाच सौ छात्र थे।

उस यज्ञ में मंडित व मौर्यपुत्र--ये दो विद्वान मौर्य सन्निवेश से आए थे। मंडित वासिष्ठ गोत्र के एवं मौर्यपुत्र काश्यप गोत्र के थे। दोनों के साथ भी ३५०-३५० शिष्य थे।

अकम्पित, अचल भ्राता, मेतार्य और प्रभास नाम के चार अन्य विद्वान भो उस सभा में थे। जो क्रमशः मिथिला के गौतम गोत्रीय, कौशल के हारित गोत्रीय, तुंगिक (कौशाम्बी) के कौडिन्य गोत्रीय एवं राजगृह के कौडिन्य गोत्रीय थे। इन सभी विद्वानों के मन में एक-एक शंका भी छुपी हुई थी।[३२४] ये ग्यारह विद्वान् उन सभी विद्वानों मे प्रमुख थे।

सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् ने देखा मध्यम पावापुरी का प्रस्तुत प्रसंग अपूर्व लाभ का कारण है। भारत के मूर्धन्य मनीषी विज्ञगण भी अज्ञानान्धकार में भटक रहे हैं, साथ ही दूसरों को भी अज्ञानान्धकार में ढकेल रहे हैं। ये बोध प्राप्त करेंगे तो हजारों प्राणियों को सत्य मार्ग पर चलने को प्रेरित कर सकते हैं।

भगवान् महावीर जंभिय ग्राम से विहार कर मध्यम पावापुरी में पधारे। देवाताओं ने समवसरण की रचना की। विशाल मानव मेदिनी एकत्रित हुई। सुर और असुर सभी उपदेश सुनने के लिए उपस्थित हुए। महावीर की मेघ-गंभीर गर्जना सुनकर सभी के मन-मयूर नाच उठे। जन-जन की जिह्वा पर

महावीर की सर्वज्ञता की चर्चा होने लगी। आकाशमार्ग से आते हुए देवगणो को देखकर पंडितों ने सोचा-'हमारे यज्ञ से आकृष्ट हुए देवगण आरहे हैं।' किन्तु जब उन्हें सीधे ही आगे निकल जाते देखा और पार्श्वस्थित भगवान् महावीर के समवशरण में उतरते देखा तो निराशा के साथ आश्चर्य हुआ। इन्द्रभूति का ज्ञात हुआ कि आज यहाँ पर सर्वज्ञ महावीर आये हैं, तो उन्हें अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य पर आंच आती-सी लगी। सोचा—चलकर देखूँ महावीर कैसा ज्ञानी है? मेरे सामने वह कितने समय तक टिक सकता है। आज तक कोई भी विद्वान् मुझे पराजित नही कर सका है। भारतवर्ष के एक छोर से दूसरे छोर तक मेरी कीर्ति-कौमुदी चमक रही है। आज महावीर से भी शास्त्रार्थ कर उन्हे पराजित करूँ।

सर्वशास्त्र पारंगत इन्द्रभूति अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ शास्त्रार्थ के लिए प्रस्थित हुए। प्रभु की तेजोदीप्त मुखमुद्रा ने पहले ही क्षण इन्द्रभूति को प्रभावित कर दिया। महावीर ने ज्यों ही उन्हे 'गौतम!' कहकर सम्बोधित किया त्यों ही वह स्तम्भित-से रह गए। विचारा—"मेरी लोक व्यापिनी ख्याति के कारण ही इन्हें मेरे नाम का पता है।' पर जब तक ये मेरे अन्तर के संशयों का छेदन नही कर देते तब तक मैं इन्हें सर्वज्ञ नही मान सकता।" गौतम के मानस में संकल्प की उधेड़बुन चल ही रही थी कि महावीर ने कहा—"गौतम! चिरकाल से आत्मा के अस्तित्त्व के सम्बन्ध मे तुम शंकाशील हो?"

इन्द्रभूति अपने अन्तर्लीन प्रश्न को सुनकर चकित व प्रमुदित हुए। उन्होंने कहा—"हाँ मुझे इस विषय में शंका है, क्योंकि "**विज्ञानघनएवैतेभ्यो भूतेभ्य. समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति, न प्रेत्य संज्ञास्ति।**" प्रभृति श्रुति वाक्य भी प्रस्तुत कथन का समर्थन करते हैं। भूत समुदाय से ही चेतना की उत्पत्ति होती है और उसी में वह पुनः तिरोहित (लीन) हो जाती है। अत· परलोक का अभाव है। भूत समुदाय से ही जब विज्ञानमय चैतन्य का प्रादुर्भाव होता है तो भूतसमुदाय के अतिरिक्त पुरुष का अस्तित्व कैसे संभव है?

महावीर–इन्द्रभूति ! तुम्हें यह भी तो ज्ञात है न कि वेद से पुरुष के अस्तित्व की भी सिद्धि होती है ?

इन्द्रभूति–"हाँ, "**स वै अयमात्मा ज्ञानमयः**" प्रभृति श्रुतिवाक्य आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं। इन परस्पर विरोधी विधानों के कारण ही तो यह शंका उत्पन्न होती है कि किस वाक्य को प्रामाणिक माना जाय।"

महावीर–इन्द्रभूति ! जैसा तुम "विज्ञानघन" श्रुतिवाक्य का अर्थ समझ रहे हो वस्तुतः वैसा अर्थ नहीं है। तुम विज्ञानघन का अर्थ भूत समुदायोत्पन्न 'चेतनापिण्ड' करते हो, किन्तु 'विज्ञानघन' का सही अर्थ विविध ज्ञान-पर्यायों से हैं। आत्मा में प्रतिपल प्रतिक्षण-नित्य-नवीन ज्ञान पर्यायों का आविर्भाव होता है और पूर्वकालीन ज्ञानपर्यायों का विनाश होता है। जब एक पुरुष घट को देख रहा है, उसका चिन्तन और मनन कर रहा है उस समय आत्मा में घटविषयक ज्ञानोपयोग समुत्पन्न होता है। उसे हम घटविषयक ज्ञानपर्याय कहते हैं। जब वही पुरुष घट के बाद पट आदि अन्य पदार्थों को निहारता है तब उसे पट आदि का ज्ञान होता है और पूर्वकालीन घट ज्ञान पर्याय विनष्ट हो जाता है। विविध पदार्थ विषयक ज्ञान के पर्याय ही विज्ञानघन (विविध पर्यायों का पिण्ड) है, जिसकी उत्पत्ति भूतों के निमित्त से होती है। यहाँ भूत शब्द का अर्थ पृथिव्यादि पञ्च भूत नहीं, अपितु प्रमेय है–जड़ और चेतन आदि समस्त ज्ञेय पदार्थ हैं।"

सभी ज्ञेय पदार्थ आत्मा में अपने स्व-स्वरूप से प्रतिभाषित होते हैं। जैसे घट-घट रूप में और पट-पट रूप में। ये विभिन्न प्रतिभास ही ज्ञानपर्याय है। भिन्न-भिन्न ज्ञेयों के निमित्त से विज्ञानघन (ज्ञानपर्याय) उत्पन्न होते हैं और उस काल में वे पर्याय नष्ट हो जाते हैं।

'**न प्रेत्यसंज्ञास्ति**' वाक्य का अर्थ 'परलोक नहीं' ऐसा नही, अपितु पूर्व-पर्याय की सत्ता नहीं, ऐसा है। जब पुरुष में उत्तर कालिक ज्ञान पर्याय समुत्पन्न होता है तब पूर्वकालीन ज्ञानपर्याय विनष्ट हो जाता है, क्योंकि किसी भी द्रव्य या गुण की उत्तरपर्याय के समय पूर्वपर्याय की सत्ता नहीं रह सकती। अतः 'न प्रेत्य संज्ञास्ति' कहा है।

भगवान् महावीर के तर्क प्रधान वेदवाक्यों के अर्थ—समन्वय को सुनकर गौतम के हृदय की गांठ खुल गई। मिथ्या ज्ञान का नशा उतर गया। मानसिक संदेह का निराकरण हो गया। वे श्रद्धा गद्‌गद् हो गये। प्रभु के चरणों में झुक गये। परम सत्य का दर्शन पाकर कृतार्थ हो गये। पाँच सौ शिष्यों के साथ भगवान् महावीर के शिष्य बन गये।

——● अग्निभूति

इन्द्रभूति की प्रवज्या के समाचार सुनकर अग्निभूति अपने शिष्यों सहित शास्त्रार्थ के लिए आए। अग्निभूति के मन पर **"पुरुष एवेदं सर्वं यद्‌भूतं यच्च भाव्यं उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति यदेजति यन्नैजति यद्दूरे यदु अन्तिके यदन्तरस्य सर्वस्य यदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।**[325] प्रभृति श्रुतिवाक्यों की छाप थी। वे पुरुषाऽद्वैतवादी थे। किन्तु "**पुण्यः पुण्येन, पापः पापेनः कर्मणा**" आदि विरोधी वचनों से पुरुषाऽद्वैतवाद में शंकाशील थे।

भगवान् महावीर ने वैदिक वाक्यों के समन्वय से द्वैत की सिद्धि कर उनके संशयों का उच्छेद किया, वे भी प्रतिबोध पाकर छात्र मंडली सहित प्रव्रजित हुए।

——● वायुभूति

अग्निभूति के प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् वायुभूति शास्त्रार्थ के लिए चले। उनके दार्शनिक विचारों का झुकाव "तज्जीवतच्छरीवादी" नास्तिकमत की ओर था। '**विज्ञानघन एवैतेभ्यो:** 'प्रभृति श्रुतिवाक्यों को वे अपने मत का समर्थक मानते थे। किन्तु दूसरी ओर "**सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष ब्रह्मचर्येण नित्यं ज्योतिर्मयो हि शुद्धो यं पश्यन्ति धीरा यतयः संशतात्मानः**"[326] प्रभृति उपनिषद् वाक्यों से देहातिरिक्त आत्मा की सिद्धि होती थी। यह द्विविध वेदवाणी वायुभूति की शंका का कारण थी। भगवान् महावीर ने शरीरातिरिक्त आत्मतत्त्व का विश्लेषण कर शंकाओं का समाधान किया। पाँच सौ शिष्यों के साथ उन्होंने भी प्रव्रज्या ग्रहण की।

——● **आर्य व्यक्त**

उसके पश्चात् आर्य व्यक्त आये। **'स्वप्नोपमं वै सकलमित्येष ब्रह्मविधिरञ्जसा विज्ञेयः'** इत्यादि श्रुतिवाक्यों से वे ब्रह्मवाद की ओर झुके हुए थे। किन्तु **'द्यावापृथिवी'** तथा **'पृथिवीदेवता, आपो देवता'** इत्यादि वचनों से दृश्य जगत् को भी मिथ्या नहीं मान सकते थे। इस द्विविध वेदवाणी से वे भी शंकाशील थे। भगवान् महावीर ने उनकी प्रच्छन्न शंका का वेदपदों के समन्वय पूर्वक द्वैत की सिद्धि कर समाधान किया। समाधान होते ही वे भी छात्रगण सहित प्रव्रजित हुए।

——● **सुधर्मा**

उसके पश्चात् सुधर्मा आये। **'पुरुषो वै पुरुषत्वमश्नुते पशवः पशुत्वम्'**[327] आदि श्रुति वचनों से सुधर्मा की विचारधारा जन्मान्तरसादृश्यवाद की ओर थी, किन्तु **"शृगालो वै एष जायते यः सपुरीषो दह्यते"** आदि वाक्यों से वे जन्मान्तर के वैसादृश्य का खण्डन नही कर सकते थे। इन विविध वेद वचनों से वे शंका-ग्रस्त थे। भगवान् महावीर ने प्रस्तुत वेदवाक्यों का सुन्दर समन्वय कर सुधर्मा की शंकाओं का निराकरण किया। समाधान होते ही वे भी प्रव्रजित हुए।

——● **मण्डित**

उसके पश्चात् मण्डित शास्त्रार्थ के लिए आये। वे सांख्यदर्शन के समर्थक थे। **"स एष विगुणो विभुर्न बध्यते संसरति वा न मुच्यते मोचयति वा न वा एष बाह्यमभ्यंतरं वा वेद"** आदि श्रुतिवाक्य उनके मन्तव्य की पुष्टि के लिए थे। परन्तु इसके विपरीत **'न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीरं वा वसन्तं प्रियाऽप्रिये न स्पृशतः'**[328] इस श्रुतिवाक्य से वे बन्ध और मोक्ष के अस्तित्व के सम्बन्ध में भी विचार करने लगते थे। किसी निश्चय पर नहीं पहुँच पा रहे थे। भगवान् ने वेद वाक्यों का समन्वय कर आत्मा का संसारित्व सिद्ध किया। समाधान होने पर साढ़े तीन सौ छात्रों के साथ प्रव्रज्या ली।

——● **मौर्यपुत्र**

उसके पश्चात् मौर्यपुत्र आये। **"को जानाति मायोपमान् गीर्वाणानिन्द्र-**

यमवरुणकुबेरादीन्" इत्यादि श्रुति वाक्यों से देवताओं व स्वर्गलोक के अस्तित्व के सम्बन्ध में शङ्का थी और इधर "**स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गलोकं गच्छति**" व '**अपाम सोममममृता अभूम अगमन्। ज्योतिः अविदाम देवान्, किं नूनमस्मांस्तृणवदरातिः, किमु धूर्तिरमृतमर्त्यस्य**'[३२९] इन वेद वाक्यों से स्वर्ग और देवताओं का अस्तित्व सिद्ध होता था। भगवान् महावीर ने देवों का अस्तित्व सिद्ध कर मौर्यपुत्र के संशय का समाधान किया। समाधान होते ही तीन सौ पचास छात्रों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की।

——● **अकम्पित**

उसके पश्चात् अकम्पित आये। उन्हें "**न ह वै प्रेत्य नरके नारका सन्ति**" इस श्रुति वाक्य से नरक और नारकजीवों के अस्तित्व के सम्बन्ध मे शका हुई। पर "**नारको वै एष जायते यः शूद्रान्नमश्नाति**, इस वाक्य से नारको का अस्तित्व भी सिद्ध होता था। इन द्विविध वेद वचनों से वह शंकाग्रस्त थे। भगवान् महावीर ने वेद वाक्यों का समन्वय कर उनकी शंका का समाधान किया। तीन सौ छात्रों के साथ उन्होने प्रव्रज्या ग्रहण की।

——● **अचलभ्राता**

उसके पश्चात् अचलभ्राता आये, उन्हे "**पुरुष एवेदं ग्नि सर्व यद्भूतं यच्च भाव्यं उतामृतत्वस्येशानो**' आदि श्रुतिवाक्यों से केवल पुरुष का अस्तित्व ही सिद्ध होता है, पुण्य पाप का अस्तित्व नहीं। किन्तु दूसरी तरफ '**पुण्यः पुण्येन, पापः पापेन कर्मणा**'[३३०] आदि वचन पुण्य पाप के अस्तित्व को भी सिद्ध करते है। इस सम्बन्ध में शंका थी। भगवान् ने पुण्य पाप का अस्तित्व सिद्धकर शंका का समाधान किया। तीन सौ छात्रों के साथ उन्होंने भी प्रव्रज्या ग्रहण की।

——● **मेतार्य**

उसके पश्चात् शास्त्रार्थ के लिए मेतार्य आए। उन्हें '**विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य**' आदि वेदवाणी से पुनर्जन्म के सम्बन्ध में शका थी। पर साथ ही '**नित्यं ज्योतिर्मयः**' आदि से आत्मा की ससिद्धि और '**शृगालो वै एष जायते**'

आदि से पुनर्जन्म ध्वनित होने से वे दृढ़ निश्चय नहीं कर पा रहे थे। भगवान् ने वेद वाक्यों का सही अर्थ समझाते हुए पुनर्जन्म की सत्ता प्रमाणित की। समाधान होते ही तीन सौ छात्रों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की।

——● **प्रभास**

उसके पश्चात् प्रभास आए। उन्हें आत्मा की मुक्ति के सम्बन्ध में संशय था। और उसे बल मिला था **'जरामयं वा एतत्सर्वं यदग्निहोत्रम्'**[331] इस वाक्य से। किन्तु **'द्वे ब्राह्मणी वेदितव्ये परमपरं च, तत्र परं सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म''**[332] इस वाक्य से आत्मा की बद्ध और मुक्त दोनों अवस्थाओं का प्रतिपादन होता था। जिससे आत्म-निर्वाण के सम्बन्ध में प्रभास शंकाशील थे। भगवान् महावीर ने उन वेद वाक्यों का सही अर्थ समझाया। समाधान होते ही वे भी अपने तीन सौ छात्रों के साथ प्रव्रजित हो गए।

——● **तीर्थ स्थापना**

इस प्रकार मध्यमपावापुरी के एक ही प्रवचन में ४४११ वेदविज्ञ ब्राह्मणो ने भगवान् महावीर के पास श्रमण धर्म को स्वीकार किया।

इन्द्रभूति आदि ग्यारह विद्वान् भगवान् के प्रमुख शिष्य बने और वे गण धर के महत्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित हुए।[333]

आर्या चन्दनबाला, जिसका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है, उस समय कौशाम्बी में थी। देवगणों को गगन मार्ग से जाते हुए देखकर वह समझ गई कि भगवान् महावीर को केवलज्ञान प्राप्त हो गया है। उसके हृदय में दीक्षा ग्रहण करने की अत्युत्कट भावना उद्‌बुद्ध हुई। देवगण उसके दीक्षा लेने के दृढ़ सकल्प को देखकर वहाँ से भगवान् के समवसरण में लाये। भगवान् को वंदन कर दीक्षा की भावना अभिव्यक्त की। भगवान् ने दीक्षा देकर उसे साध्वी-समुदाय की प्रमुखा बनाई।[334]

सहस्रों नर-नारियों ने भगवान् के त्याग-वैराग्य से छलछलाते हुए प्रवचन को सुनकर संयम धर्म स्वीकार किया, और जो उस कंटकाकीर्ण पथ पर

बढ़ने में असमर्थ थे उन्होंने श्रमणोपासक और श्रमणोपासिका के व्रत ग्रहण किये। ये सभी संघ में सम्मिलित हुए।

इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर ने वैशाख शुक्ला एकादशी के दिन मध्यम पावापुरी के महासेन नामक उद्यान में श्रमण-श्रमणी श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ—तीर्थ की संस्थापना की। तीर्थ की स्थापना करने से तीर्थ-कर नाम की भाव रूप से सार्थकता हुई।[335]

भगवान् ने '**उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा**' की त्रिपदी के माध्यम से द्वादशाङ्गी के गहन ज्ञान की कुञ्जी इन्द्रभूति प्रभृति गणधरों को सौंपी। गणधरों ने उस त्रिपदी के आधार पर द्वादशाङ्गी की रचना की। सात गण-धरों की वाचना पृथक्-पृथक् थी, अकम्पित और अचलभ्राता की एक तथा मेतार्य एवं प्रभास गणधर की एक थी। इसलिए गणधर ग्यारह होते भी गण नौ कहलाए।[336]

भगवान् ने वहाँ से फिर राजगृह आदि की ओर विहार किया।

—— ● पार्श्वनाथ परम्परा का मिलन

भगवान् के प्रभावशाली प्रवचनों से प्रभावित होकर भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रमणोपासक एव श्रमण भी भगवान् महावीर की ओर आकर्षित हुए। उत्तराध्ययन सूत्र मे पार्श्वापत्य केशीकुमार और गणधर गौतम का बोध-प्रद संवाद है। राजगृह में केशीकुमार श्रमण एवं गणधर गौतम का ऐति-हासिक संवाद और फिर उनका पारस्परिक समाधान एवं मिलन वस्तुतः निर्ग्रन्थ परम्परा में एक नया मोड़ था। केशीकुमार पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म के स्थान पर पंचमहाव्रत रूप धर्म को स्वीकार करते हैं।[337]

वाणिज्यग्राम में भगवान् पार्श्वनाथ के अनुयायी गांगेय अनगार और भगवान् महावीर के बीच महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर हुए। भगवान् महावीर को सर्वज्ञ सर्वदर्शी समझ संघ में सम्मिलित हुए।[338] निर्ग्रन्थ उदक पेढालपुत्र का गौतम के साथ संवाद हुआ और वह भी महावीर के संघ में सम्मिलित हुए।[339]

स्थविरों ने कालस्यवेषि को महावीर के दर्शन का परिचय दिया, परिचय प्राप्त कर वे भी महावीर के शासन में आए।[340]

भगवान् महावीर की परिषद् में अन्यतीर्थिक संन्यासी भी उपस्थित होते थे। आर्य स्कंदक[341], अम्बड[A], पुद्गल[B] और शिव[C] आदि परिव्राजकों ने भगवान् से अनेक प्रश्न किये और समाधान पाकर भगवान के शिष्य बने।

भगवान् महावीर गहन से गहन प्रश्नों को भी अनेकान्त दृष्टि से शीघ्र ही सुलझा देते थे। सोमिल ब्राह्मण[D], तुंगियानगरी के श्रमणोपासक[E] राजकुमारी जयन्ती[F], माकन्दी[G] रोह[H] पिङ्गल आदि के प्रश्नों के उत्तर इस बात के स्पष्ट प्रतीक हैं।

भगवान् के उपदेश से आठ राजाओं ने राज्यश्री को छोड़कर संयम ग्रहण किया था। (१) वीरांगक, (२) वीरयश, (३) संजय,[342] (४) एणेयक (५) सेय[A], (६) शिव[B], (७) उदयन, (८) शंख[C] काशीवर्धन[343]।

मगधाधीश सम्राट् श्रेणिक के अभयकुमार आदि अनेक पुत्रों ने भगवान् के पास संयम लिया[344]। श्रेणिक की सुकाली, महाकाली, कृष्णा आदि दस रानियों ने भी प्रव्रज्या ली।[345]

धन्ना[346] और शालिभद्र[347] जैसे धनकुबेरों ने भी संयम मार्ग स्वीकार किया। आर्द्रकुमार[348] जैसे आर्येतर जाति के युवकों ने और हरिकेशी[349] जैसे चाण्डाल जातीय मुमुक्षुओं ने और अर्जुनमालाकार[350] जैसे हत्यारों ने भी अपनी वृत्तियों में उत्क्रान्ति करके भगवान् के श्रमण संघ में स्थान पाया था।

वैशाली गणराज्य के प्रमुख महाराजा चेटक महावीर के मुख्य श्रावक थे।[351] उनके छहों जामाता[352] उदायन, दधिवाहन, शतानीक, चन्द्रप्रद्योत, नन्दिवर्धन तथा श्रेणिक और नौ मल्लवी और नौ लिच्छवी ये अठारह गणनरेश भी भगवान् के परम भक्त थे।[353] भगवान् ने स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण, शूद्र, क्षत्रिय, वैश्य, आर्य-अनार्य आदि सभी को बिना किसी भेद भाव के अपने धर्म-तीर्थ में स्थान दिया और अखिल विश्व के सभी मुमुक्षुओं के लिए धर्म-साधना का मंगल द्वार खोल दिया।

——● भगवान के वर्षावास

मूल :—

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे अट्ठियगामं नीसाए पढमं अंतरावासं वासावासं उवागए ! चंपं च पिट्ठिचंपं च निस्साए तओ अंतरावासे वासावासं उवागए। वेसालिं नगरिं वाणियगामं च निस्साए दुवालस अंतरावासे वासावासं उवागए। रायगिहं नगरं नालंदं च बाहरियं निस्साए चोद्दस अंतरावासे वासावासं उवागए। छ म्मिहिलाए दो भद्दियाए एगं आलंभियाए एगं सावत्थीए एगं पणीयभूमिए एगं पावाए मज्झिमाए हत्थिवालस्स रन्नो रज्जुगसहाए अपच्छिमं अंतरावासं वासावासं उवागए।१२२।

अर्थ—उस काल उस समय श्रमण भगवान् महावीर ने अस्थिक ग्राम की निश्राय (आश्रय लेकर) में वर्षावास किया। अर्थात् भगवान् का प्रथम वर्षावास अस्थिक ग्राम में हुआ। चम्पानगरी मे और पृष्ठचम्पा में भगवान् ने तीन चातुर्मास किये। वैशाली नगरी में और वाणिया ग्राम मे भगवान् बारह बार चातुर्मास्य करने के लिए आये थे। राजगृह मे और उसके बाहर नालंदापाड़ा में भगवान् चौदह बार चातुर्मास करने के लिए आये थे। मिथिला नगरी में भगवान् छह बार चातुर्मास करने के लिए आये थे। भद्दिया नगरी में दो बार श्रावस्ती मे एक बार, प्रणीत भूमि अर्थात् वज्रभूमि नामक अनार्य देश में एक बार भगवान् वर्षावास करने के लिए पधारे थे और अन्तिम चातुर्मास करने के लिए भगवान् मध्यम पावा[३५४] के राजा हस्तिपाल की रज्जुक सभा में पधारे।

——● चातुर्मास सूची

श्रमण भगवान महावीर ने ३० वर्ष की आयु में सर्वविरतिरूप श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण की। और ७२ वर्ष की आयु में भौतिक देह का त्यागकर

अनन्त अव्याबाध अक्षय सुखमय मोक्षगति प्राप्त की। इस ४२ वर्ष की अवधि में भगवान् ने जहां जहां पर अपने जितने-जितने चातुर्मास व्यतीत किये उनकी, सूची इस प्रकार है :—

१ अस्थिकग्राम (प्रथम) १
२ चम्पानगरी ३
३ वैशाली-वाणियाग्राम १२
४ राजगृह-नालंदापाडा १४
५ मिथिला नगरी ६
६ भद्दिया नगरी २
७ आलंभिका १
८ श्रावस्ती नगरी १
९ वज्रभूमि (अनार्य) १
१० पावापुरी (अन्तिम) १

इनमे बारह चातुर्मास छद्मस्थ काल में व्यतीत किये, एवं ३० चातुर्मास तीर्थंकर काल मे। तीर्थंकर काल का प्रथम चातुर्मास राजगृह मे व्यतीत किया जहां पर मेघकुमार की दीक्षा हुई।

——● परिनिर्वाण

मूल :—

तत्थ णं जे से पावाए मज्झिमाए हत्थिवालस्स रन्नो रज्जुगसभाए अपच्छिमं अंतरावासं वासावासं उवागए, तस्स णं अंतरावासस्स जे से वासाणं चउत्थे मासे सत्तमे पक्खे कत्तियबहुले तस्स णं कत्तियबहुलस्स पन्नरसीपक्खेणं जा सा चरिमा रयणिं तं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे कालगए विइक्कंते समुज्जाए छिन्नजाइजरामरणबंधणे सिद्धे बुद्धे मुत्ते अंतगडे परिनिव्वुडे सव्व-

दुक्खपहीणे चंदे नामं से दोच्चे संवच्छरे पीतिवद्धणे पक्खे सुव्वयग्गी नामं से दिवसे उवसमि त्ति पवुच्चइ देवाणंदा नामं सा रयणी निरइ त्ति पवुच्चइ अच्चे लवे मुहुत्ते पाणू थोवे सिद्धे नागे करणे सव्वट्ठसिद्धे मुहुत्ते साइणा नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं कालगए विइक्कंते जाव सव्वदुक्खप्पहीणे ।।१२३।।

अर्थ—भगवान् अन्तिम वर्षावास करने के लिए मध्यमपावा नगरी के राजा हस्तिपाल की रज्जुक सभा में रहे हुए थे, चातुर्मास का चतुर्थ मास और वर्षाऋतु का सातवां पक्ष चल रहा था अर्थात् कार्तिक कृष्णा अमावस्या आई। अन्तिम रात्रि का समय था। उस रात्रि को श्रमण भगवान महावीर काल-धर्म को प्राप्त हुए। संसार को त्यागकर चले गये। जन्म ग्रहण की परम्परा का उच्छेद कर चले गये। उनके जन्म, जरा और मरण के सभी बन्धन नष्ट हो गए। भगवान सिद्ध हुए, बुद्ध हुए, मुक्त हुए, सब दुःखों का अन्त कर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।

श्रमण भगवान महावीर जिस समय काल धर्म को प्राप्त हुए उस समय चन्द्र नामक द्वितीय संवत्सर चल रहा था, प्रीतिवर्धन नामक मास था। नन्दिवर्धन नामक पक्ष था। अग्गिवेश-(अग्निवेश्म) नामक दिन था जिसका द्वितीय नाम 'उवसम' भी कहा जाता है। देवानदा नामक रात्रि थी जिसका द्वितीय नाम "निरइ" कहा जाता है। उस रात्रि को अर्थ नामक लव था, मुहूर्त नामक प्राण था, सिद्ध नामक स्तोक था, नाग नामक करण था, सर्वार्थसिद्ध नामक मुहूर्त था, और बराबर स्वाति नक्षत्र का योग आया हुआ था, ऐसे समय में भगवान् काल धर्म को प्राप्त हुए, संसार छोड़कर चले गए। उनके सम्पूर्ण दुःख नष्ट हो गये।[३५५]

मूल :—

जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे कालगए जाव सव्वदुक्खप्पहीणे सा णं रयणी बहूहिं देवेहि य देवेहि य ओवय-

माणेहि य उप्पयमाणेहि य उज्जोविया यावि होत्था ॥१२४॥ जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे कालगए जाव सव्वदुक्खप्पहीणे सा णं रयणी बहूहिं देवेहिं य देवीहि य ओवयमाणेहि य उप्पयमाणेहि य उप्पिंजलगमाणभूया कहकहगभूया या वि होत्था ॥१२५॥

अर्थ—जिस रात्रि में श्रमण भगवान् महावीर कालधर्म को प्राप्त हुए, यावत् उनके सम्पूर्ण दुःख पूर्ण रूप से नष्ट हो गये, उस रात्रि में बहुत-से देव और देवियाँ नीचे आ रहीं थी और ऊपर जा रही थीं जिससे वह रात्रि खूब उद्योतमयी हो गयी थी ॥१२४॥ जिस रात्रि में श्रमण भगवान महावीर कालधर्म को प्राप्त हुए, यावत् उनके सम्पूर्ण दुःख पूर्णरूप से नष्ट हो गये, उस रात्रि में बहुत-से देव व देवियां आ-जा रही थीं, जिससे अत्यधिक कोलाहल और शब्द हो रहा था।

मूल :—

जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे कालगए जाव सव्वदुक्खप्पहीणे तं रयणिं च णं जेट्ठस्स गोयमस्स इंदभूइस्स अणगारस्स अंतेवासिस्स नायए पेज्जबंधणे वोच्छिन्ने अणंते अणुत्तरे जाव केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने ॥१२६॥

अर्थ—जिस रात्रि में श्रमण भगवान् महावीर कालधर्म को प्राप्त हुए, यावत् उनके सम्पूर्ण दुख नष्ट हो गये, उस रात्रि में उनके पट्टधर शिष्य गौतमगोत्र के इन्द्रभूति अनगार का भगवान् महावीर से जो प्रेम बन्धन था, वह विच्छिन्न हो गया, और इन्द्रभूति अनगार को अन्त रहित उत्तमोत्तम यावत् केवलज्ञान व केवलदर्शन उत्पन्न हुआ।

विवेचन—इन्द्रभूति गौतम भगवान महावीर के ग्यारह गणधरों में प्रमुख थे। वे प्रकाण्ड पण्डित, चौदह पूर्व के ज्ञाता, चतुर्ज्ञानी, सर्वाक्षर सन्निपाती, तैजोलब्धि के धारक और घोरतपस्वी थे।[३५६] आगम साहित्य का अधिकांश भाग

गौतम की ही जिज्ञासा का समाधान है। वे ही ज्ञान–गंगा के मूल उद्गम स्रोत कहे जा सकते हैं।

भगवान् महावीर के प्रति गौतम का अत्यधिक अनुराग था। एक बार वे अपने से लघु-श्रमणों को केवलज्ञान की उपलब्धि होते देखकर चिन्तित हो उठे कि 'अभी तक मुझे केवलज्ञान क्यों नही हुआ ?' इस पर भगवान् ने केवलज्ञान की अनुपलब्धि का कारण बताते हुए कहा—गौतम ! चिरकाल से तू मेरे स्नेह में बंधा हुआ है। चिरकाल से तू मेरी प्रशंसा करता रहा है, सेवा करता रहा है, मेरे साथ चिरकाल से परिचय रखता रहा है, मेरा अनुसरण करनेवाला रहा है। अनेक देव और मनुष्य भव में हम साथ-साथ रहे हैं और यहाँ से आयु पूर्ण करके भी दोनों एक ही स्थान पर पहुँचेंगे।'[३५७]

प्रभु का समाधान पाकर गौतम अत्यधिक आह्लादित हुए।

परिनिर्वाण के पूर्व भगवान ने गौतम को सन्निकटवर्ती ग्राम मे देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोध देने के लिए भेज दिया था। वे पुनः लौटकर महावीर के चरणों में पहुंचना चाहते थे, पर सन्ध्या हो जाने से वही रुक गये। रात्रि में भगवान के निर्वाण के समाचार को सुनकर गौतम भाव-विह्वल होकर विचारो के सागर में डुबकियाँ लगाने लगे—"हे प्रभो ! निर्वाण के दिन किस कारण से आपने मुझे दूर भेजा ! हे प्रभो ! इतने समय तक मैं आपकी सेवा करता रहा, अन्त समय मे मुझे दर्शन से क्यों वंचित रखा।"…. कुछ क्षण तक इस प्रकार भाव-प्रवाह में बहने के बाद विचारों का प्रवाह बदल गया। 'अरे, मै यह क्या सोच रहा हूं।' भगवान वीतराग थे। वे राग और द्वेष से मुक्त थे। मैं उन पर मोह रख रहा था, पर वे मोहमुक्त थे।" इस प्रकार विचार आते ही वे शुक्लध्यान ध्याते हुए घातिकर्मों को नष्ट करने लगे। अनुराग की कड़ी को तोड़ डाली और उसी रात के अन्त में केवलज्ञान केवलदर्शन के धारक बन गए।

कार्तिक अमावस्या की मध्यरात्रि मे भगवान महावीर का परिनिर्वाण हुआ और अन्तिम रात्रि में गौतमस्वामी ने भी चार कर्मों का क्षय करके केवल ज्ञान केवलदर्शन प्राप्त कर लिया। इसी कारण कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा 'गौतम

प्रतिपदा' के नाम से विश्रुत है । इसी दिन अरुणोदय के प्रारम्भ से ही अभिनव वर्ष का आरम्भ होता है ।[३५८]

उसके पश्चात् बारह वर्षों तक केवलज्ञानी गौतम भव्य प्राणियों को प्रतिबोध देते हुए विचरते हैं। गौतम को केवलज्ञान होने पर समग्र संघ के संचालन का नायकत्व आर्य सुधर्मा पर आया । ग्यारह गणधरों में से अग्निभूति आदि नव गणधर तो भगवान् के सामने ही निर्वाण को प्राप्त हो चुके थे, अतः सुधर्मा ने ही गण का नेतृत्त्व किया । गौतम के मोक्ष पधारने पर आर्य सुधर्मा को केवलज्ञान हुआ, और आठ वर्ष तक केवली अवस्था में रहे । सुधर्मा को केवल ज्ञान होने पर आर्य जम्बूस्वामी ने संघ का संचालन किया ।[३५९]

मूल :—

जं रयणिं च णं समणे जाव सव्वदुक्खप्पहीणे तं रयणिं च णं नव मल्लई नव लिच्छई कासीकोसलगा अट्ठारस वि गणरायाणो अमावसाए पाराभोयं पोसहोववासं पट्ठवइंसु, गते से भावुज्जोए दव्वुज्जोवं करिस्सामो ॥१२७॥

अर्थ–जिस रात्रि मे श्रमण भगवान् महावीर कालधर्म को प्राप्त हुए, यावत् उनके सम्पूर्ण दु.ख नष्ट हो गए, उस रात्रि मे काशी देश के, मल्लवी वंशीय नौ गणराजा और कौशल देश के, लिच्छवी वंशीय दूसरे नौ गणराजा-इस प्रकार अठारह गण राजा अमावस्या के दिन, आठ प्रहर का पौषधोपावास करके वहाँ रहे हुए थे, उन्होने यह विचार किया कि भावोद्योत अर्थात् ज्ञानरूपी प्रकाश चला गया है अतः अब हम द्रव्योद्योत करेगे ।

विवेचन—कार्तिक कृष्णा अमावस्या की रात्रि में भगवान् महावीर मोक्ष पधारे । वह रात्रि देवो के आवागमन से प्रकाशमय होगई । अठारह गणराजाओं ने उस समय पौषधोपवास किया हुआ था, उन्होंने देखा ज्ञानरूपी वह दिव्य प्रकाश चला गया है, समस्त संसार अंधकाराच्छन्न हो गया है । इसलिए देवों ने द्रव्योद्योत किया है । अब हम भगवान् महावीर के ज्ञान के प्रतीक के रूप में

प्रतिवर्ष इस दिन दीप जलाकर प्रकाश करेंगे।' उस दिन दीप जलाकर प्रकाश करने से दीपावली पर्व प्रारम्भ हुआ।[३६०]

भगवान् के निर्वाण का दुःखद वृत्तान्त सुनकर भगवान् के ज्येष्ठ भ्राता महाराज नन्दिवर्धन शोक-विह्वल हो गए। उनके नेत्रों से आंसुओं की वेगवती धारा प्रवाहित होने लगी। मन खिन्न हो गया। बहिन सुदर्शना ने उनको अपने यहां पर बुलवाया और सान्त्वना दी। तभी से भैयादूज के रूप में यह पर्व स्मरण किया जाता है।[३६१]

——● **भस्मग्रह : शक्र की प्रार्थना**

मूल :—

जं रयणिं च णं समणे जाव सव्वदुक्खप्पहीणे तं रयणिं च च णं खुद्दाए भासरासी महग्गहे दोवाससहस्सट्ठिई समणस्स भगवओ महावीरस्स जम्मनक्खत्तं संकंते ॥१२८॥

अर्थ—जिस रात्रि में श्रमण भगवान् महावीर कालधर्म को प्राप्त हुए, यावत् उनके सम्पूर्ण दुःख नष्ट हो गये, उस रात्रि मे भगवान् महावीर के जन्म नक्षत्र पर क्षुद्र क्रूर स्वभाव का दो हजार वर्ष तक रहने वाला भस्मराशि नामक महाग्रह आया था।

मूल :—

जप्पभिइं च णं से खुड्डाए भासरासी महग्गहे दो वाससहस्सट्ठिई समणस्स भगवओ महावीरस्स जम्मनक्खत्तं संकंते तप्पभिइं च णं समणाणं निग्गंथाणं निग्गंथीण य नो उदिए उदिए पूयासक्कारे पवत्तति ॥१२९॥

अर्थ—जब से क्षुद्र क्रूर स्वभाव वाला, दो हजार वर्षतक रहने वाला भस्म राशि नामक महाग्रह भगवान महावीर के जन्म नक्षत्र पर आया तब से

श्रमण निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थनियों के सत्कार और सम्मान में उत्तरोत्तर वृद्धि नहीं होती है।

विवेचन—कहा जाता है कि श्रमण भगवान् महावीर के परिनिर्वाण का समय सन्निकट जानकर शक्रेन्द्र आए और हाथ जोड़कर निवेदन किया—'हे नाथ! आपके गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान के समय में हस्तोत्तरा नक्षत्र था और इस समय उसमें भस्मक-ग्रह संक्रान्त होने वाला है। आप श्री के जन्म-नक्षत्र में संक्रान्त वह ग्रह दो हजार वर्ष तक आपके श्रमण-श्रमणियों की अभिवृद्धि को कम करता रहेगा। अतः कृपा कर भस्मक-ग्रह जब तक आपके जन्म-नक्षत्र से संक्रमण करे, तब तक आपश्री प्रतीक्षा करें, क्योंकि वह आपकी विद्यमानता में संक्रमण कर जायेगा तो आपके प्रबल प्रभाव से स्वतः निष्फल हो जायेगा, अतः एक क्षण तक अपनी जीवन घड़ी को दीर्घ कर रखें जिससे इस दुष्ट ग्रह का उपशम हो जाए।[३६२]

इन्द्र की अभ्यर्थना पर भगवान् ने कहा—हे इन्द्र! तुम यह जानते हो कि आयु को एक क्षण भर भी न्यूनाधिक करने की शक्ति किसी में नहीं है। फिर भी तुम शासन प्रेम मे मुग्ध होकर इस प्रकार अनहोनी बात कह रहे हो? आगामी दुषमा काल के प्रभाव से तीर्थ को हानि पहुँचने वाली है। उसमें भावी के अनुसार यह भस्मक-ग्रह भी अपना फल दिखायेगा।[३६३]

मूल :—

जया णं से खुड्डाए जाव जम्मनक्खत्ताओ वीतिक्कंते भविस्सइ तया णं समणाणं निग्गंथाणं निग्गंथीण य उदिए उदिए पूयासक्कारे पवत्तिस्सति ॥१३०॥

अर्थ—जब वह क्षुद्र क्रूर स्वभाव वाला भस्म-राशि ग्रह भगवान् के जन्म नक्षत्र से हट जायेगा तब श्रमण निर्ग्रन्थ व निर्ग्रन्थनियों का सत्कार सम्मान दिन प्रतिदिन अभिवृद्धि को प्राप्त होगा।

मूल :—

जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे कालगए जाव सव्वदुक्खप्पहीणे तं रयणिं च णं कुंथू अणुद्धरी नामं समुप्पन्ना, जा ठिया अचलमाणा छउमत्थाणं निग्गंथाणं निग्गंथीण य नो चक्खुफास हव्वमागच्छइ, जा अठिया चलमाणा छउमत्थाणं निग्गंथाणं निग्गंथीण य चक्खुफासं हव्वमागच्छइ, जं पासित्ता बहूहिं निग्गंथेहिं निग्गंथीहि य भत्ताइं पच्चक्खायाइं ॥१३१॥

अर्थ–जिस रात्रि को श्रमण भगवान् महावीर कालधर्म को प्राप्त हुए, यावत् उनके सम्पूर्ण दुःख नष्ट हो गये, उस रात्रि को बचाई न जा सके ऐसी कुन्थवा[३६४] नामक सूक्ष्म जीवराशि उत्पन्न हो गई। यदि वे जीव स्थिर हों, हलन-चलन न करते हों तो छद्मस्थ निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थनियों को दृष्टि गोचर नही होते थे। जब वे जीव चलते-फिरते तब छद्मस्थ निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थनियों को दिखलाई देते थे। इस प्रकार जीवों की उत्पत्ति को देखकर बहुत से निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थनियो ने अनशन स्वीकार कर लिया था।

मूल :—

से किमाहु भंते! अज्जप्पभिइं दुराराहए संजमे भविस्सइ।१३२।

अर्थ–प्रश्न–हे भगवन्! यह किस प्रकार हुआ? अर्थात् जीवों को निहार कर जो निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थनियों ने अनशन किया, वह अनशन क्या सूचित करता है?

उत्तर—आज से सयम का पालन करना अत्यन्त कठिन होगा, वह अनशन यह सूचित करता है।

—— ● **भगवान की शिष्य-संपदा**

मूल :—

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स

इंदभूइपामोक्खाओ चोद्दस समणसाहस्सीओ उक्कोसिया समण संपया होत्था ॥१३३॥ समणस्स भगवओ महावीरस्स अज्जचंदणापामोक्खाओ छत्तीसं अज्जियासाहस्सीओ उक्कोसिया अज्जियासंपया होत्था ॥१३४॥ समणस्स भगवओ महावीरस्स संखसयगपामोक्खाणं समणोवासगाणं एगा सयसाहस्सी अउणट्ठिं च सहस्सा उक्कोसिया समणोवासयाणं संपया होत्था ॥१३५॥ समणस्स भगवओ महावीरस्स सुलसारेवईपामोक्खाणं समणोवासियाणं तिण्णिसयसाहस्सीओ अट्ठारस य सहस्सा उक्कोसिया समणोवासियाणं संपया होत्था ॥१३६॥ समणस्स णं भगवओ महावीरस्स तिन्नि सया चोद्दसपुव्वीणं अजिणाणं जिणसंकासाणं सव्वक्खरसन्निवाईणं जिणो विव अवितहं वागरमाणाणं उक्कोसिया चोद्दसपुव्वीणं संपया होत्था ॥१३७॥ समणस्स णं भगवओ महावीरस्स तेरस सया ओहिनाणीणं अतिसेसपत्ताणं उक्कोसिया ओहिनाणीणं संपया होत्था ॥१३८॥ समणस्स णं भगवओ महावीरस्स सत्त सया केवलनाणीणं संभिन्नवरनाणदंसणधराणं उक्कोसिया केवलनाणिसंपया होत्था ॥१३९॥ समणस्स णं भगवओ महावीरस्स सत्त सया वेउव्वीणं अदेवाणं देविड्ढिपत्ताणं उक्कोसिया वेउव्विसंपया होत्था ॥१४०॥ समणस्स णं भगवओ महावीरस्स पंचसया विउलमईणं अड्ढाइज्जेसु दीवेसु दोसु य समुद्देसु सण्णीणं पंचिंदियाणं पज्जत्तगाणं जीवाणं मणोगए भावे जाणमाणाणं उक्कोसिया विउलमईसंपया होत्था ॥१४१॥ समणस्स णं भगवओ महावीरस्स चत्तारि सया वाईणं सदेवमणुयासुराए परिसाए वाए अपराजियाणं उक्कोसिया वाइसंपया होत्था ॥१४२॥ समणस्स णं भगवओ महावीरस्स सत्त

अंतेवासिसयाइं सिद्धाइं जाव सव्वदुक्खप्पहीणाइं, चउद्दस अज्जि-यासयाइं सिद्धाइं ॥१४३॥ समणस्स णं भगवओ महावीरस्स अट्ठ सया अणुत्तरोववाइयाणं गइकल्लाणाणं ठिइकल्लाणाणं आगमेसिभद्दाणं उक्कोसिया अणुत्तरोववाइयाणं संपया होत्था।१४४॥

अर्थ--उस काल उस समय श्रमण भगवान् महावीर के इन्द्रभूति आदि चौदह हजार श्रमणों की उत्कृष्ट श्रमण सम्पदा थी ॥१३३॥ श्रमण भगवान् महा-वीर की आर्याचन्दना आदि छत्तीस हजार आर्यिकाओं की उत्कृष्ट श्रमणी सम्पदा थी ॥१३४॥ श्रमण भगवान् महावीर के शंख शतक आदि एक लाख उनसठ हजार श्रावकों की उत्कृष्ट श्रमणोपासक-सम्पदा थी ॥१३५॥ श्रमण भगवान् महावीर की सुलसा रेवती आदि तीन लाख अठारह हजार श्रमणोपासिकाओं की उत्कृष्ट श्राविका सम्पदा थी, ॥१३६॥ श्रमण भगवान् महावीर की जिन नही तथापि जिन के समान, सर्वाक्षर सन्निपाती, 'जिन के समान सत्य-तथ्य का स्पष्टीकरण करने वाले, तीन सौ चतुर्दश पूर्वधरों की उत्कृष्ट सम्पदा थी ॥१३७॥ श्रमण भगवान् महावीर के विशेष प्रकार की लब्धिवाले तेरहसौ अवधिज्ञानियों की उत्कृष्ट सम्पदा थी ॥१३८॥ श्रमण भगवान् महावीर की सम्पूर्ण उत्तम केवल-ज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त ऐसे सात सौ केवलज्ञानियों की उत्कृष्ट सम्पदा थी ॥१३९॥ श्रमण भगवान् महावीर की देव नही, किन्तु देवों की ऋद्धि को प्राप्त ऐसे सात सौ वैक्रियलब्धि वाले श्रमणों की उत्कृष्ट सम्पदा थी ॥१४०॥ श्रमण भगवान् महावीर की अढ़ाई द्वीप में, और दो समुद्रों में रहने वाले, मन वाले, पर्याप्त पंचेन्द्रिय प्राणियों के मन के भावों को जानने वाले, पाँच सौ विपुलमति मन·पर्यवज्ञानी श्रमणों की उत्कृष्ट सम्पदा थी ॥१४१॥ श्रमण भग-वान महावीर की देव, मानव और असुरों वाली सभाओं में वाद करते हुए, पराजित न होवें, ऐसे चारसौ वादियों की अर्थात् शास्त्रार्थ करने वालों की उत्कृष्ट सम्पदा थी ॥१४२॥ श्रमण भगवान् महावीर के सात सौ शिष्य सिद्ध हुए, यावत् उनके संपूर्ण दुःख नष्ट हो गये । निर्वाण को प्राप्त हुए और श्रमण भग-वान् महावीर की चौदह सौ शिष्याएँ सिद्ध हुई । निर्वाण को प्राप्त हुई ॥१४३॥

श्रमण भगवान् महावीर के भविष्य गति में कल्याण प्राप्त करने वाले, वर्तमान स्थिति में कल्याण अनुभव करने वाले, और भविष्य में भद्र प्राप्त करने वाले ऐसे आठ-आठ सौ अनुत्तरोपपातिक मुनियों की उत्कृष्ट सम्पदा थी। अर्थात् ऐसे आठ सौ श्रमण थे जो अनुत्तर विमानो में उत्पन्न होने वाले थे ।।१४४।।

मूल :—

समणस्स णं भगवओ महावीरस्स दुविहा अंतकडभूमी होत्था, तं जहा–जुगंतकडभूमी य परियायंतकडभूमी य। जाव तच्चाओ पुरिसजुगाओ जुगंतकडभूमी, चउवासपरियाए अंतमकासी ।।१४५।।

अर्थ—श्रमण भगवान् महावीर के समय में मोक्ष प्राप्त करने वाले साधकों की दो प्रकार की भूमिका थी,–युगान्तकृत् भूमिका और पर्यायान्तकृत् भूमिका। युगान्तकृत् भूमिका–अर्थात् जो साधक अनुक्रम से मुक्ति प्राप्त करें, जैसे प्रथम गुरु मुक्ति प्राप्त करे, उसके पश्चात् उसका शिष्य मुक्ति प्राप्त करें और उसके पश्चात् उसका प्रशिष्य मुक्ति प्राप्त करें। इस प्रकार जो अनुक्रम से मुक्ति प्राप्त की जाती है वह युगान्तकृत् भूमिका कहलाती है।

पर्यायान्तकृत् भूमिका–अर्थात् भगवान् को केवलज्ञान होने के पश्चात् जो साधक मुक्ति प्राप्त करे, उनकी वह मोक्ष सम्बन्धी पर्यायान्तकृत् भूमिका कहलाती है।[३६७]

भगवान् से तीसरे पुरुष तक युगान्तकृत् भूमिका थी। अर्थात् प्रथम भगवान् मोक्ष गए, उनके पश्चात् उनके शिष्य मोक्ष गये, और उनके पश्चात् उनके प्रशिष्य जम्बूस्वामी मोक्ष गए। यह युगान्तकृत् भूमिका जम्बूस्वामी तक चली, और उसके पश्चात् बंद हो गई। भगवान् को केवलज्ञान होने के चार वर्ष के बाद उनके शिष्यों का मुक्ति गमन प्रारम्भ हुआ और वह जम्बूस्वामी तक चलता रहा।

मूल :—

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे तीसं वासाइं अगारवासमज्झे वसित्ता, साइरेगाइं दुवालस वासाइं छउमत्थपरियागं पाउणित्ता, देसूणाइं तीसं वासाइं केवलिपरियागं पाउणित्ता, बायालीसं वासाइं सामन्नपरियायं पाउणित्ता, बावत्तरिं वासाइं सव्वाउयं पालइत्ता, खीणे वेयणिज्जाउयनामगोत्ते इमीसे ओसप्पिणीए दुसमसुसमाए समाए बहुवीइक्कंताए तिहिं वासेहिं अद्धनवमेहि य मासेहिं सेसएहिं पावाए मज्झिमाए हत्थिपालगस्स रन्नो रज्जुगसभाए एगे अबीए छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं साइणा नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं पच्चूसकालसमयंसि संपलियंकनिसन्ने पणपन्नं अज्झयणाइं कल्लाणफलविवागाइं पणपन्नं अज्झयणाइं पावफलविवागाइं छत्तीसं च अपुट्ठवागरणाइं वागरित्ता पधाणं नाम अज्झयणं विभावेमाणे विभावेमाणे कालगए वितिक्कंते समुज्जाए छिन्नजाइजरामरणबंधणे सिद्धे बुद्धे मुत्ते अंतकडे परिनिव्वुडे सव्वदुक्खप्पहीणे ॥१४६॥

अर्थ—उस काल उस समय श्रमण भगवान् महावीर तीस वर्ष तक गृहवास में रहकर, बारह वर्ष से भी अधिक समय तक छद्मस्थ श्रमण पर्याय में रहकर, उसके पश्चात् तीस वर्ष से कुछ कम समय तक केवलपर्याय को प्राप्त कर, कुल बयालीस वर्ष तक श्रमण पर्याय को पालन कर, बहत्तर वर्ष का आयु पूर्ण कर वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म क्षीण होने के पश्चात् इस अवसर्पिणी काल का दुषम-सुषम नामक चतुर्थ आरा बहुत कुछ व्यतीत होने पर तथा उस चतुर्थ आरे के तीन वर्ष और साढ़े आठ महीना शेष रहने पर मध्यम पावा नगरी में हस्तिपाल राजा की रज्जुक सभा में एकाकी, षष्ठम तप के साथ, स्वाति नक्षत्र का योग होते ही, प्रत्यूषकाल के समय (चार घटिका रात्रि अवशेष रहने

पर) पद्मासन से बैठे हुए भगवान् कल्याणफल-विपाक के पचपन अध्ययन, और पाप-फल विपाक के दूसरे पचपन अध्ययन, और अपृष्ठ अर्थात् किसी के द्वारा प्रश्न न किये जाने पर भी, उनके समाधान करने वाले छत्तीस अध्ययनों को कहते-कहते कालधर्म को प्राप्त हुए, संसार को त्यागकर चले गये, उर्ध्वगति को प्राप्त हुए। उनके जन्म, जरा, मरण के बंधन विच्छिन्न हो गये। वे सिद्ध हुए बुद्ध हुए, मुक्त हुए, सम्पूर्ण कर्मों का उन्होंने नाश किया, सभी प्रकार के संतापों से मुक्त हुए, उनके सम्पूर्ण दुःख नष्ट हो गये।

मूल :—

समणस्स णं भगवओ महावीरस्स जाव सव्वदुक्खप्पहीणस्स नव वाससयाइं विइक्कंताइं, दसमस्स य वाससयस्स अयं असीइमे संवच्छरकाले गच्छइ। वायणंतरे पुण—अयं तेणउए संवच्छरकाले गच्छइ इति दीसइ ॥१४७॥

अर्थ—जिनके सम्पूर्ण दुःख नष्ट हो गये है ऐसे सिद्ध बुद्ध यावत् श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाण होने को आज नौ सौ वर्ष व्यतीत हो गये है। उसके उपरांत यह हजारवे वर्ष का अस्सीवां वर्ष का समय चल रहा है अर्थात् भगवान् महावीर को निर्वाण प्राप्त हुए आज नौ सौ अस्सी (९८०) वर्ष व्यतीत हो गये। दूसरी वाचना मे कितने ही ऐसा भी कहते है—नौ सौ वर्ष उपरान्त हजारवे वर्ष के तेरानवे (९३) वर्ष का काल चल रहा है, ऐसा पाठ दृष्टिगोचर होता है, अर्थात् उनके मत से भगवान् महावीर को निर्वाण के नौ सौ तेरानवे (९९३) वर्ष हुए है।

भगवान महावीर की पूर्व परम्परा

——● पुरुषादानीय अर्हत् पार्श्वनाथ

मूल :—

तेणं कालेणं तेणं समएणं पासे अरहा पुरिसादाणीए पंचविसाहे होत्था, तं जहा—विसाहाहिं चुए चइत्ता गब्भं वक्कंते१ विसाहाहिं जाए२ विसाहाहिं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइए३ विसाहाहिं अणंते अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुन्ने केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने४ विसाहाहिं परिनिव्वुए५ ॥१४८॥

अर्थ—उस काल उस समय पुरुषादानीय[1] अर्हन्त पार्श्व पंच विशाखा-वाले थे। अर्थात् उनके पाँचों कल्याणकों में विशाखा नक्षत्र आया हुआ था। जैसे—(१) पार्श्व अरहन्त विशाखा नक्षत्र में च्युत हुए, च्युत होकर गर्भ में आये (२) विशाखा नक्षत्र में जन्म ग्रहण किया (३) विशाखा नक्षत्र में मुण्डित होकर घर से बाहर निकले अर्थात् उन्होंने अनगारत्त्व ग्रहण किया, (४) विशाखा नक्षत्र में उन्हें अनन्त, उत्तमोत्तम, व्याघातरहित, आवरणरहित, सम्पूर्ण, प्रतिपूर्ण केवलज्ञान केवलदर्शन उत्पन्न हुआ, (५) भगवान् पार्श्व विशाखा नक्षत्र में ही निर्वाण को प्राप्त हुए।

मूल :—

तेणं कालेणं तेणं समएणं पासे अरहा पुरिसादाणीए जे

से गिम्हाणं पढमे मासे पढमे पक्खे चित्तबहुले तस्स णं चित्तबहुलस्स चउत्थीपक्खेणं पाणयाओ कप्पाओ वीसं सागरोवमट्ठितीयाओ अणंतरं चयं चइत्ता इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे वाणारसीए नयरीए आससेणस्स रन्नो वम्माए देवीए पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि विसाहाहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं आहारवक्कंतीए भववक्कंतीए सरीरवक्कंतीए कुच्छिंसि गब्भत्ताए वक्कंते ॥१४६॥

अर्थ—उस काल उस समय पुरुषादानीय अर्हत पार्श्व, जब ग्रीष्म ऋतु का प्रथम मास, प्रथम पक्ष अर्थात् चैत्र मास का कृष्ण पक्ष था, उस चैत्र कृष्णा चतुर्थी के दिन बीस सागरोपम की आयु वाले प्राणत नामक कल्प से आयुष्य पूर्णकर दिव्य आहार, दिव्य जन्म और दिव्य शरीर छूटते ही शीघ्र च्यवन करके इसी जम्बूद्वीप के भारतवर्ष की वाराणसी नगरी में अश्वसेन राजा की रानी वामादेवी की कुक्षि में, जब रात्रि का पूर्वभाग समाप्त हो रहा था और पिछला भाग प्रारम्भ होने जा रहा था, उस सन्धिवेला में—मध्यरात्रि में विशाखा नक्षत्र का योग होते ही गर्भ रूप में उत्पन्न हुए।

विवेचन—कोई भी जीव यकायक तीर्थंकर नही बन जाता, किन्तु तीर्थंकर बनने के पूर्व उस जीव को लम्बे समय तक साधना करनी पड़ती है। जैसे भगवान् महावीर के जीव को सत्ताईस भव पूर्व सम्यक्त्व की उपलब्धि हुई थी वैसे ही भगवान् पार्श्वनाथ के जीव को दस भव पूर्व सम्यक्त्व प्राप्त हुआ था।

(१) **मरुभूति**—एक बार भगवान् पार्श्वनाथ का जीव जम्बूद्वीपस्थ भरतक्षेत्र के पोतनपुर में विश्वभूति पुरोहित का पुत्र मरुभूति बना। बड़े भ्राता का नाम कमठ था। पिता के स्वर्गस्थ हो जाने पर कमठ राजपुरोहित बना।

मरुभूति प्रकृति से सरल, विनीत और धर्मनिष्ठ था। कमठ क्रूर, अभिमानी और व्यभिचारी था। मरुभूति की पत्नी वसुन्धरा के रूप पर वह मुग्ध हो गया। उसकी अभ्यर्थना पर वसुन्धरा भी अपने धर्म से च्युत हो गई।

कमठ की पत्नी से उनका वह असद् व्यवहार छिप न सका। उसने पति को समझाया, पर वह नहीं माना, तब उसने मरुभूति से कहा। मरुभूति घर से निकल गया और कुछ दिनों के पश्चात् रूप परिवर्तन कर पुनः वहाँ आया। पत्नी और भ्राता के असद् व्यवहार को स्वयं के नेत्रों से निहारकर उसने राजा से निवेदन किया। राजा ने क्रुद्ध होकर कमठ को देश से निष्काषित कर दिया। कमठ तापस बनकर पोतनपुर के सन्निकट पर्वत पर उग्रतप करने लगा। तप का चमत्करी प्रभाव हुआ, जन-जन की जिह्वा पर कमठ का नाम चमकने लगा। मरुभूति ने भी उसकी प्रशसा सुनी। अपने कृत्य पर उसे पश्चात्ताप होने लगा। ज्येष्ठ भ्राता से क्षमायाचना करने के लिए वह वहां पहुँचा। चरणों में झुका, परन्तु क्रूर कमठ ने नमन करते हुए मरुभूति के शिर पर बड़ा-सा पत्थर दे मारा, भयंकर वेदना से विकल मरुभूति का वही पर अन्त हो गया।

(२) **यूथपतिगज**—आर्तध्यानवश आयुपूर्ण करने से मरुभूति का जीव विन्ध्याचल की अटवी में हाथियों के यूथ का स्वामी गजराज हुआ। कमठ की पत्नी वरुणा वहाँ से काल प्राप्त कर यूथपति गजराज की प्रिया हस्तिनी हुई।[२]

इधर राजा ने जब कमठ के द्वारा मरुभूति की हत्या के समाचार सुने तो राजा को भी संसार की स्वार्थपरायणता एव विषयान्धता से विरक्ति हुई। संयम ग्रहण किया। उत्कृष्ट साधना करते हुए वे एकदा उसी अटवी में ध्यान मुद्रा में खड़े थे कि मरुभूति का जीव, जो हाथी बना था, उधर आ निकला। मुनिको ध्यानमुद्रा में निहार कर उसे जातिस्मरण ज्ञान हुआ। पूर्व जन्म का स्मरण करके गजराज ने मुनि से श्रावक धर्म स्वीकार किया।

एक बार वन में भयंकर अग्नि प्रकोप हुआ। सारा वन जलने लगा, तब अपने प्राण बचाने के लिए हाथी ने सरोवर में प्रवेश किया। इधर कमठ का जीव जो कुर्कुट जाति का सर्प बना था, वह आकाश में उडता हुआ वहाँ आया और हाथी को देखकर उसका वैर उद्‌बुद्ध हो गया। क्रोधवश हाथी के सिर पर दंश मारा, जिसके जहर से गजराज का सारा शरीर विषग्रस्त हो गया

तथापि हाथी ने समभाव पूर्वक पीड़ा सहन की, समभाव में ही आयु पूर्ण किया।

(३) **आठवें देवलोक में**—आयु पूर्णकर मरुभूति का जीव आठवें सहस्रार देवलोक में उत्पन्न हुआ।

(४) **किरण वेग**—वहाँ से आयु पूर्ण होने पर मरुभूति का जीव जम्बूद्वीप के महाविदेह क्षेत्र में विद्युनगति विद्याधर राजा के वहाँ कनकवती रानी का पुत्र 'किरणवेग' हुआ। यौवनावस्था में अपनी पत्नियों के साथ आमोद-प्रमोद कर रहा था कि-संध्या की लालिमा देखकर वैराग्य जागृत हुआ। दीक्षा ग्रहण की, मुनि बने। एक बार पुष्करवरद्वीप के वैताढ्य गिरि के हिम शैल पर्वत पर ध्यानारूढ़ थे। उस समय कमठ के जीव ने जो कुर्कट सर्प का आयुपूर्ण होने पर पाँचवे नरक में गया था और वहाँ से निकल कर वह पुनः सर्प बना था, ध्याना रूढ मुनि को देखा तो पूर्व वैर-वश क्रुद्ध होकर मुनि को डंसा, मुनि ने समभाव से आयुपूर्ण किया।

(५) **अच्युत कल्प में**—वहाँ से मुनि बारहवें अच्युत कल्प नामक देवलोक में देव बने।

(६) **वज्रनाभ**—बारहवें देवलोक से च्यवकर जम्बूद्वीप के पश्चिम महा विदेह में शुभंकरा नगरी के अधिपति वज्रवीर्य राजा की रानी लक्ष्मीवती का पुत्र वज्रनाभ हुआ। राज्यश्री का उपभोग करते हुए, क्षेमंकर तीर्थंकर का उपदेश सुनकर प्रव्रज्या ग्रहण की। एक बार सुकच्छ विजय के मध्यवर्ती ज्वलंत पर्वत पर कायोत्सर्ग मुद्रा में अवस्थित थे। उधर कमठ का जीव, जो सर्प था वह वहाँ से मर कर पाँचवे नरक में गया था। नरक से निकलकर अनेक भवों में परिभ्रमण करता हुआ इस प्रदेश में कुरंगक नाम का भील बना। मुनि को देखकर पूर्व वैर उद्‌बुद्ध हुआ। वाण मारा, आहत होकर मुनि गिर पड़े तथा समभाव से आयु पूर्ण किया।

(७) **मध्यम ग्रैवेयक**—मुनि वहाँ से मध्यम ग्रैवेयक में देव बने। और कमठ का जीव भील, वहाँ से मरकर सातवें नरक में गया।

(८) **सुवर्णबाहु चक्रवर्ती**–मध्यम ग्रैवेयक से आयु पूर्णकर मरुभूति का जीव जम्बूद्वीप के पूर्व महाविदेह में शुभकर विजय के पुराणपुर में कुशलबाहु राजा की सुदर्शना रानी का पुत्र सुवर्णबाहु चक्रवर्ती बना। षट्खण्ड के राज्य का उपभोग करने के पश्चात् संयम ग्रहण किया, और उग्र तपः साधना की। तीर्थंकर नामगोत्रोपार्जन के योग्य बीस स्थानको का सेवन किया। एक बार निर्जन वन में कायोत्सर्ग करके खड़े थे। कमठ का जीव सातवें नरक से निकल कर इसी अरण्य में सिंह बना था। उसने ध्यानस्थ मुनि को देखा। पूर्व वैर उद्-बुद्ध हुआ। मुनि पर झपटा। मुनि ने उस पीड़ा को समभाव पूर्वकर सहन कर अत्यन्त शुद्ध परिणामों के साथ आयु पूर्ण किया।

(९) **दसवें देवलोक में**–मुनि, जो मरुभूति का जीव था, वहाँ से आयुपूर्ण कर दसवें देवलोक में बीस सागर की आयु वाला देव बना। कमठ का जीव, जो सिंह था, मरकर नरक में गया।

(१०) **पार्श्वनाथ**–मरुभूति का जीव दसवें देवलोक से च्यवकर वारा-णसी नगरी में अश्वसेन राजा की रानी वामादेवी की कुक्षि मे भगवान् पार्श्व-नाथ के रूप में अवतरित हुआ।

——— ● **जन्म**

मूल :—

पासे णं अरहा पुरिसादाणीए तिण्णाणोवगए यावि होत्था–चइस्सामि त्ति जाणइ, चयमाणे न जाणइ, चुए मि त्ति जाणइ, तेणं चेव अभिलावेणं सुविणदंसणविहाणेणं सव्वं जाव निययं गिहं अणुप्पविट्ठा जाव सुहं सुहेणं तं गब्भं परिवहइ ॥१५०॥

अर्थ–पुरुषादानीय अर्हन् पार्श्व तीन ज्ञान से युक्त थे। 'मैं यहाँ से च्युत होऊंगा' यह जानते थे ! च्युत होते हुए नही जानते थे, और 'च्युत हो गया हूं' यह जानते थे। यहां से लेकर भगवान महावीर के प्रकरण में स्वप्न से सम्बन्धित सारा वर्णन पूर्ववत् समझना चाहिए। यावत् माता अपने गृह में प्रवेश करती है और सुखपूर्वक गर्भ को धारण करती है।

मूल :—

तेणं कालेणं तेणं समएणं पासे अरहा पुरिसादाणीए जे से हेमंताणं दोच्चे मासे तच्चे पक्खे पोसबहुले तस्स णं पोसबहुलस्स दसमीपक्खेणं नवण्हं मासाणं बहुपडिपुन्नाणं अद्धट्ठमाण य राइं-दियाणं विइक्कंताणं पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि विसाहाहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं अरोगा अरोगं पयाया, जम्मणं सव्वं पासाभिला-वेण भाणियव्वं जाव तं होउ णं कुमारे पासे नामेणं ॥१५१॥

अर्थ—उस काल उस समय हेमन्त ऋतु का द्वितीय मास, तृतीय पक्ष, अर्थात् पौष मास के कृष्ण पक्ष की दशमी के दिन, नौ माह पूर्ण होने पर और साढे सात रात-दिन व्यतीत होने पर रात्रि का पूर्व भाग समाप्त होने जा रहा था और पिछला भाग प्रारम्भ होने जा रहा था, उस सन्धि-वेला में, अर्थात् मध्यरात्रि में विशाखा नक्षत्र का योग होते ही, आरोग्य वाली माता ने आरोग्य पूर्वक पुरुषादानीय अर्हत् पार्श्व नामक पुत्र को जन्म दिया।

जिस रात्रि को पुरुषादानीय अर्हत् पार्श्व ने जन्म ग्रहण किया, उस रात्रि को बहुत से देव और देवियाँ जन्म कल्याणक मनाने के लिए आईं, जिससे वह रात्रि प्रकाशमान हो गई और देव देवियों के वार्तालाप से शब्दायमान भी हो गई।

स्वप्न व जन्म सम्बन्धी अन्य सारा वृत्तान्त भगवान् महावीर के वर्णन में आए हुए वृत्तान्त के समान यहाँ भी समझना चाहिए। विशेष भगवान् महा-वीर के स्थान पर भगवान् पार्श्व का नाम लेना चाहिए। यावत् माता-पिता ने कुमार का नाम 'पार्श्व' रखा।

विवेचन—राजकुमार पार्श्वनाथ बड़े होते हैं। युवावस्था आने पर उनका पाणिग्रहण कुशलस्थ (कन्नौज) के राजा प्रसेनजित् की पुत्री परम सुन्दरी प्रभा-वती के साथ हुआ।[3]

——● नाग का उद्धार

एक दिन राजकुमार पार्श्व राजप्रासाद के गवाक्ष में बैठे हुए नगरावलोकन कर रहे थे कि अर्चना की सामग्री लिए हुए जन-समूह को नगर के बाहर जाते हुए देखा। कुतूहलवश कुमार ने पूछा—'क्या आज कोई महोत्सव है, या अन्य कोई विशेष प्रसंग है जिस कारण ये लोग जा रहे हैं?'

उत्तर मिला—कुमार वर। नगर के बाहर एक कमठ नामक उग्र तपस्वी आया हुआ है, जो पंचाग्नि-तप तप रहा है, वह बहुत उग्र तपस्वी है। उसकी पूजा और अर्चना करने के लिए ही ये लोग जा रहे है।

कुतूहलवश राजकुमार पार्श्व भी कमठ को देखने के लिए चले। यह कमठ वही था जिसका सम्बन्ध पार्श्वनाथ के जीव के साथ पिछले अनेक भवो से चला आ रहा था। वह नरक से निकलकर एक अत्यन्त गरीब कुल मे जन्मा था, भूख व दरिद्रता से व्याकुल होकर उसने तापसी-प्रव्रज्या ग्रहण की थी। बहुत उग्र तपस्या करने से जनता मे उसके तप की धाक जम गई थी। राजकुमार पार्श्वनाथ ने देखा—'तपस्वी पचाग्नि तप रहा है। चारो दिशाओ मे अग्नि जल रही है, और मस्तक पर सूर्य तप रहा है, अग्निकुण्ड में बडे-बडे लक्कड़ जल रहे हैं। उसमें एक सर्प भी जल रहा है। सर्प को देखकर पार्श्वकुमार का हृदय करुणा से द्रवित हो उठा। तापस के इस विवेकशून्य क्रियाकाण्ड को देखकर पार्श्वनाथ ने कहा--तपस्विन्! यह कैसा अज्ञान तप है! पचेन्द्रिय जीवों को भस्म कर तुम अपना कल्याण चाहते हो?

तपस्वी—राजकुमार! तुम धर्म के रहस्य को नही समझते। राजपुत्र तो हाथी घोड़ों पर क्रीड़ा करना और युद्ध करना जानते हैं, धर्म के रहस्य को तो हमारे जैसे तपस्वी समझ सकते है। तुम यहाँ से चले जाओ, अभी तो दूध मुंहे-बच्चे हो। क्या तुम मेरी धूनी मे किसी जीव को जलता बता सकते हो?

राजकुमार--तपस्वी! इस बड़े लक्कड़ में सर्प जल रहा है।

तपस्वी—तुम्हारा कथन मिथ्या है। तभी राजकुमार ने अपने सेवक को आज्ञा दी, सेवक ने अग्निकुण्ड से उस लक्कड़ को बाहर निकाला और सावधानी से चीरा तो उस समय तिलमिलाता हुआ सर्प बाहर निकला। वह मरणा-

सन्न स्थिति में था। पार्श्वनाथ ने उसे नवकार मंत्र सुनाया। वह समाधिपूर्वक मर कर धरणेन्द्र (नागकुमार जाति के देवों का इन्द्र) देव हुआ। लोगों ने कमठ की भर्त्सना की, वे उसे धिक्कारने लगे। तापस पार्श्वकुमार पर बहुत रुष्ट हुआ। पर करता भी क्या ? आखिर में अज्ञान-तप के कारण कमठ तापस वहाँ से मरकर मेघमाली नामक देव बना।

भावी तीर्थंकरों द्वारा गृहस्थावास में इस प्रकार धर्म क्रान्ति का यह अद्वितीय उदाहरण है।

मूल :—

पासे णं अरहा पुरिसादाणीए दक्खे दक्खपइण्णे पडिरूवे अल्लीणे भद्दए विणीए तीसं वासाइं अगारवासमज्झे वसित्ता णं पुणरवि लोयंतिएहिं जियकप्पिएहिं देवेहिं ताहिं इट्ठाहिं जाव एवं वयासी–जय जय नंदा जय जय भद्दा, भद्दं ते जाव जय जय सद्दं पउंजंति ॥१५२॥

अर्थ–पुरुषादानीय अर्हत् पार्श्व दक्ष थे, दक्ष प्रतिज्ञा वाले थे, उत्तम रूप वाले, सर्व गुणो से युक्त भद्र व विनीत थे। वे तीस वर्ष तक गृहवास मे रहे। उसके पश्चात् अपनी परम्परा का पालन करते हुए लोकांतिक देवों ने आकर के इष्टवाणी के द्वारा इस प्रकार कहा–"हे नन्द ! (आनन्दकारी) तुम्हारी जय हो, विजय हो ! हे भद्र ! तुम्हारी जय हो, विजय हो ! यावत् इस प्रकार जय-जय शब्द का प्रयोग करते है।

——— ● दीक्षा

मूल :—

पुव्विं पि णं पासस्स अरहओ पुरिसादाणियस्स माणुस्सगाओ गिहत्थधम्माओ अणुत्तरे आहोहियए तं चेव सव्वं जाव दायं दाइयाणं परिभाएत्ता जे से हेमंताणं दोच्चे मासे तच्चे पक्खे पोस-

बहुले तस्स णं पोसबहुलस्स एक्कारसीदिवसेणं पुव्वण्हकालसमयंसि विसालाए सिवियाए सदेवमणुयासुराए परिसाए तं चेव सव्वं नवरं वाणारसिं नगरिं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव आसमपए उज्जाणे जेणेव असोगवरपायवे तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता असोगवरपायवस्स अहे सीयं ठावेइ, ठावित्ता सीयाओ पच्चोरुहइ, सीयाओ पच्चोरुहित्ता सयमेव आभरणमल्लालंकारं ओमुयति, ओमुइत्ता सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेइ, पंचमुट्ठियं लोयं करित्ता अट्ठमेणं भत्तेणं अपाणएणं विसाहाहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं एगं देवदूसमायाय तिहिं पुरिससएहिं सद्धिं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइए ॥१५३॥

अर्थ–पुरुषादानीय अर्हत् पार्श्व को मानवीय गृहस्थ-धर्म से पहले भी उत्तम आभोगिकज्ञान (अवधिज्ञान) था। वह सारा वर्णन भगवान् महावीर के वर्णन के समान यहाँ भी समझना चाहिए। अभिनिष्क्रमण के पूर्व वार्षिक दान देकर के, हेमन्त ऋतु के द्वितीय मास, तृतीय पक्ष, अर्थात् पोष मास के कृष्ण पक्ष की ग्यारस के दिन, पूर्व भाग के समय (चढ़ते हुए प्रहर मे) विशाला शिविका में बैठकर देव, मानव, और असुरों के विराट् समूह के साथ (भगवान् महावीर के वर्णन के समान) वाराणसी नगरी के मध्य में होकर निकलते है। निकलकर जिस ओर आश्रमपद नामक उद्यान है, जहाँ पर अशोक का उत्तम वृक्ष है, उसके सन्निकट जाते है। सन्निकट जाकर के शिविका को खड़ी रखवाते है। शिविका खड़ी रखवाकर के शिविका से नीचे उत्तरते हैं। नीचे उतरकर, अपने ही हाथों से आभूषण, मालाएं और अलंकार उतारते हैं। अलकार उतारकर, स्वयं के हाथ से पंच-मुष्ठि लोच करते हैं। लोच करके निर्जल अष्टम भक्त करते हैं। विशाखा नक्षत्र का योग आते ही, एक देवदूष्य वस्त्र को लेकर दूसरे तीन सौ पुरुषों के साथ मुंडित होकर गृहवास से निकलकर अनगार अवस्था को स्वीकार करते हैं।

—— ● कमठ का उपसर्ग

मूल :—

पासे णं अरहा पुरिसादाणीए तेसीइं राइंदियाइं निच्चं वोसट्ठकाए चियत्तदेहे जे केइ उवसग्गा उप्पज्जंति, तं जहा—दिव्वा वा माणुस्सा वा, तिरिक्खजोणिया वा, अणुलोमा वा पडिलोमा वा, ते उप्पन्ने सम्मं सहइ तितिक्खइ खमइ अहियासेइ ॥१५४॥

अर्थ—पुरुषादानीय अर्हत् पार्श्व तेरासी (८३) दिनों तक निन्य सतत शरीर की ओर से लक्ष्य को व्युत्सर्ग किए हुए थे। अर्थात् उन्होने शरीर का ख्याल छोड़ दिया था। इस कारण अनगार दशा में उन्हें जो कोई भी उपसर्ग हुए, चाहे वे दैविक थे, मानवीय थे, या पशु-पक्षियों की ओर से उत्पन्न हुए थे, उन उपसर्गों को वे निर्भय रूप से, सम्यक् प्रकार से सहन करते थे, तनिक मात्र भी क्रोध नहीं करते, उपसर्गों की ओर उनकी सामर्थ्य युक्त तितिक्षा वृत्ति रहती और वे शरीर को पूर्ण अचल और दृढ़ रखकर उपमर्गों को सहन करते थे।

विवेचन—भगवान् पार्श्वनाथ ने पोष कृष्ण एकादशी के दिन संयम लेकर वाराणसी से प्रस्थान किया। संयम-साधना, तप-आराधना करते हुए एक ग्राम के सन्निकट तापसों के आश्रम में पधारे। कुए के सन्निकट वट वृक्ष के नीचे वे ध्यान लगाकर खड़े हो गये। कमठ तापस, जो मरकर मेघमाली देव बना था, अवधिज्ञान (विभंगअज्ञान) से भगवान् को ध्यानस्थ देखकर वहाँ आया। पूर्व वैर को याद करके सिंह हस्ती, रीछ, सर्प, बिच्छू, प्रभृति बनकर भगवान् को नाना प्रकार से कष्ट देने लगा,[४] तथापि भगवान् सुमेरु की तरह स्थिर रहे, अपने अडिग धर्म ध्यान से विचलित नही हुए, तब उसने खिसियाकर गंभीर गर्जना करते हुए अपार जलवृष्टि की। नासाग्र तक पानी आ जाने पर भी भगवान् का ध्यान भग्न नहीं हुआ। उस समय अवधिज्ञान से धरणेन्द्र ने मेघमाली के उपसर्ग को देखा, तब धरणेन्द्र देव ने सात फनों से छत्र बनाकर उपसर्ग का निवारण किया। भक्ति भावना से गद्गद् होकर उसने भगवान् की स्तुति की। ध्यान-मग्न समदर्शी भगवान् न तो स्तुति करने वाले धरणेन्द्र देव पर तुष्ट हुए और न

उपसर्ग करने वाले दुष्ट कमठ पर रुष्ट ही हुए। इसीलिए आचार्य हेमचन्द्र ने प्रभु पार्श्वनाथ की स्तुति करते हुए कहा है—

कमठे धरणेन्द्रे च स्वोचिते कर्मकुर्वति।
प्रभोस्तुल्य मनोवृत्तिः पार्श्वनाथः श्रियेऽस्तु वः॥"

पराजित हो मेघमाली भी भगवान् के चरणों मे गिर गया। अपराध की क्षमा याचना करने लगा।

——● **केवलज्ञान**

मूल :—

तए णं से पासे भगवं अणगारे जाए इरियासमिए जाव अप्पाणं भावेमाणस्स तेसीइं राइंदियाइं विइक्कंताइं चउरासीइमस्स राइंदियस्स अंतरा वट्टमाणे जे से गिम्हाणं पढमे मासे पढमे पक्खे चित्तबहुले तस्स णं चित्तबहुलस्स चउत्थीपक्खेणं पुव्वण्हकालसमयंसि धायतिपायवस्स अहे छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं विसाहाहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं झाणंतरियाए वट्टमाणस्स अणंते अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे जाव केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने जाव जाणमाणे पासमाणे विहरइ॥१५५॥

अर्थ—उसके पश्चात् भगवान् पार्श्व अनगार हुए, यावत् ईर्यासमिति से युक्त हुए और इस प्रकार आत्मा को भावित करते-करते तिरासी (८३) रात्रि दिन व्यतीत हो गये। चौरासीवाँ दिन चल रहा था। ग्रीष्म ऋतु का प्रथम मास, प्रथम पक्ष अर्थात् चैत्र मास का कृष्ण पक्ष आया, उस चैत्र मास की चतुर्थी को, पूर्वाह्न में आँवले (धातकी) के वृक्ष के नीचे[६] षष्ठ तप किये हुए, शुक्ल ध्यान मे लीन थे। तब विशाखा नक्षत्र का योग आया, उन्हे उत्तमोत्तम केवलज्ञान केवलदर्शन उत्पन्न हुआ। यावत् वे सम्पूर्ण लोकालोक के भावों को देखते हुए विचरने लगे।

शिष्य-संपदा

मूल :—

पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स अट्ठ गणा अट्ठ गणहरा होत्था, तं जहा–

सुंभेय अज्जघोसे य, वसिट्ठे बंभयारि य।
सोमे सिरिहरे चेव वीरभद्दे जसे वि य ॥१५६॥

अर्थ—पुरुषादानीय अर्हत् पार्श्व के आठ गणधर थे। वे इस प्रकार है– (१) शुभ, (२) अज्जघोष-आर्यघोष, (३) वसिष्ठ, (४) ब्रह्मचारी, (५) सोम (६) श्रीधर, (७) वीरभद्र और (८) यश।

मूल :—

पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स अज्जदिण्णपामोक्खाओ सोलस्स समणसाहस्सीओ उक्कोसिया समणसंपया होत्था। पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स पुप्फचूलापामोक्खाओ अट्ठत्तीसं अज्जियासाहस्सीओ उक्कोसिया अज्जियासंपदा होत्था। पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स सुनंदपामोक्खाणं समणोवासगाणं एगा सयसाहस्सी चउसट्ठिं च सहस्सा उक्कोसिया समणोवासगसंपया होत्था। पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स सुनंदापामोक्खाणं समणोवासिगाणं तिन्नि सयसाहस्सीओ सत्तावीसं च सहस्सा उक्कोसिया समणोवासियाणं संपया होत्था। पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स अद्धुट्ठसया चोद्दसपुव्वीणं अजिणाणं जिणसंकासाण सव्वक्खर जाव चोद्दसपुव्वीणं संपया होत्था। पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स चोद्दस सया ओहिनाणीणं,

दस सया केवलनाणीणं, एक्कारस सया वेउव्वियाणं, अद्धट्ठमसया विउलमईणं, छस्सया वाईणं, छ सया रिउमईणं, बारस सया अणुत्तरोववाइयाणं संपया होत्था ।।१५७।।

अर्थ—पुरुषादानीय अर्हत् पार्श्व के संघ में अज्जदिण्ण (आर्यदत्त)* आदि सोलह हजार साधुओं की उत्कृष्ट श्रमण-सम्पदा थी। पुरुषादानीय अर्हत् पार्श्व के समुदाय में पुष्पचूला आदि अड़तीस हजार आर्यिकाओं की उत्कृष्ट आर्यिका-सम्पदा थी।

पुरुषादानीय अर्हत् पार्श्व के संघ में सुनन्द आदि एक लाख चौंसठ हजार श्रमणोपासकों की उत्कृष्ट श्रमणोपासक-संपदा थी। पुरुषादानीय अर्हत् पार्श्व के समुदाय में सुनन्दा आदि तीन लाख और सत्तावीस हजार श्रमणोपासिकाओं की उत्कृष्ट श्रमणोपासिका-सम्पदा थी।

पुरुषादानीय अर्हत् पार्श्व के समुदाय में साढ़े तीन सौ जिन नहीं, किन्तु जिनके सदृश सर्वाक्षर संयोगों को जानने वाले यावत् चौदह-पूर्वधारियों की सम्पदा थी। पुरुषादानीय अर्हत् पार्श्व के समुदाय में चौदह सौ अवधिज्ञानियों की सम्पदा थी। पुरुषादानीय अर्हत् पार्श्व के समुदाय में एक हजार केवलज्ञानियों की सम्पदा थी। ग्यारहसौ वैक्रिय लब्धिवालों की तथा छह सौ ऋजुमति ज्ञान वालों की सम्पदा थी। भगवान् पार्श्वनाथ के एक हजार श्रमण सिद्ध हुए, तथा उनकी दो हजार आर्यिकाएं सिद्ध हुई। पुरुषादानीय अर्हत् पार्श्व के संघ में साढ़े सात सौ विपुलमतियों की (विपुलमति मनःपर्यव ज्ञान वालों की), छह सौ वादियों की और बारह सौ अनुत्तरौपपातिकों की-अर्थात् अनुत्तर विमान में जाने वालों की संपदा थी।

मूल :—

पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स दुविहा अंतकडभूमी होत्था, तं जहा—जुयंतकडभूमी य, परियायंतकडभूमी य।

जाव चउत्थाओ पुरिसजुगाओ जुयंतकडभूमि तिवासपरियाए अंतमकासी ॥१५८॥

अर्थ—पुरुषादानीय अर्हत् पार्श्व के समय में अन्तकृतों की भूमि अर्थात् सर्व दुःखों का अन्त करने वालो की भूमिका दो प्रकार की थी। जैसे कि एक तो युग-अतकृत् भूमि, और दूसरी पर्याय-अन्तकृत्भूमि। यावत् अर्हत पार्श्व से चतुर्थ युगपुरुष तक युगान्तकृत भूमि थी अर्थात् चतुर्थ पुरुष तक मुक्ति मार्ग चला था। अर्हत् पार्श्व का केवलीपर्याय तीन वर्ष का होने पर अर्थात्-उनको केवलज्ञान हुए तीन वर्ष व्यतीत होने पर किसी साधक ने मुक्ति प्राप्त की। अर्थात् मुक्तिमार्ग प्रारम्भ हुआ। वह उनके समय की पर्यायान्तकृत्भूमि हुई।

मूल :—

तेणं कालेणं तेणं समएणं पासे अरहा पुरिसादाणीए तीसं वासाइं अगारवासमज्झे वसित्ता, तेसीतिं राइंदियाइं छउमत्थपरियायं पाउणित्ता, देसूणाइं सत्तरिं वासाइं केवलिपरियायं पाउणित्ता, बहुपडिपुन्नाइं सत्तरिं वासाइं सामन्नपरियायं पाउणित्ता, एक्कं वाससयं सव्वाउयं पालित्ता खीणे वेयणिज्जाउयनामगोत्ते इमीसे ओसप्पिणीए दूसमसूसमाए समाए बहुवीइक्कंताए जे से वासाणं पढमे मासे दोच्चे पक्खे सावणसुद्धे तस्स णं सावणसुद्धस्स अट्ठमीपक्खेणं उप्पिं सम्मेयसेलसिहरंसि अप्पचोत्तीसइमे मासिएणं भत्तेणं अपाणएणं विसाहाहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं पुव्वण्हकालसमयंसि वग्घारियपाणी कालगए जाव सव्वदुक्खप्पहीणे ॥१५९॥

अर्थ—उस काल उस समय पुरिसादानीय अर्हत् पार्श्व तीस वर्ष तक गृहवास में रहकरके, तिरासी (८३) रात्रि दिन छद्मस्थ पर्याय में रह करके, पूर्ण

नहीं, किन्तु कुछ कम सत्तर (७०) वर्ष तक केवलीपर्याय में रह करके, इस प्रकार पूर्ण सत्तर वर्ष तक श्रमणपर्याय का पालन करके, कुल सौ वर्ष तक अपना सम्पूर्ण आयु भोगकर वेदनीय कर्म, आयुष्यकर्म, नाम कर्म, और गोत्र कर्म के क्षीण होने पर दुषम-सुषम नामक अवसर्पिणी काल के बहुत व्यतीत हो जाने पर, वर्षाऋतु का प्रथम मास, द्वितीय पक्ष, अर्थात् जब श्रावण-मास का शुक्ल पक्ष आया, तब श्रावण शुक्ला अष्टमी के दिन सम्मेद शिखर पर्वत पर अपने सहित चोतीस-पुरुषों के साथ (१ पार्श्वनाथ और दूसरे तेतीस श्रमण इस प्रकार कुल ३४) मासिक भक्त का अनशन कर पूर्वाह्न के समय, विशाखा नक्षत्र का योग आने पर दोनों हाथ लम्बे किये हुए इस प्रकार ध्यान मुद्रा में अवस्थित रह कर काल धर्म को प्राप्त हुए, यावत् सर्व दुःखों से मुक्त हुए।

मूल :—

पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणियस्स कालगतस्स जाव सव्वदुक्खप्पहीणस्स दुवालस वाससयाइं विइक्कंताइं तेरसमस्स य वाससयस्स अयं तीसइमे संवच्छरकाले गच्छइ ॥१६०॥

अर्थ–पुरिसादानीय अर्हत् पार्श्व को कालधर्म प्राप्त हुए, यावत् सर्व दुःखों से पूर्ण तया मुक्त हुए बारह सौ वर्ष व्यतीत हो गये और यह तेरह सौ वर्ष का समय चल रहा है।

——● **अर्हत् अरिष्टनेमि**

मूल :—

तेणं कालेणं तेणं समएणं अरहा अरिट्ठनेमी पंचचित्ते होत्था, तं जहा–चित्ताहिं चुए चइत्ता गब्भं वक्कंते जाव चित्ताहिं परिनिव्वुए ॥१६१॥

अर्थ–उस काल उस समय अर्हत् अरिष्टनेमि पाँच चित्रा युक्त थे, अर्थात्

उनके जीवन के पाँच प्रसंगो मे चित्रा नक्षत्र आया था। जैसे--अर्हत् अरिष्ट-नेमि चित्रा नक्षत्र मे स्वर्ग से च्युत हुएं, च्युत होकर गर्भ में आये, इत्यादि सम्पूर्णवृत्त चित्रा नक्षत्र के पाठ के साथ पूर्व के समान समझना चाहिए। यावत् चित्रा नक्षत्र मे वे परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।

——— ● जन्म

मूल :—

तेणं कालेणं तेणं समएणं अरहा अरिट्ठनेमी जे से वासाणं चउत्थे मासे सत्तमे पक्खे कत्तियबहुले तस्स णं कत्तियबहुलस्स बारसीपक्खेणं अपराजियाओ महाविमाणाओ बत्तीसं सागरोवम-ट्ठितीयाओ अणंतरं चयं चइत्ता इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहेवासे सोरियपुरे नगरे समुद्दविजयस्स रन्नो भारियाए सिवाए देवीए पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि जाव चित्ताहिं गब्भत्ताए वक्कंते, सव्वं तहेव सुमिणदंसणदविणसंहरणाइयं एत्थ भणियव्वं ॥१६२॥

अर्थ--उस काल उस समय अर्हत् अरिष्ट नेमि, जब वर्षा ऋतु का चतुर्थ मास, सातवाँ पक्ष अर्थात् कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष का समय आया, तब कार्तिककृष्णा द्वादशी के दिन, बत्तीस सागरोपम की आयुष्य मर्यादा वाले अपराजित नामक महाविमान से च्यवकर इसी जम्बूद्वीप में, भारतवर्ष के सोरियपुर नामक नगर में समुद्रविजय राजा की पत्नी शिवादेवी की कुक्षि में, रात्रि के पूर्व और अपर भाग की सन्धि-वेला मे, अर्थात् मध्यरात्रि में चित्रा नक्षत्र का योग होने पर गर्भ रूप में उत्पन्न हुए। उसके पश्चात् का सभी वर्णन भगवान् महावीर के प्रकरण मे आये हुए स्वप्न-दर्शन, धन-धान्य की वृद्धि इत्यादि के समान यहाँ पर भी कहना चाहिए।

मूल :—

तेणं कालेणं तेणं समएणं अरिहा अरिट्ठनेमी जे से

वासाणं पढमे मासे दोच्चे पक्खे सावणसुद्धे तस्स णं सावणसुद्धस्स पंचमीपक्खेणं नवण्हं मासाणं जाव चित्ताहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं अरोगा अरोगं पयाया। जम्मणं समुद्दविजयाभिवेणं नेतव्वं जाव तं होउ णं कुमारे अरिट्ठनेमी नामेणं ॥१६३॥

अर्थ–उस काल उस समय वर्षाऋतु का प्रथम मास, द्वितीय पक्ष अर्थात् श्रावण मास का शुक्ल पक्ष आया, उस समय श्रावण शुक्ला पचमी के दिन नौ मास और साढ़े सात दिन परिपूर्ण हुए, यावत् मध्यरात्रि को चित्रा नक्षत्र का योग होते ही, आरोग्य-युक्त (स्वस्थ) माता ने आरोग्य पूर्वक अर्हत् अरिष्ट नेमि को जन्म दिया। जन्म का इतिवृत्त 'पिता समुद्रविजय' इस पाठ के साथ पूर्ववत् समझना चाहिए, यावत् इस कुमार का नाम अरिष्टनेमि कुमार हो इत्यादि सभी कह लेना चाहिए।

विवेचन–अर्हत् अरिष्टनेमि बाईसवें तीर्थकर थे।[९] उनके पिता का नाम समुद्र विजय और माता का नाम शिवा था।[१०] उनके तीन भ्राता और थे जिनके नाम इस प्रकार हैं - रथनेमि[११], सत्यनेमि और दृढ़नेमि[१२] उनका गोत्र गौतम था[१३] और कुल वृष्णि था,[१४] उनका शरीर श्यामवर्ण था। किन्तु मुखाकृति अत्यधिक मनमोहक थी। वे एक हजार आठ शुभ लक्षणों के धारक थे,[१५] वज्र ऋषभ नाराचसंहनन और समचतुरस्र संस्थान वाले थे। मत्स्य के आकार का उनका उदर था,[१६] वे अतुल बली थे। उनके पराक्रम दर्शन का एक मधुर प्रसग है।

पराक्रम दर्शन

एक बार घूमते-घामते अर्हत् अरिष्टनेमि श्रीकृष्ण की आयुधशाला में पहुँचे। स्नेही साथियों की प्रेरणा से प्रेरित हो वासुदेव श्री कृष्ण के सुदर्शन चक्र को अंगुली पर रखकर कुम्भकार के चक्र के समान फिरा दिया। शारंग धनुष को कमल की नाल की तरह मोड़ दिया। कौमुदी गदा सहज रूप से उठाकर स्कंध पर रख ली और पाँचजन्य शंख को इस प्रकार बजाया कि सारी द्वारिका भय से काँप उठी। उस ध्वनि को सुनकर श्रीकृष्ण का हृदय भी धड़कने लगा।[१७] शत्रु के भय से भयभीत बने श्रीकृष्ण आयुधशाला में आये। अरिष्टनेमि द्वारा

शंख बजाये जाने की बात जानकर चकित हुए। फिर भी शक्ति परीक्षण के लिए श्रीकृष्ण ने अरिष्टनेमि से कहा—चलिए व्यायामशाला में जहाँ अपने बाहु-बल की परीक्षा करें। क्योंकि पांचजन्य शंख को फूंकने की शक्ति मेरे अतिरिक्त अन्य किसी में नहीं है।

अरिष्टनेमि ने स्वीकृति दी, दोनों ही व्यायामशाला में पहुँचे। कृष्ण ने भुजा लम्बी की और कहा—जरा इसे झुका तो दो। अरिष्टनेमि ने उस भुजा को ऐसे झुका दिया जैसे वृक्ष की डाली को झुका दिया हो। जब अरिष्टनेमि ने भुजा लम्बी की तो कृष्ण, अत्यधिक प्रयत्न करने पर भी उसे नहीं झुका सके[१८], यह घटना-चित्र उनके महान् धैर्य, शौर्य और प्रबल पराक्रम के भाव को उजागर कर रहा है।

श्रीकृष्ण अरिष्टनेमि के अतुल बल को देखकर चकित हो गये, साथ ही चिन्तामग्न भी। तभी आकाशवाणी हुई कि—अरिष्टनेमि कुमारावस्था में ही प्रव्रज्या ग्रहण करेंगे।[१९]

——— ● **राजुल की मंगनी**

श्रीकृष्ण ने कुमार नेमिनाथ को विवाह के लिए प्रेम पूर्वक आग्रह किया, पर वे स्वीकार नही हुए। वे चाहते थे कि नेमिकुमार विवाहित हो जाये तो इनका अतुलनीय पराक्रम क्षीण हो जायेगा और फिर मुझे कभी भी इससे भय व शंका नही होगी। इसके लिए सत्यभामा आदि को श्रीकृष्ण ने संकेत किया। श्रीकृष्ण के सकेतानुसार सत्यभामा आदि रानियों ने वसत ऋतु मे रैवताचल पर वसंत क्रीड़ा करते हुए हाव-भाव-कटाक्षादि के द्वारा नेमिकुमार के अन्तर्हृदय में वासना जागृत करने का प्रयास किया, किन्तु सफल न हो सकी। तब रुक्मिणी, सत्य-भामा, जाम्बवती, पद्मावती, गांधारी, लक्ष्मणा आदि ने स्त्री के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा—स्त्री के बिना मानव अपूर्ण है, स्त्री अमृत है, नारी ही नारायणी है, आदि। अपनी भाभियों के मोह भरे वचनों को सुनकर नेमिकुमार मौन रहे और उनकी अज्ञता पर मन ही मन मुस्कराने लगे। कुमार को मौन देखकर, '**अनिषिद्धम् अनुमतम्**' के अनुसार सभी रानियाँ आनन्द से नाच उठीं और सर्वत्र समाचार प्रसारित कर दियाँ कि अरिष्टनेमि विवाह के लिए प्रस्तुत हो गए हैं।[२०]

श्रीकृष्ण ने महाराजा उग्रसेन की रूपवती कन्या राजीमती की याचना की। राजीमती सर्वलक्षणों से सम्पन्न, विद्युत् और सौदामिनी के समान प्रभावाली राजकन्या थी।[२१] राजीमती के पिता उग्रसेन ने कृष्ण से कहा—"कुमार, यहाँ आएँ तो मैं उन्हें अपनी राजकन्या दूँ।" श्री कृष्ण ने स्वीकृति प्रदान की।

दोनों ओर विवाह की तैयारियाँ होने लगी। मंगलगीत गाये जाने लगे। अरिष्टनेमि को सर्व औषधियाँ के जल से स्नान कराया गया, कौतुक-मंगल किये गये, दिव्य वस्त्र और आभूषण पहिनाये गये। वासुदेव श्रीकृष्ण के मदोन्मत्त गंधहस्ती पर वे आरूढ हुए। उस समय वे इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे मानो मस्तक पर चूडामणि हो।[२२] सिर पर छत्र सुशोभित हो रहा था। दोनो ओर चमर बीजे जा रहे थे। दशार्ह चक्र से वे चारो ओर से घिरे हुए थे। वाद्यों से नभ गूंज रहा था। चतुरंगिनी सेना के साथ उनकी बरात आगे बढ़ी चली जा रही थी। सभी का हृदय खुशी से उछालें मार रहा था।

तोरण से लौट गए

उस युग में मांसाहार का बहुत अधिक प्रचार था। राजा उग्रसेन ने बरातियों के भोजन के लिए सैकड़ों पशु और पक्षी एकत्रित किये। वर के रूप में जब अरिष्टनेमि वहाँ पहुँचे, तो उन्हें एक वाड़े में बंद किए हुए पशुओं का करुण-क्रन्दन सुनाई दिया। उनका हृदय दया से द्रवित हो गया।[२३]

भगवान् ने सारथी से पूछा--'हे महाभाग! ये सब सुखार्थी जीव वाड़ों और पिंजरों में किसलिए डाले गये हैं? सारथी ने कहा—"ये समस्त भद्र प्राणी आपके विवाह-कार्य मे आये हुए व्यक्तियों के भोजन के लिए हैं।[२४]

करुणामूर्ति अरिष्टनेमि ने सोचा—'मेरे कारण से ये बहुत से जीव मारे जाते हैं, तो मेरे लिए यह भविष्य में कल्याणप्रद नही होगा। यह कहकर उन्होंने अपने कुण्डल, कटिसूत्र आदि आभूषण उतार कर सारथी को दे दिये और रथ को मोड़ने के लिए कहा—"सारथि! वापस चलो! मुझे इस प्रकार का हिंसाकारी विवाह नहीं करना है।' श्रीकृष्ण आदि बहुतों के समझाने पर भी वे नही माने और द्वारिका की ओर बिना ब्याहे ही लौट चले।

राजीमती के चेहरे पर जो गुलाबी खुशियां छाई हुई थी, वह प्रभु के वापस लौट जाने पर गायब हो गई। वह अपने भाग्य को कोसने लगी। उसे बहुत ही दुःख हुआ, अरिष्टनेमि उसके हृदय में बसे हुए थे। माता, पिता और सखियों ने समझाया 'अरिष्टनेमि चले गए तो क्या हुआ बहुत से अच्छे वर प्राप्त हो जायंगे।' उसने दृढता से कहा—"विवाह का बाह्य रीतिरस्म (वरण) भले ही न हुआ हो किन्तु अन्तरंग हृदय से मैंने वरण कर लिया है, अब मैं आजन्म उसी प्रभु की उपासना करूँगी।

——● दीक्षा

मूल :—

अरहा अरिट्ठनेमी दक्खे जाव तिन्नि वाससयाइं अगारवासमज्झे वसित्ता णं पुणरवि लोयंतिएहिं जीयकप्पिएहिं देवेहिं तं चेव सव्वं भाणियव्वं जाव दायं दाइयाणं परिभाएत्ता जे से वासाणं पढमे मासे दोच्चे पक्खे सावणसुद्धे तस्स णं सावणसुद्धस्स छट्ठीपक्खेणं पुव्वण्हकालसमयंसि उत्तरकुराए सीयाए सदेवमणुयासुराए परिसाए अणुगम्ममाणमग्गे जावबारवईए नगरीए मज्झं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव रेवय उज्जाणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता असोगवरपायवस्स अहे सीय ठावेइ, सीयं ठावित्ता सीयाए पच्चोरुहइ, सीयाए पच्चोरुहित्ता सयमेव आभरण मल्लालंकारं ओमुयइ, ओमुइत्ता सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेइ, करित्ता छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं चित्ताहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं एगं देवदूसमादाय एगेणं पुरिससहस्सेणं सद्धिं मुण्डे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए ॥१६४॥

अर्थ—अर्हत् अरिष्टनेमि दक्ष थे, यावत् वे तीन सौ वर्ष तक कुमार

अवस्था में गृहवास में रहे। उसके पश्चात् जिनके कहने का आचार है ऐसे लोकान्तिक देवों ने आकरके उनसे प्रार्थना की, संसार का कल्याण करने के लिए इत्यादि कथन जो पूर्व आ गया है वैसा ही यहाँ पर भी कहना। यावत् अभिनिष्क्रमण के पूर्व एक वर्ष तक दान दिया।

जब वर्षा ऋतु का प्रथम मास, द्वितीय पक्ष, अर्थात् श्रावण मास का शुक्ल पक्ष आया, उस श्रावण शुक्ला छट्ठ के दिन, पूर्वाह्न के समय जिनके पीछे देव, मानव और असुरों की मण्डली चल रही है, ऐसे अरिष्टनेमि उत्तरकुरा नामक शिविका मे बैठकर यावत् द्वारिका नगरी के मध्य-मध्य में होकर निकलते हैं। निकलकर जिस तरफ रैवत नामक उद्यान है,[२६] वहाँ आते है, आकर के उत्तम अशोक वृक्ष के नीचे, शिविका को खड़ी रखते है, खड़ी रखकर शिविका से उतरते है, उतरकर अपने ही हाथो से आभरण, मालाएँ और अलकारों को नीचे उतारते हैं। उतार कर अपने ही हाथों से पचमुष्टि लोच करते हैं, लोच करके, पानी रहित, षष्ठभक्त करके, चित्रा नक्षत्र का योग आते ही, एक देवदूष्य वस्त्र को लेकर हजार पुरुषों के साथ, मुंडित होकर गृहवास को त्यागकर अनगारत्व को स्वीकार करते है।

विवेचन–हिंसा को रोकने के लिए भगवान् बिना विवाह किये ही लौटे, किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि लौटकर सीधे ही शिविका मे बैठकर प्रव्रज्या के लिए प्रस्थित नहीं हुए। यदि सीधे ही प्रस्थित होते हैं तो प्रश्न यह है कि उन्होंने वर्षीदान कब दिया ? क्या दूल्हा बनकर आने के पूर्व ही वर्षीदान दे चुके थे ? नहीं। वे वहाँ से लौटकर घर पर आते है, एक वर्ष तक वर्षीदान देते हैं। उसके पश्चात् एक हजार पुरुषों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण करत हैं। सामायिक चरित्र ग्रहण करते हुए प्रभु को मनः पर्यव ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

इस बीच प्रेममूर्ति राजीमती अरिष्टनेमि की अपलक प्रतीक्षा करती रही। वह निरन्तर यह सोचती रही कि भगवान् मेरी अवश्य ही सुध लेंगे। पर उसकी वह भावना पूर्ण नही हो सकी। बारह मास तक उसके अन्तर्हृदय में विविध संकल्प-विकल्प उद्‌बुद्ध होते रहे, जिन्हें कवियों ने बारह मासा के के रूप में चित्रित किया है।

——● केवल ज्ञान

मूल :—

अरहा णं अरिट्ठनेमी चउप्पन्नं राइंदियाइं निच्चं वोसट्ठकाए चियत्तदेहे तं चेव सव्वं जाव पणपन्नइमस्स राइंदियस्स अंतरावट्टमाणे, जे से वासाणं तच्चे मासे पंचमे पक्खे अस्सोयबहुले तस्स णं अस्सोयबहुलस्स पन्नरसीपक्खेणं दिवसस्स पच्छिमे भागे उप्पिं उज्जितसेलसिहरे वेउपायवस्स अहे अट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं चित्ताहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं झाणंतरियाए वट्टमाणस्स जाव अणंते अणुत्तरे जाव सव्वलोए सव्वजीवाणं भावे जाणमाणे पासमाणे विहरइ ॥१६५॥

अर्थ—अर्हत् अरिष्टनेमि चौपन रात्रि-दिन ध्यान में रहे। उन्होंने शरीर के लक्ष्य को छोड दिया। शारीरिक वासना छोड दी थी। इत्यादि सभी जो पूर्व आ चुका है, यहाँ भी समझ लेना चाहिए। अर्हत् अरिष्टनेमि के इस प्रकार ध्यान में रहते हुए पचपनवाँ रात्रि-दिन आ गया। जब वे पचपनवें रात्रि-दिन मे संचरण कर रहे थे तब वर्षाऋतु का तृतीय मास, पाँचवाँ पक्ष, अर्थात् आश्विन कृष्णा अमावस्या के दिन अपराह्ण में उज्जयत शैल शिखर (रैवताचल पर्वत) पर वेंत (वेतस) के वृक्ष के नीचे पानी रहित, अष्टम भक्त का तप किए हुए थे, इसी समय चित्रा नक्षत्र का योग आने पर ध्यान मे रहे हुए उन्हें अनन्त यावत् उत्तम केवलज्ञान, केवलदर्शन उत्पन्न हुआ। अब वे समस्त द्रव्य और उनकी सम्पूर्ण पर्यायों को जानते हुए, देखते हुए विचरने लगे।

विवेचन—भगवान् नेमिनाथ के दीक्षा ग्रहण करने के बाद राजीमती के रूप पर भगवान् नेमिनाथ का लघुभ्राता रथनेमि मुग्ध हो गया था। वह राजीमती को अपने वश मे करने के लिए नित्य-नवीन उपहार भेजता। भोली-भाली राजीमती उसकी वह कुटिल चाल न समझ सकी। वह अरिष्टनेमि का ही उपहार समझकर प्रेमपूर्वक ग्रहण करती रही।

एक दिन एकान्त में राजीमती को देख, रथनेमि ने अपने हृदय की इच्छा अभिव्यक्त की। राजीमती ने जब वह बात सुनी तो सारा रहस्य समझ गई। दूसरे दिन जब रथनेमि आया तब उसे समझाने के लिए उसने सुगंधित पय-पान किया, और उसके पश्चात् वमन की दवा (मदनफल) ली। जब दवा के प्रभाव से वमन हुआ तो उसे एक स्वर्णपात्र में ग्रहण कर लिया, और रथ नेमि से बोली—'जरा इसका पान करिये।'

रथनेमि ने नाक भौं सिकोड़ते हुए कहा—'क्या मैं श्वान हूँ, जो इसका पान करूँ?' वमन का पान तो श्वान करता है, इन्सान नहीं।'

राजीमती ने कहा—"बहुत अच्छा! तो मैं भी अरिष्टनेमि के द्वारा वमन की हुई हूँ, फिर मुझ पर मुग्ध होकर मेरी इच्छा क्यों कर रहे हो? तुम्हारा विवेक क्यों नष्ट हो गया है? क्या यह भी वमनपान नही है?"

राजीमती की फटकार से रथनेमि लज्जित होकर नीचा शिर किये अपने घर को चला आया।[२०]

भगवान् के केवलज्ञान की सूचना प्राप्त होते ही श्रीकृष्ण आदि पहुचे। भगवान् के उपदेश से वरदत्त आदि दो हजार राजाओं ने प्रव्रज्या ग्रहण की। प्रभु ने चतुर्विध संघ की स्थापना की।

श्री कृष्ण ने भगवान् से जिज्ञासा प्रस्तुत की कि—भगवन्! राजीमती का आप पर इतना अपार स्नेह क्यों है?

समाधान करते हुई भगवान् ने कहा—आज से नौवें भव में मैं 'धन' नामक राजपुत्र था ओर यह राजीमती का जीव धनवती नाम की मेरी पत्नी थी। वहाँ से मैं प्रथम देवलोक में देव बना और यह देवी बनी। वहां से च्युत होकर मेरा जीव चित्रगति नामक विद्याधर हुआ, और यह मेरी रत्नवती नामक पत्नी हुई। वहाँ से हम दोनों चतुर्थदेव लोक में उत्पन्न हुए। वहाँ से च्युत होकर मैं अपराजित नामक राजा हुआ, और यह प्रियतमा नामक रानी हुई। वहाँ से हम दोनों ग्यारहवें देवलोक में देव हुए,। तत्पश्चात् मैं शंख नामक राजा हुआ, और यह यशोमती नामक रानी हुई। वहाँ से हम दोनों अपराजित

देवलोक में देव हुए और वहां से च्युत होकर मैं अरिष्टनेमि हुआ और यह राजीमती हुई है। पूर्वभवों का स्नेह सम्बन्ध होने के कारण ही इसका अत्यधिक अनुराग मेरे प्रति हैं।[२८]

● राजीमती की दीक्षा . रथनेमि को प्रतिबोध

भगवान् वहाँ से विहार करके रैवतक पर्वत पर पधारे। समवसरण की रचना हुई। राजीमती विचारने लगी--भगवान् को धन्य है, जिन्होंने मोह को जीत लिया है। धिक्कार है मुझे जो मैं मोह के दल-दल में फसी हूँ। मेरे लिए यही श्रेयस्कर है कि मै दीक्षा ले लूँ।[२९]

ऐसा दृढ सकल्प करके राजीमती ने कांगसी-कंघी से संवारे हुए भंवर सदृश काले केशों को उखाड़ डाला। सर्व इंद्रियों को जीतकर दीक्षा के लिए तैयार हुई। श्री कृष्ण ने आशीर्वाद दिया—हे कन्या ! इस भयंकर संसार-सागर से तू शीघ्र ही तर।" राजीमती ने दीक्षा ग्रहण की।[३०]

दीक्षा लेने के पश्चात् एक बार राजीमती रैवतक पर्वत की ओर जा रही थी कि मूसलाधार वर्षा होने से उसके वस्त्र भीग गये। साथ की अन्य साध्वियां भी इधर-उधर हो गई। राजीमती ने वर्षा से बचने के लिए एक अंधेरी गुफा का आश्रय लिया। एकान्त स्थान समझकर समस्त गीले वस्त्र उतारकर सूखने के लिए फैला दिये।

राजीमती की फटकार से प्रतिबुद्ध होकर रथनेमि प्रव्रजित हो गए थे। और वह उसी गुफा में ध्यान मग्न थे। आज बिजली की चमक में राजीमती को अकेली और निर्वस्त्र देखकर उसका मन पुन: चलित हो गया। इतने में एकाएक राजीमती की भी दृष्टि उन पर पड़ी। उन्हें देखते ही वह सहम गई, भयभीत बनी, अपने अंगों का गोपन कर जमीन पर बैठ गई।[३१]

काम-विह्वल रथनेमि ने राजीमती से कहा—हे सुरूपे ! मै रथनेमि हूँ। तू मुझे अंगीकार कर। तनिक मात्र भी सकोच न कर। आओ ! इस एकान्त स्थान में हम भोग भोगें और सांसारिक भोगों का आनन्द लेने के पश्चात् फिर सयम ले लेंगे।

राजीमती ने देखा—रथनेमि का मनोबल टूट गया है। वे वासना-विह्वल होकर संयम से भ्रष्ट हो रहे हैं। उसने धैर्य के साथ कहा—भले ही तुम रूप में वैश्रमण के सदृश हो, भोग-लीला मे नल-कुबेर या साक्षात् इन्द्र के समान हो, तो भी मैं तुम्हारी इच्छा नही करती।' "अगंधनकुल में उत्पन्न हुए सर्प प्रज्वलित अग्नि में जलकर मरना पसद करते हैं, किन्तु वमन किये हुए विष को पुनः पीने की इच्छा नहीं करते। हे कामी! वमन की हुई वस्तु को खाकर तू जीवित रहना चाहता है। इससे तो मरना श्रेयस्कर है।"[३२]

साध्वी राजीमती के सुभाषित वचन सुनकर जैसे हस्ती अकुश से वश में आता है वैसे ही रथनेमि का मन स्थिर हो गया।

रथनेमि ने भगवान् के पास जाकर आलोचना की। वे उत्कृष्ट तप तपकर मोक्ष गये।

राजीमती चार सौ वर्ष तक गृहस्थाश्रम में रही, एक वर्ष छद्मावस्था में रही और पाँचसौ वर्ष केवली पर्याय में रहकर मुक्त हुई।

——— ● शिष्य-संपदा

मूल :—

अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स अट्ठारस गणा गणहरा होत्था। अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स वरदत्तपामोक्खाओ अट्ठारस समणसाहस्सीओ उक्कोसिया समणसंपया होत्था। अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स अज्जजक्खिणिपामोक्खाओ चत्तालीसं अज्जिया-साहस्सीओ उक्कोसिया अज्जिया संपया होत्था। अरहओ अरिट्ठनेमिस्स नंदपामोक्खाणं समणोवासगाणं एगा सयसाहस्सी अउणत्तरिं च सहस्सा उक्कोसिया समणोवासगसंपया होत्था। अरहओ अरिट्ठनेमिस्स महासुव्वयापामोक्खाणं तिन्नि सयसाहस्सीओ छत्तीसं च सहस्सा उक्कोसिया समणोवासियाणं संपया होत्था। अरहओ अरिट्ठनेमिस्स चत्तारि सया चोद्दसपुव्वीणं

अजिणाणं जिणसंकासाणं सव्वक्खर जाव होत्था। पण्णरस सया ओहिनाणीणं, पन्नरस सया केवलनाणीणं, पन्नरस सया वेउव्वियाणं, दस सया विउलमतीणं, अट्ठ सया वाईणं, सोलस सया अणुत्तरोववाइयाणं, पन्नरससमणसया सिद्धा, तीसं अज्जियासयाइं सिद्धाइं ॥१६६॥

अर्थ—अर्हत् अरिष्टनेमि के तीर्थ में अठारह गण, और अठारह गणधर थे। अर्हत् अरिष्टनेमि के समुदाय में वरदत्त आदि अठारह हजार श्रमणों की उत्कृष्ट श्रमण संपदा थी। अर्हत् अरिष्टनेमि के समुदाय में आर्य-यक्षिणी आदि चालीस हजार आर्यिकाओं की उत्कृष्ट आर्यिका-सम्पदा थी। अर्हत् अरिष्टनेमि के समुदाय में 'नन्द' आदि एक लाख उनहत्तर हजार श्रमणोपासकों की उत्कृष्ट श्रमणोपासक संपदा थी। अर्हत् अरिष्टनेमि के समुदाय के महा-सुव्रता आदि तीन लाख छत्तीस हजार श्रमणोपासिकाओं की उत्कृष्ट श्रमणसंपदा थी। अर्हत् अरिष्टनेमि के संघ में जिन नहीं, किन्तु जिन के समान, तथा सभी अक्षरों के संयोग को यथार्थ जानने वाले ऐसे चारसौ चौदह पूर्वधारियों की सम्पदा थी।

इसी प्रकार पन्द्रहसौ अवधिज्ञानियों की, पन्द्रहसौ केवलज्ञानियों की, पन्द्रहसौ वैक्रियलब्धि धारियों की, एक हजार विपुलमति मनःपर्यवज्ञानियों की, आठसौ वादियों की, और सौलहसौ अनुत्तरौपपातिकों की उत्कृष्ट सपदा थी।

उनके श्रमण समुदाय में पन्द्रहसौ श्रमण सिद्ध हुए, और तीन हजार श्रमणियाँ सिद्ध हुईं। यह उनके सिद्धों की सम्पदा थी।

मूल :—

अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स दुविहा अंतकडभूमी होत्था, तं जहा - जुगंतकडभूमी य परियायंतकडभूमी य जाव अट्ठमाओ पुरिसजुगाओ जुगंतकडभूमी दुवासपरियाए अंतमकासी ॥१६७॥

अर्थ-अर्हत् अरिष्टनेमि के समय में अन्तकृतों की अर्थात् निर्वाण प्राप्त

करने वालों की भूमिका दो प्रकार की थी। जैसे—युग अन्तकृत्भूमि और पर्याय अंतकृत्भूमि। यावत् अर्हत् अरिष्टनेमि के पीछे आठवें युगपुरुष तक निर्वाण का मार्ग चलता रहा, वह उनकी युग-अंतकृत् भूमि थी। अर्हत् अरिष्ट-नेमि को केवलज्ञान होने के दो वर्ष पश्चात् किसी श्रमण ने सर्व दुःखों का अन्त कर निर्वाण प्राप्त किया, अर्थात् भगवान को केवलज्ञान होने के पश्चात् दो वर्ष के बाद निर्वाण मार्ग प्रारम्भ हुआ।

——● **परिनिर्वाण**

मूल :—

तेणं कालेणं तेणं समएणं अरिहा अरिट्ठनेमी तिन्नि वास-सयाइं कुमारवासमज्झे वसित्ता, चउप्पन्नं राइंदियाइं छउमत्थपरि-यागं पाउणित्ता, देसूणाइं सत्त वाससयाइं केवलिपरियागं पाउणित्ता, पडिपुन्नाइं सत्त वाससयाइं सामन्नपरियागं पाउणित्ता, एगं वास-सहस्सं सव्वाउयं पालइत्ता, खीणे वेयणिज्जाउयनामगोत्ते इमीसे ओसप्पिणीए दुसमसुसमाए समाए बहुवीइक्कंताए जे से गिम्हाणं चउत्थे मासे अट्ठमे पक्खे आसाढसुद्धे तस्स णं आसाढसुद्धस्स अट्ठमीपक्खेणं उप्पिं उज्जिंतसेलसिहरंसि पंचहिं छत्तीसेहिं अणगा-रसएहिं सद्धिं मासिएणं भत्तेणं अपाणएणं चित्ताहिं नक्खत्तेणं जोग-मुवागएणं पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि नेसज्जिए कालगए जाव सव्व-दुक्खप्पहीणे ॥१६८॥

अर्थ—उस काल उस समय अर्हत् अरिष्टनेमि तीन सौ वर्ष तक कुमार अवस्था मे रहे। चोपन रात्रि दिन छद्मस्थ पर्याय में रहे। कुछ कम सात सौ वर्ष तक केवलज्ञानी अवस्था मे रहे। यों पूर्ण सात सौ वर्ष तक श्रमण पर्याय को पालन करके, और कुल एक हजार वर्ष का आयुष्य भोग करके, वेदनीय कर्म, आयुष्य कर्म, नाम कर्म, और गोत्र कर्म इन चारों अघाती कर्मों को पूर्णतया क्षीण करके, दुःषमा-सुषमा नामक अवसर्पिणी काल के बहुत व्यतीत हो

जाने पर, जब ग्रीष्मऋतु के चतुर्थमास का आठवां पक्ष, अर्थात् आषाढ़ मास का शुक्ल पक्ष आया, तब आषाढ़ शुक्ला अष्टमी के दिन उज्जित [उज्जयंत] शैल शिखर पर दूसरे पाँच सौ छत्तीस अनगारों के साथ उन्होंने निर्जल मासिक तप किया। उस समय चित्रा नक्षत्र का योग आने पर रात्रि के पूर्व और अपर भाग की सन्धिवेला मे, अर्थात् मध्यरात्रि को निषद्या में रहे हुए, [बैठे बैठे] अर्हत्-अरिष्टनेमि कालगत हुए। यावत् सभी दुखों से पूर्णतया मुक्त हुए।

मूल :—

अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स कालगयस्स जाव सव्वदुक्ख-प्पहीणस्स चउरासीइं वाससहस्साइं विइक्कंताइं, पंचासीइमस्स य वाससहस्सस्स नव वाससयाइं विइक्कंताइं, दसमस्स य वाससयस्स अयं असीइमे संवच्छरे काले गच्छइ ॥१६९॥

अर्थ—अर्हत् अरिष्टनेमि को कालगत हुए, यावत् सर्व दुःखों से पूर्णतया मुक्त हुए, चौरासी हजार वर्ष व्यतीत हो गये। और उस पर पचासीवें हजार वर्ष के नौ सौ वर्ष भी व्यतीत हो गये। उस पर दशवीं शताब्दी का यह अस्सीवें वर्ष का समय चल रहा है। अर्थात् अर्हत् अरिष्टनेमि को कालगत हुए चौरासी हजार नौ सौ अस्सी वर्ष व्यतीत हो गए।

——— ● **अर्हत्नमि से अर्हत् अजित**

मूल :—

नमिस्स णं अरहओ कालगयस्स जाव प्पहीणस्स पंच वाससयसहस्साइं चउरासीइं च वाससहस्साइं नव य वाससयाइं विइक्कंताइ, दसमस्स य वाससयस्स अयं असीइमे संवच्छरे काले गच्छइ ॥१७०॥

अर्थ—अर्हत् नमि को कालगत हुए यावत् सर्वदुःखों से पूर्णतया मुक्त हुए पाँच लाख चौरासी हजार नौ सौ वर्ष व्यतीत हो गये, उस पर दशमी शताब्दी का यह अस्सीवें वर्ष का समय चल रहा है।

मूल :—

मुणिसुव्वयस्स णं अरहओ कालगयस्स जाव प्पहीणस्स एक्कारस वाससयसहस्साइं चउरासीइं च वाससहस्साइं नव य वाससयाइं विइक्कंताइं दसमस्स य वाससयस्स अयं असीइमे संवच्छरे गच्छइ ॥१७१॥

अर्थ–अर्हत् मुनिसुव्रत को यावत् सर्वदुःखो से मुक्त हुए ग्यारह लाख चौरासी हजार और नौ सौ वर्ष व्यतीत हो गए, उस पर यह दशवीं शताब्दी का अस्सीवाँ वर्ष का समय चल रहा है।

विवेचन–अर्हत मुनिसुव्रत जैन परम्परा के बीसवे तीर्थकर हुए। उनका समय वर्तमान भारतीय कालगणना के साथ कुछ मेल नही खाता है, इसके कई कारण हो सकते हैं। किंतु उनकी ऐतिहासिकता तो इसी बात से सिद्ध है कि महापद्म चक्रवर्ती उन्ही के समय में हुए जिनका प्रधान नमुचि हुआ, जिससे विष्णुकुमार मुनि ने तीन चरण भूमि मांगकर श्रमणों का संकट मिटाया।[३३] नौवें बलदेव मर्यादा पुरुषोत्तम राम, वासुदेव लक्ष्मण एव प्रति वासुदेव रावण भो अर्हत् मुनिसुव्रत स्वामी के समय में हुए, ऐसा जैन इतिहासकारो का सुदृढ़ मत है।[३४]

मूल :—

मल्लिस्स णं अरहओ जाव प्पहीणस्स पन्नट्ठिं वाससयसहस्साइं चउरासीइं वाससहस्साइं नव य वास सयाइं विइक्कंताइं, दसमस्स य वाससयस्स अयं असीइमे संवच्छरे काले गच्छइ ॥१७२॥

अर्थ—अर्हत् मल्लि को यावत् सर्व दुःखों से पूर्णतया मुक्त हुए पैंसठ लाख चौरासी हजार नौ सौ वर्ष व्यतीत हो गये। अब उस पर दशवीं शताब्दी का अस्सीवें वर्ष का समय चल रहा है।[३५]

मूल :—

अरस्स णं अरहओ जाव प्पहीणस्स एगे वासकोडिसहस्से वितिक्कंते, सेसं जहा मल्लिस्स। तं च एयं—पंचसट्ठि लक्खा चउरासीइसहस्सा विइक्कंता तम्मि समए महावीरो निव्वुओ, ततो परं नव सया विइक्कंता, दसमस्स य वाससयस्स अयं असीइमे संवच्छरे गच्छइ। एवं अग्गओ जाव सेयंसो ताव दट्ठव्वं ॥१७३॥

अर्थ—अर्हत् अर को यावत् सर्व दुःखों से पूर्णतया मुक्त हुए एक हजार करोड़ वर्ष व्यतीत हो चुके। यहाँ सम्पूर्ण वृत्त श्री मल्लि भगवती के सम्बन्ध में कहा वैसा ही जानना। वह इस प्रकार कहा है—"अर्हत् 'अर' के निर्वाण गमन के पश्चात् एक हजार करोड़ वर्ष में श्री मल्लि अर्हत् का निर्वाण हुआ, और अर्हत् मल्लि के निर्वाण के बाद, पैंसठ लाख चौरासी हजार वर्ष व्यतीत हो गये उस समय महावीर निर्वाण प्राप्त हुए। उनके निर्वाण के बाद नौ सौ वर्ष व्यतीत हो गये, उस पर यह दशवीं शताब्दी का अस्सीवां वर्ष चल रहा है। इसी प्रकार आगे श्रेयांसनाथ का इतिवृत्त आता है वहाँ तक समझना चाहिए।

मूल :—

कुंथुस्स णं अरहओ जाव प्पहीणस्स एगे चउभागपलिओवमे विइक्कंते पंचसट्ठिं च सयसहस्सा सेसं जहा मल्लिस्स ॥१७४॥

अर्थ—अर्हत् कुन्थु को यावत् सर्व दुःखों से पूर्णतया मुक्त हुए एक पल्योपम का चतुर्थ भाग जितना समय व्यतीत हो गया। उसके पश्चात् पैंसठ लाख,

वर्ष व्यतीत होने पर इत्यादि जो कथन भगवती मल्लि के सम्बन्ध में कहा है वैसा ही सब समझना चाहिए।

मूल :—

संतिस्स णं अरहओ जाव प्पहीणस्स एगे चउभागूणे पलितोवमे विइक्कंते पन्नट्ठिं च, सेसं जहा मल्लिस्स ॥१७५॥

अर्थ—अर्हत् शान्ति को यावत् सर्व दुःखोंसे पूर्णतया मुक्त हुए चार भाग कम एक पल्योपम अर्थात् अर्धपल्योपम जितना समय व्यतीत हो गया, उसके पश्चात् पैंसठ लाख वर्ष व्यतीत हुए, इत्यादि सभी वृत्त जैसा भगवती मल्लि के सम्बन्ध में कहा है वैसा ही समझना चाहिए।[३६]

मूल :—

धम्मस्स णं अरहओ जाव प्पहीणस्स तिन्नि सागरोवमाइं विइक्कंताइं पन्नट्ठिं च, सेसं जहा मल्लिस्स ॥१७६॥

अर्थ—अर्हत् धर्म को यावत् सर्व दुःखों से पूर्णतया मुक्त हुए तीन सागरोपम जितना समय व्यतीत हुआ, उसके पश्चात् पैंसठ लाख वर्ष व्यतीत होने पर इत्यादि सभी जैसे भगवती मल्लि के सम्बन्ध में जैसा कहा है, वैसा ही यहाँ भी समझना चाहिए।

मूल :—

अणंतस्स णं जाव प्पहीणस्स सत्त सागरोवमाइं विइक्कंताइं पन्नट्ठिं च, सेसं जहा मल्लिस्स ॥१७७॥

अर्थ—अर्हत् अनन्त को यावत् सर्व दुःखोंसे पूर्णतया मुक्त हुए सातसागरोपम जितना समय व्यतीत हो गया, उसके पश्चात् पैंसठ लाख वर्ष व्यतीत होने पर इत्यादि सभी जैसे भगवती मल्लि के सम्बन्ध में कहा है, वैसे ही जानना चाहिए।

मूल :—

विमलस्स णं जाव प्पहीणस्स सोलस सागरोवमाइं विइक्कंताइं पन्नट्ठिं च सेसं जहा मल्लिस ॥१७८॥

अर्थ—अर्हत् विमल को यावत् सर्व दुःखों से पूर्णतया मुक्त हुए सोलह सागरोपम व्यतीत हो गये, और उसके पश्चात् पैंसठ लाख वर्ष व्यतीत हुए इत्यादि सभी जैसा मल्लि भगवती के सम्बन्ध में कहा वैसा ही जानना।

मूल :—

वासुपुज्जस्स णं अरहओ जाव प्पहीणस्स छायालीसं सागरोवमाइं विइक्कंताइं सेसं जहा मल्लिस ॥१७९॥

अर्थ—अर्हत् वासुपूज्य को यावत् सर्व दुःखोंसे पूर्णतया मुक्त हुए छियालीस सागरोपम जितना समय व्यतीत हुआ, और उसके बाद पैंसठ लाख वर्ष व्यतीत हो जाने पर, इत्यादि सभी वृत्त जैसे मल्लि भगवती के सम्बन्ध में कहा वैसे ही जानना।

मूल :—

सेज्जंसस्स णं अरहओ जाव प्पहीणस्स एगे सागरोवमसए विइक्कंते पन्नट्ठिं च सेसं जहा मल्लिस्स ॥१८०॥

अर्थ—अर्हत् श्रेयांस को यावत् सर्व दुःखों से पूर्णतया मुक्त हुए एक सौ सागरोपम जितना समय व्यतीत हो गया। उसके पश्चात पैंसठ लाख वर्ष व्यतीत होने पर इत्यादि सभी जैसे मल्लि भगवती के सम्बन्ध में कहा, वैसे ही जानना।

मूल :—

सीयलस्स णं जाव प्पहीणस्स एगा सागरोवमकोडी तिवासअड्ढनवमासाहियबायालीसवाससहस्सेहिं उणिया विइक्कंता

एयम्मि समए वीरे निव्वुए, तओ वि य णं परं नव वाससयाइं विइक्कंताइं, दसमस्स य वाससयस्स अयं असीइमे संवच्छरे काले गच्छइ ॥१८१॥

अर्थ—अर्हत् शीतल को यावत् सर्व दुःखोंसे पूर्णतया मुक्त हुए बयालीस हजार तीन वर्ष और साढ़े आठ मास न्यून एक करोड़ सागरोपम व्यतीत होने पर भगवान् महावीर निर्वाण को प्राप्त हुए, और उसके पश्चात् नौ सौ वर्ष व्यतीत हो गये, उसके उपरान्त यह दशवीं शताब्दी का अस्सीवां वर्ष चल रहा है।

मूल :—

सुविहिस्स णं अरहओ पुप्फदंतस्स काल जाव सव्वदुक्खप्पहीणस्स दस सागरोवमकोडीओ विइक्कंताओ, सेसं जहा सीअलस्स, तं च इमं-तिवासअद्धनवमासाहिअबायालीसवाससहस्सेहिं ऊणिआ विइक्कंता इच्चाइ ॥१८२॥

अर्थ—अर्हत् सुविधि को यावत् सर्व दुःखों से पूर्णतया मुक्त हुए दस करोड़ सागरोपम का समय व्यतीत हो गया, अन्य सभी वृत्तान्त जैसा शीतल अर्हत् के सम्बन्ध में कहा है वैसा जानना। वह इस प्रकार है—अर्थात् दस करोड सागरोपम में से बयालीस हजार और तीन वर्ष, तथा सार्ध अष्टमास कम करके जो समय आता है उस समय महावीर निर्वाण को प्राप्त हुए। उसके पश्चात् नौ सौ वर्ष व्यतीत हुए, इत्यादि सभी पूर्ववत् कहना।

मूल :—

चंदप्पहस्स णं अरहओ जाव प्पहीणस्स एगं सागरोवमकोडिसयं विइक्कंतं सेसं जहा सीतलस्स, तं च इमं—तिवासअद्धनवमासाहिय बायालीस (वास) सहस्सेहिं ऊणिगामिच्चाइ ॥१८३॥

अर्थ—अर्हत् चन्द्रप्रभ को यावत् सर्व दुःखों से मुक्त हुए एक सौ करोड़ सागरोपम जितना समय व्यतीत हो गया, शेष सभी जैसे शीतल अर्हत् के विषय में कहा वैसे जानना। वह इस प्रकार है—इन सौ करोड़ सागरोपम में से बयालीस हजार तीन वर्ष और साढ़े आठ मास व्यतीत होने पर जो समय आता है, उस समय महावीर निर्वाण प्राप्त हुए, और उसके पश्चात् नौ सौ वर्ष व्यतीत हो गए, इत्यादि पूर्ववत् समान समझना।

मूल :—

सुपासस्स णं जाव प्पहीणस्स एगे सागरोवमकोडी सहस्से विइक्कंते, सेसं जहा—सीयलस्स, तं च इमं—तिवासअद्धनवमासाहियबायालीससहस्सेहिं ऊणिया विइक्कंता इच्चाइ ॥१८४॥

अर्थ—अर्हत् सुपार्श्व को यावत् सर्व दुःखोंसे पूर्णतया मुक्त हुए एक हजार करोड़ सागरोपम जितना समय व्यतीत हो गया, शेष सभी जैसे शीतल के विषय में कहा है वैसे जानना। वह इस प्रकार है—एक हजार करोड़ सागरोपम में से बयालीस हजार तीन वर्ष और साढ़े आठ मास कम करके जो समय आता है उस समय भगवान् महावीर निर्वाण को प्राप्त हुए। इत्यादि सभी पूर्ववत् ही कहना चाहिए।

मूल :—

पउमप्पभस्स णं जाव प्पहीणस्स दससागरोवमकोडिसहस्सा विइक्कंता, सेसं जहा-सीयलस्स, तिवासअद्धनवमासाहियबायालीससहस्सेहिं ऊणिया विइक्कंता इच्चाइयं ॥१८५॥

अर्थ—अर्हत् पद्मप्रभ को यावत् सर्व दुःखों से पूर्णतया मुक्त हुए दस हजार करोड़ सागरोपम जितना समय व्यतीत हो गया। शेष सारा वृत्त जैसे शीतल के सम्बन्ध मे कहा है वैसा जानना। वह इस प्रकार है—इन दस हजार करोड़ सागरोपम जितने समय में से बयालीस हजार, तीन वर्ष और साढ़े आठ

मास कम करके जो समय आता है उस समय महावीर का निर्वाण हुआ। इत्यादि सभी पूर्ववत् कहना चाहिए।

मूल :—

सुमइस्स णं जाव प्पहीणस्स एगे सागरोवमकोडी सयसहस्से विइकंते, सेसं जहा सीयलस्स, तिवासअद्धनवमासाहियबायालीससहस्सेहिं इच्चाइयं ॥१८६॥

अर्थ–अर्हत् सुमति को यावत् सर्व दुःखोंसे पूर्णतया मुक्त हुए एक लाख करोड़ सागरोपम जितना समय व्यतीत हो गया, शेष सभी शीतल के सम्बन्ध में जो कहा वैसे ही जानना। वह इस प्रकार है– एक लाख करोड़ सागरोपम जितने समय मे से बयालीस हजार तीन वर्ष और साढ़े आठ मास कम करके जो समय आता है उस समय महावीर निर्वाण को प्राप्त हुए इत्यादि।

मूल :—

अभिनंदणस्स णं जाव प्पहीणस्स दस सागरोवमकोडीसयसहस्सा विइक्कंता, सेसं जहा सीयलस्स, तिवासअद्धनवमासाहियबायालीससहस्सेहिं इच्चाइयं ॥ ८७॥

अर्थ–अर्हत् अभिनन्दन को यावत् सर्व दुःखों से पूर्णतया मुक्त हुए दस लाख करोड़ सागरोपम जितना समय व्यतीत हो गया। शेष सभी जैसे शीतल के सम्बन्ध में कहा वैसे ही जानना। अर्थात् दस लाख करोड़ सागरोपम में से बयालीस हजार और तीन वर्ष तथा साढ़े आठ मास कम करने पर जो समय आता है, उस समय महावीर निर्वाण को प्राप्त हुए। इत्यादि सभी पूर्व के समान समझना।

मूल :—

संभवस्स णं अरहओ जाव प्पहीणस्स वीसं सागरोवम-

कोडिसयसहस्सा विइक्कंता सेसं जहा सीयलस्स, तिवासअद्धनव-मासाहियबायालीसवाससहस्सेहिं इच्चाइयं ॥१८८॥

अर्थ—अर्हत् संभव को यावत् सर्व दुःखों से मुक्त हुए बीस लाख करोड़ सागरोपम जितना समय व्यतीत हो गया। शेष सभी शीतल के सम्बन्ध में कहा वैसे ही जानना चाहिए। अर्थात् बीस लाख करोड़ सागरोपम जितने समय में से बयालीस हजार तीन वर्ष और साढ़े आठ मास को कम करके जो समय आता है उस समय महावीर निर्वाण को प्राप्त हुए।

मूल :—

अजियस्स णं जाव प्पहीणस्स पन्नासं सागरोवमकोडि-सयसहस्सा विइक्कता, सेसं जहा सीयलस्स, तिवासअद्धनवमा-साहियबायालीसवाससहस्सेहिं इच्चाइयं ॥१८९॥

अर्थ—अर्हत् अजित को यावत् सर्व दुःखों से मुक्त हुए पचास लाख करोड़ सागरोपम बीत गए। इस समय में बयालीस हजार तीन वर्ष और साढ़े आठ मास कम करके जो समय आता है उस समय महावीर निर्वाण को प्राप्त हुए इत्यादि सभी पूर्ववत् समझना।

——— ● **भगवान् ऋषभदेव**

मूल :—

तेणं कालेणं तेणं समएणं उसहे णं अरहा कोसलिए चउ उत्तरासाढे अभीइपंचमे होत्था, तं जहा—उत्तरासाढाहिं चुए चइत्ता गब्भ वक्कंते जाव अभीइणा परिनिव्वुए ॥१९०॥

अर्थ—उस काल उस समय कौशलिक (कोशला-अयोध्या नगरी में हुए) अर्हत् ऋषभ चार उत्तराषाढा वाले और पाँचवें अभिजित नक्षत्र वाले थे। अर्थात् उनके चार कल्याणकों में उत्तराषाढा नक्षत्र आया था। पाँचवें कल्याणक के समय अभिजित नक्षत्र था। जैसे—कौशलिक अर्हत् ऋषभदेव

उत्तराषाढा नक्षत्र में च्युत हुए और च्युत होकर गर्भ में आये, यावत् अभिजित नक्षत्र में निर्वाण को प्राप्त हुए।

मूल :—

तेणं कालेणं तेणं समएणं उसभे णं अरहा कोसलिए जे से गिम्हाणं चउत्थे मासे सत्तमे पक्खे आसाढ़बहुले तस्स णं आसाढ़बहुलस्स चउत्थीपक्खेणं सव्वट्ठसिद्धाओ महाविमाणाओ तेत्तीससागरोमट्ठिनीयाओ अणंतरं चयं चइत्ता इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे इक्खागभूमीए नाभिस्स कुलगरस्स मरुदेवीए भारियाए पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि आहारवक्कंतीए जाव गब्भत्ताए वक्कंते ॥१६१॥

अर्थ—उस काल उस समय कौशलिक अर्हत् ऋषभ ग्रीष्म ऋतु का चतुर्थ मास, सातवाँ पक्ष अर्थात् आषाढ मास का कृष्ण पक्ष आया, तब उस आषाढ कृष्णा चतुर्थी के दिन जिसमें तेतीस सागरोपम की आयु होती है, उस सर्वार्थसिद्ध नामक महाविमान में से आयुष्य आदि पूर्ण होने पर, दिव्य आहार आदि छूट जाने पर यावत् शीघ्र ही च्यवकर इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप में, भारतवर्ष में, इक्ष्वाकुभूमि में नाभि कुलकर की भार्या मरुदेवी की कुक्षि में रात्रि के पूर्वान्ह और अपरान्ह की सन्धिवेला में, अर्थात् मध्यरात्रि में उत्तराषाढा नक्षत्र का योग होने पर गर्भ रूप में उत्पन्न हुए।

——● पूर्वभव

विवेचन—भगवान् श्री ऋषभदेव के जीव को सर्व प्रथम धन्ना सार्थवाह के भव में सम्यग्दर्शन का आलोक प्राप्त हुआ था। उस समय वे मिथ्यात्व से मुक्त हुए थे, अतः ऋषभदेव के तेरह पूर्व भवों का उल्लेख अनेक ग्रन्थों में किया गया है।[३७]

(१) **धन्ना सार्थवाह**—भगवान् श्री ऋषभदेव का जीव एक बार अपर महाविदेह क्षेत्र के क्षितिप्रतिष्ठ नगर में धन्य नामक सार्थवाह हुआ। उसके

पास विपुल वैभव था। वह सुदूर विदेशों में व्यापार करता था। एक बार उसने यह उद्घोषणा करवाई कि जिसे वसन्तपुर व्यापारार्थ चलना हो वह मेरे साथ चले। मैं उसे सभी प्रकार की सुविधाएँ दूंगा। शताधिक व्यक्ति व्यापारार्थ उसके साथ प्रस्थित हुए।

धर्मघोष आचार्य शिष्यों सहित वसन्तपुर धर्म प्रचारार्थ जाना चाहते थे। विकट संकटमय पथ होने से बिना साथ के जाना असंभव था, उद्घोषणा सुन, आचार्य श्रेष्ठी के पास गये और साथ चलने की भावना अभिव्यक्त की।

श्रेष्ठी ने अपने भाग्य की सराहना करते हुए अनुचरों को आदेश दिया कि श्रमणों के लिए भोजनादि की सुविधा का पूर्ण ध्यान रखना। आचार्य ने श्रमणाचार का विश्लेषण करते हुए बताया कि श्रमण के लिए औद्देशिक, आधाकर्मिक आदि दोषयुक्त आहार निषिद्ध है। उसी समय एक अनुचर आम लेकर आया। श्रेष्ठी ने आम ग्रहण करने के लिए प्रार्थना की। आचार्य ने बताया कि जैन श्रमण के लिए सचित्त पदार्थ भी अग्राह्य है। श्रमण की कठोर-चर्या को सुनकर श्रेष्ठी श्रद्धावनत हो गया।[३८]

आचार्य भी सार्थ के साथ पथ को पार करते हुए बढ़े जा रहे थे। वर्षा ऋतु आई। आकाश में उमड़-घुमड़कर घनघोर घटाएँ छाने लगी और रिम-झिम वर्षा बरसने लगी। उस समय सार्थ भयानक अटवी में से गुजर रहा था। मार्ग कीचड़ से व्याप्त था। सार्थ उसी अटवी में वर्षावास व्यतीत करने हेतु रुक गया। आचार्य भी निर्दोष स्थान में स्थित हो गये।

उस अटवी में सार्थ को संभावना से अधिक रुकना पड़ा, अतः साथ की खाद्य-सामग्री समाप्त हो गयी। क्षुधा से पीड़ित हो सार्थ के लोग अरण्य में कन्द मूलादि की अन्वेषणा कर जीवन व्यतीत करने लगे।

वर्षावास के उपसहार काल में धन्य सार्थवाह को अकस्मात् स्मृति आई कि मेरे साथ जो आचार्य प्रवर आये थे, मैंने उनकी सुध नहीं ली। उनके आहार की क्या व्यवस्था है? वह शीघ्र ही आचार्य के पास गया, और आहार की अभ्यर्थना की। आचार्य ने उसे कल्प और अकल्प को समझाया, कल्प और

अकल्प का परिज्ञान कर उसने उत्कृष्ट भावना से प्रासुक विपुल घृत दान दिया। शुद्ध भावना के फलस्वरूप सम्यक्त्व की उपलब्धि हुई।[३९]

(२) **उत्तर कुरु में मनुष्य**–वहाँ से धन्य सार्थवाह का जीव आयुपूर्णकर दान के प्रभाव से उत्तर कुरु मे मनुष्य हुआ।

(३) **सौधर्म देवलोक**—वहाँ से धन्ना सार्थवाह का जीव सौधर्म कल्प में देव रूप में उत्पन्न हुआ।

(४) **महाबल**—वहाँ से च्यवकर धन्ना सार्थवाह का जीव पश्चिम महाविदेह के गंधिलावती विजय में वैताढ्य पर्वत की विद्याधरश्रेणी के अधिपति शतबल राजा का पुत्र महाबल हुआ। महाबल के पिता को संसार से विरक्ति हुई पुत्र को राज्य देकर स्वय श्रमण बन गये।

एक बार सम्राट् महाबल अपने प्रमुख अमात्यों के साथ राज-सभा मे बैठे हुए मनोविनोद कर रहे थे। तब स्वय बुद्ध अमात्य ने राजा को धर्म का मर्म समझाया, राजा पुत्र को राज्य देकर मुनि बना, दुष्कृत्यो की आलोचना की और बाईस दिन का संथारा कर समाधिपूर्वक आयु पूर्ण किया।

(५) **ललिताङ्ग देव**–वहाँ से धन्ना सार्थवाह का जीव ऐशानकल्प में ललिताङ्ग देव बना, वहाँ स्वयप्रभा देवी मे वह इतना आसक्त हो गया कि स्वयं प्रभादेवी का च्यवन होने पर ललितांग देव उसके विरह मे आकुल-व्याकुल बन गया। तब स्वयं बुद्ध अमात्य के जीव ने जो उसी कल्प में देव हुआ था, आकर उसे सांत्वना दी। स्वयं प्रभादेवी भी वहा से च्यवकर मानव लोक में निर्नामिका नाम की बालिका हुई। केवली के उपदेश से श्राविका बनकर पुनः आयु पूर्णकर उसी कल्प में स्वयंप्रभा देवी हो गई। ललितांङ्गदेव पुनः उसमें आसक्त हो गया। जीवन के अन्त में नमस्कार महामत्र का जाप करते हुए आयु पूर्ण की।

(६) **वज्रजंघ**–वहाँ से च्यवकर ललिताङ्गदेव का जीव जम्बूद्वीप की पुष्कलावती विजय में लोहार्गला नगर के अधिपति स्वर्णगंध सम्राट् की पत्नी लक्ष्मी देवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। वज्रजघ नाम दिया गया।

स्वयंप्रभा देवी भी वहाँ से आयु पूर्ण कर पुण्डरीकिनी नगरी में वज्रसेन राजा की पुत्री 'श्रीमती' हुई ।

एक बार 'श्रीमती' महल की छत पर घूम रही थी कि उस समय पास के एक उद्यान में मुनि को केवलज्ञान हुआ । उसके महोत्सव करने हेतु देव-गण आकाश मार्ग से जा रहे थे । आकाश मार्ग से जाते हुए देव समूह को निहारकर श्रीमती को पूर्व भव की स्मृति उद्‌बुद्ध हुई । उसने वह स्मृति एक चित्रपट्ट पर अंकित की । पण्डिता परिचारिका उस चित्रपट्ट को लेकर राजपथ पर, जहाँ चक्रवर्ती वज्रसेन की वर्षगांठ मनाने हेतु अनेक देशों के राजकुमार आ-जा रहे थे, वहाँ खड़ी हो गई । वज्रजंघ राजकुमार ने ज्योंही वह चित्र देखा त्योंही उसे भी पूर्वभव की स्मृति जागृत हो गई । चित्र-पट्ट का सारा इतिवृत्त पण्डिता परिचारिका को बताया । परिचारिका ने श्रीमती को, और पुनः श्रीमती की प्रेरणा से चक्रवर्ती वज्रसेन को परिचय दे श्रीमती का वज्रजंघ के साथ पाणि-ग्रहण करवाया ।

श्रीमती के पिता वज्रसेन ने संयम ले लिया । तब सीमा प्रान्तीय नरेश सम्राट् पुष्करपाल की आज्ञा का उल्लंघन करने लगे । वज्रजंघ उसकी सहाय-तार्थ गया एव शत्रुओं पर विजय वैजयंती फहराकर वह पुनः अपनी राजधानी को लौट रहा था, उसे ज्ञात हुआ कि प्रस्तुत अरण्य में दो मुनियों को केवल-ज्ञान उत्पन्न हुआ है, उनके दिव्य प्रभाव से दृष्टिविष सर्प भी निर्विष हो गया । वज्रजंघ मुनियों के दर्शन करने के लिए गया । उपदेश सुन वैराग्य हुआ । पुत्र को राज्य देकर संयम ग्रहण करूँगा, इस भावना के साथ वह वहाँ से प्रस्थान कर राजधानी पहुँचा । इधर पुत्र ने सोचा कि पिताजी जीते जी मुझे राज्य देंगे नही, अतएव राज्य लोभ में फँसकर उसने उसी रात्रि को वज्रजंघ के महल में जहरीला धुंआ फैलाया, जिसकी गंध से वज्रजंघ और 'श्रीमती' दोनों ही मृत्यु को प्राप्त हुए ।[४०]

(७) **युगलिक**—वहाँ से दोनों ही आयु पूर्ण कर उत्तरकुरु में युगल-युग-लिनी बने ।

(८) **सौधर्म कल्प**—वहाँ से आयु पूर्ण कर सौधर्म कल्प में देव बने ।

(६) जीवानन्द वैद्य—वहाँ से च्यवकर धन्नासेठ का जीव जीवानन्द वैद्य बना। उस समय वहाँ पाँच अन्य जीव भी उत्पन्न हुए (१) राजा का पुत्र-महीधर, (२) मन्त्रीपुत्र सुबुद्धि, (३) सार्थवाह पुत्र पूर्णभद्र, (४) श्रेष्ठीपुत्र गुणाकर (५) ईश्वरदत्त पुत्र केशव (जो श्रीमती का जीव था) इन छहों मित्रों में पय: पानी जैसा प्रेम था।

अपने पिता की तरह जीवानन्द वैद्य भी आयुर्वेद विद्या में प्रवीण था। उसकी प्रतिभा की तेजस्विता से सभी प्रभावित थे। एक दिन सभी स्नेही साथी वार्तालाप कर रहे थे कि वहाँ एक दीर्घतपस्वी मुनि भिक्षा के लिए आये। वे कृमि-कुष्ठ की भयंकर व्याधि से ग्रसित थे। सम्राट् पुत्र महीधर ने जीवानंद से कहा—मित्रवर ! आप अन्य गृहस्थ लोगों की चिकित्सा करने में दक्ष हैं, पर कृमिकुष्ट रोग से ग्रसित इन तपस्वी मुनि को निहार करके भी उनकी चिकित्सा हेतु प्रवृत्त क्यों नही होते ?

जीवानन्द—मित्र, तुम्हारा कथन सत्य है, पर मेरे पास लक्षपाक तैल के अतिरिक्त अन्य आवश्यक औषधियाँ अभी उपलब्ध नही हैं।

उन्होंने कहा—बताइए, क्या औषधियाँ चाहिए ? हम मूल्य देंगे, जहाँ भी उपलब्ध हो सकेंगी, लाने का प्रयास करेंगे।

जीवानन्द–दो वस्तुएँ चाहिए, रत्न-कंबल, और गोशीर्ष चन्दन ?

पाँचों ही साथी औषधि लाने के लिए एक श्रेष्ठी की दुकान पर पहुंचे। श्रेष्ठी ने कहा–प्रत्येक वस्तु का मूल्य एक-एक लाख दीनार है। वे उस मूल्य को देने के लिए ज्योंही प्रस्तुत हुए, त्योंही श्रेष्ठी ने प्रश्न किया कि ये अमूल्य वस्तुएँ किसलिए चाहिए ? उन्होंने कहा—मुनि की चिकित्सा के लिए। मुनि का नाम सुनकर वे दोनों ही वस्तुएँ बिना मूल्य लिये श्रेष्ठी ने दे दी। वे उन वस्तुओं को लेकर वैद्य के पास गए।

साथियों के साथ ही जीवानन्द वैद्य औषधियां लेकर मुनि के पास गया। मुनि ध्यानमुद्रा मे लीन थे। मुनि की बिना स्वीकृति लिये ही मुनि को आरोग्य प्रदान करने हेतु उन्होंने तैल का मर्दन किया। उष्णवीर्य तैल के प्रभाव

से कृमियां बाहर निकलने लगीं। तो शीतवीर्य रत्न-कम्बल से उनके शरीर को आच्छादित कर दिया गया, जिससे वे कृमियाँ रत्न-कम्बल में आ गईं। उसके पश्चात् रत्न-कम्बल की कृमियों को गो-चर्म में रख दिया। पुनः मर्दन किया, तो मांसस्थ कृमियाँ निकल गईं, तृतीय बार के मर्दन से अस्थिगत कृमियाँ निकल गई। उसके पश्चात् गोशीर्ष चन्दन का लेप किया, जिससे मुनि पूर्ण स्वस्थ हो गये। छहों मित्र मुनि की स्वस्थता देखकर बहुत प्रमुदित हुए।

छहों मित्रों को संसार से विरक्ति हुई। उन्होंने दीक्षा ग्रहणकर उत्कृष्ट तपः साधना की।

(१०) **बारहवें देवलोक में**—वहाँ से आयु पूर्णकर बारहवें अच्युत देव लोक में वे उत्पन्न हुए।

(११) **वज्रनाभ**–जीवानंद का जीव वहाँ से आयु समाप्त होने पर पुष्कलावती विजय की पुण्डरीकिणी नगरी के अधिपति वज्रसेन राजा की धारिणी रानी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होते ही माता ने चौदह महास्वप्न देखे। जन्म होने पर पुत्र का नाम वज्रनाभ रखा गया। पूर्व के पांचों साथियों मे से चार तो क्रमशः बाहु, सुबाहु, पीठ, महापीठ, उनके भ्राता हुए और एक उनका सारथी हुआ।

वज्रनाभ को राज्य देकर वज्रसेन ने संयम ग्रहण किया और उत्कृष्ट सयम साधना कर कैवल्य प्राप्त किया। वह तीर्थंकर बने। सम्राट् वज्रनाभ ने भी चक्र रत्न उत्पन्न होने पर षट्खण्ड की विजय कर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। दीर्घकाल तक षट्खण्ड का राज्य किया और अन्त में पिता वज्रसेन के उपदेशप्रद प्रवचन सुनकर विरक्ति हुई। वज्रनाभ भी अपने प्रिय भ्राताओं और सारथी के साथ प्रव्रजित हुआ। आगमों का गम्भीर चिन्तन मनन किया, उत्कृष्ट तप की साधना की, अनेक चामत्कारिक लब्धियाँ प्राप्त हुईं। तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया। अन्त में मासिक संलेखना पूर्वक पादपोपगमन संथारा कर समाधिपूर्वक आयु पूर्ण किया।

यहाँ पर स्मरण रखना चाहिए कि वज्रनाभ के शेष चारों लघु-

भ्राताओं ने एकादश अंगों का अध्ययन किया। उनमे से बाहूमुनि मुनियों की वंयावृत्य करता, और सुबाहुमुनि परिश्रान्त मुनियों को विश्रामणा देता, अर्थात् थके हुए मुनियों के अवयवों के मर्दन आदि रूप अन्तरंग सेवा करता। दोनों की सेवा-भक्ति को निहारकर वज्रनाभ अत्यधिक प्रसन्न हुए और उनकी प्रशसा करते हुए कहा—तुमने सेवा और विश्रामणा के द्वारा अपने जीवन को सफल किया है।

ज्येष्ठ भ्राता के द्वारा अपने मझले भ्राताओं की प्रशंसा सुनकर पीठ, महापीठ मुनि के अन्तर्मानस में ये विचार उत्पन्न हुए कि हम स्वाध्याय आदि मे तन्मय रहते हैं, हमारी कोई प्रशंसा नही करता, पर वैयावृत्य करने वालों की प्रशंसा होती है। इस प्रकार मन में ईर्ष्या उत्पन्न हुई। उस ईर्ष्या-बुद्धि से व माया की तीव्रता से मिथ्यात्व आया और स्त्री वेद का बन्धन हुआ। कृत-दोष की आलोचना नही की। यदि नि:शल्य होकर आलोचना करते तो जीवन अवश्य ही विशुद्ध बनता।[४१]

(१२) **सर्वार्थसिद्ध में**—वहाँ से आयु पूर्णकर वज्रनाभ आदि पाँचो भाई **सर्वार्थसिद्ध** विमान मे उत्पन्न हुए। वहा तेतीस सागरोपम तक सुख के सागर में निमग्न रहे।

(१३) **ऋषभदेव**—वहाँ से सर्वप्रथम आयु पूर्णकर वज्रनाभ का जीव, भगवान् ऋषभदेव हुआ। बाहुमुनि का जीव वैयावृत्य के प्रभाव से श्री ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती के रूप में जन्मा, सुबाहुमुनि का जीव मुनियों को विश्रामणा देने से विशिष्ट बाहुबल का अधिपति ऋषभदेव का पुत्र बाहुबली हुआ।[४२] पीठ, महापीठ मुनि के जीव कृत-दोषों की आलोचना न करने से ऋषभदेव की पुत्रियाँ ब्राह्मी और सुन्दरी हुई। और सारथी का जीव श्रेयांस-कुमार हुआ।

मूल :—

उसभे अरहा कोसलिए तिन्नाणोवगए होत्था तं जहा—चइस्सामि त्ति जाणइ जाव सुमिणे पासइ, तं जहा—गय उसह०

गाहा, सव्वं तहेवं, नवरं सुविणपाढगा, णत्थि, नाभी कुलगरो वागरेइ ॥१६२॥

अर्थ—कौशलिक अर्हत् ऋषभ तीन ज्ञान से युक्त थे,। वह इस प्रकार—'मैं च्युत होऊँगा', इस प्रकार वे जानते थे, इत्यादि सभी पहले भगवान् महावीर के प्रकरण में जो कहा है वैसा ही कहना, यावत् माता स्वप्न देखती है। वे स्वप्न इस प्रकार है गज, वृषभ आदि। विशेष यह कि वह प्रथम स्वप्न में वृषभ को मुख में प्रवेश करती हुई देखती है। (स्मरण रखना चाहिए कि अन्य सभी तीर्थंकरों की माताएँ प्रथम स्वप्न में मुख में प्रवेश करते हुए हाथी को देखती हैं) स्वप्न का सारा वृत्तान्त मरुदेवी नाभि कुलकर से कहती है। यहाँ स्वप्नों के फल बताने वाले, स्वप्न पाठक नहीं है। अतः स्वप्नों के फल को नाभि कुलकर स्वय कहते हैं।

——— ● जन्म

मूल :—

तेणं कालेणं तेणं समएणं उसभे अरहा कोसलिए जे से गिह्माणं पढमे मासे पढमे पक्खे चित्तबहुले तस्स णं चित्तबहुलस्स अट्ठमीपक्खेणं नवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धट्ठमाण य राइंदियाणं जाव आसाढाहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं आरोग्गा आरोग्गं पयाया, तं चेव जाव देवा देवीओ य वसुहारवासं वासिंसु सेसं तहेव चारगसोहणं माणुम्माणवड्ढणं उस्सुक्कमाईयं ठिइपडियवज्जं सव्वं भाणियव्वं ॥१६३॥

अर्थ—उस काल उस समय ग्रीष्म ऋतु का प्रथम मास, प्रथम पक्ष, अर्थात् जब चैत्र मास का कृष्ण पक्ष आया, तब चैत्र कृष्णा अष्टमी के दिन, नौ मास और ऊपर साढ़े सात रात्रि दिन व्यतीत होने पर, यावत् आषाढ़ा नक्षत्र का योग होते ही आरोग्यवाली माता ने आरोग्यपूर्वक कौशलिक अर्हत् ऋषभ नामक पुत्र को जन्म दिया।

यहाँ पहले कहे हुए के समान जन्म सम्बन्धी सारा वृत्त कहना। यावत् देव-देवियाँ आती हैं, वसुधाराएँ वर्षाती है आदि, किन्तु कारागृह से बन्दियो को मुक्त करना, कर माफ करना, परम्परानुसार जन्मोत्सव आदि प्रस्तुत वर्णन जो पूर्व पाठ में आया है वह यहाँ पर नही कहना चाहिए, क्योंकि उस युग में न कारागृह थे और न कर आदि ही थे।

मूल :—

उसभे णं कोसलिए कासवगुत्तेणं, तस्स णं पंच नामधिज्जा एवमाहिज्जंति, तं जहा–उसभे इ वा, पढमराया इ वा, पढमभिक्खाचरे इ वा, पढमजिणे इ वा, पढमतित्थकरे इ वा ॥१६४॥

अर्थ—कौशलिक अर्हत् ऋषभ काश्यपगोत्रीय थे। उनके पाँच नाम इस प्रकार कहे जाते हैं (१) ऋषभ, (२) प्रथम राजा, (३) प्रथम भिक्षाचर, (४) प्रथम जिन और (५) प्रथम तीर्थंकर।

भगवान् ऋषभदेव के जन्म से पहले यौगलिक काल था, किन्तु उसमें परिवर्तन होता जा रहा था। अनुक्रम से आवश्यकताएँ तो बढ रही थीं, पर कल्पवृक्षों की शक्ति क्षीण होती जाने से आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पारही थी। साधनाभाव से परस्पर संघर्ष होने लगा। अपराधी मनोवृत्ति जब व्यवस्था का अतिक्रमण करने लगी, तब अपराधों के निरोध के लिए कुलकर व्यवस्था आई, जिसने सर्वप्रथम दण्डनीति का प्रचलन किया।[४३]

तीन नीति : हाकार नीति–प्रथम कुलकर विमलवाहन के समय हाकार नीति का प्रचलन हुआ। उस युग का मानव आज के मानव की तरह अमर्यादित व उच्छृंखल नही था। वह स्वभाव से संकोचशील एवं लज्जालु था। अपराध करने पर अपराधी को इतना ही कहा जाता–'हा! तुमने यह क्या किया?' बस, यह शब्द-प्रताडना उस युग का महान्‌तम दण्ड था। इसे सुनते ही अपराधी पानी-पानी हो जाता।[४४] यह नीति द्वितीय कुलकर चक्षुष्मान् के समय तक चलती रही।

माकार नीति–जब 'हाकार नीति' असफल होने लगी, तब माकार नीति का प्रयोग प्रारंभ हुआ।[४५] तृतीय और चतुर्थ कुलकर 'यशस्वी' और 'अभिचन्द्र' कुलकरों के समय तक लघु अपराध के लिए 'हाकार' नीति और गुरुतर अपराध के लिए 'माकार' नीति का प्रयोग चलता रहा। 'मत करो' इस निषेधाज्ञा को बहुत बड़ा दंड समझा जाता था।

धिक्कार नीति–जब माकार नीति भी विफल होने लगी, तब 'धिक्कार' नीति का प्रादुर्भाव हुआ। यह नीति पाँचवें प्रसेनजित्, छठे मरुदेव और सातवें कुलकर नाभि तक चलती रही। इस प्रकार खेद, निषेध और तिरस्कार ये मृत्यु-दण्ड से भी अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुए। क्योंकि उस समय की प्रजा स्वभाव से सरल, मानस से कोमल, स्वयं-शासित और मर्यादाप्रिय थी।[४६]

अन्तिम कुलकर नाभि के समय यौगलिक सभ्यता तेजी से क्षीण होने लगी। ऐसे समय मे भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ।

माता मरुदेवी ने जो चौदह महास्वप्न देखे थे, उनमें सर्वप्रथम ऋषभ (वृषभ) का स्वप्न था[४७] और जन्म के पश्चात् शिशु के उरु-स्थल पर ऋषभ का लांछन था, अतः उनका नाम ऋषभ रखा गया।[४८]

वंश उत्पत्ति-जब ऋषभदेव एक वर्ष से कुछ कम थे, उस समय पिता नाभि की गोद में बैठे हुए क्रीड़ा कर रहे थे। तब शक्रेन्द्र हाथ में इक्षु लेकर आया। बालक ऋषभदेव ने लेने के लिए हाथ आगे बढ़ाया। बालक ने इक्षु-आकु (इक्षु भक्षण करना, चाहा, इस दृष्टि से उनका वंश इक्ष्वाकुवंश के नाम से विश्व में विश्रुत हुआ।[४९]

विवाह परम्परा—यौगलिक परम्परा में एक ही माता के उदर से एक साथ जन्मा नर-नारी का युगल ही पति व पत्नी के रूप में परिवर्तित हो जाता था। सुनन्दा के भ्राता की अकाल-मृत्यु हो जाने से ऋषभदेव ने सुनन्दा व सहजात सुमङ्गला के साथ पाणिग्रहण कर नई व्यवस्था का सूत्रपात किया।[५०] सुमंगला ने भरत और ब्राह्मी को तथा सुनन्दा ने बाहुबली और सुन्दरी को जन्म दिया। उसके पश्चात् सुमंगला के क्रमशः अट्ठानवें पुत्र और हुए।[५१]

भरत और बाहुबली का विवाह—श्री ऋषभदेव ने यौगलिक धर्म को निवारण करने के लिए जब भरत और बाहुबली युवा हुए तब भरत की सहजात ब्राह्मी का पाणिग्रहण बाहुबली से करवाया और बाहुबली की सहजात सुन्दरी का पाणिग्रहण भरत से करवाया।[५२] इन विवाहों का अनुसरण कर जनता ने भी भिन्न गोत्र में समुत्पन्न कन्याओ को उनके माता पिता आदि अभिभावकों द्वारा दान में प्राप्तकर पाणिग्रहण करना शुरू किया।[५३] इस प्रकार एक नवीन परम्परा प्रारम्भ हुई। यहीं से विवाह प्रथा का आरम्भ हुआ।

● प्रथम राजा

पहले बताया जा चुका है कि ऋषभदेव के पिता 'नाभि' अन्तिम कुलकर थे। जब उनके नेतृत्व में ही धिक्कार नीति का उल्लघन होने लगा तब घबराकर युगलिक श्री ऋषभदेव के पास पहुँचे, और उन्हें सारी स्थिति का परिज्ञान कराया। भगवान ऋषभदेव ने कहा—जो मर्यादाओं का अतिक्रमण कर रहे है, उन्हे दण्ड मिलना चाहिए और यह व्यवस्था राजा ही कर सकता है, क्योंकि शक्ति के सारे स्रोत उसमें केन्द्रित होते हैं। समय के पारखी कुलकर नाभि ने युगलिको की विनम्र प्रार्थना पर ऋषभदेव का राज्याभिषेक कर उन्हें 'राजा' घोषित किया।[५४] ऋषभ देव प्रथम राजा बने, और शेष जनता प्रजा। इस प्रकार पूर्व चली आ रही 'कुलकर' व्यवस्था का अन्त हुआ और नवीन राज्य व्यवस्था का प्रारम्भ।

राज्याभिषेक के समय युगल समूह कमल पत्रों में पानी लाकर ऋषभदेव के पाद-पद्मों का सिंचन करने लगे। उनके विनीत स्वभाव को अनुलक्ष में रखकर नगर का नाम 'विनीता' रखा।[५५] उसका दूसरा नाम अयोध्या भी है।[५६] उस प्रान्त का नाम 'विनीत भूमि'[५७] और 'इक्खाग भूमि'[५८] पड़ा। कुछ समय के बाद वह मध्यदेश के नाम से विख्यात हुई।[५९]

राज्य व्यवस्था का विकास—राजा बनने के पश्चात् ऋषभदेव ने राज्य की सुव्यवस्था हेतु आरक्षक दल को स्थापना की। जिसके अधिकारी 'उग्र' कहलाये। मंत्रि-मण्डल बनाया जिसके अधिकारी 'भोग' नाम से प्रसिद्ध हुए। सम्राट् के समीपस्थ जन जो परामर्श प्रदाता थे वे 'राजन्य' के नाम से विख्यात हुए और अन्य राजकर्मचारी 'क्षत्रिय' नाम से विश्रुत हुए।[६०]

राज्य के सरक्षणार्थ चार प्रकार की सेना व सेनापतियों का निर्माण किया।[61] साम, दाम, दण्ड और भेद नीति का प्रचलन किया। चार प्रकार की दण्डव्यवस्था-परिभाष, (२) मण्डल वन्ध, (३) चारक, (४) छविच्छेद[62] का निर्माण किया।

परिभाष–कुछ समय के लिए सापराध व्यक्ति को आक्रोश पूर्ण शब्दों के साथ नजरबन्दी आदि का दण्ड देना।

मण्डल बन्ध–सीमित क्षेत्र में रहने का दण्ड देना। (एक प्रकार की नजर कैद)

चारक–बन्दीगृह में बन्द करने का दण्ड देना। (कारावास)

छविच्छेद–हाथ पैर आदि अगोपाङ्गो के छेदन का दण्ड देना।

ये चार नीतियाँ कब चलीं, इसमे विद्वानों के विभिन्न मत हैं। कुछ विद्वानो का मन्तव्य है कि प्रथम दो नीतियाँ ऋषभ के समय चली और दो भरत के समय।[63] आचार्य अभयदेव के मन्तव्यानुसार ये चारों नीतियाँ भरत के समय मे चली।[64] आचार्य भद्रबाहु[65] और आचार्य मलयगिरि[66] के अभिमतानुसार बन्ध (बेडी का प्रयोग) और घात (डन्डे का प्रयोग) ऋषभनाथ के समय प्रारम्भ हो गये थे। मृत्यु-दण्ड का आरम्भ भरत के समय हुआ।[67]

खाद्य समस्या का समाधान–ऋषभदेव के पूर्व मानवों का आहार कन्द, मूल, पत्र, पुष्प और फल था। किन्तु जनसंख्या की अभिवृद्धि होने पर कन्द, मूल पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न होने से मानवों ने अन्नादि (कच्चे) का उपयोग प्रारम्भ किया। किन्तु पकाने के साधन न होने से कच्चा अन्न दुष्पच होने पर लोग ऋषभदेव के पास पहुँचे और उनसे अपनी समस्या का समाधान मांगा। ऋषभदेव ने हाथ से मलकर खाने की सलाह दी। जब वह भी दुष्पच हो गया तो पानी में भिगोकर और मुट्ठी व बगल मे रखकर गर्म कर खाने की राय दी। उससे भी अजीर्ण की व्याधि समाप्त नही हुई।

भगवान् श्री ऋषभदेव अग्नि के सम्बन्ध में जानते थे, पर वह काल

एकान्त स्निग्ध था, अतः अग्नि उत्पन्न नहीं हो सकती थी। अग्नि की उत्पत्ति के लिए एकान्त स्निग्ध और एकान्त रूक्ष दोनों ही काल अनुपयुक्त होते हैं। समय के कदम आगे बढ़े। जब काल स्निग्ध से रुक्ष हुआ तब लकड़ियों को घिस कर अग्नि पैदा की और पाक निर्माण कर तथा पाकविद्या सिखाकर खाद्य समस्या का समाधान किया।[६८]

कला का अध्ययन–जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति की वृत्ति के अनुसार सम्राट् ऋषभदेव ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को बहत्तर कलाएँ और कनिष्ट-पुत्र बाहुबली को प्राणिलक्षण का ज्ञान कराया। प्रियपुत्री ब्राह्मी को अठारह लिपियों का अध्ययन कराया और सुन्दरी को गणितविद्या का परिज्ञान कराया।[६९] व्यवहार साधन हेतु मान (माप) उन्मान (तोला, मासा आदि वजन) अवमान (गज फुट इंच) प्रतिमान (छटांक, सेर, मन आदि) प्रचलित किए और मणि आदि पिरोने की कला बताई।

इस प्रकार सम्राट् ऋषभदेव ने प्रजा के हित के लिए, अभ्युदय के लिए पुरुषों को बहत्तर कलाएँ, स्त्रियों को चौसठ कलाएँ और सौ शिल्पों का परिज्ञान कराया।[७०] असि, मषि और कृषि (सुरक्षा, व्यापार, उत्पादन) की व्यवस्था की, कलाओं का निर्माण किया, प्रवृत्तियों का विकास कर जीवन को सरस, शिष्ट और व्यवहार योग्य बनाया।

अन्त में अपनी राज्य व्यवस्था का भार भरत को सौंपकर और शेष निन्यानवें पुत्रों को अलग-अलग राज्य दे, दीक्षा ग्रहण के लिए प्रस्तुत हुए।

—— ● **प्रथम भिक्षाचर**

मूल :—

उसभे अरहा कोसलिए दक्खे पतिन्ने पडिरूवे अल्लीण-भद्दए वीणीए वीसं पुव्वसयसहस्साइं कुमारवासमज्झे वसइ, वीसं पुव्वसयसहस्साइं कुमारवासमज्झे वसित्ता तेवट्ठिं पुव्वसयसहस्साइं रज्जवासमज्झे वसमाणे लेहाइयाओ गणियप्पहाणाओ सउणरुयप-

ज्जवसाणाओ बाहत्तरिं कलाओ चोवट्ठिं महिलागुणे सिप्पसयं च कम्माणं तिन्नि वि पयाहियाए उवदिसइ, उवदिसित्ता पुत्तसयं रज्ज-सए अभिसिंचइ, अभिसिंचित्ता पुणरवि लोयंतिएहिं जिअकप्पिए० सेसं तं चेव सव्वं भाणियव्वं जाव दायं दाइयाणं परिभाएत्ता जे से गिम्हाणं पढमे मासे पढमे पक्खे चेत्तबहुले तस्स णं चेत्तबहुलस्स अट्ठमीपक्खेणं दिवसस्स पच्छिमे भागे सुदंसणाए सिवियाए सदेवमणुयासुराए परिसाए समणुगम्ममाणमग्गे जाव विणीयं रायहाणिं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव सिद्धत्थवणे उज्जाणे जेणेव असोगवरपायवे तेणेव उवागच्छित्ता असोगवरपाय-वस्स अहे जाव सयमेव चउमुट्ठियं लोयं करेइ, लोयं करित्ता छट्ठेणं भत्तेणं अप्पाणएणं आसाढाहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं उग्गाणं भोगाणं राइन्नाणं च खत्तियाणं च चउहिं सहस्सेहिं सद्धिं एगं देवदूसमादाय मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइए॥१९५॥

अर्थ—कौशलिक अर्हत् ऋषभदेव दक्ष थे। दक्ष प्रतिज्ञा वाले, उत्तम रूप वाले, सर्व गुणों से युक्त भद्र और विनीत थे। वे बीस लाख पूर्व तक कुमार अवस्था में रहे। उसके पश्चात् त्रेसठ लाख पूर्व वर्ष तक राज्यवास में रहे। त्रेसठ लाख पूर्व वर्ष तक राज्य अवस्था में रहते हुए उन्होंने जिस कला में गणित प्रथम है और शकुनरुत अर्थात् पक्षी के शब्द से शुभाशुभ जानने की कला अन्तिम है, ऐसी बहत्तर कलाएँ व महिलाओं के चोंसठ गुण तथा सौ शिल्प ये तीनों चीजें प्रजा के हित के लिए उपदेश की। इन सभी का अध्ययन करवाने के पश्चात् सौ राज्यों में सौ पुत्रों का अभिषेक कर दिया। उसके पश्चात् जिनका कहने का आचार है ऐसे लोकान्तिक देव उनके पास आए। उन्होंने प्रिय वाणी से भगवान् को कहा, इत्यादि सभी पूर्व कथन के समान यहाँ भी कहना चाहिए। यावत् वार्षिकदान देकर के, ग्रीष्म ऋतु का प्रथम मास,

प्रथम पक्ष अर्थात् जब चैत्र मास का कृष्ण पक्ष आया तब चैत्र कृष्णा अष्टमी के दिन पिछले प्रहर में जिनके पीछे मार्ग में देव, मानव और असुरों की विराट् मण्डली चल रही है ऐसे कौशलिक अर्हत् ऋषभ सुदर्शन नामक शिविका में बैठकर यावत् विनीता राजधानी के मध्य-मध्य में होकर निकलते हैं। निकलकर जिस ओर सिद्धार्थ वन नामक उद्यान है, जिस तरफ अशोक का उत्तम वृक्ष है, उस तरफ आते हैं, आकर के अशोक के उत्तम वृक्ष के नीचे, शिविका खड़ी रखते हैं। इत्यादि पूर्व कहे हुए के समान यहाँ भी कथन करना चाहिए। यावत् स्वयं अपने हाथों से चार मुष्टि लोच करते है। उन्होंने उस समय पानी रहित षष्ठ भक्त का तप कर रखा था। आषाढा नक्षत्र का योग होते ही उग्रवंश के, भोगवंश के, राजन्यवश के और क्षत्रियवंश के चार हजार पुरुषो के साथ एक देवदूष्य वस्त्र को लेकर मुंडित होकर गृहवास से निकलते हैं और अनगार-दशा को स्वीकार करते हैं।

विवेचन—भगवान ने चार हजार साधको को अपने हाथ से प्रव्रज्या प्रदान नही की, किन्तु उन्होंने भगवान् का अनुकरण कर स्वयं लुंचन आदि क्रियाएँ की।[७१]

श्रमण बनने के पश्चात् भगवान् अखण्ड मौनव्रती बनकर एकात-शान्त स्थान मे ध्यानस्थ होकर रहने लगे। घोर अभिग्रहों को ग्रहण कर अनासक्त बन भिक्षा हेतु ग्रामानुग्राम विचरण करते, पर भिक्षा और उसकी विधि से जनता अनभिज्ञ होने से भिक्षा उपलब्ध नहीं होती। वे चार सहस्र श्रमण चिरकाल तक यह प्रतीक्षा करते रहे कि भगवान् मौन छोड़कर हमारी सुध-बुध लेंगे। सुख-सुविधा का प्रयत्न करेंगे, पर भगवान् आत्मस्थ थे, कुछ बोले नहीं। वे श्रमण भूख प्यास से संत्रस्त हो सम्राट् भरत के भय से पुनः गृहस्थ न बनकर वल्कलधारी तापस आदि हो गये।[७२] वस्तुतः विवेक के अभाव में साधक साधना से पथभ्रष्ट हो जाता है।

भगवान् ऋषभदेव अम्लान चित्त से, अव्यथित मन से भिक्षा के लिए नगरों व ग्रामों में परिभ्रमण करते। भावुक मानव भगवान् को निहार कर भक्ति भावना से विभोर होकर अपनी रूपवती कन्याओं को, सुन्दर वस्त्रों को,

अमूल्य आभूषणों को और गज, तुरङ्ग, रथ, सिंहासन आदि ग्रहण करने के लिए अभ्यर्थना करते, पर कोई भी भिक्षा के लिए नहीं कहता। भगवान् उन वस्तुओं को बिना ग्रहण किए जब उल्टे पैरों लौट जाते तो वे नहीं समझ पाते कि भगवान् को किस वस्तु की आवश्यकता है ?

एक वर्ष पूर्ण हुआ। कुरुजनपदीय गजपुर के अधिपति बाहुबली के पुत्र सोमप्रभ राजा के पुत्र श्रेयांस ने स्वप्न देखा कि "सुमेरु पर्वत श्यामवर्ण का हो गया है। उसे मैंने अमृत कलश से अभिषिक्त कर पुनः चमकाया।"[७३] सुबुद्धि नगर श्रेष्ठी ने भी स्वप्न देखा "सूर्य की हजार किरणें अपने स्थान से चलित हो रही थी कि श्रेयांस ने उन रश्मियों को पुनः सूर्य में संस्थापित कर दिया।" राजा सोमप्रभ ने स्वप्न देखा कि "एक महान् पुरुष शत्रुओं से युद्ध कर रहा है, श्रेयाँस ने उसे सहायता प्रदान की। उससे शत्रु का बल नष्ट हो गया।" प्रातः होने पर सभी स्वप्न के सम्बन्ध में चिन्तन मनन करने लगे। चिन्तन का नवनीत निकला कि अवश्य ही श्रेयाँस को विशिष्ट लाभ होगा।[७४]

भगवान् उसी दिन विचरण करते हुए गजपुर पधारे। चिरकाल के पश्चात् भगवान् को देख पौरजन आह्लादित हुए। श्रेयाँस को भी अत्यधिक प्रसन्नता हुई। भगवान् परिभ्रमण करते हुए श्रेयाँस के यहाँ पधारे। भगवान् के दर्शन और चिन्तन से पूर्वभव की स्मृति उद्‌बुद्ध हुई। स्वप्न का सही तथ्य परिज्ञात हुआ। उसने भक्ति-विभोर हृदय से ताजे आये हुए इक्षु रस के कलश को हाथ में ग्रहण कर भगवान् के कर कमलों में रस प्रदान किया। भगवान् ने भी विशुद्ध आहार जानकर ग्रहण किया। इस प्रकार भगवान् श्री ऋषभदेव को एक संवत्सर के पश्चात् भिक्षा प्राप्त हुई[७५] और सर्वप्रथम इक्षु-रस का पान करने के कारण वे काश्यप नाम से भी विश्रुत हुए।[७६]

प्रस्तुत अवसर्पिणी काल में सर्वप्रथम वैशाख शुक्ला तृतीया को श्रेयाँस ने इक्षु रस का दान दिया, अतः वह तृतीया 'इक्षु-तृतीया' या 'अक्षय तृतीया' के रूप में प्रसिद्ध हुई।[७७] उस महान दान से तिथि भी अक्षय हो गई।

मूल :—

उसभे णं अरहा कोसलिए एगं वाससहस्सं निच्चं वोसट्ठकाये चियत्तदेहे जाव अप्पाणं भावेमाणस्स एक्कं वाससहस्सं विइक्कंतं तओ णं जे से हेमंताणं चउत्थे मासे सत्तमे पक्खे फग्गुणबहुले तस्स णं फग्गुणबहुलस्स एक्कारसीपक्खेणं पुव्वण्हकालसमयंसि पुरिमतालस्स नयरस्स बहिया सगडमुहंसि उज्जाणंसि नग्गोहवरपायवस्स अहे अट्ठमेणं भत्तेणं अपाणएणं आसाढाहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं झाणंतरियाए वट्टमाणस्स अणंते जाव जाणमाणे पासमाणे विहरइ ॥१९६॥

अर्थ—कौशलिक अर्हत् ऋषभदेव ने अपने शरीर की ओर लक्ष्य देना छोड़ दिया था। उन्होंने शरीर की संभाल छोड़ दी थी। इस प्रकार अपनी आत्मा को भावित करते-करते एक हजार वर्ष व्यतीत हो गये, तब हेमन्तऋतु के चतुर्थ मास और सातवें पक्ष, अर्थात् फाल्गुन मास के कृष्ण पक्ष की एकादशी के दिन, पूर्वाह्न में, पुरिमताल नगर के बाहर, शकटमुख नामक उद्यान मे, उत्तम वट वृक्ष के नीचे, रहकर ध्यान कर रहे थे। उस समय निर्जल अष्टम तप किया हुआ था, आषाढ़ा नक्षत्र का योग आने पर, ध्यान में रहे हुए भगवान् को उत्तम अनन्त केवलज्ञान केवलदर्शन उत्पन्न हुआ। उससे वे सभी लोकालोक के भाव जानते-देखते हुए विचरने लगे।

विवेचन—भगवान् श्री ऋषभदेव को केवलज्ञान की उपलब्धि वट वृक्ष के नीचे हुई थी अत वह आज भी आदर की दृष्टि से देखा जाता है।

जिस समय भगवान् ऋषभदेव को केवलज्ञान की उपलब्धि हुई उसी समय सम्राट् भरत की आयुधशाला में चक्ररत्न भी उत्पन्न हुआ। और उसकी सूचना एक साथ ही यमक और शमक दूतों के द्वारा सम्राट् भरत को मिली।[७८] भरत एक साथ दो सूचनाएँ मिलने से एक क्षण असमजस में पड़ गये। उन्होंने सोचा—प्रथम चक्ररत्न की अर्चना करनी चाहिए, या भगवान्

की उपासना करनी चाहिए। कहाँ अभय का प्रदाता केवलज्ञान और कहाँ प्राणियों का विनाश करने वाला चक्ररत्न, मुझे प्रथम चक्ररत्न को नही, किन्तु भगवान् की उपासना करनी चाहिए।[७९] ऐसा सोच सम्राट् भरत भगवान् के दर्शन हेतु सपरिजन प्रस्थित हुए।[८०]

माँ मरुदेवा भी अपने लाड़ले पुत्र के दर्शन हेतु चिरकाल से छटपटा रही थी। पुत्र के वियोग से वह व्यथित थी। उसके दारुण कष्ट की कल्पना करके वह कलप रही थी। प्रतिपल प्रतिक्षण लाड़ले लाल की स्मृति से उसके नेत्रों से आँसू बरस रहे थे। जब उसने सुना कि ऋषभ विनीता के बाग में आया है, तो वह भरत के साथ ही हस्ती पर आरूढ होकर चल पडी। भरत के विराट् वैभव को देखकर उसने कहा—बेटा भरत! एक दिन मेरा प्यारा ऋषभ भी इसी प्रकार राज्यश्री का उपभोग करता था। पर इस समय वह क्षुधा-पिपासा से पीड़ित होकर कही कष्टों को सहन करता होगा? पुत्र प्रेम से आँखे छलछला आई। भरत के द्वारा तीर्थकरों की दिव्य विभूति का शब्द चित्र सुनने पर भी माता के हृदय को संतोष नहीं हो रहा था। समवसरण के सन्निकट पहुँचने पर ज्योंही भगवान् ऋषभ को इन्द्रों द्वारा अर्चित देखा, त्योंही माता का चिन्तन का प्रवाह बढता गया। आर्तध्यान से शुक्लध्यान में लीन हो गई। ध्यान का उत्कर्ष बढा। मोहकर्म का बन्धन टूटा, फिर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय को नष्ट कर केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त कर लिया। उसी क्षण शेष कर्मो को भी नष्ट कर हस्ती पर आरूढ़ हुई सिद्ध बुद्ध और मुक्त हो गई।[८१] कितने ही आचार्यों का अभिमत है कि भगवान् के शब्द उनके कानों में गिरने से, उन्हें आत्मज्ञान हुआ और मुक्ति प्राप्त हुई।[८२]

प्रस्तुत अवसर्पिणी काल में सर्व प्रथम केवलज्ञान श्री ऋषभदेव को प्राप्त हुआ और मोक्ष मरुदेवा माता को।

प्रथम धर्म चक्रवर्ती—भगवान् ऋषभदेव का प्रथम प्रवचन फाल्गुन कृष्णा एकादशी को हुआ। उसे श्रवणकर सम्राट् भरत के पाँच सौ पुत्रो और सात सौ पौत्रों ने, तथा ब्राह्मी आदि ने प्रव्रज्या ग्रहण की। भरत आदि ने श्रावकव्रत ग्रहण किये और सुन्दरी ने भी।[८३] इस प्रकार श्रमण, श्रमणी, श्रावक,

श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ की संस्थापना कर वे सर्वप्रथमतीर्थंकर बने। श्रमण धर्म के लिए पाँच महाव्रत और गृहस्थ धर्म के लिए द्वादश व्रतों का निरुपण किया, इसीलिए भगवान् ऋषभदेव को धर्म का मुख कहा है।[८४]

भगवान् के प्रथम गणधर सम्राट् भरत के पुत्र ऋषभसेन हुए। उन्हे ही सर्वप्रथम भगवान् ने आत्म-विद्या का परिज्ञान कराया। भगवान् को केवल ज्ञान की सूचना प्राप्त होते ही पूर्व दीक्षित श्रमण, जो क्षुधा-पिपासा से पीड़ित होकर तापस बन गए थे, भगवान् की सेवा में आ गए। उन्होंने पुनः विधिवत् प्रव्रज्या ग्रहण की, सिर्फ कच्छ और सुकच्छ ही ऐसे थे जो नहीं आए।[८५]

सुन्दरी का संयम—भगवान् श्री ऋषभ के प्रथम प्रवचन को श्रवणकर सुन्दरो भी संयम ग्रहण करना चाहती थी, उसने यह भव्य भावना अभिव्यक्त भी की थी, किन्तु सम्राट् भरत के द्वारा आज्ञा प्राप्त न होने से वह श्राविका बनी।[८६] उसके अन्तर्मानस में वैराग्य का सागर उछालें मार रहा था। वह तन से गृहस्थाश्रम मे थी, पर उसका मन संयम मे रम रहा था। षट्खण्ड पर विजय-वैजयन्ती फहराकर जब सम्राट् भरत दीर्घकाल के पश्चात् विनीता लौटे तब सुन्दरी के कृश शरीर को देखकर वे चकित रह गए। प्रश्न करने पर ज्ञात हुआ कि यह अवस्था जिस दिन से दीक्षा ग्रहण का निषेध किया था उस दिन से निरन्तर आचाम्ल व्रत करने से हुई है।[८७] सुन्दरी की संयम लेने की प्रबल भावना को देखकर भरत ने अनुमति प्रदान की और सुन्दरी ने ऋषभदेव की आज्ञानुवर्तिनी ब्राह्मी के पास दीक्षा ग्रहण की।[८८]

अट्ठानवें भ्राताओं की दीक्षा—बताया जा चुका है कि श्री ऋषभदेव अपने सौ पुत्रों को पृथक्-पृथक् राज्य देकर श्रमण बने थे। सम्राट् भरत चक्रवर्ती बनना चाहते थे। उन्होंने अपने लघु भ्राताओं को अपने अधीन करने के लिए उनके पास दूत भेजे। अट्ठानवें भ्राताओं ने मिलकर परस्पर परामर्श किया, परन्तु वे निर्णय पर नही पहुंच सके। उस समय भगवान् अष्टापद मागध में विचर रहे थे। वे सभी भगवान् श्री ऋषभदेव के पास पहुंचे।[८९] स्थिति का परिचय देते हुए निवेदन किया—"प्रभो! आपके द्वारा प्रदत्त राज्य

पर भाई भरत ललचा रहा है, वह हमारा राज्य लेना चाहता है। क्या बिना युद्ध किये हम उसे राज्य दे दें ? यदि देते है तो उसकी साम्राज्य-लिप्सा बढ़ जायगी और हम पराधीनता के पङ्क में डूब जायेंगे। यदि हम अपने ज्येष्ठ भ्राता से युद्ध करते हैं तो भ्रातृ-युद्ध की एक अनुचित परम्परा प्रारम्भ हो जायेगी। हमें क्या करना चाहिए ?"

भगवान् बोले—पुत्रो ! तुम्हारा चिन्तन ठीक है। युद्ध भी बुरा है, और कायर बनना भी बुरा है। युद्ध इसलिए बुरा है कि उसके अन्त में विजेता और पराजित दोनों को सताप एवं ही निराशा मिलती है। अपनी सत्ता को गवाकर पराजित पछताता है और कुछ नही पाकर विजेता पछताता है। कायर बनने का भी मैं तुम्हें परामर्श नही दे सकता। मैं तुम्हें ऐमा राज्य देना चाहता हूं, जो युद्ध और क्लीवत्व से ऊपर है।

भगवान् की आश्वासन भरी वाणी को सुनकर सभी के मुख कमल खिल उठे, मन मयूर नाच उठे। वे अनिमेष दृष्टि से भगवान् को निहारने लगे। भगवान को भावना को वे छू नही सके। यह उनकी कल्पना मे नही आ सका कि भौतिक राज्य के अतिरिक्त भी कोई राज्य हो सकता है। वे भगवान के द्वारा कहे गये राज्य को पाने के लिए व्यग्र हो गये। उनकी तीव्र लालसा देख कर भगवान् बोले—'एक लकड़हारा था, वह भाग्यहीन और मूर्ख था। प्रति-दिन कोयले बनाने के लिए वह जंगल मे जाता और जो कुछ भी प्राप्त होता उससे अपना भरण पोषण करता। एक बार वह भीष्म-ग्रोष्म की चिलचिलाती धूप में थोडा-सा पानी लेकर जगल में गया और सूखी लकड़ियाँ एकत्रित कर कोयले बनाने के लिए उन लकड़ियों में आग लगादी।

चिलचिलाती धूप व प्रचण्ड ज्वाला के कारण उसे अत्यधिक प्यास लगी। साथ में जो पानी लाया था वह पी गया, पर प्यास शान्त नहीं हुई। इधर उधर जंगल में पानी की अन्वेषणा की, परन्तु कहीं भी पानी उपलब्ध नहीं हुआ। सन्निकट कोई भी गाँव नहीं था। प्यास से गला सूख गया था। घबराहट बढ़ रही थी, वह एक वृक्ष के नीचे लेट गया। नीद आ गई। उसने स्वप्न देखा

कि घर में जितना भी पानी है वह पी गया है, तथापि प्यास शान्त नहीं हुई। कुंए पर गया, और वहाँ का भी सारा पानी पी गया, पर प्यास न बुझी। नदी, नाले, और द्रहों का पानी पीता हुआ समुद्र पर पहुँचा, सारा पानी पी लेने पर भी उसकी प्यास कम नहीं हुई। प्यास से छटपटाता हुआ वह समुद्र के किनारे भीने हुए तिनकों को निचोड़कर प्यास बुझाने का प्रयास कर रहा था कि नींद खुल गई।"

रूपक का उपसंहार करते हुए भगवान के कहा—क्या पुत्रो! उन भोगे हुए तिनकों से उसकी प्यास शान्त हो सकती है, जबकि कुए और समुद्र के पानी से नही हुई?

पुत्रों ने कहा-नहीं भगवन्!

भगवान् ने अपने अभिमत की ओर पुत्रों को आकृष्ट करते हुए कहा–भौतिक राज्यश्री से तृष्णा को शान्त करने का प्रयास भी भीगे हुए तिनकों को निचोड़ने के समान है। स्वर्गीय सुखों से भी जब तृष्णा शान्त नही हुई, तो इस तुच्छ और अल्पकालिक राज्य से शान्त होना कैसे सम्भव है? अत: सम्बोधि प्राप्त करो।[°°] वस्तुत: भौतिक राज्य से आध्यात्मिक राज्य महान् है, सांसारिक सुखों से आध्यात्मिक सुख उत्तम है। इसे ग्रहण करो, इनमें न कायरता की आवश्यकता है और न युद्ध का ही प्रसंग है। जब तक स्वराज्य नहीं मिलता तब तक पर-स्वराज्य की कामना रहती है। स्वराज्य मिलने पर पर-स्वराज्य का मोह नहीं रहता। भगवान् के उपदेश से प्रभावित हो अट्ठानवें ही भ्राताओं ने राज्य त्यागकर संयम ग्रहण कर लिया। भरत को यह सूचना प्राप्त होते ही वह दौड़े-दौड़े आए।[°१] भ्रातृ-प्रेम से उनकी आँखें गीली हो गईं। पर उनकी गीली आँखें अठानवें भ्राताओं को पथ से विचलित नहीं कर सकीं। भरत निराश होकर पुन: अपने घर लौट गए।

भ्रातृ-युद्ध—सम्राट् भरत एक शासन सूत्र में समग्र भारतवर्ष को पिरोना चाहते थे। अत: अपने लघुभ्राता बाहुबली को यह सन्देश पहुँचाया कि वह चक्रवर्ती की अधीनता स्वीकार कर ले। भरत का यह सन्देश सुनते ही बाहुबली की

भृकुटि तन गई। क्रोध उभर आया। दाँतों को पीसते हुए उसने कहा—क्या भाई भरत की भूख अभी तक शान्त नहीं हुई है? अपने लघु भ्राताओं के राज्य को छीन करके भी उसे सन्तोष नहीं हुआ! क्या वह मेरे राज्य को भी हड़पना चाहता है। यदि वह यह समझता है कि मैं शक्तिशाली हूँ और शक्ति से सभी को चट कर जाऊँ तो यह शक्ति का सदुपयोग नहीं, दुरुपयोग है। मानवता का भयंकर अपमान है और कुल मर्यादा का अतिक्रमण है। हमारे पूज्य पिता व्यवस्था के निर्माता हैं, और हम उनके पुत्र होकर व्यवस्था को भग करते हैं, तो यह हमारे लिए उचित नही है। बाहु-बल में मैं भरत से किसी भी प्रकार कम नही हूँ, यदि वह अपने बड़प्पन को विस्मृत कर अनुचित व्यवहार करता है तो मैं चुप्पी नही साध सकता। मैं दिखा दूँगा भरत को कि आक्रमण करना कितना अनुचित है।

भरत विराट् सेना लेकर बाहुबली से युद्ध करने के लिए 'बहली' की सीमा पर पहुँच गये। और बाहुबलो भी अपनी छोटी सेना को सजाकर युद्ध के मैदान में आ गया। बाहुबलो के वीर सैनिकों ने भरत की विराट् सेना के छक्के छुडा दिये। लम्बे समय तक युद्ध चलता रहा, पर न भरत जीते और न बाहुबली हो। हार-जीत का कोई फैसला नहीं हुआ। आखिर बाहुबली ने मनुष्यो का यह रक्त बहता देखकर नरसंहार बन्द करके द्वन्द्व युद्ध के लिए आमंत्रित किया।[९२] दृष्टियुद्ध, वाक्युद्ध, बाहुयुद्ध, मुष्टियुद्ध और दण्डयुद्ध निश्चित हुए।[९३] सभी में सम्राट् भरत पराजित हुए और बाहुबली विजयी हुए। भरत को अपने लघुभ्राता से पराजित होना अत्यधिक अखरा। आवेश में आकर और मर्यादा को विस्मृत कर बाहुबली का शिरोच्छेदन करने हेतु भरत ने चक्र का प्रयोग किया। यह देख बाहुबली का खून उबल गया। बाहु-बली ने उछलकर चक्र को पकड़ना चाहा, पर चक्र बाहुबली की प्रदक्षिणा कर पुनः भरत के पास लौट गया। वह बाहुबली का बाल भी बांका न कर सका। यह देख सभी सन्न रह गये। बाहुबली की विरुदावलियों से भू-नभ गूँज उठा। भरत अपने कृत्य पर लज्जित हो गये।

भाई भरत की भूल को भुलाने के लिए लाखों कण्ठों से ये स्वर-लहरियाँ

फूट पड़ीं—"सम्राट् भरत ने भूल की है, पर आप भूल न करें। लघु भाई के द्वारा बड़े भाई की हत्या अनुचित ही नही, अत्यन्त अनुचित है। महान् पिता के पुत्र भी महान् होते हैं, क्षमा कीजिए, क्षमा करने वाला कभी छोटा नहीं होता।" बाहुबली का रोष कम हुआ, हृदय प्रबुद्ध हुआ। कुल-मर्यादा और युग की आवश्यकता को ध्यान में रखकर वे चिन्तनमग्न हो गए। भरत को मारने के लिए उठा हुआ हाथ भरत पर नही पड़कर, स्वयं के सिर पर गिरा और वे लुंचन कर श्रमण बन गये। राज्य को ठुकरा कर पिता के चरण-चिह्नों पर चल पड़े।[९६]

बाहुबली को केवल ज्ञान—बाहुबली के पैर चलते-चलते रुक गये। वे पिता की शरण में पहुँचने पर भी चरण मे नही पहुँच सके। पूर्व दीक्षित लघु-भ्राताओं को नमन करने की बात स्मृति में आते ही उनके चरण एकान्त-शान्त कानन में ही स्तब्ध हो गये। असन्तोष पर विजय पाने वाले बाहुबली अस्मिता से पराजित हो गये। एक वर्ष तक हिमालय की तरह अडोल ध्यान-मुद्रा में अवस्थित रहने पर भी केवलज्ञान का दिव्य आलोक प्राप्त नही हो सका। शरीर पर लताएँ चढ़ गई, पक्षियो ने घोंसले बना दिये, तथापि सफलता नही मिल सकी। केवलज्ञान नहीं हुआ।[९७]

"हस्ती पर आरूढ व्यक्ति को कभी केवलज्ञान की उपलब्धि नही होती, अतः भाई नीचे उतरो" ये शब्द एकदिन बाहुबली के कानों में पड़े। बाहुबली ने चिन्तन किया—मैं हाथी पर कहाँ आरूढ़ हूँ ? फिर विचारधारा ने मोड़ लिया, नेत्र खोले, सामने विनीत मुद्रा मे भगिनियों को निहार कर सोचने लगे—मै व्यर्थ ही अभिमान के हाथी पर चढ़ा था। मैं अवस्था के भेद में उलझ गया। वे भाई आयु में मुझ से भले ही छोटे हैं, पर चारित्रिक दृष्टि से बड़े है। मुझे नमन करना चाहिए।" नमन करने के लिए ज्यों ही पैर उठे त्यों ही बन्धन टूट गए। विनय ने अहंकार को पराजित कर दिया। बाहुबली वही पर केवली बन गये। भगवान् श्री ऋषभदेव को नमन कर केवलीपरिषद् मे आकर सम्मिलित हुए।[९८]

भरत को कैवल्य—राजनैतिक व सांस्कृतिक एकता के लिए भरत ने

भ्राताओं के साथ जो व्यवहार किया था उससे वे स्वयं लज्जित थे। भ्राताओं को गंवाकर राज्य प्राप्त कर लेने पर भी उनके मानस को प्रसन्नता नहीं हुई। विराट् राज्य का उपभोग करते हुए भी वे अब उसमें आसक्त नहीं थे। सम्राट् होने पर भी वे साम्राज्यवादी वृत्ति के नहीं थे। दीर्घकाल तक राज्यश्री का उपयोग करने के पश्चात् भगवान् श्री ऋषभदेव के मोक्ष पधारने के बाद एक बार भरत वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर आदर्श भवन (कांच के महल) मे गए। अँगुली से अँगूठी गिर गई जिससे वह असुन्दर प्रतीत हो रही थी। भरत ने देखा तो अन्य आभूषण भी उतारे, सुन्दरता का रूप बदला देखकर चिन्तन का प्रवाह उमड़ पड़ा। भरत सोचने लगे–"यह सब सौन्दर्य कृत्रिम है, कृत्रिमता सदा क्षण भंगुर होती है। सुन्दरता तो वह है जो अक्षय, अजर, अमर हो, जो किसी अन्य की अपेक्षा से नही, किन्तु स्वयं के रूप में ही सुन्दर हो, वह सौन्दर्य बाहर में नही, भीतर में हैं, आत्मा के भीतर...अनन्त ज्ञान! अनन्त दर्शन! यही मेरे अक्षय सौन्दर्य का भण्डार है।" इस प्रकार चिन्तन करते हुए कृत्रिम-सौन्दर्य से आत्म-सौन्दर्य में पहुँच गए। कर्ममल का प्रक्षालन करते-करते केवल ज्ञानी बन गये।[१७] इस प्रकार भगवान् के सौ ही पुत्रों ने तथा ब्राह्मी सुन्दरी दोनों पुत्रियो ने श्रमणत्व स्वीकार कर कैवल्य प्राप्त किया और मोक्ष गये।

● भगवान ऋषभदेव की शिष्य संपदा

उसभस्स णं अरहओ कोसलियस्स चउरासीइं गणा चउरासीइं गणहरा होत्था। उसभस्स णं अरहओ कोसलियस्स उसभसेणपामोक्खाओ चउरासीइं समणसाहस्सीओ उक्कोसिया समणसंपया होत्था। उसभस्स णं अरहओ कोसलियस्स बंभीसुन्दरिपामोक्खाणं अज्जियाणं तिन्नि सयसाहस्सीओ उक्कोसिया अज्जियासंपया होत्था। उसभस्स णं अरहओ कोसलियस्स सेज्जंसपामोक्खाणं समणोवासागाणं तिन्नि सयसाहस्सीओ पंच सहस्सा उक्कोसिया समणोवासयसंपया होत्था। उसभस्स णं

अरहओ कोसलियस्स सुभद्दापामोक्खाणं समणोवासियाणं पंच सयसाहस्सीओ चउप्पन्नं च सहस्सा उक्कोसिया समणोवासियाणं संपया होत्था। उसभस्स णं अरहओ कोसलियस्स चत्तारि सहस्सा सत्त सया पन्नासा चोद्दसपुव्वीणं अजिणाणं जिणसंकासाणं उक्कोसिया चोद्दसपुव्विसंपया होत्था। उसभस्स णं अरहओ कोसलियस्स नव सहस्सा ओहिनाणीणं उक्कोसिया संपया होत्था। उसभस्स णं अरहओ कोसलियस्स वीससहस्सा केवलणाणीणं उक्कोसिया संपया होत्था। उसभस्स णं अरहओ वीससहस्स छच्च सया वेउव्वियाणं उक्कोसिया संपया होत्था। उसभस्स णं अरहओ कोसलियस्स बारससहस्सा छच्च सया पन्नासा विउलमईणं अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु सन्नीणं पंचिदियाणं पज्जत्तगाणं मणोगए भावे जाणमाणाणं पासमाणाणं उक्कोसिया विपुलमइ संपया होत्था। उसभस्स णं अरहओ कोसलियस्स बारससहस्सा छच्च सया पन्नासा वाईणं संपया होत्था। उसभस्स णं अरहओ कोसलियस्स वीसं अंतेवासि सया सिद्धा, चत्तालीसं अज्जियासाहस्सीओ सिद्धाओ। बावीस सहस्सा नव य सया अणुत्तरोववाइयाणं गति कल्लाणाणं जाव भद्दाणं उक्कोसिया संपया होत्था ॥१९७॥

अर्थ–कौशलिक अर्हत् ऋषभ के चौरासी गण और चौरासी गणधर थे। कौशलिक अर्हत् ऋषभ के संघ में ऋषभसेन प्रमुख चौरासी हजार श्रमणों की उत्कृष्ट श्रमण संपदा थी। कौशलिक अर्हत् ऋषभ के समुदाय में ब्राह्मी आदि तीन लाख आर्यिकाओं की उत्कृष्ट आर्यिका सम्पदा थी। कौशलिक अर्हत् ऋषभ के समुदाय में श्रेयांस प्रमुख तीन लाख और पाँच हजार श्रमणोपासकों की उत्कृष्ट श्रमणोपासक संपदा थी। कौशलिक अर्हत् ऋषभ के समुदाय में

सुभद्रा प्रमुख पाँच लाख चौवन हजार श्रमणोपासिकाओं की उत्कृष्ट संपदा थी। कौशलिक अर्हत् ऋषभ के समुदाय में जिन नही किन्तु 'जिन' के समान चार हजार सात सौ पचास चौदह पूर्वधारियों की उत्कृष्ट संपदा थी। कौशलिक अर्हत् ऋषभ के समुदाय में नौ हजार अवधिज्ञानियों की उत्कृष्ट सपदा थी। कौशलिक अर्हत् ऋषभ के समुदाय में बीस हजार केवलज्ञानियों की उत्कृष्ट केवलज्ञानी-सम्पदा थी। कौशलिक अर्हत् ऋषभ के समुदाय में बीस हजार छः सौ वैक्रिय लब्धिधारियों की उत्कृष्ट संपदा थी। कौशलिक अर्हत् ऋषभ के समुदाय में ढाई द्वीप में और दोनों समुद्रों में रहते हुए पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रियों के मनोभावों को जानने वाले ऐसे विपुलमति मनःपर्यवज्ञानियों की बारह हजार छः सौ पचास जितनी उत्कृष्ट संपदा थी। कौशलिक अर्हत् ऋषभ के समुदाय में बारह हजार छः सौ पचास वादियों की उत्कृष्ट सपदा थी। कौशलिक अर्हत् ऋषभ के संघ में से उनके बीस हजार अन्तेवासी शिष्य और चालीस हजार आर्यिकाएँ सिद्ध हुई। कौशलिक अर्हत् ऋषभ के समुदाय में बावीस हजार नौ सौ कल्याण गति वाल, यावत् भविष्य में भद्र प्राप्त करने वाले अनुत्तरौपपातिकों की अर्थात् अनुत्तर विमान में जाने वालों की उत्कृष्ट संपदा थी।

मूल :—

उसभस्स णं अरहओ कोसलियस्स दुविहा अंतगडभूमी होत्था, तं जहा–जुगंतकडभूमी य परियायंतकडभूमी य। जाव असंखेज्जाओ पुरिसजुगाओ जुगंतगडभूमी, अंतोमुहुत्तपरियाए अंतमकासी॥१६८॥

अर्थ—कौशलिक अर्हत् ऋषभ की दो प्रकार की अन्तकृत् भूमि थी। युगान्तकृत् भूमि और पर्यायान्तकृत् भूमि। श्री ऋषभ के निर्वाण के पश्चात् असंख्ययुग पुरुषों तक मोक्ष मार्ग चलता रहा, यह उनकी युगान्तकृत् भूमि है। श्री ऋषभ को केवलज्ञान होने पर अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् मोक्ष मार्ग चालू हुआ। अर्थात् श्री ऋषभ का केवलीपर्याय अन्तमुहूर्त का होते ही मरुदेवा माता ने

आयुकर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म क्षीण होते ही इस अवसर्पिणी काल के सुषम-दुषम नामक आरे का बहुत समय व्यतीत हो जाने और तीन वर्ष और साढे आठ मास अवशेष रहने पर हेमन्तऋतु के तृतीय मास, पांचवे पक्ष, अर्थात् माघ मास का कृष्ण पक्ष आया, उस माघ कृष्णा त्रयोदशी के दिन, अष्टापद पर्वत के शिखर पर श्री ऋषभदेव अर्हत्, दूसरे दस हजार अनगारों के साथ, पानी रहित, चतुर्दश भक्त का तप करते हुए, अभिजित नक्षत्र का योग होते ही, पूर्वाह्न में पल्यंकासन से रहे हुए कालगत हुए, यावत् सर्व दुःखों से पूर्णतया मुक्त हुए, निर्वाण को प्राप्त हुए।

मूल :—

उसभस्स णं अरहओ कोसलियस्स कालगयस्स जाव सव्वदुक्खप्पहीणस्स तिन्नि वासा अद्धनवमा य मासा विइक्कंता, तओ वि परं एगा सागरोवमकोडाकोडी तिवासअद्धनवमासाहिएहिं बायालीसाए वाससहस्सेहिं ऊणिया वीइक्कंता, एयम्मि समए समणे भगवं महावीरे परिनिव्वुडे, तओ वि परं नव वाससया वीइक्कंता, दसमस्स य वाससयस्स अयं असीइमे संवच्छरकाले गच्छइ ॥२००॥

अर्थ—कौशलिक अर्हत् ऋषभ को निर्वाण हुए, यावत् उनको सर्वदुःखों से मुक्त हुए, तीन वर्ष साढ़े आठ मास व्यतीत हो गये, उसके पश्चात् बयालीस हजार तीन वर्ष और साढे आठ मास कम एक कोटाकोटि सागरोपम जितना समय व्यतीत हुआ। उस समय श्रमण भगवान् महावीर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। उसके पश्चात् भी नौ सौ वर्ष व्यतीत हो गये और अब दशवी शताब्दी का यह अस्सीवाँ वर्ष चल रहा है।''

स्थविरावली

——● गणधर चरित्र

मूल :—

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स नव गणा एक्कारस गणहरा होत्था ॥२०१॥

अर्थ—उस काल उस समय श्रमण भगवान् महावीर के नौ गण और ग्यारह गणधर थे।

मूल :—

से केणट्ठे णं भंते ! एवं वुच्चइ—समणस्स भगवओ महावीरस्स नव गणा एक्कारस गणहरा होत्था ?

समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे इंदभूई अणगारे गोयमे गोत्तेणं पंच समणसयाइं वाएइ, मज्झिमे अणगारे अग्गिभूई नामेणं गोयमे गोत्तेणं पंच समणसयाइं वाएइ, कणीयसे अणगारे वाउभूई नामेणं गोयमे गोत्तेणं पंच समणसयाइं वाएइ, थेरे अज्जवियत्ते भारदाये गोत्तेणं पंच समणसयाइं वाएइ, थेरे अज्जसुहम्मे अग्गिवेसायणे गोत्तेणं पंच समणसयाइं वाएइ, थेरे मंडियपुत्ते वासिट्ठे गोत्तेणं अद्धुट्ठाइं समणसयाइं वाएइ, थेरे मोरियपुत्ते कासवगोत्तेणं अद्धुट्ठाइं समणसयाइं वाएइ, थेरे अकंपिए गोयमे गोत्तेणं, थेरे अयलभाया हारियायणे गोत्तेणं ते दुन्नि

वि थेरा तिन्नि तिन्नि समणसयाइं वाइंति, थेरे मेयज्जे थेरे य प्पभासे एए दोन्नि वि थेरा कोडिन्ना गोत्तेणं तिन्नि तिन्नि समण-सयाइं वाएंति, से एतेणं अट्ठेणं अज्जो ! एवं वुच्चइसमणस्स भगवओ महावीरस्स नव गणा एक्कारस गणहरा होत्था ॥२०२॥

अर्थ—प्रश्न—भगवन् ! यह किस दृष्टि से कहा जाता है कि श्रमण भगवान महावीर के नौ गण और ग्यारह गणधर थे ?

उत्तर—श्रमण भगवान महावीर के ज्येष्ठ शिष्य इन्द्रभूति नामक गौतम गोत्रीय अनगार पाँचसौ श्रमणों को वाचना देते थे। द्वितीय शिष्य अग्निभूति नामक गौतम गोत्रीय अनगार ने पाँचसौ श्रमणों को वाचना दी। तृतीय शिष्य लघु अनगार वायुभूति गौतम गोत्रीय ने पांच सौ श्रमणों को वाचना दी। चतुर्थ शिष्य आर्यव्यक्त भारद्वाज गोत्रीय स्थविर ने पांच सौ श्रमणों को वाचना दी। पाँचवें शिष्य आर्य सुधर्मा नामक अग्निवैशायन गोत्रीय स्थविर ने पाँच सौ श्रमणों को वाचना दी। छट्ठे शिष्य मण्डितपुत्र नामक वासिष्ठ गोत्रीय स्थविर ने तीन सौ पचास श्रमणों को वाचना दी। सातवें शिष्य मौर्यपुत्र नामक काश्यप गोत्रीय स्थविर ने तीन सौ पचास श्रमणों को वाचना दी। आठवें शिष्य अकं-पित नामक गोत्रीय स्थविर ने और नौवें शिष्य अचलभ्राता नामक हरितायन गोत्रीय स्थविर ने तीन सौ श्रमणों को वाचना दी। दशवें शिष्य मेतार्य नामक कौडिन्य गोत्रीय स्थविर ने और ग्यारहवें शिष्य प्रभास नामक स्थविर ने तीन सौ-तीन सौ श्रमणों को वाचना दी।

एतदर्थ हे आर्यो ! ऐसा कहा जाता है कि श्रमण भगवान महावीर के नौ गण और ग्यारह गणधर थे। अर्थात् आठवें नौवें गणधर की एक वाचना थी और दशवें व ग्यारहवें गणधर की भी एक वाचना थी। श्रमण भगवान महावीर के विराजते हुए ही नौ गणधर अपना गण आर्य सुधर्मा को देकर मोक्ष चले गये थे।[1]

विवेचन—इन्द्रभूति गौतम भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य थे। मगध की राजधानी राजगृह के पास गोर्वर (गोबर गाँव) ग्राम के रहने वाले थे,[2]

जो आज नालन्दा का ही एक विभाग माना जाता है । उनके पिता वसुभूति[3] और माता 'पृथ्वी' थी ।[4] उनका नाम यद्यपि इन्द्रभूति था पर अपने गोत्राभिधान 'गौतम'[5] इस नाम से ही वे अधिक विश्रुत थे । पचास वर्ष की आयु में[6] आपने पाँच सौ छात्रों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की, तीस वर्ष तक छद्मस्थ रहे,[7] और बारह वर्ष जीवन्मुक्त केवली[8] । गुणशील चैत्य में मासिक अनशन करके बानवे (९२) वर्ष की उम्र में निर्वाण को प्राप्त हुए ।[9]

अग्निभूति—अग्निभूति इन्द्रभूति गौतम के मझले भाई थे । छयालीस वर्ष की अवस्था मे दीक्षा ग्रहण की,[10] बारह वर्ष तक छद्मस्थावस्था[11] में तप जप कर केवलज्ञान प्राप्त किया । सोलह वर्ष[12] तक केवली अवस्था में विचरण कर, भगवान् महावीर के निर्वाण से दो वर्ष पूर्व राजगृह के गुणशील चैत्य में मासिक अनशन कर चौहत्तर (७४) वर्ष की अवस्था में निर्वाण को प्राप्त हुए ।[13]

वायुभूति—ये इन्द्रभूति के लघु भ्राता थे । बयालीस वर्ष की अवस्था में गृहवास को त्यागकर श्रमण धर्म स्वीकार किया था ।[14] दस वर्ष छद्मस्थावस्था मे रहे ।[15] अठारह वर्ष केवली अवस्था मे रहे ।[16] सत्तर वर्ष की अवस्था मे राजगृह के गुणशील चैत्य में मासिक अनशन के साथ निर्वाण प्राप्त हुए ।[17]

ये तीनों ही गणधर सहोदर थे, और वेदों आदि के प्रकाण्ड पण्डित थे ।

(४) **आर्यव्यक्त**—ये कोल्लागसंनिवेश के निवासी थे[18] और भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण थे ।[19] उनके पिता का नाम धनमित्र[20] और माता का नाम वारुणी था ।[21] पचास वर्ष की अवस्था में पाँच सौ छात्रों के साथ श्रमणधर्म स्वीकार किया,[22]। बारह वर्ष तक छद्मस्थावस्था में रहे[23] और अठारह वर्ष तक केवलीपर्याय पालकर[24], अस्सी वर्ष की अवस्था में मासिक अनशन के साथ राजगृह के गुणशील चैत्य में निर्वाण को प्राप्त हुए ।[25]

(५) **सुधर्मा**—ये कोल्लागसंनिवेश के निवासी,[26] अग्नि वैश्यायन गोत्रीय ब्राह्मण थे ।[27] इनके पिता धम्मिल थे[28] और माता भद्दिला थी ।[29]

पांचसौ छात्र इनके पास अध्ययन करते थे। पचास वर्ष की अवस्था में शिष्यों के साथ प्रव्रज्या ली।[30] बयालीस वर्ष पर्यन्त छद्मस्थावस्था में रहे।[31] महावीर के निर्वाण के बाद बारह वर्ष व्यतीत होने पर केवली हुए और आठ वर्ष तक केवली अवस्था में रहे।

श्रमण भगवान् के सर्व गणधरों में सुधर्मा दीर्घजीवी थे, अतः अन्यान्य गणधरों ने अपने अपने निर्वाण के समय अपने गण सुधर्मा को अर्पित कर दिए थे।

महावीर-निर्वाण के १२ वर्ष बाद सुधर्मा को केवलज्ञान प्राप्त हुआ और बीस वर्ष के पश्चात् सौ वर्ष की अवस्था मे मासिक अनशन पूर्वक राजगृह के गुणशील चैत्य में निर्वाण प्राप्त किया।[32]

(६) **माण्डिक**—माण्डिक मौर्य संनिवेश के रहने वाले वासिष्ठ गोत्रीय ब्राह्मण थे।[33] इनके पिता धनदेव[34] और माता विजयदेवा थी।[35] इन्होंने तीन सौ पचास छात्रों के साथ त्रेपन (५३) वर्ष की अवस्था में प्रव्रज्या ली।[36] सड़सठ (६७) वर्ष की अवस्था में केवलज्ञान प्राप्त किया,[37] और तिरासी वर्ष की अवस्था में गुणशील चैत्य में निर्वाण को प्राप्त हुए।[38]

(७) **मौर्यपुत्र**—ये काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण थे।[39] इनके पिता का नाम मौर्य[40] और माता का नाम विजयदेवा था।[41] मौर्यसन्निवेश के निवासी थे।[42] तीन सौ पचास छात्रों के साथ त्रेपन वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली।[43] उनासी वर्ष की अवस्था में केवलज्ञान प्राप्त किया,[44] और भगवान् के अन्तिम वर्ष मे तिरासी (८३) वर्ष[45] की अवस्था में मासिक अनशन पूर्वक राजगृह के गुणशील चैत्य में निर्वाण प्राप्त किया।

(८) **अकम्पित**—ये मिथिला के रहने वाले[46] गौतम गोत्रीय ब्राह्मण थे।[47] इनके पिता देव[48] और माता जयन्ती थी।[49] तीन सौ छात्रों के साथ अड़तालीस वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली।[50] सत्तावन वर्ष की अवस्था में केवल ज्ञान प्राप्त किया और भगवान् महावीर के अन्तिम वर्ष में अठहत्तर वर्ष की[51] अवस्था में राजगृह के गुणशील चैत्य में निर्वाण प्राप्त किया।

(९) **अचलभ्राता**–ये कोशला ग्राम के निवासी[५२] हारीत गोत्रीय ब्राह्मण थे।[५३] आपके पिता वसु[५४] और माता नन्दा थी।[५५] तीन सौ छात्रों के साथ छयालीस वर्ष की अवस्था में श्रमणत्व स्वीकार किया। बारह वर्ष तक छद्मस्था-वस्था मे रहे और चौदह वर्ष केवली अवस्था में विचरण कर, बहत्तर वर्ष की[५७] अवस्था में मासिक अनशन के साथ राजगृह के गुणशील चैत्य में निर्वाण को प्राप्त हुए।

(१०) **मेतार्य**–ये वत्सदेशान्तर्गत तुंगिक सन्निवेश के निवासी[५८], कौडिन्य गोत्रीय ब्राह्मण थे।[५९] इनके पिता का नाम दत्त था[६०] और माता का नाम वरुणदेवा था।[६१] इन्होंने तीन सौ छात्रों के साथ छत्तीस वर्ष की[६२] अवस्था में दीक्षा ग्रहण की। दस वर्ष तक छद्मस्थावस्था में रहे, और सोलह वर्ष तक केवली अवस्था में रहे। भगवान् महावीर के निर्वाण से चार वर्ष पूर्व बासठ वर्ष[६३] की अवस्था में, राजगृह के गुणशील चैत्य में निर्वाण हुआ।

(११) **प्रभास**–ये राजगृह के निवासी[६४], कौडिन्यगोत्रीय ब्राह्मण थे।[६५] इनके पिता का नाम 'बल'[६६] और माता का नाम 'अतिभद्रा' था।[६७] इन्होंने सोलह वर्ष की अवस्था में श्रमण धर्म स्वीकार किया[६८], आठ वर्ष तक छद्मस्थावस्था में रहे और सोलह वर्ष तक केवली अवस्था मे। भगवान् महावीर के सर्वज्ञ जीवन के पच्चीसवें वर्ष में गुणशील चैत्य में मासिक अनशन पूर्वक चालीस वर्ष की अवस्था में निर्वाण प्राप्त किया।[६९]

इन ग्यारह ही ब्राह्मण विद्वानों ने भगवान् के द्वितीय समवसरण पावा में दीक्षा ग्रहण की और सभी गणधर के महत्त्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित हुए थे।

मूल :—

सव्वे एए समणस्स भगवओ महावीरस्स एक्कारस वि गणहरा दुवालसंगिणो चोद्दसपुव्विणो समत्तगणिपिडगधरा राय-गिहे नगरे मासिएणं भत्तिएणं अपाणएणं कालगया जाव सव्वदु-

क्खप्पहीणा थेरे इंदभूई थेरे अज्जसुहम्मे सिद्धिं गए महावीरे पच्छा दोन्नि वि परिनिव्वुया ॥२०३॥

अर्थ—श्रमण भगवान् महावीर के ये ग्यारहों गणधर द्वादशाङ्गी के ज्ञाता थे, चौदह पूर्व के वेत्ता थे, और समग्र गणिपिटक के धारक थे। ये सभी राजगृह नगर में एक मास तक पानी रहित अनशन कर कालधर्म को प्राप्त हुए, सर्व दुःखों से रहित हुए। भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् स्थविर इन्द्रभूति और स्थविर आर्य सुधर्मा परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।

मूल :—

जे इमे अज्जत्ताते समणा निग्गंथा विहरंति एए णं सव्वे अज्जसुहम्मस्स अणगारस्स आवच्चिज्जा, अवसेसा गणहरा निरवच्चा वोच्छिन्ना ॥२०४॥

अर्थ—आज जो श्रमण निर्ग्रन्थ विचरते हैं, या विद्यमान हैं, वे सभी आर्य सुधर्मा अनगार की सन्तान हैं। शेष सभी गणधरों की शिष्य परम्परा व्युच्छन्न हो गई।

——● **आर्य जम्बू**

मूल :—

समणे भगवं महावीरे कासवगोत्तेणं समणस्स णं भगवओ महावीरस्स कासवगोत्तस्स अज्ज सुहम्मे थेरे अन्तेवासी अग्गिवेसायणगोत्ते थेरस्स णं अज्जसुहम्मस्स अग्गिवेसायणसगोत्तस्स अज्जजंबुनामे थेरे अंतेवासी कासवगोत्ते। थेरस्स णं अज्जजंबुनामस्स कासवगोत्तस्स अज्जप्पभवे थेरे अंतेवासी कच्चायणसगोत्ते। थेरस्स णं अज्जप्पभवस्स कच्चायणसगोत्तस्स अज्जसेज्जंभवे थेरे अंतेवासी मणगपिया वच्छसगोत्ते। थेरस्स णं अज्जसेज्जंभवस्स

मणगपिउणो वच्छसगोत्तस्स अज्जजसभद्दे थेरे अंतेवासी तुंगिया-यणसगोत्ते ॥२०५॥

अर्थ—श्रमण भगवान् महावीर काश्यपगोत्री थे। काश्यपगोत्री श्रमण भगवान् महावीर के अग्निवैशायन गोत्री स्थविर आर्यसुधर्मा नामक अन्तेवासी शिष्य थे। अग्निवैशायन गोत्री स्थविर आर्यसुधर्मा के काश्यपगोत्री स्थविर आर्य जम्बू नामक अन्तेवासो थे। काश्यपगोत्री स्थविर आर्य जम्बू के कात्यायन गोत्री स्थविर आर्य प्रभव नामक अन्तेवासी थे। कात्यायन गोत्री स्थविर आर्य प्रभव के वात्स्यगोत्री स्थविर आर्य सिज्जंभव (शय्यभव) नामक अन्तेवासी थे। मनक के पिता और वात्स्यगोत्री स्थविर आर्यसिज्जंभव के तुंगियायन गोत्री स्थविर जसभद्द (आर्य यशोभद्र) नामक अन्तेवासी थे।

विवेचन—श्रमण भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के सोलह वर्ष पूर्व मगध की राजधानी राजगृह में जम्बूकुमार का जन्म हुआ। उनके पिता का नाम श्रेष्ठी ऋषभदत्त और माता का नाम धारिणी था। ये अपने माता-पिता के इकलौते पुत्र थे।

सोलह वर्ष की उम्र में आठ कन्याओं के साथ पाणिग्रहण हुआ। पाणि-ग्रहण से पूर्व ही संयम लेने का सकल्प किया, किन्तु माता-पिता के आग्रह पर सुन्दरियों से पाणिग्रहण किया, दहेज में ९९ करोड़ का धन मिला। किन्तु सुधर्मा स्वामी के वैराग्यरंग से परिप्लावित प्रवचन को सुनकर इतने विरक्त हुए कि बिना सुहाग रात मनाये ही आठ सुन्दर पत्नियों का, एवं अपार वैभव का परित्याग कर भगवान् सुधर्मा के चरणों में दीक्षा ग्रहण की। जम्बू के साथ ही उनके माता-पिता ने तथा आठों पत्नियाँ और उनके भी माता-पिताओं ने, तथा दस्युराज प्रभव व उसके साथ के पाँच सौ चोरों ने इस प्रकार पाँच सौ सत्तावीस व्यक्तियों ने एक साथ दीक्षा ग्रहण की। करोड़ों का धन जनकल्याण के लिए न्यौच्छावर कर दिया।

सोलह वर्ष की उम्र में दीक्षा ग्रहण की। बारह वर्ष तक सुधर्मा स्वामी से आगम की वाचना प्राप्त करते रहे। वीर निर्वाण संवत् एक में दीक्षा ग्रहण

की,[70A] वीर संवत् १३ में सुधर्मास्वामी के केवलज्ञानी होने के पश्चात् उनके पट्ट पर आसीन हुए। आठ वर्ष तक संघ का कुशल नेतृत्व करने के पश्चात् वीर संवत् बीस में केवल ज्ञान प्राप्त किया और वीर संवत् चौंसठ में अस्सी वर्ष की आयु पूर्ण कर मथुरा नगरी में निर्वाण प्राप्त किया।

आज जो आगम-साहित्य उपलब्ध है उसका बहुत सारा श्रेय जम्बूस्वामी को ही है। उनकी प्रबल जिज्ञासा से ही सुधर्मा स्वामी ने आगम की वाचना दी। जम्बूस्वामी इस अवसर्पिणी कालचक्र के अन्तिम केवली थे। उनके पश्चात् कोई भी मोक्ष नहीं गया। उनके मोक्ष पधारने के पश्चात् निम्न दस बातें विच्छिन्न हो गईं :—

(१) मनः पर्यवज्ञान, (२) परमावधिज्ञान, (३) पुलाक लब्धि, (४) आहारक शरीर, (५) क्षपक श्रेणी, (६) उपशम श्रेणी, (७) जिनकल्प, (८) संयम त्रिक (परिहार विशुद्ध चारित्र, सूक्ष्मसांपराय चारित्र, यथाख्यात चारित्र), (९) केवल ज्ञान (१०) और सिद्धपद।[70B]

——● आर्य प्रभव स्वामी

आर्य प्रभव विन्ध्याचल के सन्निकटवर्ती जयपुर के निवासी थे। पिता का नाम विन्ध्य राजा था। एक बार किसी कारणवश पिता से अनबन हो जाने के कारण अपने पांच सौ साथियों के साथ राज्य को छोड़कर निकल पड़े। अपने साथियों के साथ इधर उधर डाका डालना और लूट मार करना, इसी प्रवृत्ति से प्रभव राजकुमार दस्युराज के रूप में विख्यात हो गए। उनके नाम से लोग कांपने लगे। जिस दिन जम्बूकुमार का विवाह था, उसी दिन वहां डाका डालने के लिए प्रभव उनके घर पर पहुँचे। प्रभव के पास दो विद्याएँ थी, तालोद्घाटनी (ताला तोड़ने की) एवं अवस्वापिनी (नींद दिलाने की) उनकी विद्या के प्रभाव से घर के सभी सदस्य सो गए, पर, ऊपर जम्बूकुमार अपनी नवपरिणीता पत्नियों के साथ वैराग्यचर्चा कर रहे थे। प्रभव वहां पहुँचा, छुपकर सुनने लगा, वैराग्य रस से छलछलाते हुए उपदेश को सुनकर प्रभव ससार से विरक्त हो गये। अपने साथियों के साथ ही उन्होंने तीस वर्ष

की अवस्था में प्रव्रज्या ग्रहण की। पचास वर्ष की अवस्था में आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए, और एक सौ पाँच वर्ष की उम्र में अनशन कर स्वर्गवासी हुए।

——● **आर्य शय्यंभव**—

आचार्य प्रभव स्वामी के स्वर्गस्थ होने पर आर्य शय्यंभव उनके पट्ट पर आसीन हुए। ये राजगृह के निवासी वत्स गोत्रीय ब्राह्मण थे। वैदिक साहित्य के उद्‌भट विद्वान् थे। एक समय वे बहुत बड़ा यज्ञ कर रहे थे। आर्य प्रभव के आदेशानुसार कुछ शिष्य उनके समीप आए और कहते हुए आगे निकल गए—

'अहो कष्टमहो कष्टं पुनस्तत्वं न ज्ञायते'

"अत्यन्त खेद है कि तत्व को कोई नहीं जानता।" यह वाक्य शय्यंभव के पाण्डित्य पर एक करारी चोट थी। उन्होने गहराई से सोचा, पर तत्व का रहस्य ज्ञात न हो सका, तब उन्होंने इन्ही मुनियों से पूछा—तत्व क्या है ? बताओ !

शिष्यों ने कहा—तत्व क्या है ? यह तो हमारे गुरु बताएँगे। यदि तत्व की जिज्ञासा हैं तो हमारे गुरु आर्य प्रभव के चरणों में चलो। उसी क्षण शय्यंभव आर्य प्रभव के पास आये। प्रभवस्वामी ने बताया—"यज्ञ करना एक तत्व है, पर वह यज्ञ बाह्य नहीं, आभ्यन्तर होना चाहिए, विकारों के पशुओं को होमना ही यज्ञ का तत्व है।" प्रभव स्वामी के प्रभावपूर्ण प्रवचन से प्रबुद्ध होकर प्रव्रज्या ग्रहण की। चतुर्दश पूर्व का अध्ययन किया।

जब इन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की थी तब पत्नी सगर्भा थी। पश्चात् पुत्र हुआ।, 'मनक' नाम रखा गया। 'मनक' ने लघुवय में ही चम्पानगरी में आपके दर्शन किये, और वह भी मुनि बन गया। विशिष्ट ज्ञान से पुत्र को छह मास का अल्पजीवी समझकर अल्पकाल में ही श्रमणाचार का सम्यक् परिचय देने हेतु पूर्वश्रुत के आधार से आचार संहिता का संकलन किया। उसके दस अध्ययन थे। विकाल में रचा जाने के कारण उसका नाम 'दशवैकालिक' रखा गया।

इन्होंने अट्ठाईस वर्ष की वय में प्रव्रज्या ग्रहण की। चौंतीस वर्ष साधारण मुनि अवस्था में रहे और तेवीस वर्ष युग प्रधान आचार्य पद पर। वीर सं० ९८ में ८५ वर्ष की आयु पूर्णकर स्वर्गस्थ हुए।

——● आर्य यशोभद्र

ये आचार्य शय्यंभव के परम मेधावी शिष्य थे। तुंगियायन गोत्रीय ब्राह्मण थे। उनके जीवन वृत्त के सम्बन्ध में विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। पाटलिपुत्र का नन्द-राजवंश और मंत्री-वंश इनके प्रभाव से पूर्ण प्रभावित था। तथा विदेह, मगध और अंग आदि आपके पाद-पद्मों से सदा पावन होते रहे। बावीस वर्ष की अवस्था में दीक्षा ग्रहण की। चौदह वर्ष तक मुनि अवस्था में रहे, और पचास वर्ष युगप्रधान आचार्य पद पर रहे। वीर संवत् १४८ में ८६ वर्ष की आयु पूर्णकर स्वर्गस्थ हुए।

यहाँ यह स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है कि स्थविरावली का लेखन एक समय में नही हुआ है, जैसे आगमों को तीन बार व्यवस्थित किया गया था वैसे ही स्थविरावली भी तीन भागों में व्यवस्थित की गई है।

आर्य यशोभद्र तक स्थविरावली की एक परम्परा रही है। उसके पश्चात् दो धाराएँ हो गई, एक संक्षिप्त और दूसरी विस्तृत। आर्य यशोभद्र तक की स्थविरावली भगवान् महावीर के निर्वाण से करीब १६० वर्ष पश्चात् पाटलिपुत्र में जो प्रथम वाचना हुई थी उसके पूर्व की है। उसके पश्चात् की संक्षिप्त और विस्तृत दोनों ही स्थविरावलियाँ, जिनकी परिसमाप्ति क्रमशः आर्य तापस और फग्गुमित्र तक हुई है। द्वितीय वाचना के समय मूल के साथ सम्मिलित की गई हैं। संक्षिप्त स्थविरावली में मूल परम्परा के स्थविरों का ही मुख्यतः निर्देश किया गया है और विस्तृत स्थविरावली में मूल पट्टधरों के अतिरिक्त उनके गुरुभ्राता और उनसे प्रादुर्भूत होने वाले गण, गणों के कुल और शाखाओं का भी वर्णन किया गया है। आर्य तापस और फग्गुमित्र के पश्चात् स्थविरावली तृतीय वाचना के समय पूर्वतन स्थविरावली में संलग्न करदी गई।

मूल :—

संखित्तवायणाए अज्जजसभद्दाओ अग्गओ एवं थेरावली भणिया, तं जहा—थेरस्स णं अज्जजसभद्दस्स तुंगियायणसगोत्तस्स अंतेवासी दुवे थेरा-थेरे अज्जसंभूयविजए माढरसगोत्ते; थेरे अज्ज-भद्दबाहू पाइणसगोत्ते। थेरस्स णं अज्जसंभूयविजयस्स माढरस-गोत्तस्स अंतेवासी थेरे अज्जथूलभद्दे गोयमसगोत्ते। थेरस्स णं अज्जथूलभद्दस्स गोयमसगोत्तस्स अंतेवासी दुवे थेरा—थेरे अज्ज-महागिरी एलावच्छसगोत्ते। थेरस्स णं अज्जसुहत्थिस्स वासिट्ठ-सगोत्तस्स अंतेवासी दुवे थेरा सुट्ठियसुपडिबुद्धा कोडियकाकंदगा वग्घावच्चसगोत्ता। थेराणं सुट्ठियसुपडिबुद्धाणं कोडियकाकंदगाणं वग्घावच्चसगोत्ताणं अंतेवासी थेरे अज्जइंददिन्ने कोसियगोत्ते। थेरस्स णं अज्जइंददिन्नस्स कोसियगोत्तस्स अंतेवासी थेरे अज्ज-दिन्ने गोयमसगोत्ते। थेरस्स णं अज्जदिन्नस्स गोयमसगोत्तस्स अंतेवासी थेरे अज्जसीहगिरी जाइस्सरे कोसियगोत्ते। थेरस्स णं अज्जसीहगिरिस्स जातिसरस्स कोसियगोत्तस्स अंतेवासी थेरे अज्जवइरे गोयमसगोत्ते। थेरस्स णं अज्जवइरस्स गोयमगोत्तस्स अंतेवासी चत्तारि थेरा—थेरे अज्जनाइले, थेरे अज्जपोगिले थेरे अज्जजयंते, थेरे अज्जतावसे। थेराओ अज्जनाइलाओ अज्जनाइला साहा निग्गया, थेराओ अज्जपोगिलाओ अज्जपोगिला साहा निग्गया, थेराओ अज्जजयंताओ अज्जजयंती साहा निग्गया, थेराओ अज्जतावसाओ अज्जतावसी साहा निग्गया इति ॥२०६॥

अर्थ—आर्य यशोभद्र से आगे की स्थविरावलि संक्षिप्त वाचना के द्वारा

इस प्रकार कही गई है। जैसे—तुंगियायन गोत्रीय स्थविर आर्य यशोभद्र के दो स्थविर अन्तेवासी थे। एक माठरगोत्र के स्थविर आर्य संभूतविजय और दूसरे प्राचीन गोत्र के स्थविर आर्य भद्रबाहु। माठर गोत्रीय स्थविर आर्य सभूतविजय के गौतम गोत्रीय आर्य स्थूलभद्र नामक अन्तेवासी थे। गौतम गोत्रीय स्थविर आर्य स्थूलभद्र के दो स्थविर अन्तेवासी थे। प्रथम एलावच्चगोत्रीय (एलावत्स) स्थविर आर्यमहागिरि, और दूसरे वासिष्ठ-गोत्रीय स्थविर आर्यसुहस्ती। वासिष्ठगोत्रीय स्थविर आर्यसुहस्ती के दो स्थविर अन्तेवासी थे। प्रथम सुस्थित स्थविर और द्वितीय सुप्पडिबुद्ध (सुप्रतिबुद्ध) स्थविर। ये दोनों कोडिय-काकंदक[1] कहलाते थे और ये दोनों वग्घावच्च (व्याघ्रापत्य) गोत्र के थे। कोडियकाकदक के रूप में प्रसिद्ध हुए और वग्घावच्चगोत्री (व्याघ्रापत्यगोत्री) सुस्थित और सुप्पडिबुद्ध स्थविर के कौशिक गोत्री आर्य इंद्र दिन्न नामक स्थविर अन्तेवासी थे। कौशिक गोत्रीय आर्य इन्द्रदिन्न स्थविर के गौतम गोत्रीय स्थविर आर्यदिन्न नामक अंतेवासी थे। गौतमगोत्रीय स्थविर आर्यदिन्न के कौशिक गोत्रीय आर्यसिंहगिरि नामक स्थ-विर अन्तेवासी थे। आर्यसिंहगिरि को जातिस्मरण ज्ञान हुआ था। जाति-स्मरण ज्ञान को प्राप्त कौशिकगोत्रीय आर्यसिंहगिरि स्थविर के गौतमगोत्रीय आर्य वज्रनामक स्थविर अन्तेवासी थे। गौतमगोत्रीय स्थविर आर्य वज्र के उक्कोसियगोत्री आर्य वज्रसेन नामक स्थविर अन्तेवासी थे। उक्कोसियगोत्री आर्य वज्रसेन स्थविर के चार स्थविर अन्तेवासी थे—(१) स्थविर आर्य नाईल, (२) स्थविर आर्य पोमिल (पद्मिल) (३) स्थविर आर्य जयंत (४) और स्थविर आर्य तापस। स्थविर आर्य नाईल से आर्य नाईला शाखा निकली। स्थविर आर्य पोमिल (पद्मिल) से आर्य पोमिला (पद्मिला) शाखा निकली। स्थविर आर्य जयंत से आर्य जयंती शाखा निकली। स्थविर आर्य तापस से आर्या तापसी शाखा निकली।

मूल :—

वित्थरवायणाए पुण अज्जजसभद्दाओ परओ थेरावली

एवं पलोइज्जइ, तं जहा—थेरस्स णं अज्जजसभद्दस्स इमे दो थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था, तं जहा—थेरे अज्जभद्दबाहू पाईणसगोत्ते, थेरे अज्ज संभूयविजये माढरसगोत्ते। थेरस्स णं अज्जभद्दबाहुस्स पाईणगोत्तस्स इमे चत्तारि थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिण्णाया होत्था, तं जहा—थेरे गोदासे थेरे अग्गिदत्ते थेरे जण्णदत्ते थेरे सोमदत्ते कासवगोत्ते णं। थेरेहिंतो णं गोदासेहिंतो कासवगोत्तेहिंतो एत्थ णं गोदासगणे नामं गणे निग्गए, तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ एवमाहिज्जंति, तं जहा—तामलित्तिया कोडीवरिसिया पोंडवद्धणिया दासीखब्बडिया।२०७॥

अर्थ—अब आर्य यशोभद्र से आगे की स्थविरावली विस्तृत वाचना से इस प्रकार दृष्टिगोचर होती है। जैसे तुंगियान गोत्रीय स्थविर आर्य यशोभद्र के पुत्र-समान ये दो प्रख्यात स्थविर अन्तेवासी थे। जैसे—प्राचीन गोत्रीय आर्य भद्रबाहु स्थविर और माठर गोत्री आर्य संभूतविजय स्थविर। प्राचीन गोत्रीय आर्य भद्रबाहु स्थविर के पुत्र के समान, प्रख्यात ये चार स्थविर अन्तेवासी थे। जैसे— १) स्थविर गोदास, (२) स्थविर अग्निदत्त, (३) स्थविर यज्ञदत्त और (४) स्थविर सोमदत्त, ये चारों स्थविर काश्यप गोत्रीय थे। काश्यप गोत्रीय स्थविर गोदास से गोदास गण प्रारम्भ हुआ। उस गण की ये चार शाखाएँ इस प्रकार हैं। जैसे—(१) तामलित्तिया (ताम्रलिप्तिका), (२) कोडिवरिसिया (कोटिवर्षीया), (३) पंडुबद्धणिया (पौण्ड्रवर्धनिका), (४) दासी खब्बडिया (दासीकर्पटिका)।[९२]

विवेचन—संक्षिप्त स्थविरावली में आर्य संभूतविजय का नाम प्रथम आया है और आर्य भद्रबाहु का द्वितीय। किन्तु इस विस्तृत स्थविरावली में प्रथम भद्रबाहु का नाम आया है और फिर संभूतविजय का। पट्टवलीकार का भी यही अभिमत है कि संभूतविजय के लघु गुरुभ्राता भद्रबाहु थे और यशोभद्र के पश्चात् उनके दोनों ही शिष्य पट्टधर बने थे।

● आर्य भद्रबाहु

ये जैन संस्कृति के एक ज्योतिर्धर आचार्य थे। जैन आगमों पर सर्वप्रथम व्याख्यात्मक चिन्तन के रूप में आपने ही निर्युक्तियों की सर्जना की है। मंत्रशास्त्र और ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्वान थे। जैन साहित्य सर्जना के ये आदिपुरुष माने जा सकते हैं। आगमव्याख्याता, इतिहासकार और साहित्य के नवसर्जक के रूप में वस्तुत. आचार्य भद्रबाहु अपने युग के बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न एवं प्रभावशाली आचार्य थे। आपका जन्म प्रतिष्ठानपुर नगर में हुआ था। ४५ वर्ष की वय में आर्य यशोभद्र के पास प्रव्रज्या ग्रहण की, सत्तरह वर्ष तक साधारण मुनि अवस्था में रहे और चौदह वर्ष तक युगप्रधान आचार्य पद पर। वीर संवत् १७० में ७६ वर्ष की आयु में स्वर्गस्थ हुए।

आर्य प्रभव से प्रारम्भ होने वाली श्रुतकेवली परम्परा में भद्रबाहु पंचम श्रुतकेवली है, चतुर्दश पूर्वधर हैं। उनके पश्चात् कोई भी साधक चतुर्दशपूर्वी नहीं हुआ। अतः ये अन्तिम श्रुतकेवली माने जाते हैं।

दशाश्रुत, बृहत्कल्प, व्यवहार[७३] और कल्पसूत्र ये आपके द्वारा रचे गये हैं। आवश्यक निर्युक्ति आदि दस निर्युक्तियों की रचना भी आपने की है। आवश्यक निर्युक्ति तो वस्तुतः जैन साहित्य का एक 'आकर' ग्रन्थ है, जिसमें सर्वप्रथम इस अवसर्पिणी काल के जैन महापुरुषों का जीवन चरित्र ग्रथित हुआ। आपने सपादलक्ष गाथाबद्ध वसुदेव चरित्र (प्राकृत भाषा में) लिखा था। चमत्कारी उवसग्गहर स्तोत्र भी आप ही की रचना है। इस कृति के सम्बन्ध में अनुश्रुति है कि वराहमिहिर संहिता का रचयिता वराहमिहिर आपका लघुभ्राता था। उसने भी आर्हती दीक्षा ग्रहण की थी। जब स्थूलिभद्र को आचार्य पद देना निश्चित हुआ तब वह ईर्ष्या से श्रमण परिधान का परित्याग कर गृहस्थ बन गया, और वराहमिहिर-संहिता का निर्माण किया। विद्वानों की यह धारणा है कि वर्तमान में जो वराहमिहिर संहिता उपलब्ध है, वह उससे भिन्न है। जब वह मरकर व्यन्तर देव हुआ तब पूर्व वैरसे जैन शासनानुरागियों को उपसर्ग देने लगा, तब आचार्य ने प्रस्तुत स्तोत्र की रचना की, जिसके पाठ से सारे उपसर्ग नष्ट हो गये।[७४]

कहा जाता है कि प्राकृत भाषा में आपने भद्रबाहु संहिता नामक ज्योतिष ग्रन्थ लिखा था, जो आज अनुपलब्ध है। उसके प्रकाश में ही द्वितीय भद्रबाहु ने संस्कृत भाषा में भद्रबाहुं सहिता का निर्माण किया।[७५]

आगमों की प्रथम वाचना पाटलीपुत्र में[७६] आपके द्वारा ही सम्पन्न हुई थी। उस समय (वी० नि० १५५ के आसपास) द्वादशवर्षीय भयंकर दुष्काल पड़ा। श्रमण संघ समुद्र तट पर चला गया। अनेक श्रुतधर काल-कवलित हो गए। दुष्काल आदि अनेक कारणों से यथावस्थित सूत्र पारायण नही हो सका, जिससे आगम ज्ञान की शृंखला छिन्न-भिन्न हो गई। दुर्भिक्ष समाप्त हुआ। उस समय विद्यमान विशिष्ट आचार्य पाटलीपुत्र में एकत्रित हुए। एकादश अंग संकलित किए गए। बारहवें अंग के एक मात्र ज्ञाता भद्रबाहु स्वामी उस समय नेपाल में महाप्राणध्यान की साधना कर रहे थे। संघ के आग्रह से उन्होंने स्थूलिभद्र मुनि को बारहवें अंग की वाचना देना स्वीकार किया। दस पूर्व अर्थ सहित सिखाए, ग्यारहवें पूर्व की वाचना चल रही थी कि एक बार आर्य स्थूलिभद्र से मिलने के लिए, जहाँ वे ध्यान कर रहे थे वहाँ उनकी बहनें आईं। बहनो को चमत्कार दिखाने के कौतुक वश स्थूलिभद्र ने सिंह का रूप बनाया। इस घटना पर, भद्रबाहु ने आगे वाचना देना बन्द कर दिया कि वह ज्ञान को पचा नही सकता। पर संघ के अत्याग्रह से अन्तिम चार पूर्वों की वाचना तो दी, पर अर्थ नहीं बताया और दूसरों को उसकी वाचना देने की स्पष्ट मनाई की[७७]। अर्थ की दृष्टि से अन्तिम श्रुत केवली भद्रबाहु ही हैं। स्थूलिभद्र शाब्दिक दृष्टि से चौदहपूर्वी थे और अर्थ दृष्टि से दसपूर्वी थे।

मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त आपके अनन्य भक्त थे। उनके द्वारा देखे गये १६ स्वप्नों का फल आपने बताया था जिनमें पंचमकाल की भविष्यकालीन स्थिति का रेखाचित्र था। संभवतः भद्रबाहु के इस विराट् व्यक्तित्व के कारण ही श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में उनके प्रति समान श्रद्धाभाव है। दोनों ही उन्हें अपनी परम्परा के ज्योतिर्धर आचार्य मानते हैं। वी० सं० १७० में अर्थात् वि० पू० ३०० में उनका स्वर्गवास माना जाता है।

मूल :—

थेरस्स णं अज्जसंभूयविजयस्स माढरसगोत्तस्स इमे दुवालस थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिण्णाया होत्था, तं जहा–

नंदणभद्दे उवनंदभद्द तह तीसभद्द जसभद्दे।
थेरे य सुमिणभद्दे मणिभद्दे य पुन्नभद्दे य ॥१॥
थेरे य थूलभद्दे उज्जुमती जंबुनामधेज्जे य।
थेरे य दीहभद्दे थेरे तह पंडुभद्दे य ॥२॥

थेरस्स णं अज्जसंभूइविजयस्स माढरसगोत्तस्स इमाओ सत्त अंतेवासिणीओ अहावच्चाओ अभिन्नताओ होत्था, तं जहा–

जक्खा य जक्खदिन्ना भूया तह होइ भूयदिन्ना य।
सेणा वेणा रेणा भगिणीओ थूलभद्दस्स ।१॥२०८॥

अर्थ–माढरगोत्रीय स्थविर आर्य संभूतिविजय के पुत्र समान एवं प्रख्यात ये बारह स्थविर अंतेवासी थे। जैसे–(१) नन्दनभद्र, (२) उपनन्दन भद्र, (३) तिष्यभद्र, (४) यशोभद्र, (५) स्थविर सुमनभद्र, (स्वप्नभद्र) (६) मणिभद्र, (७) पुण्यभद्र (पूर्णभद्र), (८) आर्य स्थूलभद्र (९) ऋजुमति, (१०) जम्बू, (११) स्थविर दीर्घभद्र, (१२) स्थविर पाण्डुभद्र। माढर गोत्रीय स्थविर आर्य संभूतविजय की पुत्री समान तथा प्रख्यात ये सात अंतेवासिनियाँ (शिष्याएँ) थीं, जैसे कि–(१) यक्षा, (२) यक्षदत्ता, (३) भूता, (४) भूतदत्ता (५) सेणा,(६) वेणा,(७) और रेणा ये सातों ही आर्य स्थूलभद्र की बहिनें थीं।

विवेचन–आचार्य संभूतविजय माढर गोत्रीय ब्राह्मण विद्वान थे। आर्य यशोभद्र के पास ४२ वर्ष की वय में दीक्षा ग्रहण की, ४० वर्ष सामान्य साधु अवस्था में रहे और ८ वर्ष युगप्रधान आचार्य पद पर। ९० वर्ष की आयु में वीर सं० १५६ में स्वर्गवासी हुए।

आपका शिष्य परिवार बहुत ही विस्तृत था। यहाँ तो प्रमुख १२ शिष्यों का ही नाम निर्देश किया गया है।

—— ● आर्य स्थूलिभद्र

मूल :—

थेरस्स णं अज्जथूलभद्दस्स गोयमगोत्तस्स इमे दो थेरा अहावच्चा अभिन्नाया होत्था, तं जहा–थेरे अज्जमहागिरी एलावच्छसगोत्ते, थेरे अज्ज सुहत्थी वासिट्ठसगोत्ते। थेरस्स णं अज्जमहागिरिस्स एलावच्छसगोत्तस्स इमे अट्ठ अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था, तं जहा–थेरे उत्तरे थेरे बलिस्सहे थेरे धणड्ढे थरे कोडिन्ने थेरे नागे थेरे नागमित्ते थेरे छलुए रोहगुत्ते कोसिए गोत्तेणं। थेरेहिंतो णं छलुएहिंतो रोहगुत्तेहिंतो कोसियगोत्तेहिंतो तत्थ णं तेरासिया निग्गया। थेरेहिंतो णं उत्तरबलिस्सहेहिंतो तत्थ णं उत्तरबलिस्सहगणे नामं गणे निग्गए। तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ एवमाहिज्जंति, तं जहा–कोसंबिया सोतित्तिया कोडवाणी चंदनागरी ॥२ ६॥

अर्थ–गौतम गोत्रीय आर्य स्थूलिभद्र, स्थविर के पुत्र समान एवं प्रख्यात ये दो स्थविर अन्तेवासी थे—

जैसे कि–एक ऐलावच्च (एलावत्स) गोत्रीय स्थविर आर्य महागिरि, और दूसरे वसिष्ठ गोत्रीय स्थविर आर्य सुहस्ती। ऐलावच्चगोत्रीय स्थविर आर्य महागिरि के पुत्र समान प्रख्यात ये आठ स्थविर अन्तेवासी थे। जैसे–(१) स्थविर उत्तर, (२) स्थविर बलिस्सह, (३) स्थविर धणड्ढ (धनाढ्य), (४) स्थविर सिरिड्ढ (श्रीआढ्य), (५) स्थविर कोडिन्न (कौडिन्य), (६) स्थविर नाग, (७) स्थविर नागमित्त (नागमित्र), (८) षडुलूक, कौशिकगोत्रीय स्थविर रोहगुप्त।

कौशिक गोत्रीय स्थविर षडुलूक रोहगुप्त से त्रैराशिक सम्प्रदाय निकला। स्थविर उत्तर से और स्थविर बलिस्सह से 'उत्तरबलिस्सह" नामक गण

निकला। उसकी ये चार शाखाएँ इस प्रकार कही जाती है। जैसे—(१) कोसं-बिया (कौशाम्बिका)[७८] (२) सोईत्तिया (शुक्तिमतीया)[७९] (३) कोडंबाणी[८०] (४) चन्दनागरी।[८१]

विवेचन—आर्य स्थूलिभद्र जैन जगत् के वे उज्ज्वल नक्षत्र हैं, जिनकी जीवन-प्रभा से आज भी जन जीवन आलोकित हैं। मगलाचरण में तृतीय मंगल के रूप में उनका स्मरण किया जाता है।

ये मगध की राजधानी पाटलीपुत्र के निवासी थे। इनके पिता का नाम शकडाल था, जो नन्द साम्राज्य के महामन्त्री थे। वे विलक्षण प्रतिभा के धनी और राजनीतिज्ञ थे। जब तक वे विद्यमान रहे तब तक नन्द साम्राज्य प्रतिदिन विकास करता रहा।

स्थूलिभद्र के लघुभ्राता श्रेयक थे। यक्षा आदि सात भगिनियाँ थीं। स्थूलिभद्र जब यौवन की चौखट पर पहुँचे तब कौशागणिका (युग की सुन्दरी गणिका तथा नर्तकी) के रूप-जाल में फंस गए। महापण्डित वररुचि के षड़यंत्र से श्रेयक ने पिता को मार दिया। पिता के अमात्यपद को ग्रहण करने के लिए स्थूलिभद्र से निवेदन किया गया। किन्तु पिता की मृत्यु से उन्हें वैराग्य हो गया उन्होने आचार्य सभूतिविजय से प्रव्रज्या ग्रहण को।

प्रथम वर्षावास का समय आया। अन्य साथी मुनियों में से एक ने सिंह गुफा पर चातुर्मास रहने की आज्ञा मांगी। दूसरे ने दृष्टि-विष सर्प की बाँबी पर, तीसरे ने कुएँ के कोठे पर, और स्थूलिभद्र ने कोशा की चित्रशाला में। गुरु-आज्ञा लेकर स्थूलिभद्र कोशा के भवन पर पहुँचे। चारों ओर वासना का वातावरण, कोशा वेश्या के हाव भाव और विभाव से भी स्थूलिभद्र चलित न हुए। अन्त में स्थूलिभद्र के त्यागमय उपदेश से वह श्राविका बन गई।

वर्षावास पूर्ण होने पर सभी शिष्य गुरु के चरणों में लौटे,। तीनों का 'दुष्करकारक' तपस्वी के रूप में स्वागत किया गया। स्थूलिभद्र के लौटने पर गुरु सात-आठ कदम सामने गये और 'दुष्कर-दुष्कर कारक तपस्वी' कहकर स्वागत किया। सिंहगुफा वासी मुनि यह देखकर क्षुब्ध हुआ। आचार्य ने ब्रह्म-चर्य की दुष्करता पर प्रकाश डाला, पर उसका क्षोभ शान्त नहीं हुआ।

दूसरे वर्ष सिंहगुफावासी मुनि कोशा वेश्या के यहाँ पहुँचा। वेश्या ने परीक्षा के लिए ज्योंही कटाक्ष का बाण छोड़ा कि घायल हो गया और व्रत-भंग करने के लिए प्रस्तुत हो गया। कोशा ने प्रतिबोध देने हेतु नेपाल नरेश के यहाँ के रत्नकम्बल की याचना की। विषयाकुल बना हुआ वह वर्षावास में ही नेपाल पहुँचा। रत्नकम्बल लेकर लौट रहा था कि मार्ग में चोरों ने उसे अनेक कष्ट दिए। बहुत-सी कठिनाइयों को सहता हुआ पुनः पाटलिपुत्र पहुँचा। रत्नकम्बल वेश्या को दिया। वेश्या ने गन्दे पानी की नाली में उसे फेंक दिया। आक्रोश पूर्ण भाषा में साधु ने कहा—अत्यन्त कठिनता से जिस रत्नकम्बल को प्राप्त किया गया है उसको गन्दी नाली में डालते हुए तुम्हे लज्जा नहीं आती? वेश्या ने कहा—रत्न-कम्बल से भी अधिक मूल्यवान संयम रत्न को क्षणिक वासना के लिए भंग करना क्या संयम रतन को गंदी नाली में डालना नहीं है? वेश्या के एक ही वाक्य से सिंह गुफा वासी मुनि को अपनी भूल मालूम हो गई। उसे गुरु के कथन का रहस्य ज्ञात हो गया। आकर गुरु से क्षमा याचना की।

आचार्य स्थूलिभद्र का महत्त्व कामविजेता होने के कारण ही नहीं, अपितु पूर्वधारी होने के कारण भी रहा है।

वीर संवत् ११६ में इनका जन्म हुआ। तीस वर्ष की वय में दीक्षा ग्रहण की। २४ वर्ष तक साधारण मुनि पर्याय में रहे, और ४५ वर्ष तक युग प्रधान आचार्य पद पर। ६६ वर्ष का आयु भोगकर वैभारगिरि पर्वत पर पंद्रह दिन का अनशन कर वीर संवत् २१५ (मतान्तर से २१६) में स्वर्गस्थ हुए।[८२]

आचार्य प्रवर स्थूलिभद्र के पट्ट पर उनके शिष्य रत्न, महान् मेधावी और चारित्रनिष्ठ आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती आसीन हुए। ये दोनों ही आर्य स्थूलिभद्र की बहिन यक्षा साध्वी द्वारा प्रतिबुद्ध हुए थे।

आर्य महागिरि उग्र तपस्वी थे। दस पूर्व तक अध्ययन करने के पश्चात् संघ संचालन का उत्तरदायित्व अपने लघु गुरुभ्राता आर्य सुहस्ती को समर्पित

कर स्वयं आर्य जम्बू के समय से विच्छिन्न जिनकल्प की अत्यन्त कठोर साधना करने के लिए एकान्त-शान्त कानन में चले गये।

अनुश्रुति है कि एक बार दोनों आचार्य कौशाम्बी में गये। दुष्काल से ग्रसित एक द्रमक (भिखारी) को प्रव्रज्या दी। यही द्रमक समाधि पूर्वक आयु पूर्णकर कुणालपुत्र संप्रति हुआ। अवन्ती (उज्जयनी) में आर्य सुहस्ती के दर्शन कर जातिस्मरण हुआ और प्रवचन सुनकर जैनधर्मावलम्बी बना। यह बड़ा ही प्रतापी राजा हुआ। हृदय से दयालु प्रकृति का था। इसने ७०० दानशालाएँ खुलवाई, और जैनधर्म के प्रचार के लिए अपने विशिष्ट अधिकारियो को श्रमणवेश में आन्ध्र आदि प्रदेशों में भेजा।[८३]

दोनों ही आचार्यों की शिष्य परम्पराएँ बहुत ही विस्तृत रही है, जिनका वर्णन मूलार्थ मे किया गया है।

आर्य महागिरि का जन्म वीर संवत् १४५ में हुआ, और दीक्षा १७५ मे हुई, २१५ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए और २४५ में १०० वर्ष की आयु पूर्णकर दशार्ण प्रदेशस्थ गजेन्द्र पद तीर्थ में स्वर्गस्थ हुए।

आर्य सुहस्ती का जन्म वीर संवत् १९१ में हुआ, दीक्षा २१५ में हुई, युगप्रधान आचार्य पद पर २४५ में प्रतिष्ठित हुए और १०० वर्ष की आयु पूर्णकर उज्जयिनी में २९१ में स्वर्गस्थ हुए।[८४]

आर्य सुहस्ती की शिष्य सम्पदा अगले सूत्र में स्वय सूत्रकार निर्दिष्ट कर रहे हैं।

मूल :—

थेरस्स ण अज्जसुहत्थिस्स वासिट्ठसगोत्तस्स इमे दुवालस थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था, तं जहा—

थेरे त्थ अज्जरोहण, भद्दजसे मेहगणी य कामिड्ढी।
सुट्ठियसुप्पडिबुद्धे, रक्खिय तह रोहगुत्ते य॥१॥

इसिगुत्ते सिरिगुत्ते, गणी य बंभे गणो य तह सोमे।
दस दो य गणहरा, खलु एए सीसा सुहत्थिस्स ॥२॥२१०॥

अर्थ—वासिष्ठ गोत्रीय स्थविर आर्य सुहस्ती के पुत्र समान एवं प्रख्यात ये बारह स्थविर अन्तेवासी थे। जैसे—

(१) स्थविर आर्य रोहण, (२) जसभद्र (भद्रयशा), (३) मेहगणी (मेघगणी), (४) कामिड्ढि (कामार्द्धि), (५) सुस्थित, (६) सुप्पडिबुद्ध (प्रतिबुद्ध), (७) रक्षित, (८) रोहगुप्त, (९) ईसीगुप्त (ऋषिगुप्त). (१०) सिरिगुप्त (श्री गुप्त), (११) बंभगणि (ब्रह्मगणि), (१२) और सोमगणि, बारह गणधर के समान, ये बारह शिष्य सुहस्ती के थे।

विवेचन—इन बारह शिष्यों में आर्य सुस्थित और आर्य सुप्पडिबुद्ध (सुप्रतिबुद्ध) ये दोनों आचार्य बने। ये दोनों काकंदी नगरी के निवासी थे, राजकुलोत्पन्न व्याघ्रापत्य गोत्रीय सहोदर थे। कुमारगिरि पर्वत पर दोनों ने उग्र तप साधना की। संघ संचालन का कार्य सुस्थित के अधीन था और वाचना का कार्य सुप्रतिबुद्ध के।

हिमवन्त स्थविरावली के अभिमतानुसार इनके युग में कुमारगिरि पर एक छोटा-सा श्रमण सम्मेलन हुआ था। और द्वितीय आगम वाचना भी।

३१ वर्ष की अवस्था में आर्य सुस्थित ने प्रव्रज्या ग्रहण की, १७ वर्ष साधारण श्रमण अवस्था में रहे और ४८ वर्ष आचार्य पद पर रहे ९६ वर्ष की अवस्था में वीर स० ३३९ में कुमारगिरि पर्वत पर स्वर्गस्थ हुए।

मूल :—

थेरेहिंतो णं अज्जरोहणेहिंतो कासवगुत्तेहिंतो तत्थ णं उद्देहगणे नामं गणे निग्गए। तस्सिमाओ चत्तारि साहाओ निग्गयाओ छच्च कुलाइं एवमाहिज्जंति। से किं तं साहाओ? एवमाहिज्जंति—उद्दुंबरिज्जिया मासपूरिया मतिपत्तिया सुवन्नप-

त्तिया, से तं साहाओ। से किं तं कुलाइं? एवमाहिज्जंति, तं जहा–

पढमं च नागभूयं, बीयं पुण सोमभूइयं होइ।
अह उल्लगच्छ तइयं, चउत्थयं हत्थिलिज्जं तु ॥१॥
पंचमगं नंदिज्जं, छट्ठं पुण पारिहासियं होइ।
उद्देहगणस्सेते, छच्च कुला होंति नायव्वा ॥२॥२११॥

अर्थ–काश्यपगोत्रीय स्थविर आर्य रोहण से यहाँ पर उद्देहगण नामक गण निकला। उनकी ये चार शाखाएँ और छह कुल इस प्रकार कहलाते हैं–

प्रश्न—वे शाखाएं कौनसी-कौनसी हैं?

उत्तर–वे शाखाएँ इस प्रकार कही जाती हैं। जैसे–(१) उदुंबरिज्जिया (उदुम्बरीगा)[८५] (२) मासपूरिआ[८६] (या) (३) मईपत्तिया (४) पुण्णपत्तिया।

प्रश्न–वे कुल कौन से हैं?

उत्तर–वे कुल इस प्रकार कहलाते हैं–जैसे (१) नागभूय (नागभूत), (२) सोमभूतिक, (३) उल्लगच्छ (आर्द्रकच्छ), (४) हत्थलिज्ज (हस्तलेह्य) (५) नन्दिज्ज (नन्दीय), (६) पारिहासिय (पारिहासिक) ये उद्देहगण के छह कुल जानना।

मूल :—

थेरेहिंतो णं सिरिगुत्तेहिंतो णं हारियसगोत्तेहिंत्तो एत्थ णं चारणगणे नामं गणे निग्गए। तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ सत्त य कुलाइं एवमाहिज्जंति। से किं तं साहातो? एवमाहिज्जंति, तं जहा–हारियमालागारी संकासिया गवेधूया वज्जनागरी, से त्तं साहाओ। से किं तं कुलाइं? एवमाहिज्जंति, तं जहा–

पढमेत्थ वच्छलिज्जं, बीयं पुण वीचिधम्मकं होइ।*
तइयं पुण हालिज्जं, चउत्थगं पूसमित्तेज्जं ॥१॥
पंचमगं मालिज्जं, छट्ठं पुण अज्जचेडयं होइ।
सत्तमगं कण्हसहं, सत्त कुला चारणगणस्स ॥२॥२१२॥

अर्थ—हारियगोत्रीय स्थविर सिरिगुत्त से यहाँ चारणगण नाम का गण निकला। उसकी ये चार शाखाएँ और सात कुल हुए।

प्रश्न—वे शाखाएँ कौनसी-कौनसी हैं?

उत्तर—शाखाएँ इस प्रकार हैं:-(१) हारियमालागारी (२) संकासोआ (३) गवेधुया (४) वज्जनागरी ये चार शाखाएँ हैं।

प्रश्न—वे कुल कौनसे हैं?

उत्तर-कुल इस प्रकार हैं—(१) प्रथम वत्सलीय, (२) द्वितीय पीई-धम्मिअ (प्रीतिधर्मक), (३) तृतीय हालिज्ज (हालीय), (४) चतुर्थ पूसमित्तिज्ज (पुष्पमित्रीय), (५) पाँचवें मालिज्ज (मालीय), (६) छट्ठे अज्जचेडय (आर्यचेटक), (७) सातवें कण्हसह (कृष्णसख)। चारण गण के ये सात कुल हैं।

मूल :—

थेरेहिंतो भद्दजसेहिंतो भारद्दायसगोत्तेहिंतो एत्थ णं उडुवाडियगये नामं गणे निग्गए। तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ तिन्नि कुलाइं एवमाहिज्जंति। से किं तं साहाओ? एवमाहिज्जंति, तं जहा—चंपिज्जिया भद्दिज्जिया काकंदिया मेहलिज्जिया, से त्तं साहाओ। से किं तं कुलाइं? एवमाहिज्जंति—

भद्दजसियं तह भद्दगुत्तियं, तइयं च होइ जसभद्दं।
एयाइं उडुवाडियगणस्स, तिन्नेव य कुलाइं ॥१॥२१३॥

---

* बीयं पुण पीइधम्मयं होइ। —पाठान्तरे

अर्थ–भारद्वाज गोत्रीय स्थविर भद्दजस (भद्रयश) से यहाँ उडुवाड़ियगण (ऋतुवाटिक) नामक गण निकला। उसकी ये चार शाखाएँ निकली, और तीन कुल निकले, इस प्रकार कहा जाता है।

प्रश्न–वे कौनसी-कौनसी शाखाएँ हैं ?

उत्तर–वे शाखाएँ ये हैं, जैसे–(१) चंपिज्जिया, (२) भद्दिज्जिया (भद्रीया)[८८] (३) काकंदीया[८९], (४) मेहलिज्जिया[९०], (मैथिलीया)।

प्रश्न–वे कुल कौन से है ?

उत्तर–वे कुल इस प्रकार हैं–(१) भद्दजसिय (भद्रयशीय), (२) भद्रगुत्तिय (भद्रगुप्तीय), (३) जसभद्र (यशोभद्रीय) कुल ये तीनों कुल, उडुवाडिय (ऋतुवाटिका)[९१], कुल के है।

मूल :—

थेरेहिंतो णं कामिड्ढिहिंतो कुंडिलसगोत्तेहिंतो एत्थ णं वेसवाडियगणे नामं गणे निग्गए। तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ चत्तारि कुलाइं एवमाहिज्जंति। से किं तं साहाओ? एवमाहिज्जंति–सावत्थिया रज्जपालिया अन्तरिज्जिया खेमलिज्जिया से तं साहाओ। से किं तं कुलाइं? एवमाहिज्जंति–

गणियं मेहिय कामड्ढियं च, तह होइ इंदपुरगं च।
एयाइं वेसवाडियगणस्स चत्तारि उ कुलाइ ॥१॥२१४॥

अर्थ–कुंडिलगोत्रीय कामिड्ढि स्थविर से यहाँ वेसवाडियगण नामक गण निकला। उससे चार शाखाएँ और चार कुल निकले।

प्रश्न—वे शाखाएँ कौनसी-कौनसी हैं।

उत्तर–वे शाखाएँ इस प्रकार हैं–(१) सावत्थिया (श्रावस्तिका), (२)

रज्जपालिया (राज्यपालिता) (३) अन्तरिज्जिया (अन्तरंजिया) (४) खेमलि-ज्जिया (क्षौमिलीया)[१२] ये चार शाखाएं हैं।

प्रश्न—वे कुल कौनसे-कौनसे हैं ?

उत्तर—वे कुल इस प्रकार हैं (१) गणिय (गणिक) (२) मेहिय (मेघिक) (३) कामड्ढिअ (कामर्द्धिक) (४) और इन्दपुरग (इन्द्रपुरक)। वेसवाडियगण (वंशवाटिक) के ये चार कुल हैं।

मूल :—

थेरेहिंतो णं इसिगोत्तेहिंतो णं काकंदएहिंतो वासिट्ठस-गोत्तेहिंतो एत्थ णं माणवगणे नामं गणे निग्गए। तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ तिण्णि य कुलाइं एवमाहिज्जंति। से किं तं साहाओ? सहाओ एवमाहिज्जंति-कासविज्जिया, गोयमिज्जिया वासिट्ठिया सोरट्ठिया, से त्तं साहाओ। से किं तं कुलाइं ? कुलाइं एवमाहिज्जंति, तं जहा—

इसिगोत्तियऽत्थपढमं, बिइयं इसिदत्तियं मुणेयव्वं।
तइयं च अभिजसंतं,* तिन्नि कुला माणवगणस्स ॥१॥२१५॥

अर्थ—वासिष्ठगोत्री और काकंदक ईसिगुप्त (ऋषिगुप्त) स्थविर से माणवगण (मानवगण) नामक गण निकला, उनकी चार शाखाएँ और तीन कुल इस प्रकार हैं।

प्रश्न—वे शाखाएं कौनसी-कौनसी हैं ?

उत्तर—वे शाखाएँ इस प्रकार हैं—(१) कासविज्जिया (काश्यपीया) (२) गोयमिज्जिया (गौतमीया), (३) वासिट्ठिया (वासिष्ठीया), (४) सौरट्ठीया (सौराष्ट्रीया) ये चार शाखाएँ हैं।

* 'अभिजयंत' इति कल्याणविजयः। —पट्टावली परागे

प्रश्न—वे कुल कौनसे-कौनसे हैं ?

उत्तर—वे कुल इस प्रकार हैं। (१) ईसिगोत्तिय (ऋषिगुप्तिक), (२) ईसिदत्तिय (ऋषिदत्तिक) (३) और अभिजसंत-ये तीनों कुल माणवक (मानवक)[९३] गण के हैं।

मूल :—

थेरेहिंतो णं सुट्ठियसुप्पडिबुद्धेहिंतो कोडियकाकंदिएहिंतो वग्घावच्चसगोत्तेहिंतो एत्थ णं कोडियगणे नामं गणे निग्गए। तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ चत्तारि कुलाइं एवमाहिज्जंति। से किं तं साहाओ ? एवमाहिज्जंति, तं जहा—

उच्चानागरि विज्जाहरी य, वइरी य मज्झिमिल्ला य।
कोडियगणस्स एया, हवंति चत्तारि साहाओ ॥१॥

से किं तं कुलाइं ? कुलाइं एवमाहिज्जंति, तं जहा—

पढमेत्थ बंभलिज्जं, बितियं नामेण वच्छलिज्जं तु।
ततियं पुण वाणिज्जं, चउत्थयं पन्नवाहणयं ॥१॥२१६॥

अर्थ--कोटिक काकंदक कहलाने वाले और वग्घावच्च (व्याघ्रापत्य) गोत्रीय स्थविर सुट्ठिय (सुस्थित) और सुप्पडिबुद्ध (सुप्रतिबुद्ध) से यहाँ कोडियगण[९४] नामक गण निकला। उनकी चार शाखाएँ और कुल इस प्रकार हैं—

प्रश्न—वे शाखाएँ कौनसी कौनसी हैं ?

उत्तर—वे शाखाएँ इस प्रकार हैं—(१) उच्चानागरी[९५] (२) विज्जाहरि (विद्याधरी), (३) वईरी, (वाज्री) (४) मज्झिमिल्ला (मध्यमा)।[९६] ये चारों शाखाएं कोटिकगण की हैं।

प्रश्न—वे कुल कौनसे-कौनसे हैं ?

उत्तर—वे कुल इस प्रकार हैं—प्रथम बंभलिज्ज 'ब्रह्मलीय'[९७]कुल, द्वितीय

वच्छलिज्ज 'वस्त्रलीय' कुल, तृतीय वाणिज्ज 'वाणिज्य'[९८] कुल, और चतुर्थ प्रश्नवाहनक 'प्रश्नवाहन' कुल ।

मूल :—

थेराणं सुट्ठियसुपडिबुद्धाणं कोडियकाकंदाणं वग्घावच्च-सगोत्ताणं इमे पंच थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था, तं जहा—थेरे अज्जइंददिन्ने थेरे पियगंथे थेरे विज्जाहरगोवाले कासवगोत्ते णं थेरे इसिदत्ते थेरे अरहदत्ते । थेरेहिंतो णं पियगंथे-हिंतो एत्थ णं मज्झिमा साहा निग्गया। थेरेहिंतो णं विज्जाह-रगोवालेहिंतो तत्थ णं विज्जाहरी साहा निग्गया ॥२१७॥

अर्थ—कोटिककाकंदक कहलाने वाले और वग्घावच्च (व्याघ्रापत्य) गोत्रीय स्थविर सुस्थित तथा सुप्रतिबुद्ध के ये पांच स्थविर पुत्र समान एवं प्रख्यात अन्तेवासी थे । जैसे—

(१) स्थविर आर्य इन्द्रदिन्न, 'इंद्रदत्त' (२) स्थविर पियगंथ, 'प्रियग्रन्थ' (३) स्थविर विद्याधर गोपाल काश्यपगोत्री, (४) स्थविर ईसीदत्त 'ऋषिदत्त' (५) और स्थविर अरहदत्त 'अर्हदत्त ।

स्थविर प्रियग्रन्थ से यहाँ मध्यमाशाखा निकली । काश्यपगोत्री स्थविर विद्याधर गोपाल से विद्याधरीशाखा प्रारम्भ हुई ।

विवेचन—आचार्य इन्द्रदिन्न (इन्द्रदत्त) युग प्रभावक आचार्य थे । आपके जीवन के सम्बन्ध में विशिष्ट जानकारी प्राप्त नहीं है । आपके लघु गुरुभ्राता आर्य पियगंथ (प्रियग्रन्थ) भी अपने युग के परम प्रभावक युग पुरुष थे । आपने हर्षपुर में होने वाले अजमेध का निवारण किया और हिंसाधर्मी ब्राह्मणविज्ञों को अहिंसा धर्म का पाठ पढ़ाया ।[९९]

मूल :—

थेरस्स णं अज्जइंददिन्नस्स कासवगोत्तस्स अज्जदिन्ने

थेरे अंतेवासी गोयमसगोत्ते। थेरस्सणं अज्जदिन्नस्स गोयमस-गोत्तस्स इमे दो थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया वि होत्था, तं जहा–थेरे अज्जसंतिसेणिए माढरसगोत्ते थेरे अज्जसीहगिरी जाइस्सरे कोसियगोत्ते। थेरेहिंतो णं अज्जसंतिसेणिएहिंतो णं माढरसगोत्तेहिंतो एत्थ णं उच्चानागरी साहा निग्गया ॥२१८॥

अर्थ–काश्यपगोत्री स्थविर आर्य इन्द्रदत्त के गौतम गोत्रीय स्थविर आर्य दिन्न (दत्त) अन्तेवासी थे।

गौतम गोत्रीय स्थविर आर्य दिन्न के ये दो स्थविर पुत्र समान एवं प्रख्यात अन्तेवासी थे। आर्य संत्तिसेणिय [शान्तिश्रेणिक] स्थविर माढरगोत्री और जातिस्मरण ज्ञान वाले कौशिक गोत्री स्थविर आर्य सिंहगिरि।

माढरगोत्री [माठरगोत्री] स्थविर आर्य शान्ति श्रेणिक से उच्चानागरी शाखा प्रारम्भ हुई।

● आर्य कालक

विवेचन- आर्य दिन्न (इन्द्रदत्त) एक प्रतिभा सम्पन्न आचार्य थे। आपने दक्षिण में कर्नाटक पर्यन्त सुदूर प्रदेशों में धर्म की ध्वजा फहराई थी। आपका विशेष परिचय उपलब्ध नहीं है। आर्य सन्तिसेणिय (शान्तिश्रेणिक) से उच्चा नागर शाखा का प्रादुर्भाव हुआ। इसी शाखा में प्रतिभामूर्ति आचार्य उमा-स्वाति हुए, जिन्होने सर्व प्रथम दर्शन शैली से तत्त्वार्थ सूत्र का निर्माण किया।

आपके ही निकट समय में आर्यकालक, आर्य खपुटाचार्य, इन्द्रदेव, श्रमणसिंह, वृद्धवादी और सिद्धसेन आदि आचार्य हुए हैं।

आर्य कालक के नाम से चार आचार्य हुए हैं। प्रथम कालक, जिनका दूसरा नाम श्यामाचार्य भी विश्रुत है, और जिन्होंने प्रज्ञापना सूत्र का निर्माण किया। ये द्रव्यानुयोग के विशिष्टज्ञाता थे। कहा जाता है कि शक्रेन्द्र ने एक बार भगवान् श्री सीमन्धर स्वामी से निगोद पर गम्भीर विवेचन सुना। उन्होंने यह जिज्ञासा व्यक्त की कि इस प्रकार की व्याख्या भरत क्षेत्र में कोई कर

सकता है ? भगवान् सीमन्धर स्वामी ने आचार्य कालक का नाम बताया। वे सीधे ही कालकाचार्य के पास आए। जैसा भगवान् ने कहा था वैसा ही वर्णन सुनकर अत्यन्त आह्लादित हुए।

आपका जन्म वीर संवत् २८० में हुआ, वीर सं० ३०० में दीक्षा ली, ३३५ में युगप्रधान आचार्य पद पर आसीन हुए, और ३७६ में स्वर्गारोहण हुआ।

(२) द्वितीय आचार्य कालक भी इन्हीं के सन्निकटवर्ती हैं। ये धारा नगरी के निवासी थे। इनके पिता का नाम राजा वीरसिंह और माता का नाम सुरसुन्दरी था। इनको एक छोटी बहिन थी, जिसका नाम सरस्वती था। वह अत्यन्त रूपवती थी। दोनों ने ही गुणाकर सूरि के पास प्रव्रज्या ग्रहण की। एक बार साध्वी सरस्वती के रूप पर मुग्ध होकर उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल ने उसका अपहरण किया। आचार्य कालक को जब यह वृत्त ज्ञात हुआ तो वे अत्यन्त क्रुद्ध हुए। उन्होंने शक राजाओं से मिलकर गर्दभिल्ल का साम्राज्य नष्ट भ्रष्ट किया। कहा जाता है कि वे सिंधु सरिता को पार कर फारस (ईरान) तथा वर्मा और सुमात्रा भी गए। इन्होंने ही भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी को पर्युषण पर्व की आराधना की थी। वह प्रसंग इस प्रकार है—

एक बार आचार्य का वर्षावास दक्षिण के प्रतिष्ठानपुर में था। वहाँ का राजा सातवाहन जैन धर्मावलम्बी था। उस राज्य में भाद्रपद शुक्लापंचमी को इन्द्रपर्व मनाया जाता था जिसमें राजा से लेकर रंक तक सभी को सम्मिलित होना अनिवार्य माना जाता था। राजा ने आचार्यकालक से निवेदन किया--मुझे भी संवत्सरी महापर्व की आराधना करनी है एतदर्थ संवत्सरी महापर्व छट्ट को मनाया जाय तो श्रेयस्कर है। आचार्य ने कहा--उस दिन का उल्लंघन कदापि नहीं किया जा सकता। राजा के आग्रह वश आचार्य ने कारण से चतुर्थी को संवत्सरी पर्व मनाया। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि आचार्य ने अपवाद रूप में चतुर्थी को सम्वत्सरी पर्व की आराधना की है, न कि उत्सर्ग—[१००] सामान्य स्थिति के रूप में।

मूल :—

थेरस्स णं अज्जसंतिसेणियस्स माढरसगोत्तस्स इमे चत्तारि थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था, तं जहा—थेरे अज्ज-सेणिए थेरे अज्जतावसे थेरे अज्जकुबेरे थेरे अज्जइसिपालिते। थेरेहिंतो णं अज्जसेणितेहिंतो एत्थ णं अज्जसेणिया साहा निग्गया। थेरेहिंतो णं अज्जकुबेरेहिंतो एत्थ णं अज्जकुबेरा साहा निग्गया। थेरेहिंतो णं अज्जइसिपालेहिंतो एत्थ णं अज्जइसिपालिया साहा निग्गया ॥२१६॥

अर्थ—माढरगोत्री स्थविर आर्यसन्तिसेणिय के चार स्थविर पुत्र समान अन्तेवासी थे। जैसे (१) स्थविर आर्यसेणिय (आर्यश्रेणिक) (२) स्थविर आर्य तापस (३) स्थविर आर्य कुबेर (४) स्थविर आर्य इसिपालित (ऋषि-पालित)।

स्थविर आर्यसेणिय से यहाँ आर्यसेणिया (श्रेणिका) शाखा निकली। स्थविर आर्य तापस से यहाँ आर्यतापसी शाखा निकली। स्थविर आर्य कुबेर से यहाँ आर्य कुबेरी शाखा निकली। स्थविर आर्य ईसिपालित (ऋषिपालित) से यहाँ आर्य ईसिपालिता (ऋषिपालिता) शाखा निकली।

मूल :—

थेरस्स णं अज्जसीहगिरिस्स जातीसरस्स कोसियगो-त्तस्स इमे चत्तारि थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिण्णाया होत्था, तं जहा—थेरे धणगिरी थेरे अज्जवइरे थेरे अज्जसमिए थेरे अरहदिन्ने। थेरेहिंतो णं अज्जसमिएहिंतो एत्थ णं बभदेवीया साहा निग्गया। थेरेहिंतो णं अज्जवइरेहिंतो गोयमसगोत्तेहिंतो एत्थ णं अज्जवइरा साहा निग्गया ॥२२०॥

अर्थ–जातिस्मरणज्ञान वाले कौशिकगोत्रीय आर्यसिंहगिरि स्थविर के ये चार स्थविर पुत्र समान सुविख्यात अन्तेवासी थे। जैसे–(१) स्थविर धनगिरि (२) स्थविर आर्यवज्र (३) स्थविर आर्यसमित और (४) स्थविर अरहदत्त (अर्हदत्त)। स्थविर आर्यसमित से यहाँ पर बंभदेवीया 'ब्रह्मदीपिका' शाखा प्रारम्भ हुई।

गौतम गोत्रीय स्थविर आर्यवज्र से आर्य वज्री शाखा निकली।

विवेचन—आर्य सिंहगिरि के जीवन वृत्त के सम्बन्ध में विशेष सामग्री अनुपलब्ध है। यहाँ पर उन्हें कौशिक गोत्रीय बताया है, तथा जातिस्मरण ज्ञान वाला कहा है। इनके चार मुख्य शिष्य थे–आर्य समित, आर्य धनगिरि आर्य वज्रस्वामी और आर्य अर्हद्दत्त।

आर्य समित का जन्म अवन्ती देश के तुम्बवन ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम धनपाल था, ये जाति से वैश्य थे। इनकी एक बहिन थी जिसका नाम सुनन्दा था। उसका पाणिग्रहण तुम्बवन[101] के धनगिरि के साथ हुआ था।[102] आर्य समित योगनिष्ठ और उग्र तपस्वी थे। अनुश्रुति है कि आभीर देश के अचलपुर ग्राम मे इन्होंने कृष्णा और पूर्णा सरिताओं को योग बल से पार किया, और ब्रह्मद्वीप पहुँचे। ब्रह्मद्वीपस्थ पाँच सौ तापसों को अपने चमत्कार से चमत्कृतकर उन सबको अपने शिष्य बनाये।

आर्य वज्र स्वामी—आर्य समित की बहिन का विवाह इभ्यपुत्र धनगिरि के साथ हुआ था।[103] धनगिरि धर्मपरायण व्यक्ति थे। जब उनके सामने धनपाल की ओर से विवाह का प्रस्ताव आया तब उसने स्पष्ट अस्वीकार करते हुए कहा कि—मैं विवाह नहीं करूंगा, संयम लूंगा। परन्तु धनपाल ने उनके साथ विवाह कर दिया। विवाह हो जाने पर भी उनका मन संसार में न लगा। अपनी पत्नी को गर्भवती छोड़कर ही उन्होंने आर्य सिंहगिरि के पास दीक्षा ग्रहण की। जब बच्चे का जन्म हुआ तब उसने पिता की दीक्षा की बात सुनी। सुनते ही जातिस्मरण ज्ञान हुआ, माता के मोह को कम करने के लिए वह रातदिन रोने लगा। एक दिन धनगिरि और समित भिक्षा हेतु जा रहे थे, तब आर्य

सिंहगिरि ने शुभ लक्षण देखकर शिष्यों को आदेश दिया कि जो भी भिक्षा में मिले उसे ले लेना । दोनों ही भिक्षा के लिए सुनन्दा के यहाँ पर पहुँचे । सुनन्दा बच्चे से ऊब गई थी । ज्योंही भिक्षा के लिए पात्र आगे रक्खा कि सुनन्दा ने आवेश में आकर बालक को पात्र में डाल दिया, और बोली आप तो चले गये, और इसे छोड़ दिया, रो-रोकर इसने मुझे परेशान कर लिया, इसे भी ले जाइए ।' धनगिरि ने समझाने का प्रयास किया, पर वह न समझी । धनगिरि ने छह मास के बालक को ले लिया और लाकर गुरु को सौंप दिया । अति भारी होने के कारण गुरु ने बच्चे का नाम वज्र रख दिया ।[१०४] पालन पोषण हेतु वह गृहस्थ को दे दिया गया । श्राविका के साथ वह उपाश्रय जाता । साध्वियों के सम्पर्क में रहने से, और निरन्तर स्वाध्याय सुनने से उसे ग्यारह अंग कंठस्थ हो गए ।

जब बच्चा तीन वर्ष का हुआ तब उसकी माता ने बच्चे को लेने के लिए राजसभा में विवाद किया । माता ने बालक को अत्यधिक प्रलोभन दिखाए, पर बालक उधर आकृष्ट नहीं हुआ और धनगिरि के पास आकर रजोहरण उठा लिया ।

जब बालक की उम्र आठ वर्ष की हुई तब गुरु धनगिरि ने उसे दीक्षा दे दी व वज्रमुनि के नाम से प्रसिद्ध हुए । जृंभक देवों ने अवन्ती में आहार शुद्धि की परीक्षा ली, आप पूर्ण खरे उतरे । देवताओं ने लघुवय में ही आपको वैक्रियलब्धि और आकाशगामिनी विद्या दे दी ।[१०५] एक बार उत्तर भारत में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा । उस समय विद्या के बल से आप श्रमण संघ को कलिंग प्रदेश में ले गए थे ।

पाटलीपुत्र के इभ्यश्रेष्ठी धनदेव की पुत्री रुक्मिणी आपके अनुपम रूप पर मुग्ध हो गई । धनश्रेष्ठी ने भी पुत्री के साथ करोड़ों की सम्पत्ति दहेज में देने का प्रस्ताव किया, पर तनिक मात्र भी कनक और कान्ता के मोह में उलझे नहीं, किन्तु रुक्मिणी को प्रतिबोध देकर प्रव्रज्या प्रदान की ।

वज्रस्वामी के चमत्कारों की अनेक घटनाएँ जैन साहित्य में उट्टङ्कित हैं ।

वज्रस्वामी की शाखा में अनेक वज्र नाम के प्रभावशाली, युगपुरुष, दार्शनिक और भविष्यद्रष्टा आचार्य हुए हैं। ईस्वी सन् ६४६ में चीनी यात्री हुएनत्सांग भारत आया था। नालन्दा से वह पुनः अपने देश जाना चाहता था, किन्तु असहाय था। उस समय वज्र स्वामी ने उससे कहा– तुम चिन्ता न करो असम के राजा कुमार और कान्यकुब्ज के राजा श्रीहर्ष तुम्हारी सहायता करेंगे। राजा कुमार का दूत तुम्हें लिवाने के लिए आ रहा है। वज्रस्वामी की ये भविष्य वाणियां पूर्ण सत्य सिद्ध हुई। हुएनत्साग ने अपनी यात्रा की पुस्तक में उनका महान् भविष्यद्रष्टा के रूप में उल्लेख किया है।

एक बार वज्रस्वामी को कफ की व्याधि हो गई। तदर्थ उन्होने एक सोंठ का टुकड़ा भोजन के पश्चात् ग्रहण करने हेतु कान में डाल रखा था, पर वे उसे लेना भूल गए। सांध्य प्रतिक्रमण के समय वन्दन करते समय वह नीचे गिर गया। अपना अन्तिम समय सन्निकट समझ अपने शिष्य वज्रसेन से कहा– द्वादशवर्षीय दुष्काल पड़ेगा, अतः साधु संघ के साथ तुम सौराष्ट्र और कोंकण प्रदेश में जाओ और मैं रथावर्त पर्वत पर अनशन करने जाता हूं। जिस दिन तुम्हें लक्ष मूल्य वाले चावल में से भिक्षा प्राप्त हो, उसके दूसरे दिन सुकाल होगा, ऐसा कह आचार्य संथारा करने हेतु चल दिये।

वज्र स्वामी का जन्म वीर निर्वाण स० ४६६ में हुआ। ५०४ (पाँच सौ चार) में दीक्षा ग्रहण की, ५३६ मे आचार्य पद पर आसीन हुए और ५८४ में स्वर्गस्थ हुए।

मूल :—

थेरस्स णं अज्जवइरस्स गोतमसगोत्तस्स इमे तिन्नि थेरा अन्तेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था, तं जहा–थेरे अज्जवइ-रसेणिए थेरे अज्जपउमे थेरे अज्जरहे। थेरेहिंतो णं अज्जवइरसे-णिएहिंतो एत्थ णं अज्जनाइली साहा निग्गया। थेरेहिंतो णं

अज्जपउमेहिंतो एत्थ णं अज्जपउमा साहा निग्गया। थेरेहिंतो णं अज्जरहेहिंतो एत्थ णं अज्जजयंती साहा निग्गया ॥२२१॥

अर्थ—गौतमगोत्रीय स्थविर आर्यवज्र के ये तीन स्थविर पुत्र समान एवं सुख्यात अन्तेवासी थे। जैसे कि—(१) स्थविर आर्यवज्रसेन, (२) स्थविर आर्य पद्म, (३) स्थविर आर्य रथ।

स्थविर आर्यवज्रसेन से आर्य नाईली (नागिलो) शाखा निकली, स्थविर आर्यपद्म से आर्य पद्मा शाखा निकली, और स्थविर आर्य रथ से आर्य जयन्ती शाखा निकली।

विवेचन—आर्य वज्रस्वामी के पट्ट पर आर्य वज्रसेन आसीन हुए। इनके समय भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। निर्दोष भिक्षा का मिलना असंभव हो गया, जिसके कारण ७८४ श्रमण अनशन कर परलोकवासी हुए। क्षुधा से सभी छटपटाने लगे। जिनदास श्रेष्ठी ने एक लाख दीनार से एक अजलि अन्न मोल लिया। वह दलिया में विष मिलाकर समस्त परिवार के साथ खाने को तैयारी कर रहा था कि आचार्य वज्रस्वामी के कहने के अनुसार आपने सुभिक्ष की घोषणा की और सबके प्राणों की रक्षा की। दूसरे ही दिन अन्न से परिपूर्ण जहाज आ गए। जिनदास ने वह अन्न लेकर बिना मूल्य लिए दीनों को वितरण कर दिया। कुछ समय के पश्चात् वर्षा हो जाने से सर्वत्र आनन्द की ऊर्मियां उछलने लगी। जिनदास सेठ ने अपनी विराट् सम्पत्ति को जनकल्याण के लिए न्यौछावर कर अपने नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति और विद्याधर आदि चार पुत्रों के साथ दीक्षा ग्रहण की।

आर्य वज्रसेन प्रतिभा सम्पन्न आचार्य थे। दुष्काल के परिसमाप्त होने पर उन्होंने पुनः श्रमण संघ को एकता के सूत्र में पिरोया और श्रमण संघ में अभिनव चेतना जागृत की। किंतु इस दुष्काल से अनेक श्रमणों का स्वर्गवास हो जाने से कई वंश, कुल, व गण विच्छेद हो गए।

● आर्य रक्षित

आर्य वज्रसेन के ही समय में आगमवेत्ता आर्यरक्षित सूरि हुए। उनकी

जन्मभूमि दशपुर (मन्दसौर) थी। पिता का नाम रुद्रसोम था। आप जब काशी से गंभीर अध्ययन करके लौटे तब भी माता प्रसन्न नहीं हुई। माता की प्रबल प्रेरणा से उत्प्रेरित होकर दृष्टिवाद का अध्ययन करने के लिए उसी समय दशपुर के इसुवन में विराजित आचार्य तोसलीपुत्र के पास गए और श्रमण बने। तोसली पुत्र से आगम का अध्ययन किया। उसके पश्चात् दृष्टिवाद का अध्ययन करने हेतु आर्य वज्रस्वामी के पास पहुंचे। साढ़े नौ पूर्व तक अध्ययन किया। आपने अनुयोगद्वार सूत्र की रचना की और आगमों को द्रव्यानुयोग, चरणकरणानुयोग गणितानुयोग और धर्मकथानुयोग के रूप में विभक्त किया।

आपके समय तक प्रत्येक आगम पाठ की द्रव्य आदि रूप में चार-चार व्याख्याएँ की जाती थी। आपने श्रुतधरों की स्मरणशक्ति के दौर्बल्य को देख कर जिन पाठों से जो अनुयोग स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होता था, उसी प्रधान अनुयोग को रखकर शेष अन्य गौण अर्थों का प्रचलन बन्द कर दिया। जैसे-- ग्यारह अंगों-महाकल्पश्रुत और छेदसूत्रों का समावेश चरणकरणानुयोग में किया गया। ऋषिभाषितों का धर्मकथानुयोग में, सूर्यप्रज्ञप्ति आदि का गणितानुयोग में और दृष्टिवाद का समावेश द्रव्यानुयोग में किया गया।।[१०६] इस प्रकार जब अनुयोगों का पार्थक्य किया गया तब से नयावतार भी अनावश्यक हो गया।[१०७] यह कार्य द्वादशवर्षीय दुष्काल के पश्चात् दशपुर में किया गया था। इतिहासज्ञों का अभिमत है कि प्रस्तुत आगमवाचना वीर संवत् ५९२ के लगभग हुई थी। इस आगमवाचना में वाचनाचार्य आर्य नन्दिल, युगप्रधान आचार्य आर्यरक्षित और गणाचार्य वज्रसेन आदि उपस्थित थे। विद्वानों की यह भी धारणा है कि आगम साहित्य में उत्तरकालीन महत्त्वपूर्ण घटनाओं का जो चित्रण हुआ है उसका श्रेय भी आर्यरक्षित को ही है। वीर संवत् ५९७ में आर्य रक्षित स्वर्गस्थ हुए। उनके उत्तराधिकारी दुर्बलिका पुष्यमित्र हुए।

आर्य रथस्वामी--आर्य रथस्वामी आर्य वज्रस्वामी के द्वितीय पट्टधर थे। आप वसिष्ठगोत्रीय थे और बड़े ही प्रभावशाली थे। आपका अपरनाम आर्य जयन्त भी था, जिसके नाम पर ही जयन्ती शाखा का प्रादुर्भाव हुआ! आपके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में विशेष सामग्री नहीं मिलती।

मूल :—

थेरस्स णं अज्जरहस्स वच्छसगोत्तस्स अज्जपूसगिरी थेरे अंतेवासी कोसियगोत्ते। थेरस्स णं अज्जपूसगिरिस्स कोसियगोत्तस्सअज्जफग्गुमित्ते थेरे अंतेवासी गोयमसगुत्ते ॥२२२॥

अर्थ—वात्स्यगोत्रीय स्थविर आर्य रथ के कौशिक गोत्रीय स्थविर आर्य-पुष्यगिरि अन्तेवासी थे।

कौशिकगोत्रीय स्थविर आर्यपुष्यगिरि के गौतमगोत्रीय स्थविर आर्य फग्गुमित्त अन्तेवासी थे।

---

* थेरस्स ण अज्जफग्गुमित्तस्स गोयमसगुत्तस्स।
अज्जधणगिरी थेरे अंतेवासी वासिट्ठसगोत्ते ॥३॥
थेरस्स णं अज्जधणगिरिस्स वासिट्ठसगोत्तस्स।
अज्जसिवभूई थेरे अंतेवासी कुच्छसगोत्ते ॥४॥
थेरस्स ण अज्जसिवभूइस्स कुच्छसगोत्तस्स।
अज्जभद्दे थेरे अन्तेवासी कासवगुत्ते ॥५॥
थेरस्स ण अज्जभद्दस्स कासवगुत्तस्स।
अज्जनक्खत्ते थेरे अन्तेवासी कासवगुत्ते ॥६॥
थेरस्स णं अज्जनक्खत्तस्स कासवगुत्तस्स।
अज्जरक्खे थेरे अन्तेवासी कासवगुत्ते ॥७॥
थेरस्स णं अज्जरक्खस्स कासवगुत्तस्स।
अज्जनागे थेरे अन्तेवासी गोयमसगोत्ते ॥८॥
थेरस्स णं अज्जनागस्स गोयमसगुत्तस्स।
अज्जजेहिले थेरे अन्तेवासी वासिट्ठसगुत्ते ॥९॥
थेरस्स णं अज्जजेहिलस्स वासिट्ठसगुत्तस्स।
अज्जविण्हू थेरे अन्तेवासी माढरसगोत्ते ॥१०॥
थेरस्स णं अज्जविण्हुस्स माढरसगुत्तस्स।

मूल :—

वंदामि फग्गुमित्तं च गोयमं धणगिरिं च वासिट्ठं ।
कोच्छिं सिवभूइं पि य, कोसिय दोज्जितकंटे य ॥१॥
तं वंदिऊण सिरसा चित्तं वंदामि कासवं गोत्तं ।
णक्खं कासवगोत्तं रक्खं पि य कासवं वंदे ॥२॥

अज्जकालए थेरे अन्तेवासी गोयमसगोत्ते ॥११॥
थेरस्स णं अज्जकालगस्स गोयमसगुत्तस्स ।
इमे दुवे थेरा अन्तेवासी गोयमसगोत्ता—
थेरे अज्जसंपलिए थेरे अज्जभद्दे ॥१२॥
एएसि दुण्ह वि थेराण गोयमसगुत्ताणं ।
अज्जवुड्ढे थेरे अन्तेवासी गोयमसगुत्ते ॥१३॥
थेरस्स णं अज्जवुड्ढस्स गोयमसगोत्तस्स ।
अज्जसंघपालिए थेरे अन्तेवासी गोयमसगोत्ते ॥१४॥
थेरस्स णं अज्जसंघपालियस्स गोयमसगोत्तस्स ।
अज्जहत्थी थेरे अन्तेवासी कासवगुत्ते ॥१५॥
थेरस्स णं अज्जहत्थिस्स कासवगुत्तस्स ।
अज्जधम्मे थेरे अन्तेवासी सुव्वयगोत्ते ॥१६॥
थेरस्स णं अज्जधमस्स सुब्बयगोत्तस्स ।
अज्जसीहे थेरे अन्तेवासी कासवगुत्ते ॥१७॥
थेरस्स णं अज्जसीहस्स कासवगुत्तस्स ।
अज्जधम्मे थेरे अन्तेवासी कासवगुत्ते ॥१८॥
थेरस्स णं अज्जधम्मस्स कासवगुत्तस्स ।
अज्जसंडिल्ले थेरे अन्तेवासी ॥१९॥

—अर्वाचीनासु प्रतिषु पाठः

वंदामि अज्जनागं च गोयमं जेहिलं च वासिट्ठं ।
विण्हुं माढरगोत्तं कालगमवि गोयमं वंदे ॥३॥
गोयमगोत्तमभारं* सप्पलयं तह य भद्दयं वंदे ।
[1]थेरं च संघवालियकासवगोत्तं पणिवयामि ॥४॥

---

* गोयमगोत्तकुमारं— इतिकल्याणविजय— पट्टावलीपरागे पृ० २६

१— थेरं च अज्जवुड्ढं, गोयमगुत्तं नमंसामि ॥४॥
तं वंदिऊण सिरसा थिरसत्तचरित्तनाणसंपन्नं ।
थेरं च संघवालिय गोयमगुत्तं पणिवयामि ॥५॥
वंदामि अज्जहत्थि च कासवं खंतिसागरं धीरं ।
गिम्हाणपढममासे कालगयं चेव सुद्धस्स ॥६॥
वंदामि अज्जधम्मं च सुव्वयं सीललद्धिसंपन्नं ।
जस्स निक्खमणे देवो छत्तं वरमुत्तमं वहइ ॥७॥
हत्थि कासवगुत्तं धम्मं सिवसाहगं पणिवयामि ।
सीहं कासवगुत्तं धम्मं पि अ कासवं वंदे ॥८॥
तं वंदिऊण सिरसा थिरसत्तचरित्तनाणसंपन्नं ।
थेरं च अज्जजंबु गोअमगुत्तं नमसामि ॥९॥
मिउमद्दवसंपन्नं उवउत्तं नाणदंसणचरित्ते ।
थेरं च नंदिअं पि य कासवगुत्तं पणिवयामि ॥१०॥
तत्तो अ थिरचरित्तं उत्तमसम्मत्तसत्तसंजुत्तं ।
देसिगणिखमासमणं माढरगुत्तं नमंसामि ॥११॥
तत्तो अणुओगधरं धीरं मइसागरं महासत्तं ।
थिरगुत्तखमासमणं वच्छसगुत्तं पणिवयामि ॥१२॥
तत्तो य नाणदंसणचरित्ततवसुट्ठिअं गुणमहंतं ।
थेरं कुमारधम्मं वंदामि गणिं गुणोवेयं ॥१३॥
सुत्तत्थरयणभरिए, खमदममद्दवगुणेहिं संपन्ने ।
देविड्ढिखमासमणे कासवगुत्ते पणिवयामि ॥१४॥

—अर्वाचीनासु प्रतिषु पाठः

वंदामि अज्जहत्थिं च कासवं खंतिसागरं धीरं ।
गिम्हाण पढममासे कालगयं चेत्तसुद्धस्स ॥५॥
वंदामि अज्जधम्मं च सुव्वयं सीसलद्धिसंपन्नं ।
जस्स निक्खमणे देवो छत्तं वरमुत्तमं वहइ ॥६॥
हत्थं कासवगोत्तं धम्मं सिवसाहगं पणिवयामि ।
सीहं कासवगोत्तं धम्मं पि य कासवं वंदे ॥७॥
सुत्तत्थरयणभरिए खमदममद्दवगुणेहिं संपन्ने ।
देविड्ढिखमासमणे कासवगोत्ते पणिवयामि ॥८॥२२३॥

अर्थ—गौतमगोत्रीय फग्गुमित्र (फल्गुमित्र) को, वासिष्ठगोत्रीय धनगिरि को, कौत्स्यगोत्री शिवभूति को और कौशिकगोत्री दोज्जंतकटक को वंदन करता हूँ । उन सभी को मस्तिष्क झुकाकर वन्दन करके काश्यपगोत्री चित्त को वन्दन करता हूँ । काश्यपगोत्री नक्षत्र को और काश्यपगोत्रीय रक्ष को भी वन्दन करता हूँ । गौतम गोत्री आर्य नाग को और वासिष्ठगोत्री जेहिल (जेष्ठिल) को तथा माढरगोत्री विष्णु को और गौतम गोत्री कालक को भी वन्दन करता हूँ । गोतम गोत्री मभार को, अथवा अभार को, सप्पलय (संपलित) को तथा भद्रक को वन्दन करता हूँ । काश्यपगोत्री स्थविर संघपालित को नमस्कार करता हूं । काश्यपगोत्री आर्य हस्ती को वन्दन करता हूं। ये आर्य हस्ती क्षमा के सागर और धीर थे तथा ग्रीष्मऋतु के प्रथम मास में शुक्ल पक्ष के दिनों में कालधर्म को प्राप्त हुए थे । जिनके निष्क्रमण—दीक्षा लेने के समय में देव ने उत्तम छत्र धारण किया था, उन सुव्रत वाले, शिष्यों की लब्धि से सम्पन्न आर्य धर्म को वन्दन करता हूँ । काश्यपगोत्री 'हस्त' को और शिवसाधक धर्म को नमस्कार करता हूँ । काश्यपगोत्री 'सिंह' को और काश्यपगोत्री 'धर्म' को भी वन्दन करता हूँ । सूत्ररूप और उसके अर्थ रूप रत्नों से भरे हुए क्षमा सम्पन्न, दम संपन्न, और मार्दव गुण सम्पन्न काश्यपगोत्री देवड्ढिक्षमाश्रमण को प्रणिपात करता हूँ ।

विवेचन—आर्य धर्म के आर्य स्कन्दिल और आर्य जम्बू ये दो प्रमुख शिष्य रत्न थे। आर्य स्कन्दिल की जन्मभूमि मथुरा थी। गृहस्थाश्रम में आपका नाम सोमरथ था। आर्य सिंह के वैराग्य रस से परिपूर्ण प्रवचन को श्रवणकर संसार से विरक्ति हुई और आर्य धर्म के सन्निकट प्रव्रज्या स्वीकार की। ब्रह्मदीपिका शाखा के वाचनाचार्य आर्यसिंह सूरि से आगमों (पूर्वों) का तलस्पर्शी अध्ययन किया और वाचक पद प्राप्त किया तथा युग प्रधान आचार्य बने।

इतिहासज्ञो का अभिमत है कि उस समय भारत की विचित्र परिस्थिति थी। हूणों और गुप्तों में भयकर युद्ध हुआ था। द्वादशवर्षीय दुष्काल से मानव समाज जर्जरित हो चुका था।[१०८] जैन, बौद्ध और वैदिक धर्म के अनुयायी भी एक दूसरे का खण्डन मण्डन कर रहे थे। इत्यादि अनेक कारणों से आगमज्ञ श्रुतधरों की संख्या दिनानुदिन कम होती चली जा रही थी। उस विकट वेला मे आर्य स्कन्दिल ने श्रुत की सुरक्षा के निए मथुरा में उत्तरापथ के मुनियों का एक सम्मेलन बुलवाया और आगमों का पुस्तकों के रूप में लेखन किया। यह सम्मेलन वीर सं० ८२७ से ८४० के आस पास हुआ था।[१०९] उधर आचार्य नागार्जुन ने भी वल्लभी (सौराष्ट्र) में दक्षिणापथ के मुनियों का सम्मेलन बुलाया और आगमों का लेखन व संकलन किया। यह सम्मेलन दूर-दूर होने के कारण स्थविर एक दूसरे के विचारों से अवगत नहीं हो सके अतः पाठों में कुछ स्थलों पर भेद हो गये। उपर्युक्त वाचनाओं को सम्पन्न हुए लगभग डेढ़ सौ वर्ष से भी अधिक समय व्यतीत हो गया तब वलभी नगर मे देवर्धिगणी क्षमा श्रमण की अध्यक्षता में श्रमण संघ एकत्रित हुआ। दोनों वाचनाओं के समय जिन-जिन विषयों में मतभेद हो गया था उन भेदों का देवर्द्धिगणी क्षमा श्रमण ने समन्वय किया। जिन पाठों में समन्वय न हो सका उन स्थलों पर स्कन्दिलाचार्य के पाठ को प्रमुखता देकर नागार्जुन के पाठों को पाठान्तर के रूप में स्थान दिया। टीकाकारों ने 'नागार्जुनीयास्तु पठन्ति' के रूप में उनका उल्लेख किया है। यह आगमों की चतुर्थ वाचना है।

आचार्य देवर्द्धिगणी—आचार्य प्रवर देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण जैन आगम साहित्य के प्रकाशमान नक्षत्र हैं। उनकी प्रखर प्रभा से आज भी जैन साहित्य

जगमगा रहा है। आगम साहित्य वर्तमान में जिस रूप में आज उपलब्ध है उसका सम्पूर्ण श्रेय आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण को ही है।

आपका जन्म वेरावल (सौराष्ट्र) में हुआ था। आपके पिता का नाम कार्मर्धि और माता का नाम कलावती था। कहा जाता है कि भगवान् महावीर के समय जो सौधर्मेन्द्र शक्रेन्द्र का सेनापति हरिणैगमेषी देव था वही आयुपूर्ण कर देवर्धिगणी बना। प्रस्तुत स्थविरावली के अनुसार कुमार धर्मगणी के पट्टधर देवर्धिगणी हैं। नन्दी सूत्र की चूर्णि के अनुसार उनके गुरु का नाम दुष्य गणी है और नन्दी सूत्र की पट्टावली के अनुसार उनके गुरु का नाम आचार्य लौहित्यसूरि था। उपकेशगच्छीय आर्य देवगुप्त के पास उन्होंने एक पूर्व तक अर्थ सहित और दूसरे पूर्व का मूल पढ़ा था। आप अन्तिम पूर्वधर थे। आपके बाद कोई भी पूर्वधर नहीं हुआ।[११०] आपका द्वितीय नाम देववाचक भी विश्रुत है।[१११] वीर सवत् ९८० के आसपास वलभी (सौराष्ट्र) में एक विराट् श्रमण सम्मेलन हुआ, जिसका कुशल नेतृत्व आप ही ने किया। वहाँ पाँचवी आगम वाचना हुई। आगम पुस्तकारूढ़ किये गये। इस आगम वाचना में नागार्जुन की चतुर्थ वलभी वाचना के गम्भीर अभ्यासी चतुर्थ कालकाचार्य विद्यमान थे। ये वही कालकाचार्य थे जिन्होंने वीर संवत् ९९३ में आनन्दपुर में राजा ध्रुवसेन के सामने श्री संघ को कल्पसूत्र सुनाया था।

इस प्रकार आचार्य देवर्धिगणी को नमस्कार के साथ यह स्थविरावली का प्रकरण समाप्त होता है।

स्थविरावली सम्पूर्ण

समाचारी

——● वर्षावास कल्प

मूल :—

तेणं काले णं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे वासाणं सवीसइराए मासे विइक्कंते वासावासं पज्जोसवेइ ॥२२४॥

अर्थ—उस काल उस समय श्रमण भगवान् महावीर वर्षाऋतु का बीस रात्रि सहित एक मास व्यतीत होने पर अर्थात् आषाढ़ी चातुर्मासी होने के पश्चात् पचास दिन व्यतीत होने पर वर्षावास रहे।[1]

मूल :—

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—समणे भगवं महावीरे वासाणं सवीसइराए मासे विइक्कंते वासावासं पज्जोसवेइ ? जतो णं पाएणं अगारीण अगाराइं कडियाइं उक्कंपियाइं छन्नाइं लित्ताइं घट्ठाइं मट्ठाइं संपधूमियाइं खाओदगाइं खातनिद्धमणाइं अप्पणो अट्ठाए कयाइं परिभोत्ताइं परिणामियाइं भवंति से एतेण ऽट्ठेणं एवं वुच्चइ समणे भगवं महावीरे वासाणं सवीसइराए मासे वीइक्कंते वासावासं पज्जोसवेति ॥२२५॥

अर्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! किस कारण से इस प्रकार कहा जाता है कि श्रमण भगवान् महावीर वर्षाऋतु का बीस रात्रि सहित एक मास व्यतीत होने पर वर्षावास रहे ?

उत्तर—कारण यह है कि प्राय: उस समय गृहस्थो के गृह चारों ओर से चटाई आदि से आच्छादित होते हैं। चूने आदि से पोते हुए होते हैं। घास आदि से ढंके हुए होते हैं। चारदीवारी से सुरक्षित होते हैं। घिसघिसाकर विषम भूमि को सम किए हुए व मुलायम बनाये हुए होते हैं। सुवासित धूपों से सुगन्धित किए हुए होते हैं। पानी निकलने के लिए परनाले आदि बनाए हुए होते हैं, घरों के बाहर नालियां आदि खुदवाई हुई होती हैं। वे घर, गृहस्थ स्वय के लिए अच्छा करता है। वे घर, गृहस्थ के उपयोग में लिए हुए होते हैं। स्वयं के रहने के लिए वह उन्हें साफ कर जीव जन्तु रहित बनाता है एतदर्थ यह कहा जाता है कि श्रमण भगवान् महावीर वर्षाऋतु के बीस रात्रि सहित एक मास व्यतीत होने पर वर्षावास रहे।

मूल :—

जहा णं समणे भगवं महावीरे वासाणं सवीसइराए मासे वीइक्कंते वासावासं पज्जोसवेइ तहा णं गणहरा वि वासाणं सवीसइराए मासे विइक्कंते वासावासं पज्जोसविंति ॥२२६॥

अर्थ—जैसे श्रमण भगवान् महावीर वर्षाऋतु का बीस रात्रि सहित एक मास व्यतीत होने पर वर्षावास रहे हैं वैसे ही गणधर भी वर्षाऋतु का बीस रात्रि सहित एक मास व्यतीत होने पर वर्षावास रहे हैं।

मूल :—

जहा णं गणहरा वासाणं जाव पज्जोसवेंति तहा णं गणहरसीसा वि वासाणं जाव पज्जोसविंति ॥२२७॥

अर्थ—जैसे गणधर वर्षाऋतु के बीस रात्रि सहित एक मास व्यतीत होने पर वर्षावास रहे, वैसे ही गणधरों के शिष्य भी वर्षाऋतु के बीस रात्रि सहित एक मास व्यतीत होने पर वर्षावास रहे हैं।

मूल :—

जहा णं गणहरसीसा वासाणं जाव पज्जोसविंति तहा णं थेरा वि वासाणं जाव पज्जोसविंति ॥२२८॥

अर्थ—जैसे गणधरों के शिष्य वर्षाऋतु का बीस रात्रि सहित एक मास व्यतीत होने पर वर्षावास रहे हैं वैसे ही स्थविर भी वर्षाऋतु का बीस रात्रि सहित एक मास व्यतीत होने पर वर्षावास रहे है।

मूल :—

जहा णं थेरा वासाणं जाव पज्जोसविंति तहा णं जे इमे अज्जत्ताए समणा निग्गंथा विहरंति एए वि णं वासाणं जाव पज्जोसविंति ॥२२९॥

अर्थ—जैसे स्थविर वर्षाऋतु का बीस रात्रि सहित एक मास व्यतीत होने के पश्चात् वर्षावास रहे, वैसे ही आजकल जो श्रमण निर्ग्रन्थ विचरते हैं—या विद्यमान है, वे भी वर्षाऋतु के बीस रात्रि सहित एक मास व्यतीत होने पर वर्षावास रहते है।

मूल :—

जहा णं जे इमे अज्जत्ताए समणा निग्गंथा वासाणं सवीसइराए मासे विइक्कंते वासावासं पज्जोसविंति तहा णं अम्हं पि आयरियउवज्झाया वासाणं सवीसइराए मासे विइक्कंते वासावासं पज्जोसवेंति ॥२३०॥

अर्थ—जैसे आजकल श्रमण निर्ग्रन्थ वर्षाऋतु का बीस रात्रि सहित एक मास व्यतीत होने पर वर्षावास रहते हैं, वैसे ही हमारे भी आचार्य उपाध्याय वर्षाऋतु का बीस रात्रि सहित एक मास व्यतीत होने पर वर्षावास रहते हैं।

मूल :—

जहा णं अम्हं आयरियउवज्झाया वासाणं जाव पज्जोसवेंति तहा णं अम्हे वि अज्जो! वासाणं सवीसइराए मासे विइक्कंते वासावासं पज्जोसवेमो। अंतरा वि य से कप्पइ पज्जोसवित्ताए नो से कप्पइ तं रयणिं उवायणावित्तए ॥२३१॥

अर्थ—जैसे हमारे आचार्य, उपाध्याय, यावत् वर्षावास रहते हैं, वैसे ही हम भी वर्षाऋतु का बीस रात्रि सहित एक मास व्यतीत होने पर वर्षावास रहते हैं। इस समय से पूर्व भी वर्षावास रहना कल्पता है, परन्तु उस रात्रि को उल्लंघन करना नहीं कल्पता। अर्थात् वर्षाऋतु के बीस रात्रि सहित एक मास की अन्तिम रात्रि को उल्लंघन करना नहीं कल्पता एतदर्थ इस अन्तिम रात्रि के पूर्व ही वर्षावास करना चाहिए।[२]

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सव्वओ समंता सकोसं जोयणं उग्गहं ओगिण्हित्ता णं चिट्ठिउं अहालंदमवि उग्गहे ॥२३२॥

अर्थ—वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों को सभी ओर पाँच कोस तक अवग्रह को स्वीकार कर रहना कल्पता है। पानी से आर्द्र बना हुआ हाथ जब तक न सूखे तब तक भी अवग्रह में रहना कल्पता है, और बहुत समय तक भी अवग्रह में रहना कल्पता है, किन्तु अवग्रह से बाहर रहना नहीं कल्पता।

——● **भिक्षाचरी कल्प**

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गं-

थीण वा सव्वओ समंता सकोसं जोयणं भिक्खायरियाए गंतु पडियत्तए। जत्थ णं नई निच्चोयगा निच्चसंदणा नो से कप्पइ सव्वओ समंता सकोसं जोयणं भिक्खायरियाए गंतुं पडियत्तए। एरवईए कुणालाए जत्थ चक्किया एगं पायं जले किच्चा एगं पायं थले किच्चा एवं चक्किया एवं णं कप्पइ सव्वओ समंता सकोसं जोयणं भिक्खायरियाए गंतुं पडियत्तए, एवं नो चक्किया एवं णं नो कप्पइ सव्वओ समंता सकोसं जोयणं गंतुं पडिनियत्तए ॥२३३॥

अर्थ–वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों को चारों ओर पांच कोस तक भिक्षाचार्य के लिए जाना कल्पता है, और पीछा आना कल्पता है। जहाँ पर नदी हमेशा अच्छे पानी से भरी हुई रहती है, नित्य बहती रहती है, वहाँ पर सभी ओर पांच कोस तक भिक्षाचार्य के लिए जाना और पीछा लौटना नहीं कल्पता। ऐरावती नदी कुणाला नगरी में है, वहाँ एक पैर पानी में रखकर चला जा सकता है और एक पैर स्थल में—पानी से बाहर रखकर चला जा सकता है अर्थात् ऐसे स्थल पर चारों ओर पाँच कोस तक भिक्षा के लिए जाना और पीछा लौटना कल्पता है।

मूल :—

वासावासं पज्जोसविताणं अत्थेगतियाणं एवं वुत्तपुव्वं भवइ 'दावे भंते!' एवं से कप्पइ दावित्तए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥२३४॥

अर्थ–वर्षावास में रहे हुए कितने ही श्रमणों को प्रारम्भ में ही इस प्रकार कहा हुआ होता है कि—'भगवन्! तुम देना' तो उन्हें इस प्रकार देना कल्पता है, किन्तु उन्हें स्वयं के लिए लेना नहीं कल्पता[3] अर्थात् वर्षावास स्थित श्रमण श्रमणियों को गुरुजनों ने यह आदेश दिया हो कि अमुक ग्लानादि के लिए अमुक अशनादि लाकर देना तो वह लाया हुआ अशनादि स्वयं को भोगना नहीं कल्पता।

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं अत्थेगईयाणं एवं वुत्तपुव्वं भवइ 'पडिगाहे भंते !' एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए नो से कप्पइ दावित्तए ॥२३५॥

अर्थ—वर्षावास में रहे हुए कितने ही श्रमणों को इस प्रकार प्रारम्भ में ही कहा हुआ होता है, 'भगवन् ! तू लेना', तो उसको इस प्रकार स्वयं लेना कल्पता है, किन्तु दूसरों को देना नहीं कल्पता ।[४]

मूल :—

वासावास पज्जोसवियाणं अत्थेगईयाणं एवं वुत्तपुव्वं भवइ 'दावे भंते ! पडिगाहे भंते ! एवं से कप्पइ दावित्तए वि पडिगाहित्तए वि ॥२३६॥

अर्थ—वर्षावास में रहे हुए कितने ही श्रमणो को पूर्व ही इस प्रकार कहा हुआ होता है कि - हे भगवन् ! तू, दूसरों को भी देना और स्वयं भी लेना' तो उसको इस प्रकार दूसरों को देना और स्वयं को लेना कल्पता है ।[५]

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं नो कप्पइ निग्गंथाण का निग्गं-थीणं वा हट्ठाणं आरोग्गाणं बलियसरीराणं इमाओ नवरसविगईओ अभिक्खणं अभिक्खणं आहारित्तए, तं जहा—खीरं दहिं नवणीयं सप्पिं तिल्लं गुडं महुं मज्जं मंसं ॥२३७॥

अर्थ—वर्षावास में रहे हुए निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियाँ हृष्टपुष्ट हों, नीरोग हों, बलवान् देहवाले हों, उनको ये नौ रस-विकृतियों का बार-बार खाना नहीं कल्पता, जैसे—(१) क्षीर-दूध, (२) दही, (३) मक्खन, (४) घृत, (५) तेल, (६) गुड, (७) मधु, (८) मद्य, (९) मांस ।

विवेचन—आगम साहित्य में दूध-दही आदि को कही पर विकृति[क] कहा गया है और कहीं पर 'रस'[ख] कहा है। दूध, दही आदि विकार-वृद्धि करते हैं एतदर्थ इनका नाम विकृति है।[ग] प्रस्तुत सूत्र की तरह स्थानाङ्ग में भी नौ विकृतियों का वर्णन है।[घ] स्थानाङ्ग में तैल, घृत, वसा (चर्बी) और मक्खन को स्नेह-विकृत भी कहा है[च] और आगे चलकर मधु, मद्य, मांस और मक्खन को महाविकृति भी कहा है।[छ] विकृति खाने से मोह का उदय होता है[ज] एतदर्थ उन्हें बार-बार खाने का निषेध किया गया है। मद्य-मांस ये दो विकृतियाँ और वसा चर्बी) अभक्ष्य है। कुछ आचार्य मधु और मक्खन को भी अभक्ष्य मानते है और कुछ आचार्य मधु और मक्खन को विशेष परिस्थिति में भक्ष्य भी मानते हैं। जो विकृतियां भक्ष्य हैं, उन्हीं विकृतियों को पुनः पुनः खाने का निषेध किया गया है। मद्य और मांस तो श्रमण के लिए सर्वथा त्याज्य है ही, अतः उसके खाने का प्रसंग हो नहीं उठ सकना।[झ]

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं अत्थेगतियाणं एवं वुत्तपुव्वं भवइ 'अट्ठो भंते ! गिलाणस्स ?' से य वयिज्जा 'अट्ठो' से य पुच्छियव्वे सिया 'केवईएणं अट्ठो !' से य वएज्जा 'एवइएणं अट्ठो गिलाणस्स'। जं से पमाणं वदति से पमाणतो घेत्तव्वे। से य विन्नवेज्जा, से य विन्नवेमाणे लभिज्जा, से य पमाणपत्ते, 'होउ, अलाहि' इति वत्तव्वं सिया। से किमाहु भंते ! एवइएणं अट्ठो गिलाणस्स। सिया णं एवं वयंतं परो वएज्जा 'पडिग्गाहेहि अज्जो।' तुमं पच्छा भोक्खसि वा देहिसि वा' एवं से कप्पइ पडिग्गाहित्तए, नो से कप्पइ गिलाणनीसाए पडिग्गाहित्तए ॥२३८॥

अर्थ—वर्षावास में रहे हुए कितने ही श्रमणों को पूर्व ही इस प्रकार कहा हुआ होता है—'हे भगवन् ! अस्वस्थ व्यक्ति के लिए आवश्यकता है ? यदि वह

कहे कि आवश्यकता है, तो उसके पश्चात् उस अस्वस्थ व्यक्ति से पूछना चाहिए कि कितने प्रमाण में (दूध आदि की) आवश्यकता है और दूध आदि का प्रमाण अस्वस्थ व्यक्ति से जान लेने के पश्चात् वह कहे कि इतने प्रमाण में अस्वस्थ व्यक्ति (सन्त) को दूध की आवश्यकता है। बीमार जितने प्रमाण में कहे उतने ही प्रमाण में लाना चाहिए। लाने के लिए जाने वाला प्रार्थना करे और प्रार्थना करता हुआ दूध आदि प्राप्त करे। जब दूध आदि प्रमाणयुक्त प्राप्त हो जाय तब उसे पर्याप्त (बस) है, इस प्रकार कहना चाहिए। उसके पश्चात् दूध देने वाला उस श्रमण से कहे कि—'हे भगवन् ! 'बस, पर्याप्त है' ऐसा आप कैसे कह रहे हैं। उत्तर में लेने वाला भिक्षुक कहे, कि बीमार के लिए इतने की ही आवश्यकता है। इस प्रकार कहते हुए भिक्षुक को दूध आदि प्रदान करने वाला गृहस्थ कदाचित् यह कहे कि हे आर्य ! आप ले जावें बाद में आप खा लेना, या पी लेना, इस प्रकार वार्ता हुई हो तो उसे अधिक लेना कल्पता है, किन्तु लाने वाले को बीमार व्यक्ति के बहाने अधिक लाना नही कल्पता।

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं अत्थि णं थेराणं तहप्पगाराइं कुलाइं कडाइं पत्तियाइं थेज्जाइं वेसासियाइं सम्मयाइं बहुमयाइं अणुमयाइं भवंति तत्थ से नो कप्पइ अदक्खु वइत्तए 'अत्थि ते आउसो ! इमंवा इमं वा ? से किमाहु भंते ! सड्ढी गिही गिण्हइ वा तेणियं पि कुज्जा ॥२३६॥

अर्थ—वर्षावास में रहे हुए स्थविरों के तथा प्रकार के कुल आदि किये हुए होते हैं, जो कुल प्रीतिपात्र होते हैं स्थिरता वाले होते हैं, विश्वास वाले होते हैं, सम्मत होते हैं, बहुमत होते हैं और अनुमति वाले होते हैं, उन कुलों में जाकर आवश्यक वस्तु न देखकर उन स्थविरों को इस प्रकार कहना नहीं कल्पता कि हे आयुष्मन् ! यह वस्तु या यह वस्तु तुम्हारे यहाँ पर है ?

प्रश्न—हे भगवन् ! उन्हें इस प्रकार कहना नहीं कल्पता, यह किस उद्देश्य से कहा गया है ?

उत्तर—हे आयुष्मन् ! ऐसा कहने से श्रद्धावान् गृहस्थ वह वस्तु न होने पर नवीन ग्रहण करे, मूल्य से खरीदकर लाये, अथवा चोरी करके भी ले आए।

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं निच्चभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पइ एगं गोयरकालं गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पवेसित्तए वा, नऽन्नत्थ आयरियवेयावच्चेण वा उवज्झायवेयावच्चेण तवस्सिगिलाणवेयावच्चेण खुडएणं वा अवंणजायएणं ॥२४०॥

अर्थ—वर्षावास में रहे हुए नित्यभोजी भिक्षु को गोचरी के समय में आहार के लिए अथवा पानी के लिए गृहस्थ के कुल की तरफ एक बार निकलना कल्पता है और एक बार प्रवेश करना कल्पता है। सिवाय इसके कि आचार्य की सेवा का कारण हो, उपाध्याय की सेवा का कारण हो, तपस्वी या रुग्ण सन्त की सेवा का कारण हो, जिनके दाढ़ो मूंछ अथवा बगल में केश न आये हों ऐसे लघु (बाल) श्रमण और श्रमणियों की सेवा का कारण हो। अर्थात् यदि इनमे से कोई कारण विद्यमान हो तो एक से अधिक बार भी भिक्षा के लिए जाना कल्पता है।

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं चउत्थभत्तियस्स भिक्खुस्स अयं एवइए विसेसे जं से पाओ निक्खम्म पुव्वामेव वियडगं भोच्चा पेच्चा पडिग्गहगं संलिहिया संपमज्जिया, से य संथरिज्जा कप्पइ से तद्दिवसं तेणेव भत्तट्ठेणं पज्जोसवित्तए, से य नो संथरिज्जा एवं से कप्पइ दोच्चं पि गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥२४१॥

अर्थ—वर्षावास में रहे हुए चतुर्थ भक्त करने वाले भिक्षु के लिए यह विशेषता है कि वह उपवास के पश्चात् प्रात गोचरी के लिए निकलकर प्रथम विकटक (स्पष्ट-शुद्ध) अर्थात् निर्दोष भोजन करके और निर्दोष पानक पीकर के पश्चात् पात्र को साफ करके, धोकर के, यदि उतने ही आहार पानी से निर्वाह हो सकता हो तो, उतने ही भोजन पानी से चलावे। यदि उतने से निर्वाह नहीं हो सकता हो, तो उसको गृहपति के कुल की तरफ द्वितीय बार भी निकलना और प्रवेश करना कल्पता है।

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं छट्ठभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पंति दो गोयरकाला गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥२४२॥

अर्थ—वर्षावास में रहे हुए षष्ठ भक्त करने वाले भिक्षु को गोचरी के समय आहार के लिए अथवा पानी के लिए गृहस्थ के कुल की ओर दो बार निकलना और प्रवेश करना कल्पता है।[७]

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं अट्ठमभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पंति तओ गोयरकाला गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥२४३॥

अर्थ—वर्षावास में स्थित अष्टभक्त करने वाले भिक्षुक को गोचरी के समय आहार के लिए अथवा पानी के लिए गृहस्थों के कुल की ओर तोर बार निकलना और प्रवेश करना कल्पता है।

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं विकिट्ठभत्तियस्स भिक्खुस्स

कप्पंति सव्वे वि गोयरकाला गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥२४४॥

अर्थ—वर्षावास रहे हुए विकृष्टभक्त (अष्टम भक्त से अधिक तप) करने वाले भिक्षुक को आहार के लिए अथवा पानी के लिए गृहस्थ के कुल की ओर जिस समय इच्छा हो उस समय निकलना और प्रवेश करना कल्पता है। अर्थात् विकृष्ट भक्त करने वाले भिक्षुक को गोचरी के लिए सभी समय प्रवेश करने की आज्ञा है।[८]

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं निच्चभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पंति सव्वाइं पाणगाइं पडिगाहित्तए ॥२४५॥

अर्थ—वर्षावास में रहे हुए नित्यभोजी भिक्षुक को सभी प्रकार का पानी लेना कल्पता है।

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं चउत्थभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पंति तओ पाणगाइं पडिगाहेत्तए, तं जहा—उस्सेइमं संसेइमं चाउलोदगं ॥२४६॥

अर्थ—वर्षावास में रहे हुए चतुर्थभक्त करने वाले भिक्षुक को तीन प्रकार के पानी लेना कल्पता है। जैसे कि उत्स्वेदिम (आटे का धोवन) संस्वेदिम, (उष्ण, उबाला हुआ जल) चाउलोदक (चावल का धोवन)।[९]

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं छट्ठभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पंति तओ पाणगाइं पडिगाहेत्तए, तं जहा—तिलोदए तुसोदए जवोदए ॥२४७॥

अर्थ—वर्षावास में रहे हुए षष्ठभक्त करने वाले भिक्षुक को तीन प्रकार का पानी पीना कल्पता है जैसे कि—तिलोदक, तुषोदक और जवोदक।

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं अट्ठमभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पंति तओ पाणयाइं पडिगाहित्तए, तं जहा—आयामए सोवीरए सुद्धवियडे ॥२४८॥

अर्थ—वर्षावास रहे हुए अष्टम भक्त करने वाले भिक्षुक को तीन पानी लेना कल्पता हैं। जैसे—आयाम, सौवीर (कांजी) और शुद्धविकट (उष्णोदक)।[१०]

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं विकिट्ठभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पइ एगे उसिणोदए वियडे पडिगाहेत्तए, से वि य णं असित्थे णो वि य णं ससित्थे ॥२४९॥

अर्थ—वर्षावास में अवस्थित विकृष्ट भक्त करने वाले भिक्षुक को एक उष्णविकट (शुद्ध उष्णोदक) पानी लेना कल्पता है, वह भी अन्नकण रहित, अन्नकण युक्त नहीं।

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं भत्तपडियाइक्खियस्स भिक्खुस्स कप्पइ एगे उसिणोदए पडिगाहित्तए, से वि य णं असित्थे नो चेव णं ससित्थे, से वि य णं परिपूते नो चेव णं अपरिपूए, से वि य णं परिमिए नो चेव णं अपरिमिए से वि य णं बहुसंपण्णे नो चेव णं अबहुसंपण्णे ॥२५०॥

अर्थ—वर्षावास रहे हुए भक्त प्रत्याख्यानी भिक्षुक को एक उष्ण विकट

पानी लेना कल्पता है, वह भी अन्नकण रहित, अन्नकण युक्त नहीं। वह भी कपड़े से छाना हुआ, बिना छाना हुआ नहीं। वह भी परिमित, अपरिमित नहीं। वह भी जितनी आवश्यकता हो उतना, पूरा, अधिक या कम नहीं।

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं संखादत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पंति पंच दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहित्तए पंच पाणगस्स, अहवा चत्तारि भोयणस्स पंच पाणगस्स, अहवा पंच भोयणस्स चत्तारि पाणगस्स, तत्थ णं एगा दत्ती लोणासायणमेत्तमविपडिग्गाहिया सिया कप्पइ से तद्दिवसं तेणेव भत्तट्ठेणं पज्जोसवित्तए, नो से कप्पइ दोच्चं पि गाहावइकुल भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥२५१॥

अर्थ--वर्षावास में रहे हुए नियत संख्या वाली दत्ति प्रमाण (एक बार में दी जाने वाली थोड़ी सी भी परिमित भिक्षा एक दत्ति होती है) आहार लेने वाले भिक्षुक को भोजन की पांच दत्तियां और पानी की पांच दत्तियां लेनी योग्य है। अथवा भोजन की चार दत्तियां और पानी की पांच दत्तियां भी ली जा सकती हैं। तथा भोजन की पांच दत्तियां और पानी की चार दत्तियां ली जा सकती हैं। नमक के एक कण जितना भी जिसका आस्वाद लिया जा सके वह भी एक दत्तिक गिनी जाती है। ऐसी दत्ति ले लेने के पश्चात् उस भिक्षुक को उस दिन उस भोजन से ही निर्वाह करना चाहिए। उस भिक्षुक को दूसरी बार पुनः गृहपति के कुल की ओर भोजन के लिए या पानी के लिए निकलना और प्रवेश करना नही कल्पता।''

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं नो से कप्पति निग्गंथाण वा

निग्गंथीण वा जाव उवस्सयाओ सत्तघरंतरं संखडिसन्नियट्टचा-रिस्स एत्तए। एगे पुण एवमाहंसु—नो कप्पइ जाव उवस्सयाओ परेणं संखडिं सन्नियट्टचारिस्स एत्तए। एगे पुण एवमाहंसु—नो कप्पइ जाव उवस्सयाओ परंपरेण संखडिं सन्नियट्टचारिस्स एत्तए ॥२५२॥

अर्थ—वर्षावास में हुए निषिद्ध घर का त्याग करने वाले निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों को उपाश्रय से लेकर सात घर तक जहाँ सखडि (जीमनवार) हो, वहाँ जाना नहीं कल्पता। कितने ही ऐसा कहते हैं कि उपाश्रय से लगाकर आगे आने वाले घरों में जहां संखडि हो वहाँ निषिद्ध घर का त्याग करने वाले निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों को जाना नहीं कल्पता। कितने ही ऐसा भी कहते हैं कि उपाश्रय से लगा कर परम्परा से आते हुए घरों में जहां जीमनवार होती हो वहां निषिद्ध घर का त्याग करने वाले निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियो को जाना नहीं कल्पता।

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं नो कप्पइ पाणिपडिग्गहियस्स भिक्खुस्स कणगफुसियमित्तमवि वुट्ठिकायंसि निवयमाणंसि गाहा-वइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ।२५३।

अर्थ—वर्षावास में रहे हुए कर-पात्री भिक्षुक को, कणमात्र भी स्पर्श हो इस प्रकार का वृष्टिकाय (ओस और धुन्ध) गिरता हो तब गृहपति के कुल की ओर भोजन और पानी के लिए निकलना और प्रवेश करना नही कल्पता।[१२]

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियस्स पाणिपडिग्गाहियस्स भिक्खुस्स

नो कप्पइ अगिहंसि पिंडवायं पडिग्गाहित्ता पज्जोसवित्तए, पज्जोसवेमाणस्स सहसा वुट्ठिकाए निवडिज्जा देसं भोच्चा देसमायाय पाणिणा पाणिं परिपिहित्ता उरंसि वा णं निलिज्जिज्जा, कक्खंसि वा णं समाहडिज्जा, अहाछन्नाणि वा लयणाणि उवागच्छिज्जा, रुक्खमूलाणि वा उवागच्छिज्जा, जहा से पाणिंसि दते वा दतरए वा दगफुसिया वा नो परियावज्जइ ॥२५४॥

अर्थ—वर्षावास में रहे हुए कर पात्री भिक्षुक को पिण्डपात्र भिक्षा-लेकर के जहाँ घर न हो वहाँ अर्थात् खुले आकाश में रहकर भोजन करना नहीं कल्पता। खुले आकाश में रहकर खाते समय अचानक वृष्टिकाय गिरे तो जितने भाग को खा लिया है उसे खाकर के और बचे हुए अवशेष भाग को लेकर के उसे हाथ से ढंक करके और उस हाथ को सीने से चिपकाकर रखे या कक्षा (कांख) में छिपाकर रखे। ऐसा करने के पश्चात् गृहस्थों ने अपने लिए सम्यक् प्रकार से जो घर छाये हों उस ओर जाये, अथवा वृक्ष के मूल (नीचे) की ओर जाये, जिस हाथ में भोजन है उस हाथ से जिस प्रकार पानी की बूंदों की या फुहारों आदि की विराधना न हो इस प्रकार प्रवृत्ति करे।

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं पाणिपडिग्गहियस्स भिक्खुस्स जं किंचि कणगफुसियमित्तं पि निवडइ नो से कप्पइ भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥२५५॥

अर्थ—वर्षावास में रहे हुए करपात्री भिक्षुक को कणमात्र भी स्पर्श हो, इस प्रकार अत्यन्त हल्की बूदें आती हों तब भोजन और पानी के लिए गृहस्थ के घर की ओर निकलना और प्रवेश करना नही कल्पता।

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं पडिग्गहधारिस्स भिक्खुस्स

नो कप्पइ वग्घारियवुट्ठिकायंसि गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा कप्पइ से अप्पवुट्ठिकायंसि संतरुत्तरंसि गाहावइकुलं भत्ताए पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥२५६॥

अर्थ—वर्षावास में रहे हुए पात्रधारी भिक्षुक को अविच्छिन्न धारा (वग्घारिय वुट्ठिकायंसि)[13] से वर्षा बरस रही हो तब भोजन और पानी के लिए गृहपति के कुल की ओर जाना नहीं कल्पता, और प्रवेश करना भी नहीं कल्पता। कम वर्षा (अल्प वर्षा) बरस रही हो, तब अन्दर सूती वस्त्र और उसके ऊपर ऊनी वस्त्र ओढ़कर रजोहरण एवं पात्र को प्रावरण से ढक कर भोजन के लिए अथवा पानी के लिए गृहपति के कुल की ओर निकलना और प्रवेश करना कल्पता है।

विवेचन–प्रस्तुत पाठ में जोरदार वर्षा—जब अविच्छिन्नधारा से वर्षा बरस रही हो उस समय भिक्षा के लिए जाने का निषेध किया है और आगे हलकी वर्षा में जाने की अनुमति दी है। पाठ में 'संतरुत्तरंसि' शब्द आया है। यह शब्द आचारांग[14] और उत्तराध्ययन[15] में भी मिलता है, पर वहाँ पर प्रकरण के अनुसार टीकाकारों ने दूसरा अर्थ किया है। यहाँ पर कल्पसूत्र के चूर्णिकार और टिप्पणकार ने अन्तर शब्द के तीन अर्थ किए हैं—(१) सूती वस्त्र, (२) रजोहरण, (३) और पात्र। तथा उत्तर शब्द के दो अर्थ किए हैं (१) कम्बल और (२) ऊपर ओढ़ने का उत्तरीय वस्त्र।[16] सारांश यह है कि हलकी वर्षा में भीतर सूती वस्त्र और ऊपर ऊनी वस्त्र ओढ़कर भिक्षा के लिए जाय। ओघनिर्युक्ति[17], धर्मसंग्रह वृत्ति[18] और योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्ति[19] में प्रस्तुत परम्परा का उल्लेख किया है। किन्तु आचारांग में **'तिव्वदेसीयं वासं वासमाणं पेहाए'**[20] के द्वारा तेज वर्षा में जाने का निषेध किया है। दशवैकालिक में भी **'न चरेज्ज वासे वासंते'**[21] पाठ में स्पष्ट रूप से वर्षा बरसते समय भिक्षा के लिए जाने का निषेध है। अगस्त्यसिंह स्थविर[22] जिनदास महत्तर[23] और आचार्य हरिभद्र[24] ने भी अपनी चूर्णि और टीका में बताया है कि भिक्षा

का काल होने पर यदि वर्षा हो रही हो तो भिक्षुक बाहर न निकले। भिक्षा के लिए निकलने के पश्चात् यदि वर्षा होने लगे तो ढके हुए स्थान में खड़ा हो जाय, आगे न जाय। उक्त प्रकरण के सन्दर्भ में अल्पवृष्टि में जाने का उल्लेख नहीं हुआ है, अपितु निषेध ही है। तीव्र वृष्टि, धुन्ध[२५] और कुहरा गिर रहा हो[२६] उस समय नहीं जाना और अल्पवृष्टि में जाना यह श्रमणाचार की विधि के अनुसार किस प्रकार संगत हो सकता है यह गीतार्थ श्रमणों व आगम मर्मज्ञों के लिए विचारणीय है। हमारी दृष्टि से वर्षा में भिक्षा के लिए जाने की परम्परा विशुद्ध श्रमणाचार की परम्परा नहीं है।

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं निग्गंथस्स निग्गंथीए वा गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठस्स निगिज्झिय निगिज्झिय वुट्ठिकाए निवएज्जा कप्पइ से अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयं वा अहे वियडगिहंसि वा अहे रुक्खमूलंसि, वा उवागच्छित्तए, तत्थ से पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते चाउलोदणे पच्छाउत्ते भिलंगसूवे कप्पइ से चाउलोदणे पडिग्गाहित्तए नो से कप्पइ भिलिंगसूवे पडिग्गाहित्तए, तत्थ से पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते भिलिंगसूवे पच्छाउत्ते चाउलोदणे कप्पइ से भिलिंगसूवे पडिग्गाहित्तए नो से कप्पइ चाउलोदणे पडिग्गाहित्तए, तत्थ से पुव्वागमणेणं दो वि पुव्वाउत्ताइं वट्टंति कप्पंति से दो वि पडिगाहित्तए, तत्थ से पुव्वागमणेणं दो वि पच्छाउत्ताइं नो से कप्पंति दो वि पडिग्गाहित्तए, जे से तत्थ पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते से कप्पइ पडिगाहित्तए, जे से तत्थ पुव्वागमणेणं पच्छाउत्ते से नो कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥२५७॥

अर्थ—वर्षावास में रहे हुए और भिक्षा लेने की इच्छा से गृहस्थ के कुल

में प्रवेश किए हुए निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों को रह रहकर थोड़ी-थोड़ी देर से वर्षा गिर रही हो तब बगीचे में अथवा उपाश्रय में, अथवा विकटगृह में जहाँ गाँव के लोग एकत्र होकर बैठते है, उस सभा भवन में अथवा वृक्ष के नीचे जाना कल्पता है।

उपर्युक्त स्थानों पर जाने के पश्चात् वहां यदि पहुँचने के पूर्व ही तैयार किया हुआ चावलओदन मिलता हो तो निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनी ग्रहण कर सकते हैं। उनके पहुँचने के पश्चात् पीछे से तैयार किया हुआ भिलिंगसूप[२७] अर्थात् मसूर की दाल, उड़द की दाल या तेल वाला सूप मिलता हो तो उन्हें चावलओदन लेना तो कल्पता है पर भिलिंगसूप लेना नहीं कल्पता।

वहाँ यदि श्रमणों के पहुँचने के पूर्व ही तैयार किया हुआ भिलिंगसूप मिलता हो और चावलओदन उनके पहुंचने के पश्चात् पीछे से तैयार किया हुआ प्राप्त होता हो, तो उन्हें भिलिंगसूप तो लेना कल्पता है पर चावलओदन लेना नहीं कल्पता।

वहां पर पहुँचने के पूर्व ही यदि दोनों वस्तुएं तैयार की हुई मिलती हों तो उन्हें दोनों ही वस्तुएँ लेनी कल्पती हैं।

वहाँ पर पहुँचने के पूर्व यदि दोनों ही वस्तुएँ प्रारम्भ से ही तैयार की हुई नहीं मिलती हैं, और उनके पहुंचने के पश्चात् तैयार की हुई प्राप्त होती हैं तो उन्हें दोनों ही वस्तुएँ लेना नहीं कल्पता।

उनके पहुंचने के पूर्व जो वस्तुएँ तैयार की हुई हैं, उन्हें लेना कल्पता है, पर पहुंचने के पश्चात् तैयार की हुई वस्तु लेना नहीं कल्पता।

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं निग्गंथस्स गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठस्स निगिज्झिय निगिज्झिय वुट्ठिकाए निवएज्जा कप्पइ से अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयंसि वा अहे वियडगिहंसि वा अहे रुक्खमूलंसि वा उवागच्छित्तए, नो से कप्पइ

पुव्वगहिएणं भत्तपाणेणं वेलं उवाइणावित्तए, कप्पइ से पुव्वामेव वियडगं भोच्चा पिच्चा पडिग्गहगं संलिहिय संलिहिय पमज्जिय पमज्जिय एगायगं भंडगं कट्टु जाव सेसे सूरिए जेणेव उवस्सए तेणेव उवागच्छित्तए, नो से कप्पइ तं रयणिं तत्थेव उवायणावित्तए॥२५८॥

अर्थ—वर्षावास में रहे हुए और भिक्षा लेने की वृत्ति से गृहस्थ के कुल में प्रवेश किये हुए निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों को जब रह रहकर वर्षा बरस रही हो तब उन्हे या तो उद्यान के मूल के नीचे, (बाग की दीवाल की छाया में) जहाँ छींटे न लगे या उपाश्रय के नीचे, या विकटग्रह के नीचे, या वृक्ष के मूल के नीचे चला जाना कल्पता है। वहाँ जाने के पश्चात् पूर्व लाये हुए आहार पानी को रखकर समय को नष्ट करना नही कल्पता। वहां पहुँचते ही विकटक (निर्दोष आहार-पानी) को खा पीकर पात्र को साफ कर एक साथ सम्यक् प्रकार से बांधकर सूर्य अवशेष रहे वहा तक उपाश्रय की ओर जाना कल्पता है, किन्तु वहां पर उस रात्रि को व्यतीत करना नहीं कल्पता।

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं निग्गंथस्स गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठस्स निगिज्झिय निगिज्झिय वुट्ठिकाए निवइज्जा कप्पइ से अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयंसि वा जाव उवागच्छित्तए, तत्थ नो कप्पइ एगस्स य निग्गंथस्स एगाए य निग्गंथीए एगयओ चिट्ठित्तए, तत्थ नो कप्पइ एगस्स निग्गंथस्स दोण्ह य निग्गंथीणं एगयओ चिट्ठित्तए, तत्थ नो कप्पइ एगस्स निग्गंथस्स दोण्ह य निग्गंथीणं एगयओ चिट्ठित्तए, तत्थ नो कप्पइ दोण्ह य निग्गंथाणं एगाए य निग्गंथीए एगयओ चिट्ठित्तए, तत्थ नो कप्पइ दोण्ह य निग्गंथाणं दोण्ह य निग्गंथीणं एगयओ

चिट्ठित्तए, अत्थि या इत्थ केइ पंचमए खुड्डुए वा खुड्डिया वा अन्नेसिं वा संलोए सपडिदुवारे एवण्हं कप्पइ एगयओ चिट्ठित्तए ॥२५६॥

अर्थ—वर्षावास में रहे हुए और भिक्षा लेने की वृत्ति से गृहस्थ के कुल में प्रवेश किये हुए निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थिनियों को जब रह रहकर अन्तरसहित वर्षा गिर रही हो तब उन्हें या तो बगीचे के नीचे, या उपाश्रय के नीचे, यावत् चला जाना कल्पता है।

(१) वहाँ पर उस अकेले साधु को अकेली साध्वी के साथ सम्मिलित रहना नहीं कल्पता। (२) वहां पर उस अकेले निर्ग्रन्थ को दो निर्ग्रन्थिनियों के साथ सम्मिलित रहना नहीं कल्पता। (३) वहाँ पर दो निर्ग्रन्थों को अकेली निर्ग्रन्थिनी के साथ सम्मिलित रहना नहीं कल्पता। (४) वहाँ पर दो निर्ग्रन्थों को दो निर्ग्रन्थिनियों के साथ सम्मिलित रहना नहीं कल्पता।

वहाँ पर किसी पांचवें की साक्षी रहनी चाहिए। भले ही वह क्षुल्लक हो या क्षुल्लिका हो, अथवा दूसरे उन्हें देख सकते हों, दूसरों की दृष्टि में वे आ सकते हो, अथवा घर के चारों ओर के द्वार खुले हुए हों तो इस प्रकार उनको अकेला रहना कल्पता है।[२८]

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं निग्गथस्स गाहावइकुलं पिंड-वायपडियाए अणुप्पविट्ठस्स निगिज्झिय वुट्ठिकाए निवएज्जा कप्पइ से अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयंसि वा उवागच्छित्तए, तत्थ नो कप्पइ एगस्स निग्गंथस्स एगाए य अगारीए एगयओ चिट्ठित्तए, एवं चउभंगो, अत्थि या इत्थ केइ पंचमए थेरे वा थेरिया वा अन्नेसिं वा संलोते सपडिदुवारे एवं कप्पइ एगयओ चिट्ठित्तए ॥२६०॥

अर्थ—वर्षावास में रहे हुए और भिक्षा लेने की वृत्ति से गृहस्थ के कुल में प्रवेश किए हुए निर्ग्रन्थ को जब रह रहकर सान्तर वर्षा गिर रही हो, तब उसे या तो बगीचे की छाया में, या उपाश्रय के नीचे जाना कल्पता है। वहाँ पर अकेले निर्ग्रन्थ को अकेली महिला के साथ सम्मिलित रहना नही कल्पता। यहां पर भी सम्मिलित नहीं रहने के सम्बन्ध में पूर्व सूत्र की तरह चार भंग समझ लेने चाहिए।

वहाँ पर पाँचवा कोई भी स्थविर या स्थविरा होनी चाहिए। अथवा दूसरों की दृष्टि से देखे जा सकें ऐसा होना चाहिए, अथवा घर के चारों तरफ के द्वार खुले रहने चाहिए। इस प्रकार उन्हे अकेला रहना कल्पता है।

मूल :—

एवं चेव निग्गंथीए अगारस्स य भाणियव्वं ॥२६१॥

अर्थ—और इसी प्रकार अकेली निर्ग्रन्थिनी और अकेले गृहस्थ के सम्मिलित नही रहने के सम्बन्ध में चार भंग समझने चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत विधान व्यवहार शुद्धि और ब्रह्मचर्य की विशुद्धि के लिए किया गया है। ब्रह्मचारी साधक को सतत जागरूक रहने की आवश्यकता है। जरा-सी असावधानी भी साधक को पथ से विचलित कर सकती है, अतः शास्त्रकार ने सजग रहने की प्रेरणा दी है। दूसरी बात साधक स्वयं में भले ही जागृत हो किन्तु अगर व्यवहार अशुद्ध हो तो ऐसे स्थान में भी नहीं रहना चाहिए। इसीलिए कहा गया है—'**यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं न करणीयम्**।'

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अपरिन्नएणं अपरिन्नयस्स अट्ठाए असणं वा ४

जाव पडिग्गाहित्तए, से किमाहु भंते ! इच्छा परो अपडिन्नते भुंजिज्जा, इच्छा परो न भुंजिज्जा ॥२६२॥

अर्थ—वर्षावास मे रहे हुए निर्ग्रन्थ को या निर्ग्रन्थिनियों को दूसरे किसी के कहे बिना या दूसरे को सूचना किये बिना उनके लिए अशन, पान, खादिम, स्वादिम चारों प्रकार का आहार लाना नहीं कल्पता ।

प्रश्न—हे भगवन् ! इस प्रकार क्यों कहते हैं ?

उत्तर—हे शिष्य ! दूसरे के द्वारा बिना कहे हुए या दूसरे के द्वारा बिना सूचित किये हुए, लाया गया आहार आदि यदि उसकी इच्छा होगी तो वह खायेगा, यदि इच्छा न होगी तो वह नही खायेगा । अर्थात् दूसरे के लिए बिना पूछे या दूसरे के बिना कहे आहार आदि नहीं लाना चाहिए । क्योंकि बिना पूछे लाया गया आहार यदि उसकी इच्छा नहीं है और बिना इच्छा के वह खाता है तो या तो उसे रोग हो जायगा, और यदि वह नहीं खाएगा तो परिष्ठापन-दोष लगेगा ।

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा उदउल्लेण वा ससणिद्धेण वा काएणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारित्तए ॥२६३॥

अर्थ—वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थिनियों को उनके शरीर पर से पानी गिरता हो या उनका शरीर आर्द्र हो तो अशन, पान, खादिम और स्वादिम को खाना नहीं कल्पता ।

मूल :—

से किमाहु भंते ! सत्त सिणेहायतणा, तं जहा—पाणी, पाणीलेहा, नहा, नहसिहा, भमुहा, अहरोट्ठा, उत्तरोट्ठा । अह

पुण एवं जाणेज्जा-विगओअए से काए छिन्नसिणेहे एवं से कप्पइ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारित्तए ॥२६४॥

अर्थ–प्रश्न–हे भगवन् ! किस दृष्टि से आप ऐसा कहते हैं ?

उत्तर–शरीर में सात भाग स्नेहायतन बताये गये हैं अर्थात् शरीर में सात भाग ऐसे हैं जहाँ पर पानी टिक सकता है, जैसे–(१) दोनों हाथ, (२) दोनों हाथों की रेखाएं, (३) नाखून, (४) नाखून के अग्रभाग, (५) दोनों भौंहें, (६) नीचे का ओष्ठ अर्थात् ढाढ़ी, (७) ऊपर का ओष्ट अर्थात् मूछें।

जब निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों को ऐसा ज्ञात हो कि अब मेरे शरीर में पानी का आर्द्रपन बिल्कुल नही रहा है तो उनको अशन, पान, खादिम और स्वादिम का आहार करना कल्पता है।

—— ● आठसूक्ष्म

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं इह खलु निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा इमाइं अट्ठ सुहुमाइं, जाइं छउमत्थेणं निग्गंथेण वा निग्गंथीए वा अभिक्खणं अभिक्खणं जाणियव्वाइं पासियव्वाइं पडिलेहियव्वाइं भवंति, तं० पाणसुहुमं पणगसुहुमं बीयसुहुमं, हरियसुहुमं पुप्फसुहुमं अंडसुहुमं लेणसुहुमं सिणेहसुहुमं ॥२६५॥

अर्थ–यहाँ (निर्ग्रन्थ शासन में) वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों को ये आठ सूक्ष्म जानने योग्य हैं। प्रत्येक छद्मस्थ निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थिनी को पुनः पुनः सम्यक् प्रकार से आठ सूक्ष्म जानने (आगम से) योग्य हैं, देखने (चक्षु से) योग्य हैं—और सावधानी पूर्वक प्रतिलेखना करने योग्य हैं। जैसे कि—(१) प्राणसूक्ष्म, (२) पनक सूक्ष्म, (३) बीज सूक्ष्म, (४) हरित सूक्ष्म, (५) पुष्प सूक्ष्म, (६) अण्डसूक्ष्म (७) लयन सूक्ष्म, और (८) स्नेह सूक्ष्म।

मूल :—

से किं तं पाणसुहुमे ! पाणसुहुमे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—किण्हे, नीले, लोहिए, हालिद्दे, सुक्किले, अत्थि कुंथू अणुद्धरी नामं जा ठिया अचलमाणा छउमत्थाणं णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा नो चक्खुफासं हव्वमागच्छइ, जा अट्ठिया चलमाणा छउमत्थाणं चक्खुफासं हव्वमागच्छइ, जा छउमत्थेणं निग्गंथेण वा निग्गंथीए वा अभिक्खणं अभिक्खणं जाणियव्वा पासियव्वा पडिलेहियव्वा भवइ, से त्तं पाणसुहुमे १ ॥२३६॥

अर्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! वह प्राण सूक्ष्म क्या है ?

उत्तर—प्राणसूक्ष्म अर्थात् अत्यन्त बारीक जो साधारण नेत्रों से न देखा जा सके, वैसे बेइन्द्रिय आदि सूक्ष्म प्राणी। प्राणसूक्ष्म के पाँच प्रकार बताये हैं। जैसे—(१) कृष्ण रंग के सूक्ष्म प्राणी। (२) नीले रंग के सूक्ष्म प्राणी, (३) लाल रंग के सूक्ष्म प्राणी, (४) पीले रंग के सूक्ष्म प्राणी, (५) श्वेत रग के सूक्ष्म प्राणी। अनुद्धरी कुंथुआ नामक सूक्ष्म प्राणी जो यदि स्थिर हो, चलता फिरता न हो, तो छद्मस्थ निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थिनी की दृष्टि में शीघ्र नहीं आ सकता। यदि वह स्थिर न हो, चलता फिरता हो तो छद्मस्थ निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनी को शीघ्र ही दृष्टि गोचर हो सकता है। अतः छद्मस्थ निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनी को पुनः पुनः उसे जानना चाहिए, देखना चाहिए, सावधानी मे तल्लीनता पूर्वक प्रतिलेखना करनी चाहिए। यह प्राणसूक्ष्म की व्याख्या हुई।

मूल :—

से किं तं पणगसुहुमे ? पणगसुहुमे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—किण्हे नीले लोहिए हालिद्दे सुक्किले, अत्थि पणगसुहुमे

तद्दव्वसमाणवन्नए नामं पण्णत्ते, जे छउमत्थेणं निग्गंथेण वा निग्गंथीए वा जाव पडिलेहियव्वे भवति से त्तं पणगसुहुमे २ ॥२६७॥

अर्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! वह पनक सूक्ष्म क्या है ?

उत्तर—अत्यन्त बारीक जो साधारण नेत्रों से न देखी जा सके वैसी लीलन फूलन (सेवाल) पनक सूक्ष्म है। पनक सूक्ष्म के पाँच प्रकार बताये हैं, जैसे--(१) कृष्ण पनक, (२) नीली पनक, (३) लाल पनक, (४) पीली पनक और (५) श्वेत पनक। तात्पर्य यह है कि लीलन-फूलन, फुगी या सेवाल, जो अत्यन्त बारीक होती है, वस्तु के साथ मिली होने के कारण, उस जैसे रंग की होती है, अतः वह शीघ्र दिखलाई नहीं देती है। अतएव छद्मस्थ निर्ग्रन्थ और निर्ग्रंथिनी को सम्यक् प्रकार से जानना चाहिए, देखना चाहिए और उसकी प्रतिलेखना करना चाहिए। यह है पनक सूक्ष्म की व्याख्या।

मूल :—

से किं तं बीयसुहुमे ? बीयसुहुमे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा–किण्हे जाव सुक्किल्ले, अत्थि बीयसुहुमे कण्णियासमाणवन्नए नामं पण्णत्ते, जे छउमत्थेणं निग्गंथेण वा निग्गंथीए वा जाव पडिलेहियव्वे भवइ, से त्तं बीयसुहुमे ३ ॥२६८॥

अर्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! बीज सूक्ष्म क्या है ?

उत्तर—जो बीज साधारण नेत्रों से न देखा जा सके, वह बीज-सूक्ष्म हैं। वह बीजसूक्ष्म पाँच प्रकार का है, जैसे–(१) श्याम बीज सूक्ष्म, (२) नीला बीज सूक्ष्म, (३) लाल बीज सूक्ष्म, (४) पीला बीज सूक्ष्म, (५) श्वेत बीज सूक्ष्म। लघु से लघु कण के समान रंगवाला बीज सूक्ष्म कहा है। अर्थात् जिस रंग के अन्न के कण हो उसी रंग के बीज सूक्ष्म होते हैं। छद्मस्थ निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थनो को उन्हें बारम्बार जानना चाहिए, और प्रतिलेखना करनी चाहिए। यह बीज सूक्ष्म की व्याख्या हुई।

मूल :—

से किं तं हरियसुहुमे ? हरियसुहुमे पंचविहे पन्नत्ते, तं जहा–किण्हे जाव सुकिल्ले, अत्थि हरियसुहुमे पुढवीसमाणवन्नए, जे छउमत्थेणं निग्गंथेण वा निग्गंथीण वा, अभिक्खणं अभिक्खणं जाणियव्वे जाव पडिलेहियव्वे भवइ, से त्तं हरियसुहुमे ४ ॥२६६॥

अर्थ—प्रश्न—हे भगवन् वह हरितसूक्ष्म क्या है ?

उत्तर—हरित अर्थात् अभिनव उत्पन्न हुआ अत्यन्त बारीक नेत्रों से भी न निहारा जाय वैसा हरित। वह हरित सूक्ष्म पाँच प्रकार का कहा गया है। वह जैसे–(१) कृष्ण हरित सूक्ष्म, (२) नीला हरित सूक्ष्म, (३) लाल हरित सूक्ष्म, (४) पीला हरित सूक्ष्म, (५) श्वेत हरित सूक्ष्म। ये हरित सूक्ष्म पृथ्वी पर उत्पन्न होते हैं। जिस पृथ्वी का जैसा रंग होता है वैसा ही रग उस हरित सूक्ष्म का होता है। छद्मस्थ निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनी को उसे बारम्बार जानना, देखना और प्रतिलेखन करना चाहिए। यह हरित सूक्ष्म का कथन हुआ।

मूल :—

से किं तं पुप्फसुहुमे ? पुप्फसुहुमे पंचविहे पन्नत्ते, तं जहा–किण्हे जाव सुकिल्ले, अत्थि पुप्फसुहुमे रुक्खसमाणवन्ने नामं पन्नत्ते, जे छउमत्थेणं निग्गंथेण वा निगंथीण वा अभिक्खणं अभिक्खणं जाणियव्वे जाव पडिलेहियव्वे भवति, से त्तं पुप्फसुहमे ५ ॥२७०॥

अर्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! वह पुष्पसूक्ष्म क्या है ?

उत्तर—जो पुष्प अत्यन्त बारीक हो, साधारण नेत्रों से न निहारा जा सके। जैसे वट उदुम्बर आदि के फूल श्वास मात्र से जिनकी विराधना हो सकती है, वह पुष्पसूक्ष्म होता है। यह पुष्प सूक्ष्म पाँच प्रकार का है–(१)

कृष्ण पुष्प सूक्ष्म, (२) नीला पुष्प सूक्ष्म, (३) लाल पुष्प सूक्ष्म, (४) पीला पुष्प सूक्ष्म (५) श्वेत पुष्प सूक्ष्म । ये पुष्प सूक्ष्म जिस वृक्ष पर उत्पन्न होते हैं उस वृक्ष के रंग के सदृश रंग वाले होते हैं । छद्मस्थ निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थिनी को उन्हें सम्यक् प्रकार जानना चाहिए, देखना चाहिए और प्रतिलेखन करना चाहिए । यह पुष्पसूक्ष्म की विवेचना हुई ।

मूल :—

से किं तं अंडसुहुमे ? अंडसुहुमे पंचविहे पन्नत्ते, तं जहा—उद्दंसंडे उक्कलियंडे पिपीलियंडे हलियंडे हल्लोहलियंडे, जे छउमत्थेणं निग्गंथेण वा निग्गंथीण वा जाव पडिलेहियव्वे भवइ, से त्तं अंडसुहुमे ६ ॥२७१॥

अर्थ—प्रश्न—हे भगवन् वह अंड सूक्ष्म क्या है ?

उत्तर—जो अण्डा अत्यन्त बारीक हो, आंखों से भी नहीं देखा जा सके वह अण्ड सूक्ष्म है । अण्डसूक्ष्म पांच प्रकार का है । जैसे (१) मधुमक्षिका आदि दंश देने वाले प्राणियों के अण्डे । (२) मकड़ी के अण्डे, (३) चींटियों के अण्डे (४) छिपकली के अण्डे, (५) काकीडा (गिरगिट) के अण्डे । छद्मस्थ निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों को, ये अण्डे सम्यक् प्रकार जानने चाहिए, देखने चाहिए और प्रतिलेखन करने चाहिए । यह अण्डसूक्ष्म की विवेचना हुई ।

मूल :—

से किं तं लेणसुहुमे ? लेणसुहुमे पंचविहे पन्नत्ते, तं जहा—उत्तिंगलेणे भिंगुलेणे उज्जुए तालमूलए संबोकावट्टे नामं पंचमे, जे छउमत्थेणं निग्गंथेण वा निग्गंथीए वा अभिक्खणं अभिक्खणं जाणियव्वे जाव पडिलेहियव्वे भवइ से त्तं लेणसुहमे ७ ॥२७२॥

अर्थ—प्रश्न—हे भगवन् लयन सूक्ष्म क्या है ।

उत्तर—लेण (लयन) अर्थात् बिल जो अत्यन्त बारीक होने से साधारण आँखों से देखा न जा सके, वह लयनसूक्ष्म है । लयनसूक्ष्म पांच प्रकार का है, जैसे—गधैया आदि जीव अपने रहने हेतु पृथ्वी में जमीन को खोदकर बिल बनाते हैं वह उत्तिगलेण है । (२) पानी सूखने के पश्चात् जहाँ पर बड़ी-बड़ी दरारें पड़ गई हों उनमें जो बिल बनाये गये हों वह भिगुलेण है । (३) बिल-भोण (४) ताड़ के मूल जैसी आकृतिवाला बिल जो ऊपर से संकुचित और अन्दर से विस्तृत होता है वह तालमूलक है । (५) शंख के सदृश आकृति वाला जो बिल होता है वह शंबूकावर्त है, जैसे भ्रमर के बिल । छद्मस्थ निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी को ये बिल बारम्बार जानने, देखने और प्रतिलेखना करने योग्य है । यह लेणसूक्ष्म की विवेचना हुई ।

मूल :—

से किं तं सिणेहसुहुमे ? सिणेहसुहुमे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—उस्सा हिमए महिया करए हरतणुए, जे छउमत्थेणं निग्गंथेण वा, निग्गंथीण वा जाव पडिलेहियव्वे भवइ, से त्तं सिणेह-सुहुमे ८ ॥२७३॥

अर्थ—प्रश्न—वह स्नेह सूक्ष्म क्या है ?

उत्तर—स्नेह अर्थात् आर्द्रता, जो आर्द्रता शीघ्र ही दृष्टिगोचर न हो (जसे—धुंअर, ओले, बर्फ, ओस आदि) वह स्नेह सूक्ष्म है । स्नेह सूक्ष्म पांच प्रकार का है । जैसे—(१) ओस, (२) हिम, (३) धूमस, (४) गडे, (५) हरतनु-भूमि से उठकर घास के अग्रभाग पर अवस्थित पानी की सूक्ष्म बूंदें । छद्मस्थ निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों को ये पाँच स्नेह सूक्ष्म अच्छी प्रकार जानने, देखने और प्रतिलेखन करने योग्य है ।

इस प्रकार यह आठ सूक्ष्मों की विवेचना हुई ।

मूल :—

वासवासं पज्जोसविए भिक्खु इच्छिज्जा गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा उवज्झायं वा थेरं वा पवत्तिं वा गणिं वा गणहरं वा गणावच्छेययं वा जं वा पुरओ काउं विहरइ, कप्पइ से आपुच्छिउं आयरियं जाव जं वा पुरओ काउं विहरइ–इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुन्नाए समाणे गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, ते य से वियरेज्जा एवं से कप्पइ गाहावइकुलं भत्ताए वा जाव पविसित्तए वा, ते य से नो वियरेज्जा एवं से नो कप्पइ गाहावइ कुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमितए वा पविसित्तए वा, से किमाहु भंत्ते !? आयरिया पच्चवायं जाणंति ॥२७४॥

अर्थ–वर्षावास में रहे हुए भिक्षु को आहार के लिए या पानी के लिए गृहस्थ के घर जाने की या प्रवेश करने की इच्छा हो तो आचार्य से, अथवा उपाध्याय से, अथवा स्थविर से, अथवा प्रवर्तक से, अथवा गणि से, अथवा गणधर से, अथवा गणावच्छेदक से, अथवा जिस किसी को प्रमुख मान कर विचरण करता हो, उससे बिना पूछे उसे इस प्रकार करना नहीं कल्पता है। आचार्य, अथवा उपाध्याय, अथवा स्थविर, अथवा प्रवर्तक, अथवा गणि अथवा गणधर अथवा गणावच्छेदक अथवा जिसको मुखिया करके विचरता है उससे पूछकर उसे जाना एवं प्रवेश करना कल्पता है। भिक्षु उन्हें इस प्रकार पूछता है–हे भगवन् ! आपकी आज्ञा प्राप्त होने पर मैं गृहपति के कुल की ओर आहार के लिए या पानी के लिए, जाने की एवं प्रवेश करने की इच्छा करता हूँ। इस प्रकार पूछने के पश्चात् जो वे अनुमति दें तो उस भिक्षु को गृहस्थ के कुल की ओर आहार के लिये या पानी के लिए निकलना अथवा प्रवेश करना कल्पता है। जो वे

अनुमति न दें तो भिक्षु को आहार के लिए अथवा पानी के लिए गृहस्थ के कुल की ओर निकलना और उसमें प्रवेश करना नहीं कल्पता।

प्रश्न—हे भगवन् ! आप ऐसा क्यों कहते हैं ?

उत्तर—अनुमति देने में अथवा न देने में आचार्य प्रत्यवाय (विघ्न) आदि को जानते होते हैं।

मूल :—

एवं विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा अन्नं वा जं किंपि पओयणं, एवं गामाणुगामं दुइज्जित्तए ॥२७५॥

अर्थ—इस प्रकार विहारभूमि की ओर जाने के लिए, अथवा विचार भूमि की ओर जाने के लिए, अथवा अन्य किसी भी प्रयोजन के लिए या एक गाँव से दूसरे गाँव जाना आदि सभी प्रवृत्तियों के लिए इसी प्रकार अनुमति प्राप्त करना चाहिए।

मूल :—

वासावासं पज्जोसविए भिक्खु य इच्छिज्जा अन्नयरिं विगइं आहारित्तए नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेययं वा जं वा पुरओ कट्टु विहरइ, कप्पइ से आपुच्छित्ता णं तं चेव—इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुन्नाए समाणे अन्नयरिं विगइं आहारित्तए, तं एवइयं वा एवतिक्खुत्तो वा, ते य से वियरेज्जा एवं से कप्पइ अन्नयरिं विगइं आहारित्तए, ते य से नो वियरेज्जा एवं से नो कप्पइ अन्नयरिं विगइं आहरित्तए, से किमाहु भंत्ते ! ? आयरिया पच्चवायं जाणंति ॥२७६॥

अर्थ—वर्षावास में रहा हुआ भिक्षु किसी भी एक विगय को खाने की इच्छा करे तो आचार्य से अथवा उपाध्याय से, स्थविर से, प्रवर्तक से, गणि से,

गणधर से, गणावच्छेदक से, अथवा जिसे भी प्रमुख मानकर विचरण करता हो उससे बिना पूछे उसे वैसा करना नहीं कल्पता है। आचार्य अथवा उपाध्याय, अथवा स्थविर, अथवा प्रवर्तक, गणि, गणधर, गणावच्छेदक अथवा जिस किसी को प्रमुख मानकर विचरण करता हो उससे पूछकर उसे इस प्रकार करना कल्पता है। भिक्षु उन्हें इस प्रकार पूछे—"हे भगवन्! आपकी आज्ञा प्राप्त होने पर मैं कोई भी एक विगय को इतने प्रमाण में और इतनी बार खाना चाहता हूं।" इस प्रकार पूछने पर जो वे उसे अनुमति प्रदान करे तो इस प्रकार उस भिक्षु को कोई एक विगय खाना कल्पता है। जो वे उसे अनुमति प्रदान न करे तो उस भिक्षु को कोई भी एक विगय खाना नहीं कल्पता।

प्रश्न—हे भगवन्! आप इस प्रकार किसलिए कहते हैं?

उत्तर—आचार्य प्रत्यवाय को और अप्रत्यवाय को, अर्थात् हानि और लाभ को जानते होते हैं।[२९]

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं भिक्खु य इच्छेज्जा अन्नयरिं तेइ छं आउट्टित्तए, त चेव सव्वं ॥२७७॥

अर्थ—वर्षावास में स्थित भिक्षु यदि किसी प्रकार की चिकित्सा करवाने की इच्छा करे तो इस सम्बन्ध में भी पूर्ववत् ही जानना चाहिए।

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं भिक्खु य इच्छिज्जा अन्नयरं ओरालं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, तं चेव सव्वं ॥२७८॥

अर्थ—वर्षावास में रहा हुआ भिक्षु, कोई एक प्रकार का प्रशस्त, कल्याणकारी, उपद्रवों को दूर करने वाला, जीवन को धन्य करने वाला, मंगल करने वाला, सुशोभन, और बड़ा प्रभावशाली तपकर्म स्वीकार कर विचरने की इच्छा

करे तो उस सम्बन्ध में भी पूर्ववत् ही कहना चाहिए। अर्थात् गुरुजनों की आज्ञा प्राप्त करके ही तप करना चाहिए।

मूल :—

वासवासं पज्जोसविए भिक्खु य इच्छिज्जा अपच्छिम-मारणंतियसंलेहणाजूसणाभूसिए भत्तपाणपडियाइक्खिए पाओव-गए कालं अणवकखमाणे विहरत्तए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारित्तए वा, उच्चारपासवणं वा परिट्ठावित्तए सज्झायं वा करित्तए धम्मजाग-रियं वा जागरित्तए नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता तं चेव ॥२७६॥

अर्थ—वर्षावास में रहे हुए भिक्षु को सबसे अन्तिम, मारणान्तिक संलेखना का आश्रय लेकर के उसके द्वारा शरीर को खपाने की वृत्ति से आहार पानी का त्याग करके, पादपोपगत (वृक्ष की तरह निश्चल) होकर मृत्यु की अभिलाषा नहीं रखते हुए विचरण करने को इच्छा करे और संलेखना की दृष्टि से गृहस्थ के कुल की ओर निकलने की और उसमें प्रवेश करने की इच्छा करे अथवा अशन, पान, खादिम और स्वादिम आहार की इच्छा करे अथवा मल-मूत्र के परिस्थापन की इच्छा करे अथवा स्वाध्याय करने की इच्छा करे अथवा धर्म जागरण के साथ जागने की इच्छा करे तो यह सभी प्रवृत्ति भी आचार्य आदि से बिना पूछे करनी नहीं कल्पती है। इन सभी प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में पूर्व प्रमाण ही कहना चाहिए।

मूल :—

वासावासं पज्जोसविए भिक्खु य इच्छिज्जा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा अन्नयरिं वा उवहिं आया-वित्तए वा पयावित्तए वा, नो से कप्पइ एगं वा अणेगं वा अपडि-ण्णवित्ता गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा

वा पविसित्तए वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारित्तए, बहिया विहारभूमीं वा वियारभूमिं वा सज्झायं वा करित्तए, काउस्सग्गं वा ठाणं वा ठाइत्तए, अत्थि या इत्थ केइ अहासन्निहिए एगे वा अणेगे वा कप्पइ से एवं वदित्तए--इमं ता अज्जो ! तुमं मुहुत्तगं जाणाहि जाव ताव अहं गाहावइकुलं जाव काउस्सग्गं वा ठाणं वा ठाइत्तए, से य से पडिसुणिज्जा एवं से कप्पइ गाहावइ तं चेव, से य से नो पडिसुणिज्जा एवं से नो कप्पइ गाहावइकुलं जाव काउस्सग्गं वा ठाणं वा ठाइत्तए ॥२८०॥

अर्थ–वर्षावास में रहा हुआ भिक्षु वस्त्र को, पात्र को अथवा कम्बल को, अथवा पादप्रोच्छन को, अथवा अन्य किसी भी उपाधि को धूप में तपाने की इच्छा करे, अथवा धूप मे बारम्बार तपाने की इच्छा करे तो एक व्यक्ति को या अनेक व्यक्तियों को सम्यक् प्रकार से बताए बिना गृहपति के कुल की ओर आहार के लिए, अथवा पानी के लिए निकलना और प्रवेश करना नहीं कल्पता है। अथवा अशन, पान, खादिम और स्वादिम का आहार करना नहीं कल्पता, बाहर विहार भूमि अथवा विचार भूमि की ओर जाना नहीं कल्पता, अथवा स्वाध्याय करना, कायोत्सर्ग करना, या ध्यान के लिए अन्य आसन आदि से खड़ा रहना नहीं कल्पता।

कोई एक अथवा अनेक साधु जो उपस्थित हों उनसे भिक्षु को इस प्रकार कहना चाहिए--हे आर्यो ! आप कुछ समय तक इधर ध्यान रखें जब तक कि मैं गृहपति के कुल की ओर जाकर आता हूं यावत् कायोत्सर्ग करके आता हूं अथवा ध्यान के लिए किसी आसन से खड़ा रहकर आता हूं। जो वे भिक्षुक की बात को स्वीकार करें और ध्यान रखने की स्वीकृति दें तो भिक्षुक को गृहपति के कुल की ओर आहार के लिए अथवा पानी के लिए निकलना और प्रवेश करना कल्पता है, यावत् कायोत्सर्ग करना, या ध्यान के लिए किसी आसन से खड़ा रहना कल्पता है। जो वे साधु या साध्वियां उस भिक्षु की बात

स्वीकार न करें, अथवा ध्यान रखने की अस्वीकृति करें तो उस भिक्षु को गृह-पति के कुल की ओर निकलना और प्रवेश करना नहीं कल्पता, यावत् कायोत्सर्ग करना या ध्यान के लिए किसी आसन से खड़ा रहना नहीं कल्पता।

विवेचन—प्रस्तुत विधान अप्काय के जीवों की विराधना न हो इत्यादि दृष्टि से किया गया है।[30] धूप में वस्त्रों को सुखाकर यदि श्रमण आहारादि के लिए बाहर चला गया या साधना-आराधना में तल्लीन हो गया, उस समय कदाचित् वर्षा आ जाय तब उसके वे वस्त्रादि आर्द्र हो जाएँगे। अतः प्रत्येक साधना करते समय अहिंसा और विवेक की दृष्टि रखना अतीव आवश्यक हैं।

मूल :—

वासवासं पज्जोसवियाणं नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अणभिग्गहियसेज्जासणियं होत्तए, आयाणमेतं, अणभिग्गहियसेज्जासणियस्सअणुच्चाकुइयस्स अणट्ठाबंधिस्स अमियासणियस्स अणातावियस्स असमियस्स अभिक्खणं अभिक्खणं अप्पडिलेहणासीलस्स अप्पमज्जणासीलस्स तहा तहा णं संजमे दुराराहए भवइ, अणायाणमेतं, अभिग्गहियसेज्जासणियस्स उच्चाकुवियस्स अट्ठाबंधिस्स मियासणियस्स आयाविस्स समियस्स अभिक्खणं अभिक्खणं पडिलेहणासीलस्स पमज्जणासीलस्स तहा तहा णं संजमे सुआराहए भवइ ॥२८१॥

अर्थ—वर्षावास में रहे हुए श्रमणों और श्रमणियों को शय्या और आसन का अभिग्रह किए बिना रहना नहीं कल्पता। इस प्रकार रहना आदान है, अर्थात् कर्मबन्ध या दोष का कारण है।

जो श्रमण और श्रमणियाँ आसन का अभिग्रह नहीं करते, शय्या या आसन को जमीन से ऊँचा नहीं रखते तथा स्थिर नहीं रखते, बिना कारण ही

उन्हें बाँधते रहते हैं, प्रमाण रहित आसन रखते हैं, आसन आदि को धूप दिखाते नहीं है, पाँच समितियों में सावधानी नही रखते हैं, पुनः पुनः प्रतिलेखना नहीं करते हैं, प्रमार्जन करने में सावधानी नहीं रखते हैं, उनको संयम की आराधना करना कठिन होता है।

यह आदान (दोष) नहीं है—जो निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी शय्या और आसन का अभिग्रह करते हैं, उनको ऊँचे और स्थिर रखते हैं, उनको प्रयोजन के बिना पुनः पुनः बाँधते नही हैं, प्रमाण पुरस्सर आसन रखते हैं, शय्या और आसन को धूप दिखाते हैं, पांच समिति में सावधान रहते हैं, बारम्बार प्रतिलेखना करते हैं, प्रमार्जना करने में पूर्ण सावधानी रखते है, उनको संयम की आराधना करना सुगम है।

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तओ उच्चारपासवणभूमीओ पडिलेहित्तए न तहा हेमंत-गिम्हासु जहा णं वासावासेसु, से किमाहु भंते !? वासावासएसु णं ओसन्नं पाणाय तणा य बीया य पणगा य हरियायणा य भंवति ॥२८२॥

अर्थ—वर्षावास में रहे हुए श्रमण और श्रमणियों को शौच के लिए या लघुशंका के लिए तीन स्थानों की प्रतिलेखना करना कल्पता है। जिस प्रकार वर्षाऋतु में करने का होता है उस प्रकार हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में करने का नहीं होता।

प्रश्न—हे भगवन् ! यह किस दृष्टि से कहा है ?

उत्तर—वर्षाऋतु में प्रायः इन्द्रगोपादि लघुजीव, बीज पनक, (लीलन-फूलन) और हरित ये सभी प्रायः बारम्बार होते रहते।

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तओ मत्तगाइं गिण्हित्तए, तंजहा—उच्चारमत्तए पासवणमत्तए खेलमत्तए ॥२८३॥

अर्थ—वर्षावास में रहे हुए श्रमणों और श्रमणियों को तीन पात्र ग्रहण करना कल्पता है। वे इस प्रकार (१) शौच के लिए एक पात्र (२) लघुशंका के लिए द्वितीय पात्र, (३) कफ आदि थूकने के लिए तृतीय पात्र।

——— ● **केश लुंचन**

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा परं पज्जोसवणाओ गोलोमप्पमाणमित्ते वि केसे तं रयणिं उवायणावित्तए, पक्खिया आरोवणा, मासिते खुरमुंडे अद्धमासिए कत्तरिमुंडे, छम्मासिए लोए, संवच्छरिए वा थेरकप्पे ॥२८४॥

अर्थ—वर्षावास में रहे हुए निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थिनियों को सिर पर गाय के रोम जितने भी केश हों, तो इस प्रकार पर्युषणा के पश्चात् उस रात्रि को उल्लंघन करना नहीं कल्पता। अर्थात् वर्षाऋतु के बीस रात्रि सहित एक मास की अन्तिम रात्रि को गाय के रोम जितने भी केश शिर पर रखना नही कल्पता। अर्थात् इससे पहले ही केश लुंचन कर लेना चाहिए।

पक्ष पक्ष में आरोपणा करनी चाहिए। उस्तरे से मुण्ड होने वाले को एक एक माह से मुण्ड होना चाहिए। कैंची से मुण्ड होने वाले को पन्द्रह दिन मुण्ड होना चाहिए, लुंचन से मुण्ड होने वाले को छह मास से मुंड होना चाहिए और स्थविरों को वार्षिक लोच करना चाहिए।[31]

विवेचन—हाथ से नोचकर बालों को निकालना केशलोच है। सभी तीर्थंकर प्रव्रज्या ग्रहण करते समय अपने हाथ से पंचमुष्टि लोच करते हैं,[32] एतदर्थ यह परम्परा भगवान् ऋषभदेव से चली आ रही है। लोच उग्र तप है, कष्ट-सहिष्णुता की बड़ी-भारी कसौटी है। आचार्य हरिभद्र ने दशवैकालिक वृत्ति में लोच को काय-क्लेश माना है, वह संसार विरक्ति का मुख्य कारण है। काय-क्लेश के वीरासन, उकडूआसन, और लोच मुख्य भेद हैं। तथा लोच करने से (१) निर्लेपता, (२) पश्चात् कर्म वर्जन, (३) पुरः कर्म वर्जन, (४) कष्ट सहिष्णुता ये चार गुण प्राप्त होते हैं।[33]

हां तो, प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि संवत्सरी के पूर्व लोच अवश्य करना चाहिए। लोच करने के कुछ हेतु चूर्णि और व्याख्या साहित्य; में इस प्रकार बताये गये हैं:—(१) केश होने से अप्काय के जीवों की हिंसा होती है। (२) भींगने से जुएं उत्पन्न होती हैं। (३) खुजलाता हुआ श्रमण उसका हनन कर देता है। (४) खुजलाने से सिर में नख-क्षत हो जाते हैं (५) यदि कोई मुनि क्षुर (उस्तरे) या कैंची से बालों को काटता है तो उसे आज्ञा भंग का दोष होता है। (६) ऐसा करने से संयम और आत्मा दोनों की विराधना होती है। (७) जुएँ मर जाती हैं। (८) नाई अपने उस्तरे और कैंची को सचित्त जल से साफ करता है, एतदर्थ पश्चात् कर्म दोष होता है। (९) जैन शासन की अवहेलना होती है।

इन हेतुओं को संलक्ष्य में रखकर मुनि केशों को हाथ से नोंच डाले, यही उसके लिए श्रेयस्कर है। प्रस्तुत सूत्र में आपवादिक स्थिति का उल्लेख किया गया है, पर जैन धर्म के मर्म को समझने के लिए उत्सर्ग और अपवाद मार्ग को समझना आवश्यक है। आगमों के कितने ही विधान उत्सर्ग मार्ग के हैं और कितने ही विधान अपवाद मार्ग के हैं। अपवाद मार्ग के विधानों को जब कभी उत्सर्ग का रूप दे दिया जाता है, तब अर्थ का अनर्थ हो जाता है। श्रमण के लिए हाथ से केशलोच करना उत्सर्ग मार्ग है। उसके लिए अनिवार्य है कि वह लोच करे, पर रोगादि की विशेष परिस्थिति में अपवाद रूप से छुरा कैंची आदि अन्य साधन का भी उपयोग किया जा सकता है, परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि वह उत्सर्ग मार्ग नहीं है।

——● कठोर वाणी : क्षमापना

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गं थीण वा परं पज्जोसवणाओ अहिगरणं वदित्तए, जो णं निग्गं-थो वा २ परं पज्जोसवणाओ अहिगरणं वयइ से णं अकप्पेणं अज्जो! वयसी, ति वत्तव्वे सिया, जो णं निग्गंथो वा २ परं पज्जोसवणाओ अहिगरणं वयइ से णं निज्जूहियव्वे सिया ॥२८५॥

अर्थ—वर्षावास में रहे हुए निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थिनियों को पर्युषणा के पश्चात् अधिकरण वाली वाणी अर्थात् हिसा असत्य आदि दोष से दूषित वाणी बोलना नहीं कल्पता है। जो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थिनी पर्युषणा के पश्चात् ऐसी अधिकरण वाली वाणी बोले उसे इस प्रकार कहना चाहिए–हे आर्य! इस प्रकार की वाणी बोलने का आचार नहीं है। जो आप बोल रहे है वह अकल्प नीय है, आपका ऐसा आचार नही है। जो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थिनी पर्युषणा के पश्चात् अधिकरण वाली वाणी बोलता है उसे गच्छ से बाहर कर देना चाहिए।

विवेचन—अधिकरण वाली वाणी का प्रयोग साधु और साध्वी को यद्यपि पर्युषणा से पहले भी नही करना चाहिए मगर बाद मे तो करना ही नहीं चाहिए। पर्युषणा से पूर्व अधिकरण-वाणी का प्रयोग किया गया हो तो पर्युषणा के अवसर पर अध्यवसाय आदि की विशिष्ट निर्मलता होने से क्षमा-पना का प्रसंग सहजतया प्राप्त हो सकता है, किंतु पर्युषणा के बाद में वैसी निर्मलता का प्रसंग दुर्लभ होता है। सम्भवतः इसी विचार से यह विधान किया गया है। श्रमण-श्रमणी का कर्तव्य है कि जिस दिन ऐसी वाणी का प्रयोग हो जाय उसी दिन उसके लिए क्षमापना करले।

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं इहखलु निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अज्जेवं कक्खडे कडुए वुग्गहे समुप्पज्जिज्जा सेहे राइणियं खामिज्जा, राइणिए वि सेहं खामिज्जा, खमियव्वं खमावेयव्वं, उवसमियव्वं उवसमावेयव्वं, सम्मुइसंपुच्छणाबहुलेणं होयव्वं, जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा, जो न उवसमइ तस्स नत्थि आराहणा, तम्हा अप्पणा चेव उवसमियव्वं, से किमाहु भंते ! ? उवसमसारं खु सामण्णं ॥२८६॥

अर्थ—निश्चय ही यहाँ पर वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थिनियों को आज ही पर्युषणा के दिन ही—कर्कश और कटुक क्लेश उत्पन्न हो तो शैक्ष—लघु श्रमण रात्निक गुरुजन श्रमणों को खमाले। और रात्निक (गुरुजन) भी शैक्ष को खमाले।

खमना, खमाना, उपशमन करना, उपशमन करवाना, कलह के समय श्रमण को सन्मति रखकर सम्यक् प्रकार से परस्पर पृच्छा करने की विशेषता रखनी चाहिए।

जो (कषायों का) उपशमन करता है, उसकी आराधना होती है और जो उपशमन नहीं करता है उसकी आराधना नहीं होती। अतः स्वयं को उपशम (शान्त) रखना चाहिए।

प्रश्न—हे भगवन् ! ऐसा किसलिए कहा है ?

उत्तर—श्रमणत्व का सार उपशम ही है, अतः ऐसा कहा है।

विवेचन—श्रमण धर्म का सार उपशम है, क्षमा है। क्रोध, विग्रह आदि होना तो एक मानवीय दुर्बलता है, पर होने के बाद उसे मन में गाँठ बाँध के रखना यह सबसे बड़ा आत्मिक दोष है। इसलिए यहाँ पर इसी बात पर बल दिया गया है कि पर्युषण के दिन, उससे पहले या बाद में भी जिस

दिन भी परस्पर में यदि कठोर, कटुक शब्दों से कलह हो गया हो, लड़ाई झगड़ा हो गया हो, तो लघु को तुरन्त ही बड़ों के पास जाकर विनयपूर्वक खमाना चाहिए और यदि बड़ों से कुछ भूल हुई हो तो उन्हें लघु को स्नेह पूर्वक खमाना चाहिए ।

मूल में 'खमियव्वं' खामियव्वं के द्वारा दो बातों का निर्देश किया है, दूसरों के कटुवचन आदि को स्वयं खमना-सहन करना चाहिए और अपने कटु वचन आदि को दूसरों को खमाना चाहिए । और स्वयं को उपशान्त करना चाहिए तथा दूसरों को भी उपशान्त कराना चाहिए ।

यदि सार्धमिकों में परस्पर कलह शान्त नहीं होता है तो उससे उनके तप, नियम, ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय आदि ज्ञान-दर्शन चारित्र की हानि होती है संसार की वृद्धि होती है और लोकों में उनकी अप्रीति-अश्रद्धा उत्पन्न होती है ।

इसीलिए भगवान ने कहा है—श्रमण धर्म का सार उपशम—शान्ति है । परस्पर क्षमा याचना करने से आत्मा में प्रसन्नता की अनुभूति होती है ।[३४]

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तओ उवस्सया गिण्हित्तए, वेउव्विया पडिलेहा साइज्जिया पमज्जणा ॥२८७॥

अर्थ–वर्षावास में रहे हुए निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थिनियों को तीन उपाश्रय ग्रहण करना कल्पता है । तीन उपाश्रयों में से दो उपाश्रयों की प्रतिदिन सम्यक्तया प्रतिलेखना करनी चाहिए और जिस उपाश्रय का उपयोग किया जाता है उसकी प्रमार्जना करनी चाहिए ।

विवेचन–वर्षावास में जीवों की उत्पत्ति अधिक मात्रा में होती है । संभव है जिस स्थान में श्रमण अवस्थित है, उस स्थान पर जीवों की उत्पत्ति हो गई तो वह जिन दो अन्य स्थानों का अवग्रह लेकर रखता है उसमें जा

सकता है। यदि वर्षावास से पूर्व अवग्रह नहीं लेता है, तो वर्षावास में अन्य स्थान पर रात्रि-निवास नहीं कर सकता, अतः तीन मकानों का विधान किया है और साथ ही उनकी प्रतिलेखना करने का भी। प्रतिलेखन के समय का सूचन करते हुए चूर्णिकार ने कहा है, भिक्षा के समय बाहर जाने पर, पूर्वाह्न में या सायंकाल (वेतालियं) तक दिन में एक बार अवश्य प्रतिलेखना करनी चाहिए।[३५]

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अन्नयरिं दिसं वा अणुदिसं वा अवगिज्झिय भत्तपाणं गवेसित्तए, से किमाहु भंते!? ओसन्नं समणा वासासु तवसंपउत्ता भवंति, तवस्सी दुब्बले किलंते मुच्छिज्ज वा पवडिज्ज वा तामेव दिसं वा अणुदिसं वा समणा भगवंतो पडिजागरंति ॥२८८॥

अर्थ—वर्षावास में रहे हुए निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों को किसी एक निश्चित दिशा को या विदिशा को उद्देश्य कर भक्त पान के लिए गवेषणा करने के लिए जाना कल्पता है।

प्रश्न-हे भगवन्! ऐसा किसलिए कहा है?

उत्तर—श्रमण भगवान् वर्षाऋतु में अधिकतर तप में सम्यक् प्रकार से संलग्न होते हैं। तपस्वी तन से दुर्बल और थके हुए होते हैं। कदाचित् वे मार्ग में मूर्च्छा को प्राप्त हो जाएं या गिर जाएँ तो यदि वे एक निश्चित दिशा या विदिशा में गये हों तो उस ओर श्रमण भगवान् तपस्वी की खोज कर सकते हैं।

मूल :—

वासावासं पज्जोसवियाणं कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गं-

थीण वा जाव चत्तारि पंच जोयणाइं गंतु पडियत्त ए, अंतरा वि से कप्पइ वत्थए, नो से कप्पइ तं रयणिं तत्थेव उवायणावित्तए ॥२८९॥

अर्थ—वर्षावास में रहे हुए निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थिनियों को ग्लान या रुग्ण (सेवा, औषधि आदि) के कारण यावत् चार या पाँच योजन तक जाकर के पुनः लौटना कल्पता है। अथवा इतनी मर्यादा के अन्दर रहना भी कल्पता है, परन्तु जिस कार्य के लिए जिस दिन जहाँ पर गये हों, वहां का कार्य पूर्ण करने के पश्चात् वहाँ से शीघ्र ही निकल जाना चाहिए। वहाँ पर रात्रि व्यतीत नहीं करनी चाहिए, अर्थात् रात्रि तो अपने स्थान पर ही आकर बितानी चाहिए।

—— • उपसंहार

मूल :—

इच्चेयं संवच्छरियं थेरकप्पं अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं सम्मं काएणं फासित्ता पालित्ता सोभित्ता तीरित्ता किट्टित्ता आराहित्ता आणाए अणुपालित्ता अत्थेगइया समणा णिग्गंथा तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतंकरेंति, अत्थेगइया दोच्चेणं भवग्गहणेणं सिज्झंति जाव सव्वदुक्खाणमंतंकरेंति, अत्थेगइया तच्चेणं भवग्गहणेणं जाव अंत करेंति, सत्तट्ठ भवग्गहणाइं नाइक्कमंति ॥२९०॥

अर्थ—इस प्रकार के इस स्थविरकल्प को सूत्र के कथनानुसार कल्प-आचार की मर्यादा के अनुसार, धर्म मार्ग के कथनानुसार, यथार्थ रूप से शरीर के द्वारा स्पर्श कर—आचरण करके, सम्यक् प्रकार से पालन कर, शुद्ध कर अथवा

सुशोभन प्रकार से दिपाकर के, किनारे तक लेजाकर के, जीवन के अन्त तक पालन करके, दूसरों को समझाकर के, अच्छी तरह से आराधना करके और भगवान् की आज्ञा के अनुसार पालन करके, कितने ही श्रमण निर्ग्रन्थ उसी भव में सिद्ध, बुद्ध मुक्त होते हैं, परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं। और सर्व दुःखों का अन्त करते हैं। कितने ही श्रमण द्वितीय भव में सिद्ध होते हैं, कोई-कोई श्रमण तीसरे भव में सिद्ध होते हैं यावत् सर्वदुःखों का अन्त करते हैं। वे सात आठ भव से अधिक तो संसार में परिभ्रमण करते ही नहीं है। अर्थात् अधिक से अधिक सात-आठ भवों में अवश्य सिद्ध होते हैं यावत् सर्व दुःखों का अन्त करते हैं।

मूल :—

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे रायगिहे नगरे गुणसिलए चेइए बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं बहूणं साव-याणं बहूणं सावियाणं बहूणं देवाणं वहूणं देवीणं मज्झगए चेव एवमाइक्खइ एवं भासइ एवं पण्णवेइ एव परूवेइ पज्जोसवणाकप्पो नाम ऽज्झयणं सअट्ठं सहेउयं सकारणं ससुत्तं सअत्थं सउभयं सवा-गरणं भुज्जो भुज्जो उवदंसेइ, त्ति बेमि ॥२६१॥

पज्जोसवणा कप्पो सम्मत्तो।
अट्ठमज्झयणं सम्मत्तं ॥

अर्थ—उस काल उस समय राजगृह नगर के गुणशिलक चैत्य में बहुत श्रमणों के, बहुत श्रमणियों के, बहुत श्रावकों के, बहुत श्राविकाओ के बहुत देवों के और बहुत देवियों के मध्य में विराजमान श्रमण भगवान् महावीर इस प्रकार कहते है, इस प्रकार भाषण करते हैं, इस प्रकार बताते हैं, इस प्रकार प्ररूपणा करते हैं और पज्जोसवणाकप्प को अर्थात् पर्युपशमन के आचार प्रधान क्षमाप्रधान आचार नामक अध्ययन को अर्थ के साथ, हेतु के साथ, कारण के

साथ, सूत्र के साथ, अर्थ के साथ, सूत्र और अर्थ दोनों के साथ स्पष्टीकरण पूर्वक बारम्बार दिखाते हैं, समझाते हैं, ऐसा मैं कहता हूँ ।[३१]

पज्जोसवणा कप्प समाप्त हुआ ।
आठवाँ अध्ययन समाप्त हुआ ।

॥ श्री कल्प सूत्र समाप्त ॥

श्री कल्प सूत्र

परिशिष्ट
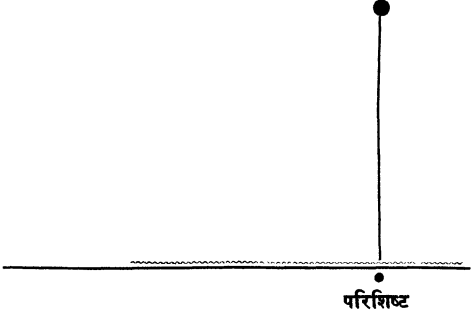
(श्री कल्पसूत्र-विवेचन के अन्तर्गत सूचित विशेष टिप्पण एवं ग्रन्थ-सन्दर्भ)

परिशिष्ट—१

[उपक्रमान्तर्गत टिप्पणानि]

१. यज्ज्ञानशीलतपसामुपग्रहं च दोषाणाम् ।
कल्पयति निश्चये यत्तत्कल्प्यमवशेषम् । —प्रशमरति प्रकरण १४३

२ कल्पशब्देन साधूना-माचारोऽत्र प्रकथ्यते । —पर्युषणा कल्पसूत्रम्—केशर मुनि पृ० १

३. (क) आचेलक्कु १ द्देसिय २ सिज्जायर ३ रायपिंड ४ किइकम्मे ५ ।
वय ६ जेट्ठ ७ पडिक्कमणे ८ मासं ९ पज्जोसवणकप्पे १० ।
—आवश्यक निर्युक्ति मलयगिरिवृत्ति मे उद्धृत प० १२१

(ख) प० कल्याण विजय जी ने श्रमण भगवान् महावीर पृ० ३३६ मे कल्पनिर्युक्ति की प्रस्तुत गाथा उद्धृत की है ।

(ग) कल्पसूत्र कल्पलता, समयसुन्दर गणी गा० १ पत्रा २ मे उद्धृत

(घ) कल्पसूत्र कल्पद्रुम कलिका पत्रा २ में उद्धृत

(ङ) कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी पृ० २

(च) कल्पसूत्र, मणिसागर गा० ५ पृ० ६ मे उद्धृत

(छ) प्रस्तुत गाथा दिगम्बर ग्रन्थ भगवती आराधना मे उद्धृत है । —पृ० १८१ गा० ४२७

(ज) निशीथ भाष्य-गाथा ५९३३, भाग ४, पृ० १८७

(झ) बृहत्कल्प भाष्य-गाथा ६३६४

४ आप्टेज् संस्कृत-इंग्लिश-डिक्शनरी, भाग १, पृ० १

५. अचेल :— अल्पचेल —आचारांग टीका, पत्र—२२१—२

६ लघुत्वजीर्णत्वादिना चेलानि वस्त्राण्यस्येत्येवमचेलकः । —उत्तराध्ययन बृहद् वृत्ति, पत्र० ३५९।१

७. (क) श्वेतमानोपेतवस्त्रधारित्वेन अचेलकत्वमपि । —कल्पसूत्र सुबोधिका, टीका पत्र० ३, विनय वि०

(ख) "अचेलत्वं" श्री आदिनाथ-महावीरसाधूनां वस्त्रं मानप्रमाणसहितं जीर्णप्रायं धवलं च कल्पते ।
श्री अजितादिद्वाविंशती तीर्थंकरसाधूनां तु पञ्चवर्णम् ।
—कल्पसूत्र, कल्पलता पत्रा २।१ समयसुन्दर

(ग) "अचेलत्वम्" मानोपेत धवलवस्त्रं धारयन्ति । —कल्पद्रुम कलिका १, पृ० २।१

८. (क) विशेषावश्यक भाष्य—भाषान्तर भाग १, पृ० १२, प्रकाशक आगमोदय समिति, आवृत्ति १,

(ख) जिणकप्पिया उ दुविधा, पाणीपाता पडिग्गहधरा य ।
पाउरणमपाउरणा, एक्केक्का ते भवे दुविधा ।।
—निशीथ भाष्य, गाथा १३९०, भा० २ पृ० १८८

९. आचेलुक्को धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स ।
मज्झिमगाण जिणाणं होइ सचेलो अचेलो य ॥ —कल्पसमर्थन गाथा ३, पृ० १

१०. "आचेलक्क" त्ति आचेलक्यं (अचेलकत्वं) वस्त्र रहितत्वं, तत्र प्रथमान्तिमजिनतीर्थे सर्वेषां साधूनां श्वेतमानोपेतजीर्णप्रायतुच्छ (अल्पमूल्य) वस्त्रधारित्वेनाचेलकत्वं । —कल्पार्थ बोधिनी पृ० १

११. अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो संतरुत्तरो ।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महामुणी ॥
एगकज्जपवन्नाणं, विसेसे किन्नु कारण ।
लिंगे दुविहे मेहावी, कहं विप्पच्चओ न ते ? —उत्तरा० अ० २३, गा० २९।३०

१२. उत्तराध्ययन अध्य० २३, गा० ३१-३२-३३

१३. सव्वे वि एग दूसेण णिग्गया जिणवरा चउवीसं—समवायाग

१३. A (क) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
(ख) कल्पसूत्र
(ग) तहवि गहिएगवत्था, सवत्थतित्थोवए सणत्थंति ।
अभिनिक्खमंति सव्वे, तम्मि चुएऽचेलया होंति ॥
—विशेषावश्यक भाष्य गा० २५८३ पृ० ३०७ द्वि० भा०
(घ) त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र देखें

१४. णो चेविमेण वत्थेण पिहिस्सामि तंसि हेमंते से पारए आवकहाए, एयं खु अणुधम्मिय तस्स संवच्छरं साहियं मासं जं न रिक्कासि वत्थगं भगवं अचेलए तओ चाइ तं वोसिज्ज वत्थमणगारे ।
—आचाराग १।९।१

१५. (क) भगवती सूत्र शतक ८, उद्दे० ८, पृ० १६१
(ख) उत्तराध्ययन अध्ययन—२
(ग) समवायाङ्ग २२,
(घ) तत्त्वार्थ सूत्र अ० ९ सूत्र० ९

१६. (क) उत्तराध्ययन अ० २, गा० १२-१३
(ख) प्रवचन सारोद्धार वृत्ति पत्र १९३

१७. (क) उद्दिस्स कज्जइ तं उद्देसियं, साधुनिमित्तं आरंभो त्ति वुत्तं भवति ।
—दशवैकालिक, जिनदास चूर्णि पृ० १११
(ख) उद्देसितं जं उद्दिस्सं कज्जति —दशवैकालिक, अगस्त्यसिंह चूर्णि ।
(ग) 'उद्देसियं' ति उद्देशनं साध्वाद्याश्रित्यदानारम्भस्येत्युद्देशः तत्र भवमौद्देशिकं ।
—दशवैकालिक, हारिभद्रीया टीका प० ११६

१८. दशवैकालिक अ० ५।१।५१—५२

१९. (क) संघादुद्देसेणं ओघाइहिं, समणाइ अहिगच्च ।
कडमिह सव्वेसिं चिय न कप्पई पुरिमचरिमाणं ॥

मज्झिमगाणं तु इमं, जं कडमुद्दिस्स तस्स चेव त्ति।
नो कप्पइ सेसाण उ, कप्पइ तं एस मेर त्ति ।। —कल्पसमर्थन गा० ४—५ पन्ना १

(ख) कल्पसूत्र, कल्पद्रुम कलिका पृ० २।१
(ग) कल्पसूत्र, कल्पलता टीका प० २।१
(घ) कल्पसूत्र, कल्पार्थबोधिनी

२०. दशवैकालिक ५।१।५५। ६, ४८—४६ ।८, २३

२१. प्रश्नव्याकरण, सम्वरद्वार, १।५

२२. सूत्रकृताङ्ग १।६।१४

२३. उत्तराध्ययन २०।४७

२४. आचाराग अ० २।उद्दे० ६

२५. भगवती, शतक १ उद्दे० ६

२६. जे नियाग ममायाति, कीयमुद्देसियाहड ।
वहं ते समणुजाणति, इइ वुत्त महेसिणा —दशवैकालिक ६।४८

२७ प्रश्नव्याकरण, संवर द्वार—२।५

२८. तत्थ वसहीए साहुणो ठिता ते वि सारक्खिउं तरति ।
तेण सेज्जादाणेण, भव समुद्दतरति त्ति सिज्जत्तरो ।। —निशीथ भाष्य पृ० १३१

२६. (क) सेज्जा वसती, स पुण सेज्जादाणेण संसार तरति सेज्जातरो, तस्स भिक्खा सेज्जातर पिंडो।
—दशवैकालिक, अगस्त्यसिंह चूर्णि

(ख) आश्रयोऽभिधीयते, तेण उ तस्स य दाणेण साहूण ससारतरतीति सेज्जातरो तस्स पिंडो,
भिक्खत्ति वुत्तं भवइ —दशवैकालिक, जिनदास चूर्णि पृ० ११३
(ग) शय्या—वसतिस्तया तरति संसार इति शय्यातरःसाधुवसतिदाता तत्पिण्डः ।
—दशवैकालिक, हारिभद्रीया टीका प० ११७

३० सेज्जातरो पभू वा, पभुसंदिट्ठो व होतिकातव्वो । —निशीथ भाष्य, गा० ११४४

३१. निशीथ भाष्य गा० ११४६—४७ चूर्णि

३२. जत्थ राउट्ठिता तत्थेव सुत्ता तत्थेव
चरिमावस्सय कयं तो सेज्जातरो भवति ।। —निशीथ भाष्य गा० ११४८ चूर्णि

३३. दुविह चउव्विह छउव्विह, अट्ठविहो होतिबारमविधोवा ।
सेज्जातरस्स पिण्डो, तव्वतिरित्तो अपिंडो उ ।।
—निशीथ भाष्य गा० ११५१ चूर्णि

३४. सागरियं च पिंड च, तं विज्जं परिजाणिया । —सूत्रकृताङ्ग १।६।१६

३५. 'सागारिकः" शय्यातरस्तस्य पिण्डम्—आहारं । —सूत्रकृताङ्ग १।६।१६ टीका प० १८१

३६. (क) मुद्धाभिसित्तस्स रण्णो भिक्खा रायपिण्डो । —दशवैकालिक, अगस्त्यसिंह चूर्णि

(ख) मुद्धाभिसित्तरण्णो·······पिंड:—राजपिंड। —दशवैकालिक, जिनदास चूर्णि पृ० ११२-११३

(ग) मुदियाइगुणो राया अट्ठविहो तस्स होइ पिंडुत्ति,
पुरिमेअराण एसो वाधायाईहिं पडिकुट्ठो। —कल्पसमर्थनम्—गा० ९, पृ० १

(घ) "राजपिण्ड:" राजा = छत्रधर:, तस्य पिण्ड:। —कल्पसूत्र, कल्पलता, ४, पृ- २, समयसुन्दर

(ङ.) "रायपिंड" त्ति राजपिण्ड:, तत्र राजा-छत्रधर: सेनापति-पुरोहित-श्रेष्ठ्य-मात्य-सार्थबाहरूपै: पञ्चभिर्लक्षणै युतोमूर्द्धाभिषिक्तस्तस्य अशनादिचतुर्विध आहारो वस्त्र पात्रं कबलं रजोहरणं चेत्यष्टविध. पिण्ड:·················" —कल्पार्थबोधिनी ४, पृ० २

३७. निशीथ भाष्य गा० २४९७ चूर्णि

३८. (क) अतोसो रायपिण्डो गेहिपडिसेहणत्थं एषणा रक्खणत्थं च न कप्पइ।
— दशवैकालिक जिनदाए चूर्णि पृ०११२-११३

(ख) ··· ····एषणा रक्खणाए एतेसि अणातिण्णो। —दशवैकालिक, अगस्त्यसिंह चूर्णि

३९ निशोथ ९ | १ | २

४०. (क) निर्गच्छदागच्छत्सामन्तादिभि: स्वाध्यायस्य अपशकुनबुद्ध्या शरीरादेश्च व्याघातसम्भवात्खाद्य-लोभलघुत्व-निन्दादिबहुदोष सम्भवाच्च··· ···· — कल्पार्थबोधिनी, कल्प ४ प० २

(ख) — कल्पसमर्थन गा० १० प० १

४१ निशीथभाष्य गा० २५०३—२५१०

४२ दशवैकालिक ३ | ३

४३ श्री आदिनाथ महावीर साधूना न कल्पते। अजितादि २२ तीर्थंकर साधूना तु कल्पते।
—कल्पसूत्र कल्पलता टीका

(ख) श्री आदीश्वर-महावीरयो: साधूनामेव न कल्पते। द्वाविंशतितीर्थंकर साधूना तु कल्पते।
—कल्पद्रुम कलिका पृ० २

४४. (क) असणाईण चउक्क, वत्थ तह पत्त पायपुंछणए।
निवपिंडम्मि न कप्पइ, पुरिमंतिमजिणजईण तु॥ —कल्पसमर्थनम् गा० ११ प० २

(ख) कल्पार्थ प्रबोधिनी टीका मे भी प्रस्तुत गाथा उद्धृत है।

४५. (क) किइकम्मपि य दुविहं, अब्भुट्ठाणं तहेव वदणयं।
समणेहिं समणीहिं य, जहारिहं होइ कायव्वं॥ —कल्पसमर्थनम—गा० १२ प० २

(ख) "कियकम्मे" कृतकर्म लघुना साधुना वृद्धस्य साधोश्चरणयोर्वन्दनकानिदातव्यानि।
—कल्पद्रुम कलिका टीका प० २

(ग) निशीथ चूर्णि द्वि० भा० पृ० १८७

४६. सव्वाहिं संजईहिं किइकम्मं संजयाण कायव्वं।
पुरिसत्तमुत्ति धम्मो सव्वजिणाणंपि तित्थेसुं॥ —कल्पसर्थनम् गा० १३

४७. हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् —तत्त्वार्थ सूत्र ७।१

४८ अकरणं निवृत्तिरुपरमो विरतिरित्यनर्थान्तरम्। —तत्त्वार्थ सूत्र ७।१।भाष्य

४६. तत्त्वार्थ सूत्र ७।१।भाष्य टीका

५०. चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पंचसिक्खिओ।
देसिओ बद्धमाणेण, पासेण य महामुणी ॥
एगकज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं।
धम्मे दुविहे मेहावि, कह विप्पच्चओ न ते ॥ —उत्तराध्ययन अ० २३ गा० २३—२४

५१ उत्तराध्ययन अ० २३, गा० २५ से २७

५२. पंचवओ खलु धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमगाण जिणाण, चउव्वओ होइ विन्नेओ ॥
नो अपरिग्गहियाए, इत्थीए जेण होइ परिभोगो।
ता तव्विरई इच्चिअ, अबंभविरइत्ति पन्नाण ॥ —कल्पसमर्थनम् गा० १४।१५ प० २

५३. वरिससयदिक्खिआए, अज्जाए अज्जदिक्खिओ साहू।
अभिगमणवंदणनमसणेण विणएण सो पुज्जो ॥ —कल्पलता टीका मे उद्धृत गाथा

५४. (क) उवठावणाइ जिट्ठो, विन्नेओ पुरिमपच्छिमजिणाण।
पव्वज्जाए उ तहा, मज्झिमगाणं निरइयारो ॥ —कल्पसमर्थनम् गा० १७ प० २

(ख) श्री आदीश्वर—महावीरयोः साधूना दीक्षाद्वयं भवति एका लघ्वी दीक्षा, अपरा बृहती दीक्षा भवति। लघुत्वम् वृद्धत्वं च बृहद्दीक्षया गण्यते। द्वाविंशति तीर्थंकर साधूना तु दीक्षाया भवन्त्या सत्यामेव लघुत्वम् वृद्धत्वं गण्यते एष ज्येष्ठ कल्प उच्यते।
—कल्पद्रुम कलिका, टीका प० २।३

५५. कल्पसूत्रकल्पार्थ बोधिनी टीका प० २

५६. (क) स्वस्थानाद् यत्परस्थान, प्रमादस्य वशाद्गतः।
तत्रैव क्रमण भूयः, प्रतिक्रमण मुच्यते ॥ —आवश्यक, सूत्र हरिभद्र टीका में उद्धृत पृ० ५५३।१

(ख) प्रतीप क्रमणं प्रतिक्रमणम्, अयमर्थः—शुभयोगेभ्योऽशुभयोगान्तरं क्रान्तस्य शुभेषु एव क्रमणात्प्रतीप क्रमणम्। —योगशास्त्र, तृतीय प्रकाश, स्वोपज्ञवृत्ति।

५७. मिच्छत्त-पडिक्कमणं, तहेव असंजमे य पडिक्कमण।
कसायाणं पडिक्कमणं, जोगाण य अप्पसत्थाणं ॥ —आवश्यक निर्युक्ति गा० १२५०

५८. सपडिक्कमणो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमयाण जिणाणं, कारणजाए पडिक्कमणं ॥ —आवश्यक निर्युक्ति, गा० १२४४

५६. देवसिय, राइय, पक्खिय, चउमासिय वच्छरिय नामाओ।
दुण्हं पण पडिक्कमणा, मज्झिमगाणं तु दो पढमा ॥ —सप्तति स्थानक

६०. पुरिम पच्छिमएहिं उभओ कालं पडिक्कमितव्वं इरियावहियमागतेहिं उच्चारपासवण आहारादीण वा विवेगं—काउण, पदोसपच्चूसेसु, अतियारो हो तु वा मा वा तहावस्सं पडिक्कमितव्वं एतेहिं चेव ठाणेहिं। मज्झिमगाणं तित्थे जदि अतियारो अत्थि तो दिवसो हो तु रत्ती वा, पुव्वण्हो,

अवरण्हो मज्झण्हो, पुव्वरत्तोवरत्त वा, अड्ढरत्तो वा ताहे चेव पडिक्कमन्ति। नत्थि तो न पडिक्कमन्ति, जेण ते असढा पण्णावन्ता परिमाणगा न य पमादबहुला, तेण तेसिं एवं भवति।

—आवश्यक चूर्णि, जिनदास गणी

६१. कप्पइ निग्गंथाणं वा, निग्गथीणं वा, हेमंतगिम्हासु चारए। —बृहत्कल्प भाष्य भाग १।३६

६२ भारंडपक्खी व चरेऽप्पमत्ते। —उत्तराध्ययन अ० ४, गा० ६

६३. संवच्छर इति कालपरिमाणं। तं पुण णेह वारसमासिगं संवज्झति किन्तु वरिसा रत्त चातुर्मासितं। स एव जेट्ठोग्गहो। —दशवैकालिक, अगस्त्यसिंह चूर्णि

६४. बृहत्कल्पभाष्य भाग १।३६

६५. बृहत् कल्पभाष्य भाग १।६।७।८

६६. संवच्छरं चावि परं पमाणं; बीयं च वासं न तहिं वसेज्जा॥
सुत्तस्स मग्गेण चरेज्ज भिक्खू, सुत्तस्स अत्थो जह आणवेइ॥

—दशवैकालिक द्वि० चूलिका गा० ११

६७. बितियं च वासं-बितियं ततो अणंतरं च सद्देण ततियमवि जतो भणितं तदुगुणं, दुगणेण अपरिहरित्ता ण बट्टति। ततिय च परिहरिऊण चउत्थंहोज्जा। —दशवैकालिक, अगस्त्यसिंह चूर्णि

६८. (क) पुरिमंतिमतित्थगराण, मासकप्पो ठिओ मुणेयव्वो।
मज्झिमगाण जिणाणं, अट्ठियओ एस विन्नेओ॥ —कल्पसमर्थनम् गा० १६ प० २

(ख) "मासकल्पः" श्री आदिनाथमहावीरसाधुभिः शेषकाले अष्टमासेषु मासकल्प क्रियते। द्वाविंशति तीर्थंकर साधुभिस्तु न मासकल्पः क्रियते —कल्पसूत्र, कल्पलता टीका,

(ग) कल्पसूत्र कल्पार्थ बोधिनी टीका, प० २।३

(घ) कल्पसूत्र सुबोधिका टीका, व्याख्यान १

(ङ) कल्पसूत्र कल्पद्रुम कलिका टीका प० ३।१

६९ समणे भगवं महावीरे वासाणं सवीसइराए मासे वइक्कते सत्तरिएहिंराइ दिएहिं सेसेहिं वासावस पज्जोसवेइ। —समवायाङ्ग ७० वा समवाय, पृ० ५०१

(ख) तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे वासाणं सवीसइराए मासे बिइक्कंते वासावास पज्जोसवेइ। —कल्पसूत्र सू० २२४ पृ० ६६ पुण्यविजयजी

७० कल्पसूत्र, कल्पार्थ बोधिनी, टीका प० ३।१

७१ कल्पसूत्र निर्युक्ति, १—२

७२. कल्पसूत्र निर्युक्ति चूर्णि १६

७३. कप्पइ पंचहिं ठाणेहिं णिग्गंथाणं णिग्गंथीणं पढमपाउसंसि गामाणुग्गामं दूइज्जत्तए तं णाणट्ठयाए, दसणट्ठयाए, चरित्तट्ठयाए, आयरियउवज्झायाणं वा से विसुंभेज्जा आयरिय उवज्झायाणं वा वहिया वेयावच्च करणाए। —स्थानाङ्ग सूत्र, ५ वां ठाणा

७४. (क) कल्पलता व्याख्यान १ प० २।३

(ख) तत्थ अपत्ते इमे कारणा—

राया कुंथू सप्पे, अगणिगिलाणे य थंडिलस्सऽसती ।

एएहिं कारणेहिं, अप्पत्ते होइ णिग्गमणं ।। —निशीथ भाष्य गा० ३१५८

राया दुट्ठो सप्पो वा वसहिं पविट्ठो, कुंथूहिं वा वसही संसत्ता, अगणिणा वा वसही दड्ढा, गिलाणस्स पडिचरणट्ठा, गिलाणस्स वा ओसहहेउं, थंडिलस्स वा असतीते, एतेहिं कारणेहिं अप्पत्ते चउपाडिवए णिग्गमणं भवति । —निशीथ चूर्णि ३१५८ तृ० भा० पृ० १३२

७५ (क) वासं वा नोवरमइ, पथा वा दुग्गमा सचिक्खिल्ला ।

एएहिं कारणेहिं, अइकंते होइऽ निग्गमण ।। —कल्पसमर्थनम् गा० २६ पृ० २

(ख) अथ च कदाचित्-चतुर्मास्युत्तारेऽपि वर्षा न विरमति मार्गा वा दुर्गमाभग्नाभवन्ति, चिखिल्लं वा प्रभूतं स्यात् तदा अधिकमपि तिष्ठेत् न दोष. ।

कल्प० कल्पलता टीका, समयसुन्दर प० ३।१

(ग) निशीथ भाष्य तृ० मा० पृ० १३३

७६. (क) चिक्खलपाण थंडिल, वसही गोरसजणाउलेविज्जे ।

ओसह निचयाऽ हिवई, पामडा भिक्खसज्झाए ।। —कल्पसमर्थनम् गा० ३६ पृ० ३

(ख) कल्प० कल्पद्रुम कलिका टीका मे उद्धृत प० ५

(ग) कल्प० कल्पलता पृ० ५ मे उद्धृत

७७ दोसासइ मज्झिमगा, अच्छंति अ जाव पुव्वोडीवि । ?

इहरा उ न मासपि हु एव खु विदेहजिणकप्पी ।। —कल्पसमर्थनम् गा० ८ प० २

७८ (क) ""शेषेषु चावेलक्यादिषु षट्सु अस्थितास्तत्कल्पोऽस्थितकल्प उक्तं च—

"ठिय अट्ठितो य कप्पो, आचेलक्काइएसु ठाणेसु ।

सव्वेसु ठिया पढमो, चउठिय छसु अट्ठिया बीओ ।।

—आवश्यक नियुंक्ति, मलयगिरिवृत्ति मे उद्धृत १२१

(ख) आचेलक्कुद्देसिय, पडिकमणे रायपिड मासेसु ।

पज्जुसणाकप्पम्मि य अट्ठियकप्पो मुणेयव्वो ।। —कल्पसमर्थनम् गा० २६ पृ०२

(ग) कल्पद्रुम कलिका पृ० ३

७६. (क) सेज्जायरपिंडंमी, चाउज्जामे य पुरिस जेट्ठे य ।

किइकम्मस्स य करणे, चत्तारि अवट्ठिया कप्पा ।।

—आवश्यक नियुंक्ति मलयगिरिवृत्ति मे उद्धृत प० १२१

(ख) सिज्जायर पिंडंमि य, चाउज्जामे य पुरिसजिट्ठे अ ।

किइकम्मस्स य करणे, ठियकप्पो मज्झिमाणंपि ।। —कल्पसमर्थनम् गा० ३० पृ० ३

(ग) अथ चत्वारः स्थिर कल्पाः (१) शय्यातरपिंडः (२) चत्वारि व्रतानि (३) पुरुष ज्येष्ठो धर्मः (४) परस्परं वन्दनकदानम्, एते चत्वारः स्थिरकल्पाः द्वाविंशतितीर्थंकर साधूनामपि भवन्ति, तस्मादेते स्थिरकल्पा उच्यन्ते । —कल्पद्रुम कलिका, व्या० १ प०३

८०. वाहिमवणेइ भावे, कुणइ अभावे तयं तु पढमंति ।
बिइअमवणेइ न कुणइ, तइयं तु रसायणं होइ ।
एव एसो कप्पो दोसा-भावेऽवि कज्जमाणो अ ।
सुन्दरभावाओ खलु, चारित्तरसायणं होइ ॥
एवं कप्पविभागो, तइओसहनायओ मुणेयव्वो ।
भावत्थजुओ इत्थ उ, सव्वत्थवि कारणं एयं ॥ —कल्पसमर्थनम् गा० ३१-३२-३३, पृ० ३

८१. पुरिमचरिमाणकप्पो, मंगलं वद्धमाणतित्थम्मि ।
इह परिकहिया जिणगणहराइथेरावलिचरित्तं ॥
—पर्युषणाकल्पार्थ बोधिनी टीका में उद्धृत प०११

८२. आचारात्तपसाकल्पः, कल्पः कल्पद्रुरीप्सिते ।
कल्पो रसायनं सम्यक्, कल्पस्तत्त्वार्थदीपकः ॥ —कल्पसमर्थनम्, कल्प महिमा श्लोक १ पृ० ३

८३. एगग्गचित्ता जिणसासणम्मि, पभावणा पूअपरायणा जे ।
तिसत्तवारं निसुणंति कप्पं, भवन्नवं ते लहुसा तरंति ॥ —कल्पसमर्थनम् कल्पमहिमा गा० ४ पृ० ३

८४. उत्तराध्ययन अध्य० २९ पृ० ६

८५. उत्तराध्ययन अ० २६ प्रश्न १४

परिशिष्ट—२

[अर्थ, विवेचनान्तर्गत टिप्पणानि]

१. नवकार इक्क अक्खर, पावं फेडेइ सत्त अयराइं ।
पन्नासं च पएणं, सागर पण-सय समग्गेण ॥

२. जो गुणइ लक्खमेगं, पूएइ विहीए जिण णमुक्कारं ।
तित्थयरनामगोअं, तो पावई सासयं ठाणं ॥

३. अट्ठेव अट्ठसया, अट्ठसहस्स च अट्ठकोडीओ ।
जो कुणइ नमुक्कारं, सो तइयभवे लहइ मोक्ख ॥

४. आगे चौबीसी हुइ अनन्ती, होशे बार अनन्त ।
नवकारतणी कोई आद न जाणे, एम भाषे अरिहंत ॥ —कुशललाभ वाचक

५ (क) स्थानाङ्ग सूत्र ४११ से तुलना करो

(ख) दिगम्बर गर्भापहरण की घटना को नही मानते । वे महावीर के पांच कल्याण नक्षत्र ये मानते है—(१) उत्तराषाढा, (२) उत्तराफाल्गुनी, (३) उत्तरा (४) हस्तोत्तरा (उत्तराफाल्गुनी) (५) स्वाति ।

(ग) महात्माबुद्ध के जीवन मे भी चार मंगल प्रसंग हैं—(१) जन्म, (२) ज्ञान प्राप्ति, (३) धर्म चक्र प्रवर्तन और (४) निर्वाण । ये चारों जहा होते हैं उस स्थान को बौद्ध परम्परा में तीर्थ मानते हैं:— —४।११८ अगुत्तर निकाय

६ जह मम न पिय दुक्ख, जाणिय एमेव सव्वजीवाणं ।
न हणइ न हणावेइ य, सममणई तेण सो समणो ॥ —दशवैकालिक निर्युक्ति गा० १५४

७ (क) नत्थि य सि कोइ वेसो, पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु ।
एएण होइ समणो, एसो अन्नोऽवि पज्जाओ ॥
तो समणो जइ सुमणो, भावेण य जइ न होइ पावमणो ।
सयणे य जणे य समो, समो य माणावमाणेसु ॥

—दशवैकालिक निर्युक्ति गा० १५५-१५६

(ख) अनुयोगद्वार १२९-१३१

(ग) सह मनसा शोभनेन, निदान-परिणाम-लक्षण-पापरहितेन च चेतसा वर्तत इति समनसः ।

—स्थानाङ्ग ४।४।३६३ अभयदेव टीका पृ० २६८

८. श्राम्यति—तपसा खिद्यत इति कृत्वा श्रमणः ।

—सूत्रकृताङ्ग १।१६।१ शीलांकाचार्य टीका पृ० २६३

९. श्राम्यन्तीति श्रमणाः, तपस्यन्तीत्यर्थः —दशवैकालिक हारिभद्रीया, टीका प० ६८

१०, ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, रूपस्य यशसः श्रियः ।
धर्मस्याथ प्रयत्नस्य, षण्णां भग इतीङ्गना ॥

११. (क) भगशब्देन ऐश्वर्यरूपयशः श्री धर्मप्रयत्ना अभिधीयंते, ते यस्यास्ति स भगवान्-भगो।
(ख) जसादी भण्णइ, सो जस्स अत्थि सो भगवं भण्णइ —दशवैकालिक, जिनदास चूर्णि पृ० १३१

१२. भग्गरागो भग्गदोसो भग्गमोहो अनासवो ।
भग्गास्सपापको धम्मो भगवा तेन वुच्चति । —विसुद्धिमग्गो ७।५६

१३. महंतो यसोगुणेहिं वीरोत्ति महावीरो । —दशवैकालिक, जिनदास, चूर्णि पृ० १३२

१४. महावीरेण—"शूर वीर विक्रान्ता" विति कषायादिशत्रुजयान्महाविक्रान्तो महावीरः ।
—दशवैकालिक, हारिभद्रीया टीका प० १३७

१५. सहसंमइए समणे भीमं भयभेरवं उरालं अचलय परीसहसहत्तिकट्टु देवेहिं से नामं कयं समणे भगवं महावीरे । —आचारांग २।३।४०० प० ३८६

१६. हत्थस्स उत्तरातो हत्थुत्तरातो, गणणं वा पडुच्च हत्थो उत्तरो जासि तातो हत्थुत्तरातो-उत्तरफग्गुणीतो,
—कल्पसूत्र चूर्णि सू० १ पृ० १०२

१७. (क) हस्त उत्तरो यासां ताः । —आचार्य पृथ्वीचन्द्र, कल्पसूत्र टिप्पण सू० २ पृ० १
(ख) हस्त उत्तरो अग्रवर्ती यासां वा ता हस्तोत्तरा-उत्तरा-फाल्गुन्यः
—कल्पार्थ बोधिनी टीका प० १३।१

१८. लघुक्षेत्रसमास, गाथा ६०

१९. काललोक प्रकाश. सर्ग २९ श्लोक ४४

२०. काल लोक प्रकाश, सर्ग २९ श्लोक ४५

२१. लघुक्षेत्रसमास, गाथा ६०

२२. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सटीक ९८।१

२३. (क) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सटीक पत्र ९८—२
(ख) भगवती शतक १, उद्दे० ८, सू० ६४ भाग १ पत्र ९२—९३
(ग) वनान्येकजातीय वृक्षाणि । —कल्पसूत्र, सन्देहविषौषधिः प० ७५

२४. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति

२५. काललोक प्रकाश, पृष्ठ १४९

२६. (क) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्षस्कार
(ख) काललोक प्रकाश, पृ० १७९

२७. काललोक प्रकाश पृ० १८५

२८. काललोक प्रकाश पृ० ५९२

२९. काललोक प्रकाश पृ० ६०९

३०. जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति सटीक, पत्र ११८-१७१ तक

३१. मुनिसुव्रत-नेमो हरिवंश समुद्भवौ, शेषा एकविंशतिः काश्यपगोत्राः।

—कल्पसूत्र टिप्पन आ० पृथ्वीचन्द्र सूत्र २, पृ० १

३२. काशो नाम इक्खु भण्णइ, जम्हा तं इक्खु पिबति तेन काश्यपा अभिधीयंते।

—दशवैकालिक, जिनदास चूर्णि पृ० १३२

३३. (क) कासं—उच्छू, तस्स विकारो-कास्यः रसः, जस्स पाणं सो कासवो उसभस्वामी, तस्स जो गोत्तजाता ते कासवा, तेण वद्धमाण स्वामी कासवो, तेण कासवेण।

—दशवैकालिक, अगस्त्यसिंह चूर्णि

३४. काश्यं क्षत्रियतेजः, पातीति काश्यपः। तथा च महापुराणे
"काश्यमित्युच्यते तेजः काश्यपस्तस्य पालनात्" —धनञ्जय नाममाला पृ० ५७

३५. महापुराण-द्वितीय विभाग, उत्तरपुराण, पर्व ७४ पृ० ४४४
गुणभद्राचार्य रचित, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

३६. देखिए लेखक की पुस्तक—महावीर जीवन दर्शन।

३७. आवश्यक निर्युक्ति प० २४८

३८. (क) महावीर चरियं, गुणचन्द्र
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र १०।१।३

३९. आवश्यक निर्युक्ति, मलयगिरिवृत्ति प० १५२

४०. महावीर चरियं, गुणचन्द्र प० ३

४१. आवश्यक निर्युक्ति गाथा १४३

४२. (क) आवश्यक भाष्य गा० २,
(ख) आवश्यक निर्युक्ति गा० १४४

४३. (क) आवश्यक भाष्य गा० २ प० १५२
(ख) आवश्यक निर्युक्ति गा० १४४
(ग) त्रिषष्टि० १०

४४. आवश्यक निर्युक्ति गा० १४५-१४६

४५. (क) महावीर चरियं, गुणचन्द्र प० ११
(ख) त्रिषष्टि० १०।१।२२—२३

४६. आवश्यक निर्युक्ति गा० ३५० से ३५२

४७. (क) आवश्यक निर्युक्ति गा० ३५३ प० २३३।१
(ख) त्रिषष्टि० १।६।१५ प० १५०।१

४८. आव० निर्यु० गा० ३५४
(ख) त्रिषष्टि० १।६।१६

४९. (क) आवश्यक नि० गा० ३५५
(ख) त्रिषष्टि० १।६।१९
५०. (क) आव० नियु० गा० ३५६
(ख) त्रिषष्टि० १।६।२०
५१. (क) आव० नियु० गा० ३५७
(ख) त्रिषष्टि० १।६।२१
५२. (क) आवश्यक नियुक्ति गा० ३५८
(ख) त्रिषष्टि० १।६।२२
५३. (क) आवश्यक नियु० गा० ३५९
(ख) त्रिषष्टि० १।६।२३
५४. आवश्यक नि० गा० ३६०
५५ आवश्यक नि० गा० ३८८
५६ (क) आवश्यक नि० ३९०
(ख) त्रिषष्टि० १।६।२७
५७. (क) आवश्यक भाष्य गा० ४४ प० २४३
(ख) आवश्यक नियुक्ति गा० ३६७
(ग) महावीर चरियं गुण० गा० १२४ प्र० २
५८. (क) आवश्यक नियु० गा० ४२२, से ४२४
(ख) महावीर चरियं गा० १२६ से १२८ तक प्र० २
(ग) त्रिषष्टि १।६ श्लोक ३७२-३७८
५९. (क) आवश्यक नियुक्ति गा० ४२८
(ख) महावीर चरियं गा० १२९ प० २४४७२.
६० आवश्यक नियुक्ति गा० ४३१
६१ आवश्यक नियुक्ति गा० ४३२
६२ (क) आवश्यक मलय० वृत्ति प० २४७।१ ।
(ख) महावीर चरियं पर्व ६ श्लोक२९—३२
(ग) त्रिषष्टि० पर्व १, सर्ग ६, श्लोक २९से३२
६३. (क) आवश्यक मलयगिरि वृत्ति प० २४७।१
(ख) त्रिषष्टि० १।६।४८
(ग आवश्यक नियुक्ति ४३७
(घ) महावीर चरिय गुणचन्द्र प० २२
६४. (क) आवश्यक नियु० गा० ४३८प० २४७
(ख) उत्तर पुराण ७४।६६, पृ० ४४७
६५. (क) आवश्यक नियुक्ति गा० ४४०
(ख) आवश्यक चूर्णि पृ० २२९
६६ (क) आवश्यक मलय० वृ० २४८।२
(ख) त्रिषष्टि० १०।१।८३
६७. (क) आवश्यक चूर्णि पृ० २३१
(ख) आवश्यक मलय० प० २४९
(ग) उत्तर पुराण ७४।१०६ से ११० पृ०४५०
(घ) समवायाङ्ग सूत्र २६० सुत्तागमे ३८१
६८. (क) आवश्यक चूर्णि पृ० २३१
(ख) आवश्यक मलय० वृत्ति २४९
६९. (क) आवश्यक चूर्णि पृ० २३१—२३२
(ख) आवश्यक मलयगिरि वृत्ति० २४९
(ग) उत्तर पुराण ११६ पृ० ४५१
७०. (क) आवश्यक चूर्णि पृ० २३२
(ख) आवश्यक मलय० प० २४९
(ग) त्रिषष्टि० १०।१।१०६
(घ) महावीर चरियं ३।११।४०
(ङ) उत्तर पुराण ७४।११७
(च) समवायाङ्ग सूत्र २६२ सुत्तागमे ३८१
७१. (क) आवश्यक मलय० वृत्ति २४९
(ख) आवश्यक चूर्णि २३२
(ग) त्रिषष्टि० १०।१।१०७
(क) समवायाङ्ग सूत्र २५७ सुत्तागमे पृ० ३८०
(ख) आवश्यक चूर्णि पृ० २३२
(ग) आवश्यक मलय० वृत्ति प० २५०।१
७३. (क) आवश्यक चूर्णि पृ० २३३
(ख) त्रिषष्टि० १०।१।१२२-१२३
७४. (क) आवश्यक चूर्णि पृ० २३३
(ख) त्रिषष्टि० १०।१।१३९—१४०
७५ (क) आवश्यक मलय० वृ० प० २५०।२
(ख) आवश्यक चूर्णि पृ० २३४
७६. (क) आवश्यक चूर्णि पृ० २३४
(ख) आवश्यक नियुक्ति मलय० वृ० २५०
(ग) उत्तर पुराण ७४।१६१से१६४ पृ० ४५४

७७. (क) महावीर चरियं, प्र० ३, प० ६२
(ख) तेषु गायत्सु चोत्तस्थौ, विष्णुरूचे च तात्पिकम् ।
त्वया विसृष्टाः किं नामी सोऽप्यूचे गीतलोभतः ॥ —त्रिषष्टि० १०।१।१७७

७८. महावीर चरियं ३; प० ६२

७९. तिवट्ठेणं वासुदेवे चउरासीइं वसिसय सहस्साइं सव्वाउयं पालइत्ता अप्पइट्ठाणे नरए नेरइत्ताए उववन्नो —समवायाङ्ग ८४ समवाय

८०. (क) आवश्यक चूर्णि २३५
(ख) आवश्यक मलय० वृत्ति २५१
(ग) त्रिषष्टि० १०।१।१८१
(घ) महावीर चरिय प्र० ३, प० ६२
(च) उत्तर पुराण ७४।१६७।४५४

८१. (क) आवश्यक चूर्णि २३५
(ख) आवश्यक मलय० २५१
(ग) त्रिषष्टि० १०।१।१८१—१८२

८२ (क) ताहे कतिवयाइं तिरयमणूसभवग्गहणाइं भमिउण.... । —आवश्यक चूर्णि पृ० २३५
(ख) चुलसोइमप्पइट्ठे सोहो नरएसु तिरअमणुएसु । —आवश्यक निर्युक्ति गा० ४४८
(ग) सोऽथ तिर्यङ्मनुष्यादि-भवान् बभ्राम भूरिशः ।
लब्ध्वा च मानुषं जन्म, शुभं कर्मैकदार्जयत् ॥ —त्रिषष्टि० १०।१।१८३
(घ) श्रमण भगवान् महावीर प० कल्याण विजय पृ० २५३
(च) कल्प सुबोधिका टीका पृ० १७१

८३. (क) नियमित चक्कवट्टी मुया विदेहाइ चुरसोइ । —आवश्यक निर्युक्ति गा० ४४८
(ख) आवश्यक मलयगिरि वृत्ति २५१
(ग) आवश्यक चूर्णि पृ० २३५
(घ) त्रिषष्टि० १०।१।१८४ से १८६

८४. नीत्या पालयतस्तस्य पृथिवी पृथिवीपते. ।
एकदा पोट्टिलाचार्य उद्याने समवासरत् ॥
धर्मं तदन्तिके श्रुत्वा राज्ये न्यस्य स्वमात्मजम् ।
स प्रवव्राज तेपे च वर्षकोटी तपः परम् ॥ —त्रिषष्टि० १०।१।२१४—२१५

८५. समवायाङ्ग सूत्र १३३ प० ९८।१

८६. समवायाङ्ग अभयदेव वृत्ति १३६ स० प० ९९

८७. (क) आवश्यक मलयगिरि वृत्ति
(ख) पुट्टिल परियाउ कोडि सव्वट्ठे । —आवश्यक निर्युक्ति गा० ४४९

(ग) समवायाङ्ग सू० १३३ प० ६८ | १

(घ) महावीर चरियं, ३।३।७१।१

८८. देवोऽभूदिति द्वितीयः —समवायाङ्ग, अभयदेव वृत्ति १३६ प० ६६

८९. प्रान्ते प्राप्य सहस्रारमभूत्सूर्यप्रभोऽमरः। —उत्तरपुराण ७४।२४१।४५६

९०. पुत्ता धणंजयस्सा पुट्टिल परियाउ कोटि सव्वट्ठे —आवश्यक निर्युक्ति गा० ४४६

९१. सत्तरसागरोवमट्ठितीतो आवश्यक चूर्णि० २३५

(ख) आवश्यक मलय० २५१

९२. आवश्यक निर्युक्ति गा० ४४६

(ख) आवश्यक चूर्णि० पृ० २३५

(ग) त्रिषष्टि १०।१।२१७

(घ) आवश्यक मलय० २५१

(क) ततो नन्दनाभिधानो राजसूनुः छत्राग्रनगर्यां जज्ञे इति

—समवायाङ्ग अभयदेववृत्ति १३६ स० प० ६६

(ख) आवश्यक मलय० वृ० २५२।१

९३. (क) पणवीसाउं सयसहस्सा — आवश्यक निर्युक्ति गा० ४४६

(ख) आवश्यक मल० वृ० प० २५२

९४. आवश्यक चूर्णि० २३५

९५. (क) आवश्यक निर्युक्ति गा० ४५०

(ख) आवश्यक चूर्णि प० २३५

(ग) आवश्यक मलय वृ० प० २५२

(घ) समवायाङ्ग अभय० १३६ स० प० ६६

९६ (क) आवश्यक चूर्णि २३५

(ख) आवश्यक मलयगिरिवृत्ति प० २५२

९७. (क) आवश्यक निर्युक्ति गा० ४५०

(ख) आवश्यक चूर्णि पृ० २३५

(ग) समवायाङ्ग अभयदेव वृ० १३६ स० प० ६६

९८. ततो ब्राह्मणकुण्डग्रामे ऋषभदत्तब्राह्मणस्य भार्याया देवानन्दाभिधानाया. कुक्षावुत्पन्न इति पञ्चमः

—समवायाङ्ग अ० १३६ प० १२

(ख) माहणकुंडग्गामे कोडालसगुत्तमाहणो अत्थि।
तस्य घरे उववन्नो, देवाणंदाइ कुच्छिसि ॥ —आवश्यक निर्युक्ति गा० ४५७

९९. "चइस्सामि" त्ति यतस्तीर्थंकर सुराः पर्यन्तसमये अधिकतरं कान्तिमन्तो भवन्ति विशिष्टतीर्थंकरत्वलाभात् शेषाणां तु षण्मासावशेषे काले कान्त्यादिहानिर्भवति, उक्त :—

माल्यम्लानिः कल्पवृक्षप्रकम्प. । श्री हीनाशो वाससा चोपरागः।
दैन्यं तन्द्रा कामरागोङ्गभङ्गो,। दृष्टि भ्रान्तिर्वेपथुश्चारतिश्च ॥१॥ इति

—कल्पसूत्र टिप्पण, आचार्य पृथ्वीचन्द्र सू० ३ पृ० १

१००. (क) चयमाणे ण जाणति, जनो एगसमइतो उवओगो णत्थि ॥

—कल्पसूत्र चूर्णि, सू० ३ पृ० १०२

(ग) "चयमाणे न जाणइ" त्ति एक सामयिकत्वात् च्यवनस्य, "एग सामाइओ नत्थि उवओगो" त्ति, आचाराङ्गवृत्तै यथा—"आन्तमौहूर्तिकत्वाच्छाद्मस्थिकज्ञानोपयोगस्य च्यवनकालस्य च सूक्ष्मत्वादिति ॥" (श्रुत० ३, चू० पत्र ४२५)

—कल्पसूत्र टिप्पन आ० पृथ्वी० सू० ३ पृ० १—२

१०१. चुए मि त्ति जाणइ, तिनाणोवगओ होत्था जम्हा। —कल्पसूत्र पृथ्वीचन्द्र टिप्पन, सूत्र ३ पृ० २

१०२ कल्पसूत्र पृथ्वीचन्द्र टिप्पन सू० ४ पृ० २

१०३. कल्पसूत्र चूर्णी, सूत्र ४ पृ० १०३

१०४ छत्र तामरस धनूरथवरो दम्भोलिकूर्मांकुशा ।
वापी स्वस्तिकतोरणानि च शर पञ्चानन पादप ॥
चक्र शंखगजौ समुद्रकलशौ प्रासादमत्स्यौ यवा ॥
यूपस्तूपकमण्डलून्यवनिभृत्सच्चामरो दर्पण. ॥ १५६॥

.. ..वृषभ पताका कमलाभिषेक. सुदामकेकी धनपुण्यभाजाम्।

—कल्पसुबोधिका व्या० १ उद्धृत, गुजराती अनुवाद पृ० ८२ साराभाई नबाब

१०५ यजुर्वेद (३१-१) मे इन्द्र को 'सहस्रशीर्षा पुरुष. सहस्राक्ष' सहस्रपात्' अर्थात् हजार मस्तक वाला, हजार आँख और हजार चरण वाला पुरुष माना है। वहाँ पर इन्द्र एक भगवान के रूप मे पूजा गया है, और प्रत्येक सिद्धि के लिए इन्द्र से प्रार्थना की गई है।

१०६ कल्पसूत्र चूर्णि सू० १३ पृ० १०२

१०७ त्रायस्त्रिंशक—इन्द्र के पूज्य स्थानीय त्रायस्त्रिंशक जाति के देवता।

—अर्धमागधी कोष (रत्नचन्द्रजी) भा० ३ पृ० ३९

१०८ विस्तृत व्याख्या व परिभाषा के लिए देखिये कल्पसूत्र पर आचार्य पृथ्वीचन्द्र कृत टिप्पन सू० १४

१०८B संगीत और वाद्य यन्त्रो के सम्बन्ध मे परिशिष्ट ५ मे देखे।

१०९. आभूषणो के विशेषार्थ के लिए देखे—कल्पसूत्र, पृथ्वीचन्द्र टिप्पण सू० १५

११०. (क) कल्पसूत्र आ० पृथ्वीचन्द्र टिप्पण सू० १७

(ख) उग्गा भोगा रायण्ण खत्तिया संगहो भवे चउहा।
आरक्खगुरुवयंसा सेसा जे खत्तिया ते उ ॥ —आवश्यक निर्युक्ति० गा० १९८

(ग) आवश्यक चूर्णि पृ० १५४

(घ) त्रिषष्टि० १।२।९७४ से ९७६

१११. (क) देसूणगं च वरिस सक्कागमण च वसठवणा य। —आवश्यक निर्युक्ति गा० १८५

(ख) इतो य णाभिकुलगरो उसभसामिणो अकवरगतेण एव च विहरति। सक्को य महप्पमाणाओ इक्खुलट्ठीओ गहाय उवगतो जयावेइ। —आवश्यक चूर्णि, १५२

११२. (क) आवश्यक चूर्णि पृ० १५२, (ख) आव० नि० गा० १८६

११३. कल्पसूत्र आचार्य पृथ्वीचन्द्र टिप्पण सू० १७

११४. (क) स्थानाङ्ग, अभयदेव वृत्ति पृ० ४६३
(ख) प्रवचन सारोद्धार, सटीक उत्तर भाग

११५ उवसग्गगब्भहरणं इत्थीतित्थं अभाविया परिसा।
कण्हस्सअवरकंका, उत्तरणं चन्दसूराणं ॥
हरिवंसकुलुप्पत्ती, चमरुप्पाओ य अट्ठसया सिद्धा।
अस्संजएसु पूया, दस वि अणंतेण कालेणं ॥ —स्थानाङ्ग सू० ७७७

११६. प्रवचन सारोद्धार, सटीक उत्तरभाग

११७. उपदेश माला—दो घट्टी टीका पत्र २८३

११८ भगवती; शतक १५, पृ० २६४

११९. (क) समवायाङ्ग ३४ वा समवाय
(ख) योगशास्त्र, हेमचन्द्राचार्य पृ० १३०
(ग) अभिधान चिन्तामणि १।५६—६३

१२०. वासीतीहिं राइंदिएहिं वइक्कंतेहिं तेसीतिमस्स राइंदियस्स परियाए वट्टमाणे दाहिणमाहणकुण्ड-पुरपुरसन्निवेसाओ........देवाणंदाए माहणीए जालंधरायणस्स गुत्ताए कुच्छिसि गब्भं साहरइ।
—आचाराङ्ग द्वि० श्रु० प० ३८८-१-२

१२१. समवायाङ्ग ८३ - पत्र ८३ । २

१२२. स्थानाङ्ग सू० ४११ स्था० ५ प० ३०७

१२३. आवश्यक निर्युक्ति पृ० ८०—८३

१२४. गोयमा ! देवाणंदा माहणी मम अम्मगा। —भगवती, शतक ५, उद्दे० ३३ पृ० २५६

१२५. गर्भे प्रणीते देवक्या रोहिणी योगनिद्रया।
अहो विस्रंसितो गर्भ इति पौरा विचक्रुशुः ॥ १५ ॥
—श्रीमद्भागवत, स्कंध १० पृ० १२२—१२३

१२६. महात्माबुद्ध का भी यह मन्तव्य है कि स्त्री अर्हत् व चक्रवर्ती नहीं बनती।
—अंगुत्तर निकाय १।१५।१२—१३

१२७. दिगम्बर परम्परा में मल्लि को पुरुष मानते है, देखिए—महापुराण

१२८. "सत्तरियसयठाणा" नामक श्वेताम्बर ग्रन्थ में उनका नाम 'श्रमण' दिया है। दिगम्बर "वैश्रमण" मानते हैं। ज्ञातृ धर्म कथा में 'महाबल' नाम आया है।

१२९. इमेहियाणं विसाहिय-कारणेहिं आसेविय बहुलीकएहिं तित्थियर-णाम-गोय-कम्मं निव्वंतेसु, तं जहा—
अरहंतसिद्धपवयण गुरुथेर बहुस्सुए तवस्सीसुं।
वच्छल्लया य एसिं अभिक्खनाणोवयोगे य ॥

दंसणविणए आवस्सए य सीलव्वए निरइयारो।
खणलवतवच्चियाए वेयावच्चे समाही य ।।
अप्पुव्वनाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पहावणया ।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवा ।। —ज्ञातृ धर्म कथाङ्ग, सूत्र १।८

१३०. उग्गतवसंजम च ओ, पगिट्ठफलसाहगस्सवि जियस्म।
धम्मविसए वि सुहुमावि होइ माया अणत्थाय ।।
जह मल्लिस्स महाबलभवम्मि, तित्थयर नाम बंधेऽवि।
तवविसय थोवमाया, जाया जुवइत्त हेउ त्ति ।। — ज्ञातृधर्म कथाङ्ग १।१६

१३१. देखिए ज्ञातृ धर्म कथाङ्ग १।८

१३२. (क) महावीर चरियं, गुणचन्द्र गा० ५ प० २५१।१
(ख) महावीर चरियं, नेमिचन्द्र गा० ८६ पत्र ५६
(ग) न सर्वविरतेरर्हं कोऽप्यत्रेति विदन्नपि ।
कल्प इत्यकरोत्तत्र निषण्णो देशना विभु ।। —त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र १०।५।१०।६४

१३३ आवश्यक निर्युक्ति गा० २८७, पृ० २०६

१३४. दिगम्बर मान्यतानुसार भगवान् महावीर ने केवलज्ञान होते ही उपदेश नही दिया। छियासठ दिन के पश्चात् श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को जब इन्द्रभूति गोतम उन्हे गणधर के रूप मे प्राप्त हुए तब प्रथम दिव्योपदेश दिया। धवल सिद्धान्त और तिलोयपण्णत्ति मे प्रस्तुत तिथि को धर्म-तीर्थोत्पत्ति तिथि माना है। अवसर्पिणी के चतुर्थकाल के अन्तिम भाग मे तेंतीस वर्ष आठ माह और पन्द्रह दिन शेष रहने पर वर्ष के श्रावण नामक प्रथम महीने मे कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन अभिजित् नक्षत्र के उदित रहने पर धर्म तीर्थ की उत्पत्ति हुई :—

वासस्स पढममासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले।
पाडिवदपुव्वदिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजम्हि ।। —धवला टीका, प्रथमभाग पृ० ६३

१३५. ज्ञातासूत्र श्रुत० १ अ० १६

१३६ (क) कोसंबि चंदसूरोयरणं । —आवश्यक निर्युक्ति गा० ५१६—२६४
(ख) त्रिषष्टि० १०।८।३३७—३५३ प० ११०—१११

१३७ साहावियाइं पच्चक्ख दिस्समाणाणि आरुहेउण ।
ओयरिया भत्तोए वंदणवडियाए ससिसूरा ।। ९ ।।
तेसिं विमाणनिम्मल मऊह निवहप्पयासिए गयणे ।
जायं निसिंपि लोगो अवियाणंतो सुणइ धम्मं ।।१०।।
नवरं नाउ समयं चंदणबाला पवत्तिणी नमिउं ।
सामिं समणीहिं समं निययावासं गया सहसा ।।११।।
सा पुण मिगावई जिणकहाए वक्खित्तमाणसा धणियं ।
एगागिणी चिय ठिया विणंति काऊण ओसरणे ।।१२।।
—महावीर चरियं (गुणचन्द्र) प्रस्ताव ८—पत्र २७५

१३८. वीरओ वि कालगतो सोहम्मे कप्पे तिपलिओवमट्ठिनी किब्बिसिओ देवो जातो।

—वसुदेव हिण्डी पृ० ३५७

१३९. कुणति य से दिव्वप्पभावेण धणुसम उच्चत्तं। —वसुदेव हिण्डी पृ० ३५७

१४०. (क) भगवती शतक ३. उद्दे-३ पृ० १९७

(ख) महावीर चरियं, गुणचन्द्र, ७ वां प्रस्ताव पृ० २३४ से २४०

१४१. रिसहो रिसहस्स सुया, भरहेण विवज्जिया नव नवई।
अट्ठेव भरहस्स सुया, सिद्धिगया एक समयम्मि ॥

१४२ उक्कोसोगाहणाए य, सिज्झन्ते जुगवं दुवे।
चत्तारि जहन्नाए, मज्झे अट्ठुत्तरसयं ॥

—उत्तराध्ययन अ० ३६ गा० ५३

१४३. (क) अट्ठावयम्मि सेले चउदसभत्तेण सो महरिसीण।
दसहि सहस्सेहि सम निव्वाणमणुत्तरं पत्तो ॥ —आवश्यक निर्युक्ति गा० ४३४

(ख) आद्य सहस्र र्दशभि.। —लोक प्रकाश सर्ग ३२, श्लोक ३८

१४४. बत्तीसा अडयाला सट्ठी बावत्तरी य बोद्धव्वा।
चुलसीइ छन्नउइ उ दुरहियमट्ठुत्तर सय च ॥ —पन्नवणा पद १, जीवप्रज्ञापना प्रकरण

१४५. स्थानाङ्ग सूत्र पृ० ५२४

१४६. (क) रिसह अट्ठहियसयसिद्धं, सियलजिणम्मि हरिवंसो।
नेमिजिणे अपरकका-गमणं कण्हस्स सपन्न ॥१॥
इत्थितित्थ मल्ली पूआ-असजयाणनवमजिणे।
अवसेसा अच्छेरा वीर जिणंदस्सतित्थम्मि ॥२॥
सिरि रिसह सियलेसु एक्केक मल्लि नमि नाहेण।
वीरजिणदे पचओ, एगं सव्वेसु पाएणं ॥३॥

—कल्पसूत्र कल्पद्रुम कलिका, टीका मे उद्धृत पृ० ३३

१४७. हरिणैगमेषी—शब्द एक अति प्राचीन शब्द है। ऋग्वेद के खिल्यसूत्र मे एव महाभारत के आदिपर्व (४५०।३७) मे 'नैगमेष' शब्द आता है। जो एक विशेष देव का वाचक है। बौद्ध साहित्य मे (बुद्धिष्ट हाइब्रिड संस्कृत ग्रामर एंड डिक्शनरी खड २ पृ० ३१२) मे भी यह शब्द आया है और उसे एक यक्ष बताया है। जैन साहित्य मे आचार्यों ने इसकी व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है—"**हरिणैगमेसिति**"—**हरेरिन्द्रस्य नैगमेषी आदेश प्रतिच्छक इति**'—(कल्पसूत्र, सन्देह विषौषधि टीका, पत्र ३१) इन्द्र का आदेश—आज्ञापालक हरिणैगमेषी है। यही व्युत्पत्ति राजेन्द्रकोषकार ने मान्य की है—**हरेरिन्द्रस्य नैगममादेशमिच्छतीति हरिनैगमेषी** (अभि० राजेन्द्र ७।११८७) इसी दृष्टि को लेकर कल्पसूत्र के बंगला अनुवादक श्री वसंत कुमार चट्टोपाध्याय ने '**हरि—नैमेगषी**' शब्द मे विग्रह किया है। तात्पर्य यह है कि हरिनैगमेषी देव, देवराज इन्द्र का एक विशेष कार्य दक्षदूत '**हरिणगमेसी सक्कदूए**' (भग० ५।४) आज्ञापालक है। जो उसकी पदातिसेना का नायक भी है।

१४८. देखो कल्पसूत्र पृथ्वीचन्द्र टिप्पण सू० २७

१४९ प्रस्तुत सूत्र का आचाराग के निम्न सूत्र से मेल नही बैठता है—

"साहरिज्जिस्सामि त्ति जाणइ, साहरिज्जमाणे वि जाणइ साहरिएमित्ति जाणइ समणाउसो।

—आचाराग द्वितीय श्रुतस्कध भावना अ० सू० ९९४

आचार्यआत्माराम जी म० द्वि० भा० पृ० १३५३—५

हमारी दृष्टि से भी आचाराग का पाठ ही अधिक तर्क-संगत और आगम-सिद्ध है। क्योंकि संहरण मे असख्यात समय लगते है अत. अवधिज्ञानी उसे जान सकता है। प्रस्तुत सूत्र में यह भूल कब और कैसे हुई, यह विद्वानो के लिए अन्वेषण का विषय है। आचार्य पृथ्वीचन्द्र ने 'तिन्नाणोवगए साहरिज्जिस्सामि इत्यादि च्यवनवद् ज्ञेयम्" लिखा है, पर च्यवन में और संहरण मे बहुत अन्तर है, च्यवन स्वत होता है और सहरण पर-कृत। च्यवन एक समय मे हो सकता है, किन्तु संहरण मे असख्यात समय लगते है। —सम्पादक

१५०. कल्पसूत्र पृथ्वीचन्द्रटिप्पण सू० ३३

१५१. ऐसा माना जाता है कि प्रथम तीर्थंकर की माता मरुदेवी को सर्व प्रथम वृषभ का स्वप्न आया और भगवान श्री महावीर की माता को सिह का स्वप्न आया था, और शेष बावीस तीर्थंकरो की माता को प्रथम हाथी का स्वप्न आया था। सभव है यहाँ पर बहुल पाठ से ही इस प्रकार उल्लेख किया है। पाठ मे सिह का स्वप्न तीसरे क्रम पर है। —सम्पादक

१५२ यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि जो तीर्थंकर देवलोक से च्यवकर आते है उनकी माता स्वप्न मे विमान को देखती है, और जो तीर्थंकर नरक से आते है उनकी माता स्वप्न मे भवन को देखती है- "**देव लोकाद्योऽवतरति तन्माता विमान पश्यति यस्तु नरकात् तन्ममाताभवनमिति**" —भगवती शतक ११ उद्दे० ११ अभयदेव वृत्ति

१५३. 'हयमट्ठ सोच्चा हट्ठतुट्ठ" हृष्ट तुष्टः अत्यन्तं हृष्टं वा तुष्ट वा विस्मितं चित्तं यस्य सः आनन्दित —ईषन्मुखसौम्यतादिभावै. समृद्धिमुपगत.। ततश्च 'नंदिये' त्ति नन्दितस्तैरेव समृद्धतरतामुपगत· 'पीइमणे' प्रीति—प्रीणनं मनसि यस्य सः 'परमसोमणसिए' परमं सौमनस्यं—सुमनस्कतासजात मनो यस्य स· "धाराहय" धाराहतनीप —कदम्ब· सुरभिकुसुममिव "चंचुमालइए" त्ति पुलकिता तनु शरीरं यस्य स तथा। किमुक्त भवति ? 'ऊसवियरोम' उच्छ्वसितानि रोमाणि कूपेषुतद्रन्ध्रेषु यस्य सः तथा, 'मइपुव्वेणं' आभिनिबोधिकप्रभवेन 'बुद्धिविन्नाणेण' बुद्धिः प्रत्यक्षदर्शिका। —कल्प० पृथ्वी चन्द्र टिप्पण सू० ५३

१५४ आरोग्य—नीरोगता, तुष्टि —हृदयतोष', दीर्घायुः—आयुषो वृद्धिः, कल्याणानि—अर्थप्राप्तय· मङ्गलानि—अनर्थप्रतिघाता·। —कल्पसूत्र टि० सू० ५३

१५५. तथा 'लक्खण वजण' त्ति लक्षणानि-स्वस्तिकादीनि व्यञ्जनानि मषतिलकादीनि तेषा यो गुणः प्रशस्तता तेनोपेत -युक्तो य स तथा तम्। अथवा सहजं लक्षणम्, पश्चाद्भवं व्यञ्जनमिति, गुणा सौभाग्यादय·—लक्षणव्यञ्जनाना वा ये गुणा स्तैरुपेत—युक्त यं तम्।

लक्षण का अभिप्राय है शरीर पर अंकित छत्र, चामर, स्वस्तिक आदि चिन्ह। तीर्थंकर और चक्रवर्ती के शरीर पर १००८ शुभ लक्षण होते है, वासुदेव बलदेव के १०८ तथा अन्य पुरुषो के शरीर पर ३२ लक्षण होते है।

१५६. 'मनोन्मान' तत्र मानं—जलद्रोणमानता, जलभृतकुण्डिकायां हि मातव्यः पुरुषः प्रवेश्यते, तत्प्रवेशे च यज्जलं ततो निःसरति तद् यदि द्रोणमानं भवति तदाऽसौ मानोपेत उच्यते। उन्मानं तु अर्द्ध-भारमानता, मातव्यपुरुषो हि तुलारोपितो यद्यर्द्धभारमानो भवति तदा उन्मानोपेतो ऽ साबुच्यते। प्रमाणं पुनः स्वाङ्गुलेनाष्टोत्तरशताङ्गुलोच्छ्रयता। —कल्पसूत्र, पृथ्वीचन्द टिप्पण सू० ५३

१५७. सतं वाराओ पक्कं जं तं सतपाग, सतेणं (वा) काहावणाणं।

कल्पसूत्र चूर्णि सू० ६१

१५८. 'पम्हलसुकुमालाए' पक्ष्मवत्यासुकुमालया चेत्यर्थ. 'गंधकासाइय' गंधप्रधानया कषायरक्तशा टिकयेत्यर्थः —कल्पसूत्र टिप्पण सू० ६२

१५९. कल्पसूत्र पृथ्वीचन्द्र टिप्पण सू० ६२

१६०. 'कयकोउय' कृतानि कौतुकमङ्गलान्येव प्रायश्चित्तानि दु.स्वप्नादि विघातार्थमवश्यकरणीयत्वाद् यैस्ते तथा।'' पादेन वा छुप्ताः—चक्षुर्दोषपरिहारार्थं पादच्छुप्ता कृतकौतुकमङ्गलाश्च ते पादच्छुप्ताश्चेति विग्रह। तत्र कौतुकानि मषीतिलकादीनि, मङ्गलानि तु सिद्धार्थकदध्यक्षत दूर्वाङ्कुरादीनि। —कल्प सूत्र, पृथ्वी० टि० मू० ६६

१६१. अनुभूत श्रुतोदृष्टः, प्रकृतेश्च विकारज.।
स्वभावत समुद्भूतश्चिन्तासन्ततिसम्भव ॥
देवताद्युपदेशोत्थो, धर्म-कर्म-प्रभावज।
पापोद्रेकसमुत्थश्च, स्वप्न स्यान्नवधा नृणाम् ॥
प्रकारैरादिमैः षड्भिग्शुभश्च शुभोऽपि वा।
दृष्टो निरर्थक स्वप्न., सत्यस्तु त्रिभिरुत्तरैः॥ —कल्पसूत्र सुबोधिका टीका मे उद्धृत

१६२, रात्रेश्चतुर्षु यामेषु, दृष्ट स्वप्न फलप्रद.।
मासैर्द्वादशभिः षड्भिस्त्रिभिरेकेन च क्रमात् ॥
निशाऽन्त्यघटिकायुग्मे, दशाह त्फलति ध्रुवम्।
दृष्ट सूर्योदये स्वप्न., सद्य. फलति निश्चितम् ॥ —कल्पसूत्र सुबोधिका टीका मे उद्धृत

१६३. मालास्वप्नो ऽह्नि दृष्टश्च, तथा ऽऽधिव्याधिसम्भव।
मल-मूत्रादिपीडोत्थ स्वप्न सर्वं निरर्थकः ॥
धर्मरतः समधातुर्य स्थिरचित्तो जितेन्द्रियः सदयः।
प्रायस्तस्य प्रार्थितमर्थं स्वप्नः प्रसाधयति ॥
स्वप्नमनिष्टं दृष्ट्वा सुप्यात्पुनरपि निशामवाप्यापि।
नामं कथ्य. कथमपि केषांचित् फलति न स यस्मात् ॥
न श्राव्यः कुस्वप्नो गुर्वादिस्तदितरः पुनः श्राव्य.।
योग्यश्राव्याभावे गांरपि कर्णे प्रविश्य वदेत् ॥
इष्टं दृष्ट्वा स्वप्नं न सुप्यते नाप्यते फलं तस्य।
नेया निशाऽपि सुधिया जिनराजस्तवनसंस्तवत.॥
पूर्वमनिष्टं दृष्ट्वा स्वप्नं यः प्रेक्षते शुभं पश्चात्।
स तु फलदस्तस्य भवेद् द्रष्टव्यं तद्वदिष्टेऽपि ॥

स्वप्ने मानवमृगपतितुरङ्गमातङ्गवृषभसिंहोभिः ।
युक्तं रथमारूढो यो गच्छति भूपतिः स भवेत् ॥

—कल्पसूत्र सुबोधिका में उद्धृत श्लोक

१६४. भगवती सूत्र की टीका (शतक १६ उ० ६ सू० ५८१) में ४७ स्वप्न (सामान्य फल वाले) गिनाये गये है । १४ महास्वप्न तीर्थंकर की माता देखती है और १० स्वप्न भगवान महावीर ने छद्मस्थ काल में शूलपाणियक्ष के मन्दिर में देखे.—इस प्रकार ७१ स्वप्न होते हैं। तीर्थंकर की माता विमान अथवा भवन देखती है एक ओर बढ़ जाने से ७२ स्वप्न गिनाये गए हैं। भगवती टीका में ४७ स्वप्न निम्न प्रकार है—

१ हय पंक्ति	१३ लोहित सूत्र	२५ कट्ठराशि	३७ दधिकुम्भ
२ गज पंक्ति	१४ हरिद्रसूत्र	२६ पत्रराशि	३८ घृतकुम्भ
३ नर पंक्ति	१५ शुक्लसूत्र	२७ तपाराशि	३९ मधुकुम्भ
४ किन्नर पक्ति	१६ अयराशि	२८ भुसराशि	४० सुरावियड कुंभ
५ किंपुरुष पंक्ति	१७ तम्बराशि	२९ तुसराशि	४१ सोवीरवियड कुंभ
६ महोरग पक्ति	१८ तउयराशि	३० गोमयराशि	४२ तेलय कुंभ
७ गंधर्व पंक्ति	१९ सीसगराशि	३१ अवकर राशि	४३ वसाकुंभ
८ वृषभ पक्ति	२० हिरण्यराशि	३२ शरस्तम्भ	४४ पद्म सरोवर
९ दामिनी	२१ सुवर्णराशि	३३ वीरिणस्तम्भ	४५ सागर
१० रज्जु	२२ रत्नराशि	३४ वशीमूलस्तम्भ	४६ भवन
११ कृष्ण सूत्र	२३ वज्रराशि	३५ वल भीमूलस्तम्भ	४७ विमान
१२ नील सूत्र	२४ तृणराशि	३६ क्षीरकुंभ	

१६५ प्रीतिदान का भावात्मक अर्थ है—दाता प्रसन्न होकर अपनी इच्छा से जो दान देता है। जिस दान मे अर्थी की ओर से याचना किंवा प्रस्ताव रखा जाता है और उस पर मन नही होते हुए भी दाता को देना पडता है वह प्रीतिदान नही हैं।
प्रीतिदान का व्यावहारिक अर्थ है—इनाम या पुरस्कार, पारितोषिक ।

—देखिये, अर्धमागधी कोष ३।५८९

१६६. तिहि नाणेहि सम्मग्गो, देवितिसलाए सो य कुच्छिसि ।
अह वसइ सन्निगब्भो, छम्मासे अद्धमासं च ।''
अह सत्तमम्मि मासे गब्भत्थो चेवऽभिग्गहं गेण्हे ।
नाहं समणो होहं, अम्मापियरंमि जीवंते ''

—आवश्यक भाष्य, गा० ५८—५९

१६७. वर्षासु लवणममृतं, शरदि जलं गोपयश्च हेमन्ते ।
शिशिरे चामलकरसो, घृतं वसन्ते गुडश्चान्ते ॥ —कल्पार्थ बोधिनी टीका में उद्धृत—पृ० ८४।१
वातलैश्च भवेद्गर्भः कुब्जान्धजडवामनः ।
पित्तलैः खलतिः पिङ्गः, श्वित्री पाण्डुः कफात्मभिः । —वाग्भट्ट, अष्टांग हृदय, शारीर स्थान १।४८

अत्युष्णं हरति बलं, ह्यतिशीत मारुतं प्रकोपयति।
अतिलवणमचाक्षुष्य—मतिस्नेहं दुर्जरं भवति॥

१६८. दु चउत्थ नवम बारस-तेरस पन्नरस सेस गब्भट्ठिई।
मासा अड-नव तदुवरि उसहाउ कमेणिमे दिवसा
१ २ ३ ४ ५ ६ ७
चउ पणवीसं छहिण, अडवीसं छच्च छ च्चिगुणवीसं।
८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५
सग छव्वीस छच्छ य, वीसिगवीस छ छव्वीसं।
१६ १७ १८ १९ २०
छप्पण अडसत्तट्ठयं
२१ २२ २३ २४
अडडट्ठय छ सत्त होंति गब्भदिणा।' —सप्ततिस्थानक आचार्य सोमतिलक
तिहिं उच्चेहिं नरिंदो, पंचहिं तह होइ अद्धचक्की य।
छहिं होइ चक्कवट्टी सत्तहिं तित्थकरो होइ॥

१६९. तिहिठाणेहिं लोगुज्जोएसिया, तं जहा अरहतेहिं जायमाणेहिं, अरहतेसु पव्वयमाणेसु, अरहताण णाणुप्पायमहिमासु। —स्थानांग ३

१७०. बीस भवनपति निकाय के इन्द्र, बत्तीस बाणव्यन्तर निकाय के ईन्द्र, दो ज्योतिष्क निकाय के ईन्द्र और दस वैमानिक निकाय के इन्द्र—इस प्रकार ६४ इन्द्र होते है।

१७१. (क) पदागुष्ठेन यो मेरुमनायासेन कंपयन्।
लेभे नाम महावीर इति नाकालयाधिपात्
—रविषेणाचार्य कृत, पद्मचरित्र पर्व २, श्लो० १६ पृ० १५

(ख) वामम (य) पायगुट्ठय कोडीए तो सलीलमह गुरुणा।
तह चालिओ गिरीसो जाओ जह तिहुयणक्खोहो॥
चउप्पन्नमहापुरिसचरियं, आचार्य शीलाङ्क,
प्र० प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी ५, पृ० २७१

(ग) आकम्पिओ य जेणं, मेरू अङ्गुट्ठएण लीलाए।
तेणेह महावीरो, नामं सि कयं सुरिन्देहिं।
—पउमचरिय, विमलसूरि, २।२६ प्राकृत ग्रन्थ परिषद् वाराणसी ५ पृ० ६०

१७२. णगरगुत्तिय—नगर का रक्षक। —अर्धमागधी कोष भा० २।६०६

१७३. (क) आवश्यक सूत्र मलयगिरिवृत्ति प० २५८
(ख) उत्तरपुराण पर्व ७४ श्लो० २९०
(ग) आवश्यक चूर्णि, भाग १, पत्र २४६

१७४. (क) त्रिषष्टि० १०।२।१०४-५-६
(ख) आवश्यक भाष्य, गा० ७२।७३। प० २५८
(ग) उत्तर पुराण, पर्व ७४, श्लो० २८८

१७५ (क) आवश्यक मल० प० २५८
(ख) त्रिषष्टि० प० १०।२।११२—११३—११६—११७
(ग) आवश्यक भाष्य गा० ७५, प० २५८

१७६. उत्तरपुराण ७४।२९५

१७७. त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र १०।२।१२२

१७८. (क) आवश्यक भाष्य गा० ७६—७७
(ख) त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र १०।२।१२९—१४९

१७९. (क) आवश्यक भाष्य गा० ७९—८०
(ख) आचारांग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध भावनाधिकार सू० ४०० पृ० ३८९
(ग) आवश्यक निर्युक्ति पृष्ठ ८५
(घ) आवश्यक हारिभद्रीया टीका १८२-२
(च) आवश्यक मलयगिरिवृत्ति पत्र २५९-२
(छ) महावीर चरियं, नेमिचन्द्राचार्य पत्र ३४—१
(ज) महावीर चरियं, गुणचन्द्र पत्र १३२
(झ) त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, पर्व १० सर्ग २ श्लो० १५१—१५४

१८०. (क) विशेषावश्यक भाष्य सटीक पत्र ६३५
(ख) आवश्यक हारि० पत्र ३१२।२

१८१. (क) पद्मपुराण २०।६७
(ख) हरिवंश पुराण ६०।२१४ भा० २

१८२. (क) कुमारो युवराजेऽश्ववाहके —शब्द रत्न समन्वय कोष पृ० २६८
(ख) अमरकोष, काण्ड १ नाट्यवर्ग श्लोक १२

१८३. आप्टेकृत संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी पृ० ३६३

१८४. आवश्यक निर्युक्ति पृ० ३६ गा० २२२

१८५. आवश्यक निर्युक्ति, हारिभद्रीय टीका पत्र १८३।१

१८६. (क) कल्पसूत्र सू०११०
(ख) त्रिषष्टि १०।२।१५६—से १६३

१८७. (क) मा क्षारं क्षते निक्षिप, कियन्तमपि कालं प्रतीक्षस्व —आवश्यक मलयगिरिवृत्ति २६०
(ख) त्रिषष्टि० १०।२।१६४-१६५

१८८. (क) आचारांग, प्रथम अध्य० ९ गा० ११
(ख) आवश्यक मलयगिरिवृत्ति प० २६०।१
(ग) त्रिषष्टि १०।२।१६७

१८९. (क) प्राचीन समय में स्वर्ण एक सिक्का विशेष था, जिसका मान ८० गुंजा प्रमाण अथवा १६ कर्ममाष (मासा) प्रमाण था। —अनुयोगद्वार टीका, पत्र १५६।१

(ग) कौटिलीय अर्थशास्त्र २।३७—पृ० १०३
(घ) मनुस्मृति ८।१३५ भट्टमेधातिथि का भाष्य पृ० ६१८

१६०. आवश्यक मलयगिरिवृत्ति, पत्र २६१

१६१. (क) आवश्यक भाष्य गा० १०६ प० २६५
(ख) आवश्यक मलयगिरिवृत्ति, प० २६५
(ग) मलिना : कुटिला मुग्धैः पूज्यास्त्याज्या मुमुक्षुभिः।
केशाः क्लेशसमास्तेन यूना मूलात्समुद्धृताः — उत्तर पुराण, पर्व ७४ श्लोक ३०७

१६२. काऊण नमोक्कारं, सिद्धाणमभिग्गहं तु सो गिण्हे।
सव्व मेऽकरणिज्जं, पावंति चरित्तमारूढो ॥ —आवश्यक भाष्य गा० १०६

१६३. (क) तिहिं नाणेहिं समग्गा, तित्थयरा जाव होंति गिहवासो।
पडिवन्नंमि चरित्ते, चउनाणी जाव छउमत्था ॥ —आवश्यक भाष्य गा० ११०
(ख) उत्तरपुराण, प० ७४ श्लोक ३१२ पृ० ४६४

१६४. बारस वासाइं वोसट्ठकाए चियत्तदेहे जे केइ उपसग्गा समुप्पज्जंति तं जहा-दिव्वा व माणुस्सा वा तेरिच्छिया वा—ते सव्वे उवसग्गे समुप्पन्ने समाणे सम्मं सहिस्सामि खमिस्सामि अहियासइस्सामि। —आचारांग श्रुत २ अ० २३ प० ३६१।२

१६५. एक्को भगवं वीरो पासो मल्लि यतिहिं तिहि सएहिं।
भगवंपि वासुपुज्जो छहिं पुरिससएहिं णिक्खतो ॥
उग्गाणं भोगाणं राइण्णाणं य खत्तियाणं य।
चउहिं सहस्सेहिं उसभा सेसा उ सहस्स परिवारा ॥ —समवायांग, पृ० १०६१ (घासी०)

१६६. संवच्छरं साहिय मास, जं ण रिक्कासि वत्थं भगवं।
अचेलए तओ चाइ, त वोसिरिज्ज वत्थमणगारे ॥ —आचारांग १।६।१।४

१६७. (क) आवश्यक मलयगिरिवृत्ति।
(ख) महावीर चरियं, गुणचन्द्र प्र० ४ पृ० १४२।१
(ग) त्रिषष्टि० १०।३।२

१६८ (क) महावीर चरियं गुण० प्र० ५ गा० ४ पृ० १४३
(ख) त्रिषष्टि० १०।३।३

१६९. आवश्यक मलयगिरिवृत्ति प० २६६
(ख) महावीर चरियं गुणचन्द्र प्र० ५ प० १४३।१
(ग) त्रिषष्टि० १०।३।६

२००. (क) महावीर चरियं गुण० १४३।२।१४४।१
(ख) त्रिषष्टि १०।३।८
(ग) महावीर चरिय प० १४४।१

२०१. (क) ताहे सामिणा तस्स देवदूसस्स अद्धं दिन्नं। —आव० मल० प० २६६

(ख) देवाणुप्पिया ! परिचत्तसयलसंगो हं संपयं, तुमं च दारिद्दोवद्दुओ ।
ता इमस्स मज्झऽसावसत्तवासस्स अद्ध घेत्तूण गच्छसु त्ति ॥
—चउप्पन्नमहापुरिसचरियं, पृ० २७३, आचार्यशीलांक

२०२. (क) आवश्यक मल० प० २६६
(ख) महावीर० प्र० ४, पृ० १४४
(ग) त्रिषष्टि० १०।३।१४

२०३. महावीर चरियं ५। प० १५८

२०४ नंदिवद्धणनरिंदो दीणारलक्खमेगं वत्थस्स मुल्लं दाविऊण सबहुमाण.... ।
—महावीर चरियं प्र० ५, पृ० १५८

२०५. (क) आवश्यक भाष्य० गा० १११
(ख) आवश्यक मलयगिरिवृत्ति पत्र २६७
(ग) त्रिषष्टि० १०।३।१५

२०६. वीर-विहार मीमासा, विजयेन्द्र सूरि पृ० २३

२०७ (क) आवश्यक मलय० पत्र २६७
(ख) त्रिषष्टि० १०।३।२५

२०८ (क) सक्को भणइ-भयवं । तुज्झ उवसग्ग बहुलं ।
अह .वारस वरिसाणि तुज्झ वेयावच्चं करेमि । —आवश्यक मलय० प० २६७
(ख) महावीर चरिय प्र० ५, प० १४५।१
(ग) त्रिषष्टि० १०।३।२८

२०९. नो खलु देविंदा । एवं भूय वा भवइ वा भविस्सइ वा जं णं अरहता देविंदाण वा असुरिंदाण वा णीसाए केवलनाणमुप्पाइसु उप्पायंति उप्पाइस्संत्ति वा तवं वा करिसु वा करंति वा करिस्संति वा, अरहंता सएण उट्ठाणवलवीरियपुरिसक्कारपरक्कमेणं केवलनाणमुप्पाइसु उप्पायंति उप्पा इस्सति वा । —आवश्यक निर्युक्ति पृ० २६७
(ख) त्रिषष्टि १०।३०-३० प० २०।१
(ग) महावीर चरियं प्र० ५, प० १४५

२१० (क) आवश्यक निर्युक्ति गा० ४६१ प० २६७
(ख) आवश्यक मलय० वृ० २६८।१
(ग) महावीर चरियं, गुण० प्र० ५ प० १४५-१४६

२११. संवच्छरेणभिक्खा खोयलद्धा उसभेण लोयणाहेण ।
सेसेहि बीय दिवसे, लद्धाओ पढमभिक्खाओ ॥
उसभस्स पढमभिक्खा, खोयरसो आसि लोगणाहस्स ।
सेसाणं परमण्णं अमियरसरसोवमं आसि ॥
—समवायाङ्ग, सूत्र १५७ (संपादक—मुनि कन्हैयालालजी)

२१२. आवश्यक मलय० वृत्ति प० २६८
(ख) महावीर चरियं, गुण० १४६

२१३. (क) ताहे सो सामिस्स सागएण उवट्ठितो।
सामिणा पुव्वपयोगेण बाहा पसारिया। —आवश्यक मलय० प० २६८
(ख) महावीर चरियं प्र० ५, प० १४६
(ग) त्रिषष्टि० १०।३।५०

२१४. (क) त्रिषष्टि० १३।३।५१—५२
(ख) महावीर चरियं, प० १४६

२१५. (क) आवश्यक मलय० पृ० २६८
(ख) महावीर चरियं १४७
(ग) त्रिषष्टि० १०।३।६९-७३

२१६. महावीर चरियं—१४७

२१७ (क) महावीर चरियं प्र० ५. पृ० १४८
(ख) आवश्यक नियुं क्ति मलय० पृ० २६८

२१८. (क) इमेण तेण पंच अभिग्गहा गहिया, तंजहा (१) अचियत्तोग्गहे न वसियव्वं, (२) निच्चं वोसट्टे काये, (३) मोण च, (४) पाणीसु भोत्तव्वं, (५) गिहत्थो न वंदियव्वो, न अब्भुट्टे यव्वो, एए पंच अभिग्गहा गहिया। —आवश्यक मलयगिरि वृत्तिपृ० २६८
(ख) महावीर चरियं प्र० ५-१४८
(ग) कल्प सुबोधिका टीका पृ० २८८
(घ) त्रिषष्टि० १०।३।७५ से ७७

२१९. णो सेवई य परवत्थं पर-पाए वि से न भुञ्जित्था। —आचारांग अ० ९ उ० १

२२०. (क) प्रथमपारणकं गृहस्थपात्रे बभूव, ततः पाणिपात्रभोजिना मया भवितव्यमित्यभिग्रहो गृहीतः।
—आवश्यक मलय० वृ०

(ख) भगवया पढमपारणगे परपत्तंमि भुत्तं
—महावीर चरियं, गुणचन्द्र

२२१. अथोत्पन्नेऽपि केवलज्ञाने कस्मान्न भिक्षार्थं भगवानटति ?
उच्यते, तस्यामवस्थायां भिक्षाटने प्रवचनलाघवसम्भवात्।
उक्तं च—"देविदचक्कवट्टी मंडलिया ईसरा तलवरा य।
अभिगच्छंति जिणिदं गोयरचरियं न सो अडइ॥ —आवश्यक नियुं क्ति मल० पृ० २६८

२२२. उत्पन्न केवलज्ञानस्य तु लोहार्य आनीतवान्, तथा चोक्तं—
'धन्नो सो लोहज्जो, खंतिखमो पवरलोहसरिवन्नो।
जस्स जिणो पत्ताओ, इच्छई पाणीहिं भोत्तुं जे।"

—आवश्यक नियुं क्ति गा० पृ० ३६८

२२३ (क) महावीर चरियं गुण० पृ० १५३
(ख) आवश्यक, मलय० वृ० २६८
(ग) त्रिषष्टि० १०।३।११६

२२४. (क) आवश्यक मलय० २६६
(ख) त्रिषष्टि० १०।३।११७-११८
(ग) महावीर चरियं प० १५३

२२५. (क) महावीर चरियं १५३-१५४
(ख) आवश्यक मलय० पृ० २६६
(ग) त्रिषष्टि० १०।३।१२२-१३०

२२६. (क) खोभेउं ताहे सत्तविहं वेयणं उदीरेइ, तं जहा-सीसवेयणं, नासवेयणं, दंतवेयणं, कण्णवेयणं, अच्छिवेयणं, नहवयणं, पिट्ठिवेयणं एक्केक्का वेयणा पागयजणस्स जीवियं संकामिउं समत्था, किं पुण सत्तवि समेयाओ ? —आवश्यक मलय० वृत्ति
(ख) महावीर चरियं प० १५४
(ग) त्रिषष्टि० १०।३।१३२।प० २३।२

२२७ (क) तत्थ सामी देसूणे चत्तारि जामे अतीव परितावितो पभायकाले मुहुत्तमेत्तं निद्दापमायं गतो। —आवश्यक मलय० प० २७०।१
(ख) महावीर चरियं प० १५५।१
(ग) त्रिषष्टि० १०।३।१४७

२२८. (क) आवश्यक नियुक्ति० प० २७०
(ख) भगवती शतक १६, उद्दे० ६, सू० ५८०
(ग) त्रिषष्टि १०।३।१४७-से १५१

२२९. णिद्दं पि नो पगामाए सेवइ भगवं उट्ठाए।
जग्गावइ य अप्पाणं, ईसिं साइ या अपडिन्ने ॥ —आचारांग १।९।२।१६

२३०. (क) आवश्यक मल० प० २७०।१
(ख) महावीर चरियं० १५५।१
(ग) त्रिषष्टि १०।३।१५२

२३२. (क) आवश्यक मल० प० २७०।१
(ख) महावीर चरियं १५५।१
(ग) भगवती १६।६।५८०

२३३. (क) सामी भणइ—हे उप्पल ! जण्णं तुमं न याणसि तण्णं अहं दुविहं सागाराणगारियं धम्मं पण्णवेहामि। —आवश्यक मल० प० २७०
(ख) महावीर चरियं, गुणचन्द्र प० १५५

२३४. (क) आवश्यक मल० वृ० प० २७०

(ख) महावीर चरियं १५५
(ग) त्रिषष्टि० १०।३।७८

२३५ (क) आवश्यक मल० प० २७०
(ख) महावीर चरियं प० १५६

२३६. (क) आवश्यक मलय० २७२
(ख) महावीर चरियं प० १५८।१
(ग) त्रिषष्टि० १०।३।२१५-२१८

२३७ (क) आवश्यक मल० प० २७३
(ख) महावीर चरियं, गुण० प० १५९

२३८. (क) आवश्यक मल० प० २७३
(ख) महावीर चरियं, गुण० प० १५६
(ग) त्रिषष्टि० १०।३।२५१

२३९. (क) आवश्यक मलय० टीका० २७३।२
(ख) त्रिषष्टि० १०।३।२५५—२६१

२४०. (क) आवश्यक मल० वृ० प० २७३
(ख) महावीर चरियं, गुण० १७६

२४१ (क) आवश्यक मलय वृ० २७३
(ख) त्रिषष्टि० १०।३।२६६
(ग) उत्तरवाचालंतर वणसंडे चंडकोसिओ सप्पो।
न डही चिंता सरणं जोइस कोवाऽहिजाओऽहं ॥

—आवश्यक नियुक्ति गा० ४६७

२४२. (क) आवश्यक मलय० पृ० प० २७३
(ख) महावीर चरियं पृ० १७६
(ग) त्रिषष्टि० १०।३।२७२ से २७५

२४३. (क) उत्तरवाचाला नागसेण खीरेण भोयणं दिन्नं।
सेयवियाए पदेसी पंचरहो णेज्जरायाणो ॥

आवश्यक नियुक्ति गा० ४६८

(ख) त्रिषष्टि० १०।३।२८० से २८६
(ग) आवश्यक मलय० वृति० प० २७४।१
(घ) महावीर चरियं गुणचन्द्र प० १७७।१—२

२४४. (क) आवश्यक मलय० प० २७४।१—२
(ख) महावीर चरियं प० १७८।१
(ग) वीरवरस्स भगवतो नावारूढस्स कासि उवसग्गं।
मिच्छादिट्ठिपरद्धो, कंबलसंबलेहि तित्थं च ॥
—निशीथ भाष्य, गा० ४२१८ पृ० ३६६ तृतीय भाग प्र० सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

२४५. (क) आवश्यक निर्युक्ति गा० ४७२
(ख) त्रिषष्टि० १०।३।३४८—३५१

२४६ (क) महावीर चरियं प्रस्ताव ५ प० १८१—१८२
(ख) आवश्यक मलय० प० २७५
(ग) त्रिषष्टि० १०।३।३५६—३६६

२४७. 'मंख' शब्द का अर्थ है— चित्र दिखाकर आजीविका करने वाला। मल्लधारी हेमचन्द्र सूरि ने इसका अर्थ किया है 'केदारपट्टिकः (हारिभद्रीयावश्यक टिप्पण पत्र २४-१) अर्थात् शिव का चित्र लोगों को दिखाकर भिक्षा प्राप्त करने वाला। संभवतः इसी आधार पर परंपरागत अनुश्रुति उसे 'डाकोत' कहती होगी!

किसी एक ब्राह्मण की गोशाला मे उसका जन्म होने से वह 'गोशालक' कहलाया। बचपन में ही बहुत उद्धत होने से माँ बाप को छोड़कर वह स्वतन्त्र घूमता था (देखे भगवती १५।१) —सम्पादक

२४८. (क) आवश्यक मल० वृत्ति प० २७६
(ख) आवश्यक निर्युक्ति गा० ४७३
(ग) त्रिषष्टि० १०।३।३६६

२४९. (क) आवश्यक मलय० वृ० प० २७६
(ख) आवश्यक निर्युक्ति गा० ४७४

२५०. (क) आवश्यक मलयगिरि वृत्ति २७६
(ख) त्रिषष्टि० १०।३।४१६-४१७

२५१. आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग पत्र २८४

२५२. आवश्यक निर्युक्ति गा० ४७६

२५३ (क) आवश्यक मलय० वृत्ति पत्र १७८
(ख) महावीर चरियं प० १८६

२५४. (क) आवश्यक मलय० वृ० २७८
(ख) महावीर चरियं० प्र० ६। प० १६१
(ग) आवश्यक चूर्णि, पूर्वार्द्ध-पत्र० २८५

२५५. ताहे सामी चोरगसंन्निवेसं गता। —आवश्यक मलय० २७८

२५६. (क) आवश्यक निर्युक्ति गा० ४७७
(ख) आवश्यक मलय० प० २७८,२७९
(ग) त्रिषष्टि० १०।३।४८२—४८६

२५७. कयंगल देउलवरिसे, दरिद्दथेराण गोसालो। —आवश्यक निर्युक्ति गा० ४७८

२५८. आवश्यक मलय० प० २७९

२५९. आवश्यक मलय प० २८०।१
२६०. आवश्यक मलयगिरि वृत्ति २८१।१
२६१. (क) आवश्यक मलय० वृ० प० २८१।१
(ख) त्रिषष्टि० १०।३।५५३
२६२. (क) आवश्यक मलय० वृ० प० २८१।१
(ख) महावीर चरियं प्र० ६। प० १६५
२६३. (क) अह दुच्चर-लाढ-मचारी —आचारांग अ० ९, उद्दे० ३, गा० २ प्रथम श्रु०
(ख) दुच्चराणि तत्थ लाढेहिं, —आचारांग अ० ६ उद्दे० ३ श्रु० १
२६४. वज्ज भूमि च सुब्भ-भूमि च, —आचारांग अ० ६। उ० ३, गा० ६
२६५. आचारांग प्रथम श्रुतस्कंध, अ० ९, उद्दे ३ गा० २ से ७
२६६ आचारांग प्रथम श्रुतस्कंध अध्य ९ उ० ३, गा० ७ से १०
२६७. आचारांग, प्र० श्रु० ९।३।११-१२
२६८. आचारांग, प्र० श्रु० ९।३।१३
२६९. (क) आवश्यक निर्युक्ति० गा० ४८२
(ख) आवश्यक मलय० वृत्ति० प० २८१
(ग) महावीर चरियं प्र० ६, प० १६५
२७०. (क) आवश्यक मलय० २८१
(ख) महावीर चरियं० प्र० ६ प० १६६
२७१. (क) आवश्यक मलय० प० २८२
(ख) आवश्यक निर्युक्ति० गा० ४८४
(ग) त्रिषष्टि० १०।३।५८३-५८७
२७२. त्रिषष्टि० १०।३।५६५
२७३. आवश्य निर्युक्ति० गा० ४८५
२७४. आवश्यक मलय० वृ० प० २८३।१
२७५. (क) आवश्यक निर्युक्ति मलय० वृत्ति० प० २८३
(ख) महावीर चरियं प्र० ६ प० २१२-१३
(ग) त्रिषष्टि० १०।३।६१४-६२४
२७६. (क) आवश्यक मलय० वृत्ति० २८३
(ख) आवश्यक निर्युक्ति० गा० ४८७
२७७. आवश्यक मलय० वृत्ति० २८४
२७८. आवश्यक मलय० वृत्ति० प० २८४।२८५
२७९. (क) अविककाइ से महावीरे, आसणत्थे अकुक्कुए।
झाणं उड्ढं अहे तिरियं च पेहमाणे समाहिमपडिन्ने। —आचारांग १।९।४।१०८
(ख) आवश्यक मलय० प० २८५

२८०. आवश्यक मलय० प० २८५

२८१. (क) आवश्यक निर्युक्ति० गा० ४९२
(ख) त्रिषष्टि० १०।४।९८-१२८

२८२. भगवती श० १५ तृतीय खण्ड० पृ० ३७४

२८३. आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग पत्र २९९

२८४. (क) आवश्यक मलयगिरि वृत्ति प० २८७।१
(ख) भगवती शतक १५, तृ० भा० पृ० ३७५
(ग) महावीर चरियं० प्र० ६। प० २२३—२२४
(घ) त्रिषष्टि० १०।४।१३४-१३७

२८५. (क) आवश्यक निर्युक्ति० गा० २८७
(ख) आवश्यक मल० प० २८७
(ग) महावीर चरियं० प्र० ७। प० २२४।१
(घ) त्रिषष्टि० १०।४।१३८

२८६. (क) आवश्यक निर्युक्ति० गा० ४९४
(ख) आवश्यक मलय० वृ० प० २८७
(ग) महावीर चरियं० प्र० ७ प० २२४
(घ) त्रिषष्टि० १०।४।१३९-१४२

२८७. (क) आवश्यक निर्युक्ति० गा० ४९५
(ख) त्रिषष्टि० १०।४।१४३ से १४७

२८८ आवश्यक निर्युक्ति० गा० ४९५

२८९. आवश्यक निर्युक्ति० गा० ४९६

२९०. आवश्यक मलय० वृ० प० २८८

२९१. आवश्यक निर्युक्ति० गा० ४९७

२९२. (क) सक्को य देवराया सहागओ भणई हरिसिओ वयणं।
तिन्निवि लोगऽसमत्था जिणवीरमिणं चलेउं जे ॥ —आवश्यक निर्युक्ति० गा० ४९८
(ख) त्रिषष्टि० १०।४।१६४-१७५
(ग) महावीर चरियं—प्र० ७ गा० १-४ प० २२७
(घ) कल्प समर्थनं, उपसर्गा, गा० ५, पृ० २८

२९३. (क) आवश्यक निर्युक्ति गा० ४९९ से ५०१
(ख) महावीर चरियं प्र० ७ पृ० २२७

२९४. धूली पिवीलियाओ उद्दंसा चेव तह य उण्होला।
विच्छुअ नउला सप्पा य मूसगा चेव अट्ठमया॥

हत्थी हत्थिणियाओ पिसाअए घोररुव वग्घो य।
थेरो थेरी सूओ आगच्छइ पक्कणो अ तहा ॥
खरवाय कलंकलिया, कालचक्कं तहेव य।
पाभाइयमुवसग्गे, वीसइमे होति अणुलोमे ॥
सामाणियदेविढ्ढिं देवो दाएइ सो विमाणगओ।
भणई वरेह महरिसि ! निप्फत्तो सग्गमोक्खाणं ॥ —आवश्यक निर्युक्ति गा० ५०२ से ५०५

२६५. आवश्यक निर्युक्ति० गा० ५०६ से ५०७

२६६. (क) आवश्यक निर्युक्ति० गा० ५०८
(ख) आवश्यक मलय० प० २९१

२९७ (क) आवश्यक निर्युक्ति गा० ५०९
(ख) आवश्यक मलय० वृ० प० २९२

२९८. आव० नि० गा० ५१०, आव० म० वृ० २९२

२९९. (क) महावीर चरियं, प्र० ७ प० २३०
(ख) आवश्यक मल० प० २९२

३००. (क) आ० नि० गा० ५११—(ख) महा० चरि० प्र० ७ प० २३०

३०१. आव० नि० गा० ५१२

३०२. महावीर चरियं प्र० ७ पृ० २३१। (ख) त्रिषष्टि० १०।४।३०२

३०३. (क) आवश्यक निर्युक्ति० गा० ५११
(ख) त्रिषष्टि० १०।४।३१९-३२०

३०४. आवश्यक निर्युक्ति गा० ५

३०५. जिनेश्वर सूरि कृत कथाकोष

३०६. (क) त्रिषष्टि १०।४।३४६ से ३५८
(ख) महावीर चरियं० प्र० ७ गा० १४ प० २३३

३०७. (क) आवश्यक निर्युक्ति० गा० ५१७
(ख) त्रिषष्टि० १०।४।३७२

३०८. (क) भगवती सूत्र शतक ३, उद्दे० २
(ख) देखिए कल्पसूत्र आश्चर्य वर्णन

३०९. (क) आवश्यक निर्युक्ति० गा० ५१७-५१८
(ख) आवश्यक मलय० वृ० प० २९४

३१०. (क) सामी य इमं एतारूवं अभिग्गहं अभिगेण्हति चउव्विहं दव्वतो, ४ दव्वतो कुंमासे सुप्पकोणेणं, खित्तओ एलुगं विक्खंभइत्ता, कालओ नियत्तेसु भिक्खायरेसु भावतो जदि रायधूया दासत्तणं

पत्ता णियलबद्धा, मुंडियसिरा रोयमाणी अब्भत्तट्ठिया, एवं कप्पति, सेसं ण कप्पति, कालो य पोसबहुल पाडिवओ—आवश्यक चूर्णि प्र० भा० प० ३१६-३१७

(ख) आवश्यक मलय० वृ० प० २६४

(ग) त्रिषष्टि० १०।४।४७८-४८१

(घ) महावीर चरियं० प्र० ७ प० २४१

३११. (क) आवश्यक मलय० वृत्ति २६५

(ख) आवश्यक नियुक्ति० गा० ५१६

३१२. (क) आव० म० वृ० २६६

(ख) महावीर चरियं गुणचन्द्र, प्र० ७ प० २४६।१

(ग) त्रिषष्टि०१।४।५७२-५७६

३१३ (क) महावीर चरिय गुण० ७।२४७

(ख) त्रिषष्टि० १०।४।६०६

३१४. (क) चंपा वासावास जक्खिदो साइदत्त पुच्छा य।
वागरण दुह पएसण पच्चक्खाणे अ दुविहे अ ॥—आवश्यक नियुक्ति गा० ५२२, प० २६७

(ख) को ह्यात्मा ? भगवानाह— योऽहमित्यभिमन्यते। स कीदृशः ? सूक्ष्मोऽसौ, किं तत् सूक्ष्मं?, यदिन्द्रियै-र्ग्रहीतुं न शक्यते इति, तथा किं त ते पदेसणयं ? किं पच्चक्खाणं ? भगवानाह साइदत्ता। दुविहं पदेसणग-धम्मियं अधम्मियं वा, पदेसणगं नाम उपदेश; पच्चक्खाणे दुविहे—मूलपच्चक्खाणे उत्तर पच्चक्खाणे य, एएहिं पएहिं तस्स उवगयं।

—आवश्यक मलय० २६७

३१५ (क) महावीर चरियं० ७।२४८

(ख) त्रिषष्टि० १०।४।६१८-६४६

३१६. (क) सव्वेसु किर उवसग्गेसु दुव्विसहा कतरे ?
कडपूयणासीयं कालचक्कं एतं चेव सल्लं कड्ढिज्जंतं।
अहवा जहन्नगाण उवरि कडपूयणासीतं
मज्झिमाण काल चक्कं, उक्कोसगाण उवरि सल्लुद्धरणं॥

—आवश्यक चूर्णि प्र० भा० प० ३२२

(ख) महावीर चरियं ७।२५०।

३१७. एवं वा विहरमाणस्स जे केइ उवसग्गा समुपज्जति दिव्वावा माणुस्सा वा, तेरिच्छिया वा ते सव्वे उवसग्गे समुप्पन्ने समाणे अणाउले अव्वहिए अदीणमाणसे तिविहमण-वयण कायगुत्ते सम्मं सहइ खमइ, तितिक्खइ अहियासेइ।

—आचारांग० १।१५।१०१६ सुत्तागमे पृ० १३

(ख) सूरो संगामसीसे वा, संवुडे तत्थ से महावीरे।
पडिसेवमाणे फरुसाइं अचले भगवं रीइत्था। —आचारांग १।९।३।१३

३१८. (क) उग्गं च तवोकम्मं, विसेसओ वद्धमाणस्स। —आवश्यक निर्युक्ति० गा० २४०
(ख) सूत्र कृतांग १।६

३१९. तिन्नि सए दिवसाणं अउणापन्ने य पारणाकालो —आवश्यक निर्युक्ति० गा० ५३४

३२०. आवश्यक निर्युक्ति गा० ५२६ से ५३५

३२१. छट्ठेण एगया भुञ्जे अदुवा अट्ठमेण दसमेणं।
दुवालसमेण एगया भुंजे पेहमाणे समाहिंअपडिन्ने

—आचारांग १।६।४।७

३२१. विजयावत्तस्स चेतियस्स। विजयावत्तं णामेणं, वियावत्तं वा' व्यावृत्तं चेतियत्तणातो जिण्णुज्जाण-मित्यर्थः। —कल्प सूत्र चूर्णि सू० १२०

३२२. (क) बारस चेव य वासा मासा छच्चेव अद्धमासो य।
वीरवरस्स भगवओ एसो छउमत्थपरियाओ॥

—आवश्यक निर्युक्ति गा० ५३६

(ख) उत्तर पुराण, गुणचन्द्र ७४।३४८ से ३५२

३२३. आवश्यक मलयगिरि वृत्ति प्र० भा० प० ३००।१

३२४. मगहा गोब्बर गामे जाया तिण्णेव गोयमसगोत्ता।
कोल्लागसन्निवेसे जा ओ विअत्तो सुहम्मो य॥ ६४३॥
मोरीयसन्निवेसे दो भायरो मंडमोरिया जाया।
अयलो य कोसलाए महिलाए अकंपिओ जाओ॥६४४॥
तुंगीयसन्निवेसे मेयज्जो वच्छभूमिए जाओ।
भगवंपियप्पभासो, रायगिहे गणहरो जाओ॥६४५॥

—विशेषावश्यक भाष्य

३२५. (क) आवश्यक वृत्ति
(ख) वाजसनेयी संहिता ४०—५ में भी यही वाक्य है।
(ग) तदेजति तन्नैजति, तद्दूरे तदन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः

—ईशावास्योनिषद् में यह पाठ प्राप्त होता है

(च) पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्
उतामृतत्वस्येशनो यदन्नेनाति रोहति

—वाजसनेयी संहिता ३२—२
—श्वेताश्वतरोपनिषद २४९
—पुरुषसूक्त, इन सभी में यह पाठ प्राप्त हैं।

३२६. (क) आवश्यक टीका से उद्धृत
(ख) सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष ब्रह्मचर्येण नित्यम्, अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो य पश्यन्ति यतवः क्षीणदोषाः।

—मुण्डकोपनिषद् १४०

३२७. तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ।

—सांख्य कारिका नं० ६२ त भाव मिलता है ।

३२८. न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहृतिरस्त्य शरीरं वा वमन्तं न प्रिया प्रिये स्पृशतः ।

—छान्दोग्योपनिषद् ४४५ मे यह पाठ प्राप्त हैं ।

३२९. (क) आवश्यक टीका में उद्धृत

(ख) अपाम सोमममृता अभूमागमन् ज्योतिरविदाम देवान्
किमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृतं मर्त्यं च ॥

—ऋग्वेद संहिता—८।४८।३
अथर्वशिर उपनिषद ३

३३०. (क) पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पाप· पापेनेति

—बृहदारण्यकोपनिषद ५६०

(ख) पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पाप· पापेनेति

—बृहदारण्यकोपनिषद् ६३२

३३१. (क) आवश्यक टीका में उद्धृत

(ख) एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्रं सत्रम्

—नारायणोपनिषद्—१६३

(ग) जरामर्यं व एतत्सर्वं यदग्निहोत्रम्

—तैत्तिरियारण्यक १०।६४
—महानारायणोपनिषद् २५

३३२. (क) सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।

—तैत्तिरीयोपनिषद् १८२

(ख) तस्मै स होवाच द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो । वदन्ति परा चापरा च

—मुण्डकोपनिषद् ११६।१—४

३३३. 'महाकुलाः महाप्राज्ञाः संविग्ना विश्ववंदिता ।
एकादशापि तेऽभूवन्मूलशिष्या जगद्गुरोः ॥

—त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र १०।५।७०

(ख) महावीर चरियं, प्रस्ताव ८। प० २५७। १

३३४. (क) त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र पर्व १० सर्ग ५ श्लोक १६४

(ख) महावीर चरियं, गुणचन्द्र प्र० ८ । प २५७

३३५. तीर्यते संसारसमुद्रोनेनेति तीर्थं प्रवचनाधारस्चतुर्विधः संघः ।

—अभिधान चिन्तामणि १।२५ स्वोपज्ञ टीका

३३६. त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र १०।५।१७४

३३७. उत्तराध्ययन २३ गा० ८७

३३८. भगवती सूत्र शतक ६ उद्दे० ३२, सू० ३७८

३३९. सूत्रकृतांग श्रुत २, अ० ७ सू० ८१२

३४०. तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे थेरे भगवंते वंदई, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता चाउज्जायामो धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ।

—भगवती शत० १ उ० ९ सू० ७६

३४१. भगवती शतक० २, उद्दे० १०

A (क) औपपातिक टीका सू० ४, १८२—१९५

(ख) भगवती श० १४, उद्दे० ८

B भगवती सूत्र श० २, उ० ५

C भगवती सूत्र शत० ११ उ० ६

D भगवती सूत्र शत० उ० १०

E भगवती सूत्र शतक २ उ० ५

F भगवती शतक १२, उ० २

G भगवती शतक १८ उद्दे० ३

H भगवती सूत्र शतक १ उद्दे० ६

३४२. संजय काम्पिल्यपुर का राजा था। इसका विस्तृत वर्णन उत्तराध्ययन १८ नेमिचन्द्रीय टीका मे आया है।

A 'सेय' राजा आमलकल्पा नगरी का स्वामी था। इसका विस्तृत वर्णन रायपसेणी (बेचरदास जी द्वारा सपादित) सूत्र १० मे आया है।

B शिव हस्तिनापुर के राजा थे। भगवती सूत्र शतक ११ उ० ९ मे विस्तार से इसका वर्णन मिलता है।

C शंख मथुरा नगरी का राजा था। विस्तृत वर्णन देखें उत्तराध्याय १२ नेमिचन्द्रीय टीका

३४३. समणेणं भगवया महावीरेणं अट्ठ रायणो मुंडे भवेत्ता अगाराओ अणगारिअं पव्वाविया, तं०- वीरंगय वीरजसे संजयए, णिज्जए य। रायरिसी सेयसिवे उदायणे तह संखे—कासिवद्धणे

—स्थानाङ्ग, स्थान ८ सू० ७८८

३४४. (क) ज्ञातृ धर्म कथा अ० १

(ख) दशाश्रुत स्कंध १

(ग) आवश्यक चूर्णि, त्रिषष्टि शलाका० आदि में श्रेणिक के जीवन का विस्तृत वर्णन आता है।

३४५. अन्तकृत् दशा

३४६. त्रिषष्टि० १०।१०।१३६-१४८ पत्र १३४-१३५

३४७. त्रिषष्टि० १०।१०।८४

३४८. सूत्र कृताङ्ग टीका श्रु० २ अ० ६ प० १३६।१

३४९. उत्तराध्ययन अ० १२

३५० अन्तकृत् दशा १

३५१. (क) सो चेडको सावओ— —आवश्यक चूर्णि, उत्तरार्द्ध प० १६४

(ख) चेटकस्तु श्रावको —त्रिषष्टि० १०।६।१८८, प० ७७—२

३५२. पभावती वीतिमए उदायणस्स दिण्णा, पउमावती चम्पाए दहिवाहणस्स, मिगावती कोसंबीए सताणियस्स, सिवा उज्जेणीए पज्जोतस्स जेट्ठा कुंडग्गामे वद्धमाण सामिणो जेट्ठस्स नंदिवद्धणस्स दिण्णा। —आवश्यक चूर्णि भाग २ प० १६४

(ख) त्रिषष्टि० १०।६।१८७ पत्र ७७—२

३५३. नवमल्लई नवलेच्छई कासीकोसलग्ग अठारसवि गणरायाणो।

—कल्पसूत्र सुबोधिका, टीका सू० १२८

३५४. (क) 'पावा' देवेहिं कतं णामं, जेण तत्थ भगव कालगतो। —कल्पसूत्र चूर्णि सू० १२२

(ख) 'पावा' देवेहिं कयं, जेण तत्थ भगवं कालगओ। —कल्पसूत्र, पृथ्वी० टिप्पण सू० १२२

(ग) रज्जुगा—लेहगा, तेसिं सभा रज्जुयसभा, अपरिभुज्जमाणा करणसाला।

—कल्पसूत्र चूर्णि सू० १२२

३५५. (क) बितितो चंदो संवच्छरो, पीतिवद्धणो मासो, णंदिवद्धणो पक्खो, अग्गिवेसो दिवसो उवसमो वि से णामं, देवाणंदा रयणी निरिति त्ति वच्चति, लवस्स अच्ची णामं, पाणुस्स मुत्तो, थोवस्स सिद्धणामं, करणं णागं, सव्वट्ठसिद्धो मुहत्तो। —कल्पसूत्र चूर्णि सू० १२३

३५६. समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूति नामं अणगारे गोयमसगोत्तेणं सत्तुस्सेहे समचउरंससठाण संठिए वज्जरिसह नारायण संघयणे कणगपुलगणिघसपम्हगोरे उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे ओराले घोरे घोग्गुणे घोरतवस्सी, घोरबंभचेरवासी उच्छूढसरीरे संखित्त विउलतेयलेसे चोद्दसपुव्वी चउनाणोवगए सव्वक्खरसन्निवाई समणस्स भगवओ...................

—भगवती १।१।७

३५७. मरणा कायस्स भेदा इओ चुआ दोवि तुल्ला।
एगट्ठा अविसेसमणाणत्ता भविस्सामो।

—भगवती शतक १४ उद्दे० ७

३५८. कल्प सुबोधिका, टीका

३५९. (क) कल्पसूत्र चूर्णि सू० १२६

(ख) कल्पसूत्र टिप्पण सू० १२६ पृ० १७

३६०. ज्वलत्प्रदीपालिकया प्रवृद्धया, सुरासुरैः दीपितया प्रदीप्तया।
तदास्म पावानगरी समन्ततः प्रदीपिताकाशतला प्रकाशते।
ततस्तु लोकः प्रति वर्षमादरात् प्रसिद्ध—दीपावलिकयात्र भारते।
समुद्यतः पूजयितुं जिनेश्वरं जिनेन्द्रनिर्वाणविभूति-भक्ति-भाक्। —हरिवंश पुराण, जिनसेन

३६१. कल्प सुबोधिका टीका

३६२. भयवं! कुणह पसायं विगमह एवंपि ताव खणमेक्कं।
जावेस भासरासिस्स नूणमुदओ अवक्कमइ ॥१॥
जं एयस्सुदएण तुम्हं तित्थं कुतित्थिएहिं दढं॥
पीडिस्सइ सक्कारं न तहा पाविस्सइ जणाउ॥
न य तुम्हे असमत्था एवं विह कज्जसाहणे जेण।

जो तोलइ तइलोक्कं बलेण का तस्स इह गणणा ॥
कहऽणंतसत्तिजुत्ता जिणा हवंतित्ति वयणमवि अम्हे ।
पत्तिज्जिस्सामो पहु ! जइ न तुमं ठासि खणमेक्कं ॥

—महावीर चरियं, प्रस्ताव ८ गा० से ४ पृ० ३३८ । १

३६३. अह जयगुरुणा भणियं सुरिंद ! तीया इति विह कालेऽवि ।
नो भूयं न भविस्सइ न हवइ नूणं इमं कज्जं ॥
ज आउकम्मविगमेऽवि कोवि अच्छेज्ज समयमेत्तमवि ।
अच्चंताणं तविसिट्ठसत्तिपब्भार जुत्तोऽवि ॥
अवि जोडिज्जइ सयखंडियंपि वयरागरुब्भवं रयणं ।
परिसडियमाउदलियं न उ तीरइ कहवि संघडिउं ॥
ता जइ आच्चंतमभूयमत्थमम्हे न साहिमो एयं ।
किं एत्तिएण नाणं तसत्तिणी ? मुयसु ता मोहं ॥

—महावीर चरिय, प्र० ८ गा० ५ से ८ पृ० ३३८

३६४. (क) कुः भूमि तस्यां तिष्ठनीति कुन्थू, अणुं सरीरगं धरेति अणुंधरी ।

—कल्पचूर्णि, सू० १३१

(ख) तं रयणि 'कुंथू' अणुद्धरी नामं' ति कुः—भूमिस्तस्या तिष्ठतीति कुन्थूः अणुं सरीर धरेइ त्ति अणुधरी ।

—कल्प सूत्र टिप्पण सू० १३१

३६५. (क) कल्पसूत्र चूर्णि सू० १४५ पृ० १०४
(ख) कल्पसूत्र टिप्पण सू० १४५

परिशिष्ट—३

(पूर्व परम्परान्तर्गत टिप्पणानि)

१. पासे अरहा 'पुरिसादाणीए' पुरुषाणां प्रधानः पुरुषोत्तम इति । अथवा समवायाङ्ग वृत्तावुक्तम्—"पुरुषाणा मध्ये आदानीयः—आदेयः पुरुषादानीयः" (पत्र १४—२) उत्तराध्ययन बृहद्वृत्तौ "पुरुषश्चासौ पुरुषकारवर्त्तितया आदानीयश्च आदेयवाक्यतया पुरुषादानीयः, पुरुषविशेषणं तु पुरुष एव प्रायस्तीर्थंकर इति ख्यापनार्थम् । पुरुषैर्वा आदानीयः—आदानीयज्ञानादिगुणतया पुरुषादानीय." (पत्र २७०—२) —कल्पसूत्र पृथ्वीचन्द्र टिप्पनकम् पृ० १७

(ख) कल्पसूत्र, सन्देह विषौषधि, टीका प० ११९

(ग) कल्पसूत्र, किरणावलि पत्र १३२

(घ कल्पसुबोधिका सू० १४९ प० ३६९

(ङ) पुरुषाणां मध्ये आदानीय.—आदेयः पुरुषाऽ। दानीय :—

—भगवती, श० ५, उ० ९ अभयदेव वृत्ति प० २४८

(च) मुमुक्षूणा पुरुषाणामादानोया आश्रयणीयाः पुरुषाऽऽदानीयाः । महतोऽपि महीयासो भवन्ति ।

—सूत्रकृताङ्ग १, श्रु० अ० ९, प० १८६-१

२. त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित पर्व ९, सर्ग २

३. पाणिग्रहण के लिए कुशलस्थ (कन्नोज) प्रदेश मे जाने पर वहाँ कलिंगादि देशो के यवनों ने संघर्ष करने की ठानी । राजकुमार पार्श्व की ललकार के समक्ष सभी यवन विनत होगए और परस्पर मैत्री सम्बन्ध स्थापित किया । —त्रिषष्टि० पर्व ९, सर्ग ३

४. (क) पार्श्वनाथ चरित्र भावदेव सूरि, सर्ग ६, श्लोक २१३

(ख) त्रिषष्टि० ९।३

५. त्रिषष्टि शलाका० पर्व १. सर्ग १, श्लोक २५

६. वाराणसी के समीप आश्रमपद उद्यान में धातकी वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग करके खडे थे ।

—त्रिषष्टि० ९।३

७. प्रस्तुत सूत्र की तरह समवायांग में भी आठ गणधरों का ही उल्लेख है—

"पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणिअस्स अट्ठ गणा, अट्ठ गणहरा होत्था तं जहा-गाहा—

सुभे य सुभघोसे य, वसिट्ठे बंभयारि य

सोमे सिरिधरे चेव, वीरभद्दे जसे इ य ॥८।८

आचार्य हेमचन्द्र के त्रिषष्टि शलाका० (९।३) के अनुसार भ० पार्श्वनाथ के १० गणधर थे जिनमें आर्यदत्त गणधर सबसे प्रमुख थे ।

दश गणधरों का उल्लेख आव० नि० गा० २६०, आव० मल० टीका (पत्र २०६) आदि ग्रन्थों में भी मिलता है। किंतु कल्पसूत्र सुबोधिका टीका (पत्र ३८१) में इसका स्पष्टीकरण किया है—"द्वौ अल्पायुष्कत्वादिकारणान्नोक्तौ इति टिप्पनके व्याख्यातम्।"

इसी प्रकार गणधर के नाम के सम्बन्ध में भी कुछ भेद है। कल्पसूत्र मे 'शुभ' तथा पासनाह चरिय मे (पत्र २०२) शुभदत्त नाम आया है। समवायाग मे सिर्फ 'दिन्न' शब्द ही है जबकि त्रिषष्टि० में 'आर्यदत्त।'

—सम्पादक

८. (क) कल्पसूत्र की संकलना के समय मे यह कालगणना की गई है।
   (ख) भगवान पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता प्राय. निर्विवाद है। इस सम्बन्ध मे विशेष ऐतिहासिक गवेषणा के लिए देखें—
      १. चार तीर्थंकर—पं० सुखलाल जी सिंघवी
      २ जैन साहित्य का इतिहास भाग १—पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री
      ३ इण्डियन एन्टीक्वेरी जि० ६ पृ० १६०—डा० याकोबी के लेख

९. (क) समवायांग, सूत्र २४।१
   (ख) समवायाग सूत्र १५७—११
   (ग) अर्हत् अरिष्टनेमि की ऐतिहासिकता वैदिक ग्रन्थो एव ऐतिहासिक विद्वानो की गवेषणा से भी सिद्ध होती है।

अथर्व वेद के माण्डूक्य, प्रश्न और मुण्डक उपनिषदो मे अरिष्टनेमि का नाम आया है। महाभारत के अनुशासन पर्व अध्याय १४६ मे विष्णुसहस्रनाम मे दो स्थानो पर 'शूर. शौरिजिनेश्वर.' पद आया है—

"अशोकस्तारणस्तारः शूरः शौरि जिनेश्वरः।५०।"
"कालनेमि महावीर शूरः शौरि जिनेश्वरः।" ८२।

छांदोग्य उपनिषद् में देवकी पुत्र कृष्ण के उल्लेख से व्यक्त होता है कि उन्होंने घोर अंगरिस से अहिंसा और नीति का उपदेश ग्रहण किया। श्री धर्मानन्द कौशाम्बी (भा० म० अ० पृ० ३८) के अनुसार ये घोर अंगरिस नमिनाथ ही थे, क्योंकि नेमिनाथ श्रीकृष्ण के धर्म-गुरु थे यह प्राचीन जैन ग्रन्थो से प्रमाणित होता है (विशेष विवरण के लिए देखें—जैन साहित्य का इतिहास पूर्व पाठिका, प० कैलाशचन्द्र जैन पृ० १७०)

१० सोरियपुरम्मि नयरे, आसि राया महिड्ढिए।
समुद्दविजए नामं, रायलक्खण संजुए।
तस्स भज्जा सिवा नाम, तीसे पुत्तो महायसो।
भगवं अरिट्ठनेमि त्ति, लोगनाहे दमीसरे।

— उत्तराध्ययन २२।३—४

११. अह सो वि रायपुत्तो, समुद्दविजयंगओ।

—उत्तराध्ययन २२।३६

१२. एवं सच्चनेमी, नवरं समुद्दविजये पिया सिवा माता। एव दढनेमी वि सव्वे एगगमा।

—अन्तकृतदशा, वर्ग ४, अ० ९-१०

१३. (क) उत्तराध्ययन अ० २२—५,
(ख) सप्तति शतस्थान प्रकरण ३७—३८ द्वार, गा० १०५

१४. (क) नियगाओ भवणाओ, निज्जाओ वण्हिपुंगवो । —उत्तरा० अ० २२, गा० १३
(ख) अहं च भोगरायस्स, तं चऽसि अधगवण्हिणो । —उत्तरा० अ० २२, गा० ४४

१५. मोऽरिट्ठनेमि नामो य, लक्खणस्सरसंजुओ ।
अट्ठसहस्सलक्खणधरो, गोयमो कालगच्छवी । —उत्तरा० अ० २२, गा० ५

१६. वज्जरिसहसंघयणो, समचउरंसो झसोयरो । —उत्तरा० अ० २२, गा० ५—६

१७. त्रिषष्टि० ८।६

१८. (क) त्रिषष्टि० ८।६
(ख) कल्पसूत्र सुबोधिका टीका

१९. (क) त्रिषष्टि शलाका० ८।६
(ख) कल्पसूत्र सुबोधिका टीका

२०. त्रिषष्टि० ८।६

२१. अह सा रायवरकन्ना, सुसीला चारुपेहिणी ।
सव्वलक्खणसंपन्ना, विज्जुसोया मणिप्पभा । —उत्तरा० अ० २२।७

२२. उत्तरा० अ० २२।६—१०

२३. उत्तरा० २२।१४—१५

२४. कस्स अट्ठा इमे पाणा, एए सव्वे सुहेसिणो ।
वाडेहिं पंजरेहिं च संनिरुद्धा य अच्छई ।। —उत्तरा० २२।१६

२५. अह सारही तओ भणई, एए भद्दा उ पाणिणो ।
तुब्भं विवाहकज्जम्मि, भुंजावेउं बहुं जणं ।। —उत्तरा० २२।१७

२६. रैवताचल पर्वत पर सहस्राम्रवन में पधारे—ऐसा त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित में उल्लेख आता है।
—त्रिषष्टि० ८।६

२७. त्रिषष्टि० ८।६

२८. (क) त्रिषष्टि० ८।६
(ख) कल्पसूत्र सुबोधिका टीका

२९. राईमई विचिंतेइ, धिरत्थु मम जीवियं ।
जाऽहं तेण परिच्चत्ता सेयं पव्वइउं मम ।। —उत्तरा० २२।२९

३०. अह सा भमरसन्निभे, कुच्चफणगप्पसाहिए ।
सयमेव लुंचई केसे, धिइमंता ववस्सिया ।
वासुदेवो य णं भणई, लुत्तकेसं जियंदियं ।
संसारसायरं घोरं, तर कन्ने लहुं लहुं । —उत्तरा० २२।३०-३१

३१. भीया य सा तहिं दट्ठुं एगंते संजयं तयं।
बाहाहिं काउ संगोप्फं, वेवमाणी निसीयई ॥ —उत्तरा० २२।३५

३२. जइ सि रूवेण वेसमणो, ललिएण, नलकूबरो।
तहा वि ते न इच्छामि, जइ सि सक्खं पुरंदरो।
पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं।
नेच्छंति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे।
धिरत्थु तेऽजसोकामी, जो तं जीवियकारणा।
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे। —उत्तरा० २२।४०-४३

३३. (क) त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र ६।८
(ख) उत्तराध्ययन

३४. (क) वसुदेव हिन्डी
(ख) त्रिषष्टि शलाका० सर्ग ७
(ग) जैन रामायण

३५. (क) अर्हत् भगवती मल्ली के विस्तृत वर्णन के लिए देखें—ज्ञाता धर्मकथा १६
(ख) त्रिषष्टि शलाका ६।६

३६. अर्हत् शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ एव अरनाथ ये तीनो तीर्थंकर क्रमश: पाचवे, छट्ठे एवं सातवें चक्रवर्ती भी हुए। एक ही भव मे दो महान् पदवी का उपभोग किया। इनके विस्तृत जीवन चरित्र के लिए देखें—

१. चउप्पन्न महापुरुष चरिउ
२. त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र ५।१, ६।१, ६।२
३. शातिनाथ चरित्र

३७. (क) धण मिहुण सुर महब्बल ललियग य वइरजघ मिहुणे य।
सोहम्म विज्ज अच्चुय चक्की सव्वट्ठ उसभे य। —आव० मलय० वृत्ति पृ० १५७।१
(ख) लेखक की पुस्तक ऋषभदेव: एक परिशीलन।

३८. त्रिषष्टि० १।१।५५ से ६१ पृ० ३।२

३९. (क) आवश्यक निर्युक्ति गा० १६८
(ख) आवश्यक चूर्णि पृ० १३२
(ग) त्रिषष्टि० १।१।१४० से १४३ प० ६

४०. (क) आवश्यक मलय० वृ० प० १५८
(ख) त्रिषष्टि० १।१।७१४।७१५

४१. (क) आवश्यक चूर्णि० १३३-१३४
(ख) त्रिषष्टि १।१।९०७—९०९ प० ३२

४२. (क) आवश्यक मलय० वृ० १६२
(ख) त्रिषष्टि० १।२।८८६ से ८८८
(ग) आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति १२०।१

४३. स्थानाङ्ग प० ३६६—१

४४. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, कालाधिकार (अमोलक ऋषि) प० ७६

४५. स्थानाङ्ग सूत्र वृत्ति प० ३६६

४६. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्षस्कर सू० १४

४७. (क) आवश्यक मलय० वृत्ति प० १६३
(ख) त्रिषष्टि० १।२।२१३ प० ४०।१
(ग) महापुराण जिनसेनाचार्य १४।१६२ पृ० ३१६

४८ (क) ऊरूसु उसभलंछणं उसभो सुमिणंमि तेण ।
कारणेण उसभोत्ति णामं कयं ।। —आवश्यक चूर्णि० पृ० १५१
(ख) ऊरुप्रदेशे ऋषभो, लाञ्छनं यज्जगत्पतेः ।
ऋषभं प्रथमं यच्च, स्वप्ने मात्रा निरीक्षित. ।
तत् तस्य ऋषभ इति, नामोत्सवपुरः सरम् ।
तौ मातापितरौ हृष्टौ विदधाते शुभे दिने । —त्रिषष्टि १।२।६४८ से ६४६

४९. (क) आवश्यक नियुक्ति० गा० १८६
(ख) आवश्यक मलय० प० १६२।२
(ग) आवश्यक चूर्णि० १५२
(घ) आवश्यक हरिभद्रीया प० १२५
(ङ.) त्रिषष्टि० १।२।६५४—६५६

५० (क) आवश्यक नियुक्ति० गा० १६१
(ख) त्रिषष्टि० १।२।८८१

५१ (क) आवश्यक भाष्य
(ख) आवश्यक चूर्णि० पृ० १५३
(ग) आवश्यक मलय० वृ० १६४
(घ) आवश्यक चूर्णि० पृ० १५३

५२. (क) दत्ती व दाणमुसमं दिंतं ।
दट्ठुं जणंमिवि पवत्तं । — आवश्यक नियुक्ति० गा० २२४
(ख) भगवता युगलधर्म्मव्यवच्छेदाय भरतेन सह जाता ब्राह्मी बाहुबलिने दत्ता, बाहुबलिना सह जाता सुन्दरी भरताय । — आव० मल० पृ० २००
(ग) युग्मिधर्मनिषेधाय भरताय ददौ प्रभुः ।
सोदर्या बाहुबलिनः सुन्दरी गुणसुन्दरीम् ।

भरतस्यचसोदर्या ददौ ब्राह्मी जगत्प्रभु. ।
भूपाय बाहुबलिने तदादि जनताप्यथ । —श्री काललोक प्रकाश सर्ग ३२ श्लोक ४७-४८

५३. (क) इति दृष्ट्वा तत आरभ्य प्रायो लोकेऽपि कन्या पित्रादिभि दत्ता सती परिणीयते इति प्रवृत्तम् ।
—आवश्यक मलय० पृ० २००
(ख) गुरुदत्तिआ य कण्णा परिणिज्जंते तओ पायं । —आवश्यक हारि० वृ० पृ० १३३
(ग) भिन्नगोत्रादिका कन्या दत्ता पित्रादिभिर्मुदा ।
विधिनोपायतः प्राय. प्रावर्तत तथा ततः । —श्री काललोक प्रकाश सर्ग ३२, श्लोक ४६

५४. (क) आवश्यक निर्युक्ति० गा० १६४
(ख) आवश्यक चूर्णि० पृ० १५३-१५४

५५. आवश्यक निर्युक्ति० गा० १६६

५६. पुराणसार १८।३।३६

५७. आवश्यक मलय० प० १५७-२

५८. (क) आवश्यक हारिभद्रीया प० १२०-२
(ख) आवश्यक मलय० प० १६३

५६ आवश्यक निर्युक्ति० गा० १५१

६०. (क) आवश्यक निर्युक्ति० गा० १६८
(ख) आवश्यक चूर्णि० पृ० १५४
(ग) आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति प० १२८
(घ) त्रिषष्टि० १।२।६७४ से ६७६

६१ त्रिषष्टि० १।२।६२५-६३२

६२ स्थानाङ्ग वृत्ति ७।३।५५७

६३. आद्यद्वयमृषभकाले अन्ये तु भरतकाले इत्यन्ये । —स्थानाङ्ग वृत्ति ७।३।५५७

६४. परिभाषणाउ पढमा, मंडलबंधम्मि होइ बीया उ ।
चारग छविछेदावि, भरहस्स चउव्विहा नीई । —स्थानाङ्ग वृत्ति ७।३।५५७

६५. निगडाइजमो बन्धो, घातो दंडादितालणया । —आवश्यक निर्युक्ति गा० २१७

६६. बन्धो—निगडादिभिर्यम. संयमनं, घातोदण्डादिभिस्ताडना, एतेऽपि अर्थशास्त्रबन्धघातास्तत्काले यथायोग प्रवृत्ता । —आवश्यक मलय० वृत्ति प० १६६।२

६७. (क) मारणं जीववधो-जीवस्य जीवितात् व्यपरोपणं, तच्च भरतेश्वरकाले समुत्पन्नं ।
—आवश्यक मलय० प० १९९।२
(ख) मारणया जीववहो जन्ना नागाइयाण पूयानो । —आवश्यक निर्युक्ति गा० २१८

६८. आवश्यक निर्युक्ति० गा० २०६

६६. (क) आवश्यक निर्युक्ति गा० २१२
(ख) विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति १३२

(ग) आवश्यक चूर्णि० पृ० १५६
(घ) आवश्यक हारिभद्रीया प० १३२

७०. त्रिषष्टि० १।२।६७१

७१. आवश्यक नियुक्ति० गा० ३३७

७२. (क) आवश्यक नियुक्ति० गा० ३३६
(ख) आवश्यक चूर्णि० पृ० १६२
(ग) त्रिषष्टि० १।२।१२२-१२३
(घ) महापुराण, जिनसेन १८-५५-५६ पृ० ४०२

७३. (क) आवश्यक मलय० वृ० प० २१७
(ख) त्रिषष्टि० १।३।२४४।२४५

७४. (क) आवश्यक मलय० २१७-२१८
(ख) आवश्यक चूर्णि० १६३

७५. (क) आवश्यक नियुक्ति० गा० ३४२-४५
(ख) समवायाङ्ग

७६. (क) दशवैकालिक, अगस्त्यसिंह चूर्णि०
(ख) ,, जिनदास चूर्णि० पृ० १३२
(ग) आवश्यक चूर्णि० पृ० १५२
(घ) महापुराण २६६।६।३७०
(ङ) धनञ्जयनाममाला० ११४ पृ० ५७

७७. (क) त्रिषष्टि० १।३।३०१-३०२
(ख) कल्पलता, समयसुन्दर पृ० २०६
(ग) कल्पद्रुम कलिका पृ० १४६

७८. (क) आवश्यक नियुक्ति० गा० ३४२
(ख) आवश्यक चूर्णि० पृ० १८१
(ग) त्रिषष्टि० १।३।५११-५१३
(घ) चउप्पन्न महापुरिस चरियं (आचार्य शीलांक)

७९. आवश्यक नियुक्ति० गा० ३४३

८०. महापुराण (आदि पुराण पर्व २४) के अनुसार इसी समय सम्राट भरत को अन्तःपुर में पुत्र-रत्न प्राप्त होने की सूचना भी प्राप्त हुई।

८१. (क) आवश्यक मलयगिरि वृत्ति २२६ (ख) आवश्यक चूर्णि० पृ० १८१
(ग) त्रिषष्टि० १।३।५२८-५३०

८२. (क) आवश्यक नियुक्ति (ख) त्रिषष्टि० १।३।५३१

८३. (क) आवश्यक नियुक्ति० गा० ३४५-३४६ (ख) आवश्यक चूर्णि० पृ० १८२
(ग) आवश्यक मलय० वृत्ति प० २२६

८४. धम्माणं कासवो मुहं। —उत्तरा० अ० २५, गा० १६

८५. (क) आवश्यक निर्युक्ति० मलय० वृत्ति पृ० २३०।१ (ख) त्रिषष्टि० १।३।६५४ पृ० ८६

८६. (क) आवश्यक मलय० वृ० पृ० २२६ (ख) त्रिषष्टि० १।३।६५१
(ग) कल्पलता, समयसुन्दर पृ० २०७ (घ) त्रिषष्टि० १।४।७३०-७४६

८७. आवश्यक चूर्णि० पृ० २०६

८८. आवश्यक मलय० पृ० २३१।१

८९. (क) आवश्यक मलय० पृ० २३१।१ (ख) त्रिषष्टि० १।४।८१८ से ८२६

९०. (क) आवश्यक चूर्णि० २०६।२१० (ख) आवश्यक मलयगिरि वृत्ति

९१. आवश्यक निर्युक्ति० गा० ३४८

९२. आवश्यक चूर्णि० पृ० २१०

९३. पढमं दिट्ठीजुद्धं, वायाजुद्धं तहेव बाहाहिं।
मुट्ठीहि अ दंडेहि अ सव्वत्थवि जिप्पए भरहो। —आवश्यक भाष्य गा० ३२

९४. (क) त्रिषष्टि० पर्व १, सर्ग ४-५ (ख) आदि पुराण (जिनसेन) पर्व ३४-३६
(ग) कथाकोष प्रकरण (जिनेश्वर सूरि) कथा ९

९५. (क) आवश्यक मलय० पृ० २३२ (ख) आदि पुराण, पर्व ३६

९६. (क) आवश्यक मलय० वृत्ति (ख) त्रिषष्टि० १।५।७९५ से ७९८
(ग) आवश्यक चूर्णि० पृ० २१०-२११

९७. (क) आवश्यक निर्युक्ति० गा० ४३६ (ख) आवश्यक मलय० वृत्ति पृ० २४६
(ग) आवश्यक चूर्णि० पृ० २२७

९८. भगवान ऋषभदेव के सम्बन्ध मे प्राय. वैदिक ग्रन्थ एक स्वर से श्रद्धाभिव्यञ्जना करते हैं। ऋग् वेद (२-३३-१५) में रुद्र सूक्त मे एक ऋचा है—

"एव बभ्रो वृषभ चेकितान यथा देव न हृणीषे न हंसी।"

हे वृषभ ! ऐसी कृपा करो कि हम कभी नष्ट न हों।

इसके अलावा नाभिपुत्र ऋषभ और ऋषभ पुत्र भरत चक्री का ताण्ड्य ब्राह्मण (१४-२-५) शत० ब्रा० (५, २-५-१७) श्रीमद्भागवत (स्कंध २०) तथा उत्तर कालीन मार्कण्डेय पुराण (अ० ५०) कूर्म पु० (अ० ४१) अग्नि पु० (१०) वायु पु० (३३) गरुड पुराण (१) ब्रह्माण्ड पु० (१४) विष्णु पु० (२-१) स्कंद पु० (कुमार खण्ड ३७) आदि अनेकों पुराणो मे विस्तार के साथ उनकी चर्चा मिलती है।

पुरातत्त्व विभाग के अनुसन्धानों ने तो यह प्रायः सिद्ध कर दिया है कि ऋषभदेव ही भारतीय सभ्यता और योग मार्ग के आद्य प्रवर्तक थे। इसके लिए विशेष जिज्ञासु लेखक का ऋषभ देव, एक परिशीलन ग्रन्थ देखें।

●
● ●

(स्थविरावल्यन्तर्गत टिप्पणानि)

१. (क) 'णव गणा एक्कारस गणधरा' दोण्हं दोण्हं पच्छिमाणं एक्को गणो। जीवंते चेव भट्टारए णवहिं जणेहिं अज्जसुधम्मस्स गणो णिक्खित्तो "दीहाउगो त्ति णातुं।—कल्प० चू० सू० २०१

(ख) परिनिव्वुया गणहरा जीवंते नायए नव जणा उ।
इंदभूई सुहम्मो अ, रायगिहे निव्वुए वीरे। —आवश्यक निर्युक्ति० गा० ६५८

२ मगहा गुब्बरगामे जाया तिन्नेव गोयमसगुत्ता। —आवश्यक निर्युक्ति० गा० ६४३

३. (क) आवश्यक निर्युक्ति० गा० ६४७
(ख) आद्यानां त्रयाणां गणभृतां पिता वसुभूतिः। —आवश्यक मलय० ३३८

४. (अ) आवश्यक निर्युक्ति० गा० ६४८
(ख) आद्यानां त्रयाणां गणभृतां माता पृथिवी। —आवश्यक म० वृ० ३३८

५. तिन्नि य गोयमगुत्ता। —आव० निर्युक्ति० गा० ६४६

६ (क) आवश्यक निर्युक्ति० ६५०
(ख) इन्द्रभूतेरगारपर्यायः पञ्चाशद्वर्षाणि। —आवश्यक मलय० वृ० प० ३३८

७. (क) आवश्यक निर्युक्ति० गा० ६५२
(ख) इद्रभूतेश्छद्मस्थपर्यायस्त्रिंशद्वर्षाणि। —आवश्यक मलय० प० ३३९।१

८. (क) आवश्यक निर्युक्ति० गा० ६५४
(ख) इन्द्रभूतेः केवलिपर्यायो द्वादश वर्षाणि। —आवश्यक मलय० वृ० प० ३३९

९. (क) आवश्यक निर्युक्ति० ६५५
(ख) इन्द्रभूतेः सर्वायुर्द्विनवतिर्वर्षाणि। —आव० मलय० वृ० प० ३३१

१०. आवश्यक निर्युक्ति गा० ६५०। ११. आ० निर्यु० गा० ६५२। १२. आ० निर्यु०गा० ६५४ १३. आ० गा० ६५५। १४. आ० निर्यु० ६५०। १५. आ० नि० गा० ६५२। १६. आ० नि० गा० ६५४। १७. आ० नि० गा० ६५५। १८ आ० नि० गा० ६४३। १९. आ० नि० गा० ६४६ २०. आ० नि० गा० ६४७। २१. आ० नि० गा० ६४८। २२. आ० नि० गा० ६५०। २३. आ० नि० गा० ६५२। २४. आ० नि० गा० ६५४। २५. आ० नि० गा० ६५५। २६. आ० नि० गा० ६४३ २७. आ० नि० गा० ६४६। २८. आ० नि० गा० ६४७। २९ आ० नि० गा० ६४८। ३०. आ० नि० गा० ६५०। ३१. आ० नि० गा० ६५२। ३२. आ० नि० गा० ६५५। ३३. आ० नि० गा० ६४४ ३४. आ० नि० गा० ६४७। ३५. आ० नि० गा० ६४८। ३६ आ० नि० गा० ६५०। ३७. आ०

नि० गा० ६५३-६५४। ३८. आ० नि० गा० ६५५-६५६। ३९. आ० नि० गा० ६५३। ४०. आ० नि० गा० ६४७। ४१. आ० नि० गा० ६४८। ४२. आ० नि० गा० ६४४। ४३ आ०नि०गा० ६४८ ४४. आ० नि० गा० ६५३-६५४। ४५. आ० नि० गा० ६५५। ४६. आ०नि० गा० ६४४। ४७. आ० नि० गा० ६४९। ४८. आ० नि० गा० ६४७। ४९. आ० नि० गा० ६४८। ५०. आ०नि० गा० ६५० ५१. आ० नि० गा० ६५५-६५६। ५२ आ० नि० गा० ६४४। ५३. आ० नि० गा० ६४८। ५४. आ० नि० गा० ६४७। ५५. आ० नि० गा० ६४८। ५६. आ० नि० गा० ६५०। ५७. आ० नि० गा० ६५५-६५६। ५८. आ० नि० गा० ६४५। ५९. आ० नि० गा० ६४६। ६०. आ० नि० गा० ६४७ ६१. आ० नि० गा० ६४८। ६२. आ० नि० गा० ६५१। ६३. आ०नि० गा० ६५५-६५६। ६४. आ० नि० गा० ६४५। ६५ आ० नि० गा० ६४६। ६६. आ० नि० गा० ६४७। ६७. आ० नि० गा० ६४८ ६८. आ० नि० गा० ६५१। ६९. आ० नि० गा० ६५५-६५६।

७० A. वीर निर्वाण संवत् को जानने का तरीका यह है कि वि० स० मे ४७० मिलाने पर, शक सवत् में ६०५ और ई० स० मे ५२७ मिलाने पर वी० नि० सवत् मिल जाता है। जैसे वर्तमान वि० स० २०२५ मे ४७० शक १८९० में ६०५ और १९६८ मे ५२७ मिलाने पर वीर संवत् २४९५ आ जाता है।

७० B. मण परमोहि पुलाए, आहार खवग उवसमे कप्पे।
संजमतिग केवल सिज्झणा य जबूम्मि वुच्छिण्णा।
—जैन परपरानो इतिहास भा० १ पृ० ७२ मे उद्धृत, (त्रिपुटी)

७१. स्थविर सुस्थित गृहस्थाश्रम मे काटिवर्ष नगर के रहने वाले थे, अतः वे कोटिक नाम से पहचाने जाते थे। स्थविर सुप्रतिबुद्ध गृहस्थाश्रम मे काकन्दी नगर के निवासी थे, अत वे काकन्दक नाम से विश्रुत थे।

७२. 'ताम्रलिप्तिका' शाखा की उत्पत्ति बंग देश की उस समय की राजधानी ताम्रलिप्ति या ताम्रलिप्तिका से हुई थी। उस युग मे वह एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। वर्तमान में वह बंगाल के मेदिनीपुर जिले में 'तमलुक' नाम का गाव है।

कोटिवर्षीया शाखा की उत्पत्ति राढ देश की राजधानी कोटिवर्ष नगर से हुई थी। वर्तमान मे वह पश्चिमी बंगाल में मुर्शिदाबाद के नाम से प्रसिद्ध है।

पौण्ड्रवर्धनिका शाखा की उत्पत्ति पुण्ड्रवर्धन नगर से हुई थी। वर्तमान में वह उत्तरी बंगाल के (फिरोजाबाद) माल्दा से ६ मील उत्तर की ओर 'पाण्डुआ' नाम के गाँव से पहचाना जाता है। उस युग मे इसमे राजशाही, दीनाजपुर, रंगपुर, नदिया, वीरभूम, मिदनापुर, जंगलमहल, पचेत और चुनार सम्मिलित थे। एक अन्य विद्वान के मतानुसार (जैन परंपरानो इतिहास भा० १ पृ० २०५) वर्तमान पहाड़पुर (बंगाल के वोगरा जिला E. B. R के स्टेशन से ३ मील दूर) पोंड्रवर्द्धन नगर का वर्तमान अवशेष है।

'दासी कर्पटक' शाखा की उत्पत्ति बगाल के समुद्र के सन्निकटवर्ती 'दासी कर्पट' नामक स्थान से हुई है।

७३. दशाश्रुतस्कंध, चूर्णि

७४. (क) गुर्वावली—मुनि रत्न सूरि
(ख) उवसग्गहरं थुत्तं, काऊणं जेण संघकल्लाणं ।
करुणापरेण विहियं, स भद्दबाहू गुरु जयउ ॥१॥
—कल्पसूत्र कल्पार्थ बोधिनी टीका मे उद्धृत पृ० २०८

७५. मुनि कल्याणविजय जो उपलब्ध भद्रबाहु संहिता को सत्तरहवीं शताब्दी की कृति मानते हैं ।
—निबन्ध निचय पृ० २६७

७६. आवश्यक चूर्णि भाग २, पृ० १८७

७७. (अ) तित्थोगालिय ८०११।२ । (ख) त्रिषष्टि० परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६
(ग) वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना पृ० ६४

७८. कौशाम्बी शाखा की उत्पत्ति कौशाम्बिका नगरी से हुई है। कौशाम्बिका नगरी वर्तमान मे 'कोसम' नाम से प्रसिद्ध है । यह स्थान इलाहाबाद से दक्षिण और पश्चिम मे ३१ मील पर अवस्थित है और जहानपुर से दक्षिण मे १२ मील पर है ।

७९. शुक्तिमतीया शाखा की उत्पत्ति शुक्तिमती नगर से हुई है । शुक्तिमती दक्षिण मालव प्रान्त की एक प्रसिद्ध नगरी थी ।

८०. कोडम्बाण शाखा को उत्पत्ति किस स्थान से हुई है इसका सही पता नही लगा है । पुरातत्त्ववेत्ता श्री कल्याणविजय गणि के अभिमतानुसार यह स्थान युक्त प्रदेश में कही होना चाहिए ।

८१. चन्द्रनागरी शाखा की उत्पत्ति चन्द्रनगर से हुई है । चन्द्रनगर सेवडाफुली जंक्शन से ७ मील उत्तर चन्द्रनगर का रेलवे स्टेशन है और हुगली रेलवे स्टेशन से ३ मील दक्षिण मे है ।

८२. (क) कल्याणविजय गणि के मतानुसार स्थूलिभद्र का स्वर्गवास २१५ में नही, पर २२१ से भी बहुत पीछे हुआ है । तथ्यो के लिए देखिए— —पट्टावली पराग० पृ० ५१
(ख) वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना पृ० ६२ टिप्पणी

८३. वृहत्कल्प भाष्य १।५० गा० ३२७५ से ३२८९

८४. जैन परंपरानो इतिहास भा० १ पृ० १७५-१७६

८५. उदुम्बरीया-शाखा की उत्पत्ति उदुम्बरीया नगर से हुई थी । उदुम्बरीया का वर्तमान मे नाम 'डोमरिया गञ्ज' है । यह रापती नदी के दाहिने तट पर अवस्थित है ।

८६. 'मासपुरीया' शाखा की उत्पत्ति वर्त देश की राजधानी 'मासपुरी' से हुई थी ।

८७. चम्पीया शाखा की उत्पत्ति अंग देश की राजधानी चम्पा से हुई थी ।

८८. भद्रीया शाखा की उत्पत्ति मलय देश की राजधानी भद्रिया से हुई थी ।

८९. काकन्दीया शाखा की उत्पत्ति विदेह देश मे अवस्थित काकन्दी नगरी से हुई थी ।

९०. मिथिला शाखा की उत्पत्ति विदेह की राजधानी मिथिला से हुई थी ।

९१. उडुवाडिय (ऋतुवाटिका) शाखा की उत्पत्ति 'उडुवाडिय' स्थान से हुई है जो आजकल 'उलवडिया; नाम से प्रसिद्ध है । यह स्थान कलकत्ता से १५ मील दक्षिण भागीरथी गंगा के बायें किनारे पर हावड़ा जिले में है ।

९२. 'क्षौमिलिया' शाखा की उत्पत्ति पूर्व बंगाल के क्षौमिल नगर से हुई थी जो वर्तमान मे 'कोमिला' नाम से प्रसिद्ध है ।

९३. मानवगण की ये तीन शाखायें क्रमशः काश्यप, गौतम और वासिष्ठ गोत्रो से विश्रुत हुई है और चतुर्थ शाखा 'सोरट्ठिया' की उत्पत्ति सोरठ नगर से हुई है, जो वर्तमान में मधुवनी से उत्तर-पश्चिम में आठ मील पर 'सोरठ' नाम से अवस्थित है ।

९४. कोटिकगण की उत्पत्ति सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध स्थविरो से हुई है। आर्य सुस्थित गृहस्थाश्रम में कोटिवर्ष नगर के निवासी थे और सुप्रतिबुद्ध काकन्दी नगरी के। अतः इन स्थविरों के अपर नाम क्रमशः कोटिक और काकन्दक भी थे। इन स्थविरो से प्रादुर्भूत होने वाला गण 'कोटिक' नाम से विश्रुत हुआ।

९५. 'उच्चानागरी' शाखा की उत्पत्ति 'उच्चानगरी' से हुई है। उच्चानगरी' ही वर्तमान मे 'बुलन्द शहर' के नाम से विख्यात है।

९६. मध्यमिका शाखा की उत्पत्ति चित्तोड के सन्निकटवर्ती मध्यमिका नगरी मे हुई थी।

९७. बंभलिज्जिय' कुल के स्थान पर मथुरा के शिलालेखों मे ब्रह्मदासिका नाम उपलब्ध होता है। कल्याणविजय गणि के अभिमतानुसार यह नाम शुद्ध है—"कोटिक गण' के जन्मदाता ,सुस्थित — सुप्रतिबुद्ध के गुरुभ्राता 'ब्रह्मगणा का पूरा नाम 'ब्रह्मदास गणि' हो और उन्ही के नाम से ब्रह्मदासिक कुल प्रसिद्ध हुआ हो।" पट्टावली पराग पृ० ४१-४२

९८. वाणिज्य कुल के स्थान पर मथुरा के शिलालेखों में 'ठाणियातो' नाम उत्कीर्ण है। कल्याण विजय जी इस नाम को ठीक मानते हैं। देखें —पट्टावली पराग पृ० ४२

९९. (क) कल्पसुबोधिका टीका पृ० ५५४, साराभाई मणिलाल नवाब
(ख) जैन परम्परानो इतिहास, भा० १, पृ० २२०-२२१

१०० सो पइट्ठाणं आगतो। तत्थ य सातवाहणो राया सावगो। तेण समणपूयणओच्छणो पवत्ति तो, अतेउरं च भणियं—अमावसाए उववासं काउ "अट्ठमिमादीसु उववास कातु" इति पाठान्तरम्। पारणए साघूणं भिक्खं दाउ पारिज्जह। अघ पज्जोसमणादिवसे आसण्णीभूते अज्जकालएण सातवाहणो भणितो—भद्दवयजोण्हस्स पचमीए पज्जोसवणा। रण्णा भणितो—तद्दिवसं मम इंदो अणु जायव्वो होहिति तो 'ण पज्जुवासिताणि चेतियाणि साघुणो य भविस्संति" ति कातु तो छट्ठीए पज्जोसवणा भवतु। आयरिएण भणियं—न वट्टति अतिकामेतुं। रण्णा भणित—तो चउत्थीए भवतु"""आयरिएण भणितं एवं होउ, त्ति चउत्थीए कता पज्जोसवणा। एवं चउत्थी वि जाता कारिणता। —पज्जोसमणाकप्पणिज्जुत्ती पृ० ८९
(क) श्री निशीथसूत्र चूर्णि० उ० १०
(ख) भरतेश्वर बाहुबलि वृत्ति

१०१. तुम्बवन के परिचय के लिए देखिए—मुनि श्री हजारीमल स्मृतिग्रंथ पृ० ६७७

१०२. (क) आवश्यक चूर्णि०,प्रथम भा० प० ३९०
(ख) अवंती जणवए तुम्बवणसन्निवेसे धणगिरी नाम इब्भपुत्तो।
—आवश्यक हारिभद्रीय टीका प्र० भा० प० २८९-१

(ग) अवंतीजणवए तुम्बवणसन्निवेसे धणगिरी नाम इब्भपुत्तो।

—आवश्यक मलय० टी० द्वि० भा० प० ३८७-१

(घ) तुंबवणसन्निवेसे अवंतीविसयंमि धणगिरि नाम इब्भसुओ असि नियंगचंगिमाविजियसुरख्वो।

—उवएसमाला सटीक, ११०, पत्र २०७

१२३. (क) उपदेशमाला सटीक, गाथा ११०, पत्र २०७

(ख) ऋषिमंडल प्रकरण गा० २ पत्र १६१-१

(ग) त्रिषष्टि० परिशिष्ट पर्व, द्वादश सर्ग, श्लोक ४, पृ० २७०

१०४ (क) वज्रादप्यधिकं भारं, शिशोरालोक्य सूरय.।

जगत्प्रसिद्धां श्री वज्र इत्याख्यां ददुरुन्मुदः। —ऋषिमंडल प्रकरण, श्लोक ३४ पृ० १६३।१

(ख) सो वि य भूमिपत्तो जा जाओ तत्वसूरिणा भणियं।

अज्वो किं वइरमिमं जं भारियं भावमुव्वहइ॥ —उपदेश माला, सटीक पत्र २०८

(ग) तद्भारभंगुरकरो, गुरुरूचे सविस्मयः

अहो पुरूपभूद्वज्रमिदं धर्तुं न शक्यते। —परिशिष्ट पर्व, सर्ग १२, श्लो० ५२ पृ० २७४

(घ) भरतेश्वर बाहुबलि वृत्ति, पृ० ६६, शुभशीलगणि

१०५ भरतेश्वर बाहुबलि वृत्ति : प० ७३

१०६. (क) आवश्यक निर्युक्ति ३६३—३७७

(ख विशेषावश्यक भाष्य २२८४—२२६५

१०७. (क) आवश्यक निर्युक्ति ७६२

(ख) विशेषावश्यक भाष्य २२७६

१०८. नन्दी चूर्णि पृ० ८

१०९ वीर निर्वाण संवत् और जैन कालगणना—कल्याणविजय पृ० १०४

११०. जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए ममं एग वाससहस्सं पुव्वगए अणुसज्जिस्सइ।

—भगवती सूत्र २०।८।६७७

१११. (क) नन्दी सूत्र, हारिभद्रीय टीका

(ख) ,, मलयगिरि वृत्ति

(ग) नन्दी सूत्र, चूर्णि जिनदास गणी महत्तर

[समवायांगान्तर्गत टिप्पणानि]

१. (क) समणे भगवं महावीर०। चंदसंवच्छरमधिकृत्यापदिश्यते जेणं जुगादी सो।

—कल्पसूत्र चूर्णि सू० २२४

(ख) वासाणं सवीसइराए, चन्द्रसंवत्सरमधिकृत्यापदिश्यते जेण सो जुगाई।

—कल्पसूत्र, टिप्पनक सू० २२४

२. नो से कप्पई तं रयणि, ति भाद्रशुक्लपञ्चमीमतिक्रमितुम्।

—कल्पसूत्र टिप्पनक सू० २३१

३. (क) अत्थेगतिया आयरिया 'दाए भंते।' दाते गिलाणस्स मा अप्पणो पडिग्गाहे चातुम्मासिगादिसु।

—कल्पसूत्र चूर्णि सू० २३४

(ख) 'एवं वुत्तपुव्वं' ति यद्येतदुक्तं भवति गुरुभिर्यदुत 'दापयेर्ग्लानाय त्वं' तदा दातु कल्पते न स्वयं ग्रहीतुमिति।

—कल्पसूत्र टिप्पण सू० २३४

४. पडिग्गाहे भंते! त्ति अप्पणो पडिग्गाहे अज्ज गिलाणस्स अण्णो गिण्हिहि त्ति ण वा भुंजति। अघ दोण्ह वि गेण्हंति तो पारिट्ठावणियदोसा। अपरिट्ठवेंते गेन्नण्णादि।

—कल्पसूत्र चूर्णि० २३५

५. दाए पडिग्गाहे गिलाणस्स अप्पणो वि, एवाऽऽयरियबाल-वुड्ढ पाहुणगाण वि त्रितिण्णं, स एव दोसो मोहुब्भवो, खीरे य धरणे आत—संजमविराधणा।

—कल्पसूत्र चूर्णि सू० २३६

(ख) दावे भंते!' दापयेः 'पडिगाहे' त्वमपि गृह्णीयाः।

—कल्पसूत्र, आचार्य पृथ्वीचन्द्र टिप्पण सू० २३६

६. (क) उत्तराध्ययन अ० १७, गा० १५।

(ख) वही, अ० ३०, गा० २६

(ग) विकृतिहेतुत्वाद्विकृती — उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति शान्त्याचार्य प० ४३५

(घ) स्थानाङ्ग ६।६७४

(च) चत्तारि सिणेह विगतीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—तेल्लं घयं वसा णवणीतं।

—स्थानाङ्ग ४।१।२७४

(छ) चत्तारि महाविगतीओ पन्नताओ, तं जहा—महुं, मंसं, मज्जं, णवणीतं।

—स्थानाङ्ग ४।१।२७४

(ज) विकृति—अशोभनं गतिं नयन्तीति विगतय; ताश्च क्षीरविगयादय. विगतीमाहरयतः मोहोद्भवो भवति।

—उत्तराध्ययन चूर्णि० पृ० २४६

(झ) विशेष जिज्ञासु लेखक का 'मांसाहार निषेध', लेख देखें।

७. छट्ठस्स दो गोयर काला। किं कारणं? सो पुणो वि कल्लं उववासं काहिति, जति खंडिताणि तत्तियाणि चेव कप्पति कोस एगवारा गेण्हितुं ण धरेति? उच्यते—सीतलं भवति संचय संसत्त-दीहादी दोसा भवंति, भुत्ताणुभुत्ते य बलं भवति, दुक्ख च धरेति त्ति।

—कल्पसूत्र चूर्णि० सू० २४२

८. (क) व्यपगतं अष्टं व्यष्टं विकृष्टं वा, तिण्णि वि गोयरकाला सब्वे चत्तारि वि पोरुसितो। आहा-रगणंतरं पाणगं। —कल्पसूत्र चूर्णि सू० २४४

(ख) 'विकिट्ठ' त्ति अष्टमादूर्ध्वं तपः —कल्पसूत्र टिप्पण० सू० २४४

९ 'तओ पाणगा' त्रीणि पानकानि। 'उस्सेइम' पिट्ठजलाइ। 'संसेइमं' पत्राणि उक्कालेउं सीयलेण जलेण सिञ्चति तं संसेइम। —कल्पसूत्र टिप्पण सू० २४६

१०. (क) 'आयामगं' अवस्सावणं सोवीरग' अबिलं। —कल्पसूत्र चूर्णि सू० २४८

(ख) 'आयामए' अवस्त्रावणम्। सोवीर काञ्जिकम्। 'सुद्धवियड' उष्णोदकम्।

—कल्पसूत्र टिप्पण सू० २४८

११. (क) 'संखादत्तिओ' परिमितदत्तिओ। लोण थोवं दिज्जति, जति तत्तिलगं भत्तपाणस्स गेण्हति सा वि दत्ती चेव। पंच ति णिम्म चतुरो तिण्णि दो एगा वा। छ सत्त वा मा एव संछोभो—कताइ तेण पंच भोयणस्स लद्धातो तिण्णि पाणगस्स ताहे ताओ पाणगच्चियातो भोयणे संछु-ब्भति तण्ण कप्पति, भोयणच्चियातो वा पाणए सछुब्भति तं पि ण कप्पति।

—कल्पसूत्र चूर्णि सू६ २५१

(ख) 'संखादत्ति' परिमित दत्तेः। 'लोणासायणं स्तोकम्। —कल्पसूत्र टिप्पन २५१

१२. (क) वासावास ० ज किंचि कणगफुसितं उस्सा महिया वास वा पडति उदगविराहण त्ति काउं

—कल्पसूत्र चूर्णि० २५३

(ख) 'पाणिपठिग्गहि' जिनकल्पिकादेः। ओम-महीवासा फुसारमात्रं यावत् पतति तावन्न कल्पते गन्तुम्। —कल्पसूत्र टिप्पण सू० २५३

१३. वग्घारियवुट्टिकातो जो वासकप्पं गालेति अच्छिण्णाते व धारा ते। कप्पति से 'संतरुत्तरस्स, अंतरं — रयहरणं पडिग्गहो वा उत्तर पाउरण कप्पो सह अंतरेण उत्तरस्स।

—कल्पसूत्र चूर्णि २५६

१४, आचाराग १।८।४।५१

१५. उत्तराध्ययन अ० २३ गा० १३

१६ 'संतरुत्तरंसि' अतरमिति कल्पः उत्तरं च—वर्षाकल्प कम्बली, अथवा अंतरं—रजोहरणं पडिग्गहो वा उत्तरं पाउकरणप्पो तेहिं सह। —कल्पसूत्र पृथ्वी० टिप्पण २५६

१७. ओघनिर्युक्ति गाथा ७२६ वृत्ति

१८. कम्बलस्य च वर्षासु बहिर्निर्गताना तात्कालिकवृष्टावप्काय रक्षणमुपयोगः, यतो बालवृद्धग्लाननिमित्तं वर्षत्यपि जलधरे भिक्षार्थं असह्योच्चार प्रस्रवणपरिष्ठापनार्थं च निःसरता कम्बलावृत्तदेहाना न तथा विधाप्काय विराधनेति। --धर्मसंग्रह वृत्ति पत्र ६६

१९. बाल-वृद्ध-ग्लाननिमित्तं वर्षत्यपि जलधरे भिक्षार्थं निःसरतां कम्बलावृतदेहाना न तथा विद्याप्काय विराधना। —योगशास्त्र, स्वोपज्ञ वृत्ति ३, ८७

२०. अह पुणेवं जाणेज्जा—तिब्बदेसियं वासं वासमाणं पेहाए, तिब्बदेसियं वा महियं सण्णिवयमाणि पेहाए..................से एवं णच्चा णो साडिग्गहमायाए गाहावइ-कुलं पिंडवायपडियाए णिक्खमेज्ज वा पविसेज्ज वा। —आयारो तह आयार चूला, चूला १, अ० ६ उद्देशा २, सू० ५३, पृ० २६६

२१. दशवैकालिक ५।१।८

२२ ण इति पडिसेहसद्दो, चरणं गोचरस्स त पडिसेहेति 'वासं' मेघो, तम्मि पाणियं मुयन्ते।
— दशवैकालिक, अगस्त्यसिंह चूर्णि

२३. नकारो पडिसेहे वट्टइ, चरेज्ज नाम भिक्खस्स अट्ठा गच्छेज्जाति. वासं पसिद्धमेव, तंमि वासे वरिसमाणे उ चरियव्वं, उत्तिण्णेण य पव्वुट्ठे अहाछन्नाणि सगडगिहाइणि पविसित्ता ताव अच्छइ जावट्ठिओ ताहे हिंडइ। —दशवैकालिक जिनदास चूर्णि पृ० १७०

२४. न चरेद्वर्षे वर्षति, भिक्षार्थं प्रविष्ठो वर्षगे तु प्रच्छन्ने तिष्ठेत्।
—दशवैकालिक हारिभद्रीया टीका प० १६४

२५. कणगफुसियमित्तं पि।

२६. (क) महियाए व पडतिए। —दशवै० ५।१।८
(ख) महिया पायसो सिसिरे गब्भमासे भवइ ताएवि पडतीए नो चरेज्जा।
—दशवै० जिनदास चूर्णि० पृ० १७०

२७. निगिज्झिय निगिज्झिय स्थित्वा स्थित्वा। कप्पइ अहे वियडगिहं सि वा आस्थानमण्डपम्। पुव्वाउत्ते 'भिलंगसूवे' मसूरदालिः उडिददालिर्वा इति जनश्रुतिः व्यवहारवृत्तौ त्विदमुक्तम् "यद् गृहस्थाना पूर्वप्रवृत्तमुपस्क्रियमाण तत् पूर्वायुक्तम्।" इति। साधोरागमनात् पूर्वं गृहस्थैः स्वभावेन राध्यमानः सतन्दुलोदनः 'भिलंगसूपो नाम' सस्नेहः सूपो दालिरिति स कल्पते प्रतिग्रीहतुम्। यो ऽसौ तत्र 'पूर्वागमनेन' पूर्वागताः साधव इति हेतोः परचाद् दायकः प्रवृत्तो राद्धुं स तन्दुलोदनो भिलंगसूपो वा नासौ कल्पते प्रतिग्रहीतुमिति।

—कल्पसूत्र, आचार्य पृथ्वीचन्द्र टिप्पण सू० २५७

२८. तत्थ वि वियडरुक्खमूलेसु कहं अच्छितव्वं? "तत्थ णो कप्पति एगस्स णिग्गंथस्स एगाए य णिग्गंथीए।" कहं एगाणिओ? स घाडइल्लओ अब्भत्तट्ठिओ असुहितओ कारणिओ वा। एवं णिग्गंथीण वि आयपरोभयसमुत्था दोसा संकादओ य भवंति। अह पंचमओ खुड्डओ वा खुड्डिया वा, छक्कण्णं रहस्सं ण भवति तत्थ वि अच्छंतो अण्णेसिं धुवकम्मियादीणं संलोए 'सपडिदुवारे' सपडिहुत्तदुवारं सव्वगिहाण वा दुवारे। खुड्डगो साधूणं स जतीणं खुड्डिया। साधू उस्सग्गेणं दो, संजती-ओतिण्णि चत्तारि पंच वा। एवं अगारीहिं वि। —कल्पसूत्र चूर्णि सू० २५९-२६०-२६१

२९. (क) 'अण्णतरं वा विगतिं', खीरादि, 'एवतियं' एत्तियं परिमाणेणं, 'एवतिखुत्तो' एत्तियवारातो दिवसे वा मोहुब्भवदोसा खमगगिलाणाणं अणुण्णाता। —कल्पसूत्र चूर्णि २७६
(ख) कल्पसूत्र टिप्पण २७६

३१. (क) वासावासं० णो कप्पति णिग्गंथा २ परं पज्जोसवणातो गोलोममेत्ता वि केसा जाव संवच्छरिए थेरकप्पे। उवातिणावेत्तए' त्ति अतिक्कामेत्तए। केसेसु आउक्कातो लग्गति सो विराधिज्जति, तेसु य उल्लतेसु छप्पतियातो समुच्छंति, छप्पइयाओ य कडूयतो विराधेति, अप्पणो वा खत करेति, जम्हा एते दोसा तम्हा गोलोमप्पमाणमेत्ता वि ण कप्पति। जति छुरेण करोति कत्तरीए वा आणादीता, छप्पतियातो छिज्जंति, पच्छाकम्म च ण्हावितो करेति, ओहामणा तम्हा लोओ कातव्वो, तो एते दोसा परिहरिता भवति। भवे कारणं ण करेज्जा वि लोय असाहू ण तरेति अहियासेतुं, लोयं जतिकीरति अण्णे उवद्दवो भवति, बालो रुवेज्ज वा धम्म वा छड्डेज्ज, गिलाणो वा तेण लोओ ण कीरति। जइ कत्तरीए कारेति पक्खे पक्खे कातव्वं, अध छुरेण मासे मासे कातव्वं, परम छुरेण, पच्छा कत्तरीए-अप्पाण दवं घेत्तूण तस्स वि हुत्थधोवणं दिज्जति एस जयणा। धुवलोओ उ जिणाणं। थेराण पुण वासासु अवस्सं कायव्वो। पक्खिया आरोवणा वयाणं सव्वकालं। अहवा संथारयदोषाणं पक्खे पक्खे बंधा मोत्तव्वा पडिलेहेयव्वा य। अहवा पक्खिया आरोवणा केसाणं कत्तरीए, अण्णहा पच्छित्तं। मासितो छुरेणं लोओ छण्हं मासाणं थेराण, तरुणाणं चाउम्मासिओ। सवच्छरिओ त्ति वा वासरत्तिओ त्ति वा एगट्ठं। उक्तं च

सवच्छरं वा वि परं पमाण।

बीयं च वासं ण तहिं वसेज्जा,

एस 'कप्पो'-मेरा मज्जाया, कस्स? थेराणं भणिता आपुच्छ-भिक्खायरियादि-विगति पच्चक्खाण जाव मत्तग त्ति। जिणाण वि एत्थ किंचि सामण्ण पाएण पुणथेराणं।

—कल्पसूत्र चूर्णि २८४

(ख) 'उवायणा' अतिक्रमयितुम्। शेषो लोचादिविधि चूर्णितो ज्ञेय:।

—पृथ्वी० टिप्पण २८४

(ग) केशेषु हि अप्कायविराधना, तत्संसर्गाच्च यूका: समूर्च्छन्ति, ताश्च कण्डयमानो हन्ति शिरसि नखक्षत वा स्यात्, यदि क्षुरेण मुण्डापयति कर्त्तर्या वा तदाऽऽज्ञाभंगाद्या: दोषा: संयमात्मा-विराधना, यूकाश्छिद्यन्ते नापितश्च पश्चात्कर्मकरोति शासनापभ्राजना च, ततो लोच एव श्रेयान्।

—कल्पसूत्र सुबोधिका टीका, पत्र० १९०-९१

३२. देखिये—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, आवश्यक निर्युक्ति आदि

३३. वीरासण उक्कुडुगासणाइ लोआइओ य विण्णेओ।
कायकिलेसो संसारवासनिव्वेअहेउत्ति॥
वीरासणाइसु गुणा कायनिरोहो दया अ जीवेसु।
परलोअमई अ तहा बहुमाणो चेव अन्नेसिं॥
णिस्संगया य पच्छापुरकम्मविवज्जणं च लोअगुणा।
दुक्खसहत्तं नरगादिभावणाए य निव्वेओ॥

तथाऽन्यैरप्युक्तम्—

पश्चात्कर्म पुर: कर्म (मेई) र्यापथपरिग्रह:।
दोषा ह्यते परित्यक्ता:, शिरोलोचं प्रकुर्वता॥ —दसवैकालिक, हारिभद्रीय वृत्ति प० २८२१।

३४. जं अज्जियं समीरवल्लएहिं तवनियमबंभमइएहिं ।
तं दाणि पच्छ नाहिसि, छड्डितो सागपत्तेहिं ।।२७१४।।
तवो भेदो अयसो, हाणी, दसण-चरित्त-नाणाण ।
साहुपदोसो संसारवड्ढणो साहिकरणस्स ।।२७०८।। —कल्पलघुभाष्य

३५. खमावणयाएण जीवे पल्हायणभावं जणयइ । —उत्तरा० २६

३६. वासासु वाघातणिमित्तं तिण्णि उवस्सया घेत्तव्वा । का समाचारी ? उच्यते—वेउव्विया पडिलेहा पुणो पुणो पडिलेहिज्जति ससत्ते असंसत्तं, तिण्णि वेलाओ—पुव्वण्हे १ भिक्खं गतेसु २ वेतालिय ३ । जे अण्णे दो उवस्सया तेसिं 'वेउव्विया पडिलेहा' दिणे दिणे निहालिज्जंति, मा कोति ठाहिति ममत्तं वा काहिति, ततिए दिवसे पादपुञ्छणेण पमज्जिज्जति । —कल्पसूत्र चूर्णि सू० २८७

३७. (क) तेणं कालेणं तेणं समेएणं समणे भगवं महावीरे रायगिहे णगरे सदेवमणूयासुराए 'परिसाए' उद्घाट्य शिरः परि-सर्वतः सीदति परिषत् 'मज्झे ठितो' मज्झगतो 'एवं यथोक्तं कहेति, भासति वाग्योगेण, पण्णवेति अणुपालियस्स फल, परुवेति, प्रति फल प्रतिरूवेति । 'पज्जोसवणा-कप्पो ।' त्ति वग्गिसारत्तमज्जाता । अज्जो ! त्ति आमंत्रणे । द्विग्रहण निकाचनार्थं, एव कर्तव्यं नान्यथा । सह अत्थेण सअट्ठं । सेहेतु न निर्हेतुकम् । 'सनिमित्त सकारणं' अणणुपा-लितस्स दोसा अयं हेतुः, अपवादो कारण जहा सवीसतिराते मासे वीतिक्कते पज्जोसवेयव्व । किंनिमित्तं हेतुः पाएणं अगारीहिं अगाराणि सट्ठाए कडाणि । कारणं उरेण बि पज्जो-सवेति आसाढपुण्णिमाए । एवं सव्वसुत्ताण विभासा । दोसदरिसण हेतुः । अववादो कारण । संहेतुं सकारणं भुज्जो भुज्जो ।' पुणो पुणो उवदसेति । परिग्रहणात् सावगाण वि कहिज्ज-ति, समोसरणे कड्ढिज्जति पज्जोसमणाकप्पो । —कल्पसूत्र चूर्णि सू० २९१

●

१ तत—तन्तुवाद्य-वीणा आदि
२ वितत—मंढे हुए वाद्य-पटह आदि
३ घन—कांस्यताल
४ झुसिर—शुषिर-फूंक द्वारा बजने वाला वाद्य बांसुरी आदि।

—स्थानाङ्ग ४

१ शंख
२ शृंग
३ शंखिका
४ खरमुही
५ पेया
६ पीरिपिरिया—शूकर-पुटावनद्धमुखो-वाद्य विशेषः।
७ पणव—लघु पटह
८ पटह
९ भंभा—ढक्का
१० होरंभ—महाढक्का
११ भेरी
१२ झल्लरी
१३ दुंदुभि—वृक्ष के एक भाग को भेदकर बनाया गया वाद्य।
१४ मुरज -शकटमुखी
१५ मृदंग
१६ नंदी मृदंग—एकतः संकीर्ण अन्यत्र विस्तृतो मुरज विशेषः।
१७ आलिंग
१८ कुतुम्ब चर्मावनद्धपुटो वाद्यविशेषः।
१९ गोमुखी
२० मर्दल
२१ वीणा
२२ विपंची—त्रितंत्री वीणा
२३ वल्लकी—सामान्य वीणा
२४ महती—शततंत्रिका वीणा
२५ कच्छभी
२६ चित्रवीणा
२७ बद्धीसा
२८ सुघोषा
२९ नन्दीघोषा
३० भ्रामरी
३१ षड्भ्रामरी
३२ परवादनी—सप्ततंत्री वीणा
३३ तूणा
३४ तुम्बवीणा
३५ आमोद
३६ झंझा
३७ नकुल
३८ मुकुन्द
३९ हुडुक्की
४० विचिक्की
४१ करटा
४२ डिंडिम

४३ किणित
४४ कडंब
४५ दर्दरिका—गोहिया
४६ दर्दरक
४७ कलशी
४८ मडुक
४९ तल
५० ताल
५१ कांस्यताल
५२ रिंगिसिया
५३ लत्तिया
५४ मगरिका
५५ सुंसुमारिया
५६ वंश
५७ वेणु
५८ वाली
५९ परिल्ली
६० बद्धगा

—राजप्रश्नीय सूत्र ६४

१ भंभा
२ मुकुन्द
३ मद्दल
४ कडंब
५ झल्लरि
६ हुडुक्क
७ कांस्यताल
८ काहल
९ तलिमा
१० वंश
११ पणव
१२ शंख

—वृहत्कल्पभाष्यपीठिका २४ वृत्ति

संगीत

गीत के तीन प्रकार हैं:—

१ प्रारंभ में मृदु
२ मध्य में तेज
३ अन्त में मन्द

—स्थानाङ्ग ७, उ० ३
—अनुयोगद्वार

गीत के दोष

१ **भीतं**—भयभीत मानस से गाया जाय,
२ **द्रुतं**—बहुत-शीघ्र-शीघ्र गाया जाय
३ **अपित्थं**—श्वास युक्त शीघ्र गाया जाय अथवा ह्रस्व स्वर लघु स्वर से ही गाया जाय।
४ **उत्तालं**- अति उत्ताल स्वर से व अवस्थान ताल से गाया जाय,
५ **काकस्वरं**—कौए की तरह कर्ण-कटु शब्दों से गाया जाय।
६ **अनुनासिकम्**—अनुनासिका से गाया जाय।

—अनुयोगद्वार

गीत के आठ गुण:—

१ **पूर्ण**—स्वर, लय और कला से युक्त गाया जाय।
२ **रक्तं**—पूर्ण तल्लीन होकर गाया जाय।

३ **अलंकृत**—स्वर विशेष से अलंकृत होकर गाया जाय।

४ **व्यक्तं**—स्पष्ट गाया जाय।

५ **अविघुष्टं**—अविपरीत स्वर से गाया जाय।

६ **मधुरं**—कोकिला की तरह मधुर गाया जाय।

७ **समं**—ताल, वंश, व स्वर से समत्व गाया जाय।

८ **सुललितं**—कोमल स्वर से गाया जाय।

अन्य आठ गुणः—

१ **उरोविशुद्ध**—वक्षस्थल से विशुद्ध होकर निकलना।

२ **कण्ठविशुद्ध**—जो स्वर भंग न हो।

३ **शिरोविशुद्ध**—मूर्धा को प्राप्त होकर भी जो स्वर-नासिका से मिश्रित नही होना।

४ **मृदुक**—जो राग कोमल स्वर से गाई जाय।

५ **रिङ्गित**—आलाप के कारण स्वर अठ-खेलिया करता-सा प्रतीत हो।

६ **पदबद्ध**—जो गेय पद विशिष्ट लालित्य युक्त भाषा में निर्मित किये गये हों।

७ **समताल प्रत्युत्क्षेप**—नर्तकी का पाद-निक्षेप और ताल आदि परस्पर मिले हों।

८ **सप्त स्वर सीभर**—सातों स्वर अक्षरादि से मिलान खाते हों।

अक्षरादि सम भी सात प्रकार का हैः—

१ **अक्षर-सम**—ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, सानुनासिका से युक्त।

२ **पद-सम**—पद विन्यास से युक्त।

३ **ताल-सम**—ताल के अनुकूल कर आदि का हिलाना।

४ **लय-सम**—वाद्य यन्त्रों के साथ स्वर मिलाकर गाना।

५ **ग्रह-सम**—बांसुरी या सितार की तरह गाना।

६ **निश्वसितोच्छ्वसितो सम**—श्वास ग्रहण करने और निकालने का क्रम व्यवस्थित।

७ **संचार-सम**—वाद्य यन्त्रों के साथ गाना

—स्थानाङ्ग ७।३।२५

—अनुयोगद्वार गा० ७

प्रकारान्तर से अन्य आठ गुणः—

१ **निर्दोष**—गीत के बत्तीस दोष से रहित गाना।

२ **सारवन्तं**—विशिष्ट अर्थ से युक्त गाना।

३ **हेतुयुक्तं**—गीत से निबद्ध, अर्थ का गमक और हेतु युक्त।

४ **अलंकृतं**—उपमादि अलंकारों से युक्त।

५ **उपनीतं**—उपनय से युक्त।

६ **सोपचारं**—कठिन न हो, विशुद्ध हो।

७ **मितं**—सक्षिप्त व सार युक्त।

८ **मधुरं**—योग्य शब्दों के चयन से श्रुति-मधुर।

—स्थानाङ्ग

छन्द के तीन प्रकारः—

१ **सम**—चारों पाद के अक्षरों की संख्या समान।

२ **अर्धसम**–प्रथम और तृतीय, द्वितीय और चतुर्थ पाद समान संख्या वाले हों।

३ **विषमसम**—किसी भी पाद की संख्या एक दूसरे से नहीं मिलती हो।
—अनुयोग द्वार गा० १०

सप्तस्वर

१ **षडज**—नासिका, कंठ, छाती, तालु, जिह्वा, दांत, इन छह स्थानों से उत्पन्न।

२ **वृषभ**—जब वायु नाभि से उत्पन्न होकर कण्ठ और मूर्धा से टक्कर खाकर वृषभ के शब्द की तरह निकलता है।

३ **गांधार**—जब वायु नाभि से उत्पन्न होकर हृदय और कण्ठ को स्पर्श करता हुआ सगंध निकलता है।

४ **मध्यम**—जो शब्द नाभि से उत्पन्न होकर हृदय से टक्कर खाकर पुनः नाभि में पहुँचे। अर्थात् अन्दर ही अन्दर गूंजता रहे।

५ **पञ्चम**—नाभि, हृदय, छाती, कंठ और सिर इन पाँच स्थानों से उत्पन्न होने वाला स्वर।

६ **धैवत**—अन्य सभी स्वरों का जिसमें मेल हो, इसका अपर नाम रैवत भी है।

७ **निषाद**—जो स्वर अपने तेज से अन्य स्वरों को दबा देता है और जिसका देवता सूर्य हो।

ग्राम और मूर्च्छनाएँ:—

सात स्वरों के तीन ग्राम हैं:—

१ **षडज ग्राम**
२ **मध्य ग्राम,**
३ **गांधार ग्राम**

षडज ग्राम की सात मूर्च्छनाएँ:—

१ **मार्गी**
२ **कौरवी,**
३ **हरिता,**
४ **रत्ना**
५ **सारकान्ता**
६ **सारसी**
७ **शुद्ध षड्जा**

मध्य ग्राम की सात मूर्च्छनाएँ—

१ **उत्तरमंदा**
२ **रत्ना**
३ **उत्तरा**
४ **उत्तरासमा**
५ **समकान्ता,**
६ **सुवीरा**
७ **अभिरूपा**

गांधार ग्राम की सात मूर्च्छनाएँ

१ **नवी**
२ **क्षुद्रिका**
३ **पूरिमा**
४ **शुद्धगान्धार**
५ **उत्तर गांधार**

६ सुष्ठुतर मायामा

७ उत्तरायत कोटिमा

संगीत शास्त्र में मूर्च्छनाओं के नाम अन्य उपलब्ध होते हैं—

१ ललिता,

२ मध्यमा

३ चित्रा

४ रोहिणी

५ मतंगजा

६ सौवीरी

७ षण्मध्या

१ पंचमा

२ मत्सरी

३ मृदुमध्यमा

४ शुद्धा

५ अन्त्रा

६ कलावती

७ तीव्रा

१ रौद्री

२ ब्राह्मी

३ वैष्णवी

४ खेदरी

५ सुरा

६ नादावती

७ विशाला

कल्पसूत्र का संक्षिप्त पारिभाषिक शब्द-कोश

अचेलक—कल्प का एक भेद। देखिये 'कल्प' शब्द।

अट्ठमभक्त—लगातार आठ समय (वक्त)तक आहार पानी का परित्याग, किंवा केवल आहार का त्याग—तीन दिन का उपवास; तेला।

अनगार—मुनि। गृह का त्यागकर मुनिव्रत स्वीकार करने वाला श्रमण।

अनुत्तरौपपातिक—अनुत्तर—सर्वश्रेष्ठ देव विमान में, औपपातिक- जन्म लेने वाला देव।

अनुत्तर विमान—सर्वश्रेष्ठ देव विमान।

अभिग्रह—दृढ़ संकल्प, निश्चय जो कि जहाँ तक सफल नहीं होता, वहां तक गुप्त रखा जाता है।

अवग्रह— चातुर्मास मे एक स्थान पर रहने के बाद आस-पास के क्षेत्र में जाने-आने की मर्यादा का निर्धारण करना।

अवधिज्ञान—इन्द्रियों की सहायता के बिना होने वाला रूपी पदार्थों का ज्ञान।

अवधिज्ञानी—अवधिज्ञान जिसे प्राप्त हुआ हो वह साधक।

अनशन— अशन—भोजन! भोजन का परित्याग करना—अनशन। एक प्रकार का तप।

अवसर्पिणी—कालचक्र का अर्धभाग। भूमि, वृक्ष आदि वस्तुओं का स्वारस्य तथा मनुष्यों के पुरुषार्थ आदि गुण जिस कालक्रम में क्रमशः घटते-जाते हैं, वह समय। कालचक्र का अपकर्ष-युग।

अवस्वापिनी—मनुष्य आदि को गहरी नींद दिला देने वाली एक विद्या।

अष्टांग महानिमित्त—आठ प्रकार की निमित्तविद्या। जैसे (१) **अंग विद्या**-शरीर के अगोपांग के फुरकने से लाभालाभ का ज्ञान। (२) **स्वप्न विद्या**-शुभाशुभ स्वप्नों का फल ज्ञान। (३) **स्वरविद्या**-काक, शृगाल, उल्लू आदि पक्षियों के स्वर से लाभालाभ का परिज्ञान। (४) **भू विद्या**-भूकम्प आदि से लाभालाभ का ज्ञान। (५) **लक्षण विद्या**-शरीर पर के तिल, मष आदि लक्षणों से शुभाशुभ का परिज्ञान। (६) **रेखाविज्ञान**—हाथ पांव आदि की रेखाओं पर से शुभाशुभ परिज्ञान, सामुद्रिक शास्त्र। (७) **आकाश विज्ञान**-आकाश में होने वाले उल्कापात आदि आकस्मिक आघातों पर से लाभालाभ का ज्ञान। (८) **नक्षत्रविद्या**-नक्षत्रों के उदयअस्त आदि पर से शुभाशुभ का परिज्ञान।

अष्ट कर्म—देखो 'कर्म' शब्द।

आदानभांडमात्र निक्षेपणा समिति— देखिए 'समिति'।

आमोगिक—अवधिज्ञान का एक वह प्रकार जो उत्पन्न होने के बाद कभी विनष्ट नहीं होता, केवल ज्ञान प्राप्त होने तक रहने वाला ज्ञान।

आयाम—चावल आदि का धोवन (ओसामण)।

आयुष्य कर्म—देखिए 'कर्म'

आरा— आरा—चक्र। जिस प्रकार रथ गाड़ी आदि के चक्र-चक्के लगे होते हैं, वैसे ही काल रूपी रथ के भी चक्र (आरा) होते हैं। ऐसे बारह आरा का एक कालचक्र होता है। जो बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का होता है। काल चक्र के छः आरा अवसर्पिणी काल एवं छ आरा उत्सर्पिणी काल कहलाता है।

ईर्या समिति—देखिए 'समिति'।

उपपात— नरक एवं देवयोनि में जन्म ग्रहण करने को उपपात कहते हैं।

उष्ण-विकट—अग्नि पर उबला हुआ पानी।

उत्सर्पिणी—कालचक्र का अर्ध भाग। जिस समय (काल) मे भूमि, वृक्ष आदि का स्वास्थ्य एवं मनुष्यों के पुरुषार्थ आदि गुण निरन्तर वृद्धिगत होते रहते हैं, वह समय। कालचक्र का उत्कर्षयुग।

उत्स्वेदिम—आटा आदि का धोवन।

ऋजुमति—मनःपर्यव ज्ञान का एक भेद। इस ज्ञान से मन के भाव जाने जाते हैं। यह ज्ञान होने के बाद वापस चला भी जाता है। तथा अधिक विशुद्ध नहीं होता है।

एषणासमिति—देखिए 'समिति'।

कर्म— आत्मा के मूल गुणों को आच्छादित करने वाली सूक्ष्म पौद्गलिक शक्ति। इनके आठ भेद होने से अष्टकर्म तथा 'घाती कर्म' 'एवं अघाती कर्म' के नाम से भी प्रसिद्ध है।

आठ भेद—(१) **ज्ञानावरण**-ज्ञान शक्ति को आवरण अर्थात् ढकने वाला कर्म। (२) **दर्शनावरण**-दर्शन (सामान्यबोध) शक्ति को ढकने वाला। (३) **मोहनीय**-आत्मस्वरूप के अवबोध को रोककर मोह में फँसाने वाला। (४) **अन्तराय**-दान, लाभ, भोग आदि में विघ्न उपस्थित करने वाला (५) **वेदनीय**-सुख दुःखका निमित्त बनने वाला। (६) **आयुष्य**—जीवन धारण का निमित्त। (७) **नामकर्म**-गति, स्थिति, यश अपयश आदि का निमित्त। (८) **गोत्र**-उच्चता, नीचता आदि का निमित्त।

इनमें प्रथम चार कर्म आत्मा के मूल स्वरूप का घात करने वाले होने से **घाती कर्म** कहलाते हैं। शेष चार **अघाती कर्म** हैं।

कल्प— नीति, आचार, मर्यादा, विधि और समाचारी। कल्प के दस भेद हैं (१) आचेलक्य, (२)

औद्देशिक (३) शय्यातर पिण्ड (४) राजपिण्ड (५) कृतिकर्म (६) व्रत (७) ज्येष्ठ (८) प्रतिक्रमण (९) मासकल्प (१०) पर्युषणा कल्प ।

विवरण के लिए देखें पृष्ठ ३ से १६ तक

कायोत्सर्ग—शरीर आदि के विकल्प से मुक्त होकर ध्यान करना । एक प्रकार की ध्यान मुद्रा ।

कायगुप्ति—देखिए - 'गुप्ति!'

कुलकर—कुल की व्यवस्था करने वाला। युग की आदि में जब मानव-प्रजा कुल व समूह के रुप मे व्यवस्थित नही थी, उस युग में सर्व प्रथम कुल व्यवस्था का प्रारम्भ करने वाले कुलकर कहलाए। इस युग मे सात कुलकर हुए। जिनमें अन्तिम कुलकर थे भगवान ऋषभदेव के पिता नाभि राजा ।

केवलवरज्ञान—निखिल विश्व के जड़ चेतन के भूत-भविष्य एव वर्तमान कालीन समस्त भावो को जानने वाला श्रेष्ठतमज्ञान । त्रिकाल-ज्ञान ।

केवलज्ञानी—केवलज्ञान को धारण करने वाला महान आत्मा

क्षुल्लक—छोटी उम्र का श्रमण । लघु मुनि ।

खादिम—फल आदि खाद्य पदार्थ ।

गणधर—तीर्थङ्कर के मुख्य शिष्य, जो गण की व्यवस्था करते हैं, तथा उनके प्रवचन को सूत्र-आगम रुप में ग्रथित करते है ।

गणनायक—गणतन्त्र राज्य व्यवस्था का प्रधान पुरुष-मुख्य नेता ।

गणावच्छेदक—मुनि समूह को 'गण' कहते हैं, 'गण' की सुरक्षा व विकास के लिए मुनि मंडल को सयम आदि की दृष्टि से संभालने वाला प्रमुख मुनि ।

गणिपिटक—बारह अगो का समूह वाचक नाम 'गणिपिटक' है ।

गणी—गण की व्यवस्था करने वाला अधिकारी मुनि-आचार्य ।

गुप्ति—विवेक पूर्वक आत्म-सयम, नियमन करना गुप्ति है । गुप्ति के तीन भेद है-(१) मनोगुप्ति - मन का संयम, (२) वचन गुप्ति-वाणी का संयम, (३) कायगुप्ति-शरीर का सयम ।

गोदोहासन—गाय को दुहते समय ग्वाला जिस प्रकार बैठता है उस प्रकार बैठना गोदोहासन है ।

गंधहस्ती—वह श्रेष्ठ जाति का हस्ती, जिसके शरीर से एक प्रकार की विचित्र गन्ध निकलती रहती है जिसके कारण अन्य हाथी भय खाते हैं ।

चउदसम भक्त—लगातार चौदह वक्त तक आहार आदि का परित्याग करना । छह दिन का उपवास ।

चतुर्थ भक्त—लगातार चार वक्त तक आहार आदि का परित्याग करना । एक दिन का'उपवास ।

च्यवन—नारक एवं देवता के आयु:क्षय को 'च्यवन' कहा जाता है, अर्थात् देव एवं नारक की 'मृत्यु।'

चाउलोदक—चावल का धोवन।

च्युत होना—देव एवं नरक गति में मृत्यु प्राप्त करना।

चौदह पूर्व—जैन परंपरा के मूल अंग बारह है। बारहवें अंग दृष्टि-वाद (जो वर्तमान में विच्छिन्न है) में चौदह पूर्व आते हैं, जिनका ज्ञान अत्यंत विस्तृत माना जाता है।

चौदह पूर्वी (पूर्व धर)—जिसे संपूर्ण चौदह पूर्व का ज्ञान प्राप्त हो वह, चौदहपूर्वी या चतुर्दश पूर्वधर मुनि कहलाता है।

छट्ठभक्त—लगातार छः वक्त तक आहार आदि का त्याग करना। दो दिन का उपवास।

जवोदक—जौ का धोवन।

जातिस्मरण ज्ञान—अपने पूर्व जन्म का ज्ञान। जाति-स्मृति।

ज्योतिषिक देव—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारा आदि ज्योतिषिक देव कहलाते हैं।

तिलोदक—तिल आदि का धोया हुआ पानी, धोवन।

तुषोदक—तुष अर्थात् छिलका, दाल आदि छिलके वाली वस्तु का धोवन।

दंडनायक—प्रजा में न्याय तथा व्यवस्था के लिए दण्ड आदि की व्यवस्था करनेवाला अधिकारी।

दत्ति—एक बार में संलग्न व अक्षतधारा रूप से दिया जाने वाला आहार पानी। चाहे एक बार में एक कण भर आहार दिया हो, या एक बूंद भर जल! वह एक 'दत्ति' ही कहलाती है।

नगर गुप्तिक—नगर की व्यवस्था का जिम्मेदार अधिकारी। कोटवाल आदि।

नाम कर्म—देखिए 'कर्म'।

पर्याप्ति—शरीर, इन्द्रिय आदि की संपूर्ण रचना।

पल्योपम—एक विशेष प्रकार का समय सूचक माप। अंकों द्वारा जो संख्या प्रकट न की जा सके उसे उपमा द्वारा प्रकट करना होता है। पल्य—एक विशेष प्रकार का माप है, उसकी उपमा से काल गणना करना—पल्योपम कहलाता है, अर्थात् संख्यातीत वर्ष। असंख्य काल।

पादपोपगमन—अनशन तप की विशेष अवस्था। अनशन ग्रहण करके मृत्यु पर्यन्त वृक्ष (पादप) की भांति शरीर को स्थिर करके समाधिस्थ रहना—पादपोपगमन संथारा कहलाता है।

पान—पीने का सादा पानी।

पारिष्ठापनिका समिति—देखिए 'समिति'।

पुरुषादानीय—मनुष्यों में आदरणीय श्रेष्ठ। भगवान पार्श्वनाथ का विशेषण।

पौरुषी—समय का एक भाग। अहोरात्र (दिन रात) का आठवां हिस्सा एक पौरुषी (प्रहर) कहलाता है। दिन में चार पौरुषी होती है, रात्रि में चार।

प्रहर—देखिए - 'पौरुषी'।

प्रतिमा—साधु एवं श्रावक के सामान्य नियमो के अतिरिक्त विशेष प्रकार के कठोर नियमों का व तपश्चर्या आदि का आचरण करना प्रतिमा कहलाता है। भिक्षु को बारह प्रतिमा हैं, एव श्रावक की ग्यारह।

बलिकर्म—गृह देवता का पूजन करना।

भक्तप्रत्याख्यान— भक्त अर्थात् भोजन-पानी, अथवा भोजन का परित्याग करना - भक्तप्रत्याख्यान है।

भवनपति—विशेष प्रकार की देव जाति, जो भवनो में रहती है।

भाषा समिति— देखिए-'समिति।'

मडंब जिस स्थल के चारों ओर दो-दो कोश तक कोई ग्राम न हो, वह स्थल विशेष।

मनःपर्यव ज्ञान— मन के भावो को जानने वाला ज्ञान। यह ज्ञान सिर्फ संयती को ही होता है।

मनोगुप्ति—देखिए 'गुप्ति।'

मारणांतिक संलेखना जीवन के अन्त्य समय में मृत्युपर्यन्त आहार आदि का परित्याग करना।

यवनिका—पर्दाविशेष।

रसविकृति (विगय)—जिन सरस वस्तुओं के सेवन से मन में विकार आदि उत्पन्न होने की संभावना हों—उन्हें रस-विकृति—विगय कहते हैं। विगय नौ प्रकार की होती हैं—दूध, दही, मक्खन, घी, तेल, गुड़, मधु, मद्य और मांस।

लोकान्तिक—एक जाति के देव जो ब्रह्म-लोक के अन्त में रहते हैं, तथा तीर्थङ्कर जब दोक्षा लेने का संकल्प करते हैं, तब उन्हें विश्वकल्याण के लिए प्रार्थना करने आते हैं।

वचन गुप्ति—देखिए-'गुप्ति।'

वादी—वाद विवाद करने मे निपुण। (वादलब्धि)—वाद विवाद करने की योग्यता वाली विशेष शक्ति।

वाणव्यन्तर—एक जाति के देव जो वन विशेष मे उत्पन्न होते हैं, रहते हैं और वन में क्रीडा करते हैं जिन्हे भूत पिशाच आदि नाम से भी पुकारा जाता है।

विकट—निर्दोष आहार पानी।

विकट गृह—ग्राम की पंचायती व लोकों के एकत्र होने का स्थान, चबूतरा आदि।

विकृष्ट भक्त—अट्ठम भक्त (तीन दिन के उपवास) से अधिक तप करना।

विपुल मतिज्ञान—मनःपर्यव ज्ञान का भेद। इस ज्ञान में भावों की विशुद्धि विशेष रहती है तथा

केवल ज्ञान पर्यन्त स्थायी रहता है।

विचार भूमि—शौच आदि के लिए बाहर जाना।

विहार भूमि—स्वाध्याय आदि के लिए एकान्त स्थान में जाना।

वृष्टिकाय—वर्षा, बूंदे या फुहारे।

वेदनीय कर्म—देखिए – 'कर्म'।

वैमानिक देव—विमान मे उत्पन्न होने वाली उत्तम देव जाति।

वैक्रियलब्धि—शरीर को छोटे बड़े आदि विभिन्न रूपों में बदलने वाली शक्ति विशेष। देव एवं नारक में जन्मजात होती है, मनुष्य आदि में योग, तप आदि द्वारा प्राप्त की जाती है।

वैक्रियसमुद्घात—शरीर को तथा शरीर परमाणुओ को विशेष रूपों में बदलने के लिए की जाने वाली विशेष प्रक्रिया।

श्रुतकेवली—चौदह पूर्व के ज्ञाता श्रमण।

सागरोपम—असख्य पल्योपम जितना काल सागर कहलाता है, सागर से उपमित किया जाने योग्य काल-सागरोपम।

समिति—श्रमण जीवन में सम्यक् प्रकार (विवेक पूर्वक) से गति करने का नाम समिति है। श्रमण जीवन की समस्त प्रवृत्तियों को पाँच रूप में विभक्त कर के 'पच समिति' का रूप दिया है। (१) **ईर्यासमिति** – सावधानी, व यतना पूर्वक चलना। (२) **भाषा समिति**–विवेक व यतना पूर्वक बोलना। (३) **ऐषणा समिति**–खाने पीने, पहनने आदि कार्य के लिए शुद्ध, निर्दोष वस्तु को यतनापूर्वक ग्रहण (याचना) करना। (४) **आदान भांड मात्र निक्षेपणा समिति** – अपने वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों को विवेक पूर्वक उठाना व विवेक पूर्वक रखना। (५) **पारिष्ठापनिका समिति**–फेंकने व छोड़ने योग्य वस्तु को उचित स्थान पर विवेक पूर्वक फेंकना व छोड़ना।

स्वादिम—मुखवास आदि के लिए स्वाद वाले खाद्य पदार्थ।

सौवीर—कांजी।

संखडी (सुखंडी)—मिष्टान्न-पक्वान्न, तथा मिष्टान्न आदि जहाँ बनते हो, वह स्थान। भोज आदि का स्थल।

संधिपाल—राज्यों के बीच विग्रह आदि समस्याओं को सुलझाकर संधि-कराने वाला, एवं संधि की रक्षा का जिम्मेदार अधिकारी राजदूत।

संस्वेदिम—वृक्ष के पत्ते आदि को उबाल कर उन पर छिटका जाने वाला पानी।

शुद्ध विकट (क)—देखिए 'उष्ण विकट।

हरिणैगमेसी—देवराज इन्द्र का एक सेनापति, तथा विशेष कार्यदक्ष दूत, जो गर्भ परिवर्तन आदि की कला में प्रवीण होता है

कल्पसूत्र विवेचन में प्रयुक्त ग्रन्थसूची

अष्टांग हृदय (वाग्भट्ट)
अंगुत्तर निकाय
अन्तकृद्दशा
अर्धमागधी कोष – रतनचन्द जी म०
अनुयोगद्वार टीका
अमरकोष
अभिधान चिन्तामणि कोष
अभिधान राजेन्द्र कोष
आचारांग सूत्र
आचारांग टीका
आचारांग – मलयगिरि वृत्ति
आप्टेज् संस्कृत-इंग्लिश – डिक्सनरी भाग १
आवश्यक चूर्णि
आवश्यक भाष्य
आवश्यक हारिभद्रीय टीका
आवश्यक निर्युक्ति (भद्रबाहु)
आवश्यक मलयगिर वृत्ति
इण्डियनएन्टीक्वेरी
ईशावास्योपनिषद्
उत्तराध्ययन सूत्र
उत्तराध्ययन (बृहद् वृत्ति, शान्त्याचार्य)
उत्तर पुराण
उत्तराध्ययन, बृहत्वृत्ति
उपदेश मालादोघट्टी टीका
ऋग्वेद
ऋषि मण्डल प्रकरण
ओघनिर्युक्ति
कथा कोष प्रकरण (जिनेश्वर सूरि)
कल्पसूत्र सुबोधिका – विनय विजय
कल्प सुबोधिका–गुजराती अनुवाद (साराभाई नबाव)
कल्पसूत्र (पुण्य विजय जी)
कल्पसूत्र (मणिसागर)
कल्पसूत्र - कल्पलता (समय सुन्दरगणि)
कल्पसूत्र - कल्पद्रुम कलिका
कल्यार्थबोधिनी
कल्पसूत्रसंदेह विषोषधि
कल्पसमर्थनम्
कल्पसूत्र चूर्णि
कल्पसूत्र निर्युक्ति
कल्पसूत्र (पृथ्वीचन्द टिप्पणकम्)
काललोक प्रकाश
कौटिलीय अर्थशास्त्र
चउप्पन्नमहापुरुष चरियं–प्राकृतग्रन्थ परिषद् वाराणसी - ५
चार तीर्थकर (पं० सुखलाल जी)
छांदोग्योपनिषद्
जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, सटीक
जैनपरंपरा नो इतहास
जैन साहित्य का इतिहास (पीठिका) – पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री
तत्त्वार्थ-सूत्र
तत्त्वार्थ भाष्य
तत्त्वार्थ भाष्य टीका
तित्थोगालिय पइन्ना
तैत्तिरीयारण्यक
तैत्तिरीयोपनिषद्

दशवैकालिक
दशवैकालिक – अगस्त्यसिंह चूर्णि
दशवैकालिक–जिनदास चूर्णि
दशवैकालिक नियुंक्ति
दशवैकालिक–हारिभद्रीय वृत्ति
दशाश्रुतस्कन्ध
दशाश्रुतस्कन्ध चूर्णि
धनंजय नाममाला
धर्मसंग्रह वृत्ति
धवला टीका
नारायणोपनिषद्
निबन्ध निचय (कल्याण विजय)
निशीथ सूत्र
निशीथ चूर्णि
निशीथ भाष्य
पउमचरिय (विमल सूरि)
पट्टावली पराग
पद्मचरिय – रविसेन आचार्य
पद्मपुराण
पन्नवणा सूत्र
पर्युषणा कल्प सूत्रम् (केशर मुनि)
पार्श्वनाथ चरित्र – भावदेव सूरि
पुराणसार
प्रवचन सारोद्धार वृत्ति
प्रशमरति प्रकरण
प्रश्नव्याकरण
बुद्धिस्ट हाइब्रिड संस्कृत ग्रामर-
एण्ड डिक्सनरी, खण्ड २
बृहत्कल्पभाष्य
बृहदारण्यकोपनिषद्
भगवती आराधना
भगवती सूत्र
भरतेश्वर बाहुबलि वृति (शुभ शीलगणी)
मनुस्मृति – भट्ट मेधातिथि का भाष्य
महापुराण
महावीर चरियं – गुणचन्द्र
महावीर चरिय – नेमिचन्द्र
महावीर जीवन दर्शन – देवेन्द्र मुनि
मुण्डकोपनिषद्
मुनि श्री हजारीमल स्मृतिग्रन्थ
योग शास्त्र – हेमचन्द्र आचार्य ।
योग शास्त्र – स्वोपज्ञवृत्ति
लघुक्षेत्र समास
लोकप्रकाश
वसुदेव हिन्डी
वाजसनेयी संहिता
विशुद्धिमग्गो
विशेषावश्यक भाष्य
वीरनिर्वाण संवत और जैन कालगणना
वीरविहार मीमांसा – विजयेन्द्र सूरि
शान्तिनाथ चरित्र
श्वेताश्वनरोपनिषद्
स्थानांग - अभयदेव वृत्ति (टीका)
सत्तरियसय ठाणा
सप्तति स्थानक (आचार्य सोम तिलक)
सुत्तागमे
सूत्र कृताङ्ग
सूत्रार्थ प्रबोधिनी
सूत्रकृतांग (शीलाकाचार्य टीका)
श्रमणभगवान महावीर
श्रीमद् भागवत
समवायांग सूत्र – मुनि कन्हैयालाल जी
समवायांग (अभयदेव वृत्ति)
शब्दरत्न समन्वय कोष
हरिवंश पुराण
त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र
ज्ञाता धर्म कथांग

कल्पसूत्र का शुद्धि पत्र

(मूल पाठ)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४७	४	निघंटु	निघंट
६८	१२	साहराविताए	साहराविसए
७१	१७	कुच्छिीओ	कुच्छीओ
७२	६	उत्तरपुरा	उत्तरपुर
७६	११	नायणं	नायाणं
७९	२१	चउद्दत	चउद्दंत
८१	४–५	कोमलभाइय	कोमलमाइय
८१	८	सोहिय	सोहियं
८२	३	कुंभ	कुम्भ
८२	१६	घणसण्हलंवंत	घणसण्हलंबत
८५	२	देवी	देवीं
८८	१७	लोलंतोय	लोलंतोयं
८८	१८	चालिय	चलिय
८८	२२	खीरोयसागारं	खीरोयसागरं
९३	२३	सुमिणं	सुमिणे
९४	३	मियमहुरं	मियमहुर
१०१	१४	पिणद्धगोविज्जे	पिणद्धगेविज्जे
११४	२२	दिट्ठां	दिट्ठा
१२६	१६	जोगमुवागएण × ...	आरोगा
१३९	२	उवक्खाडाविता	उवक्खडाविता
१४६	२१	अभिनंदाणा	अभिनंदमाणा
१८४	(क) १९	असमे	अममे
१८४	(क) २१	निरावलवणे	निलावलंबणे
१८७	२५	वट्टमाणाणं ×	सव्वलोए
२००	१	पोतिवद्धणे ×	मासे नन्दीवद्धणे
२८६	११	सुट्ठि ×	सुट्ठिय
२८६	१७	गोयमगोत्तस्स	गोयमसगोत्तस्स
२९२	७–८	थेरे धणड् ×	थेरे सिरिठ्ठे

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२९२	८	थरे	थेरे
२९८	१	वच्छलिज्जं	वत्थलिज्जं
२९८	३	अज्जचेडयं	अज्जवेडय
२९८	१८	उडुवाडियगये	उडुवाडियगणे
२९९	१९	कुलाइ	कुलाइं
३०५	६	साहा निग्गया ×	थेरेहिंतो णं अज्जताव सेहिंतो एत्थणं अज्जतावसी साहा निग्गया,
३०५	२१	बभदेवीया	बंभदेवीया
३१३	८	संघवालिय	संघपालिय
३२०	५	पज्जोसविताए	पज्जोसवित्तए
३२०	१६	का	वा
३२६	८	कंपति	कंप्पति
३२९	१०	गाहावइकुल	गाहावइ कुलं
३४७	१५	त चेव	तं चेव
३४८	६	अणवकखमाणे	अणवकंखमाण
३५०	१५	तहां	तहा
३५१	१७	भंवति	भवंति
३५८	१	जोयणाइ गंतु	जोयणाइं गंतु

(अर्थ और विवेचनका शुद्धि पत्र)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५	१२	जतना	जितना
१९	१२	.... ×	उपाध्यायों को नमस्कार हो।
३९	२	पोट्टिलाचाय	पोट्टिलाचार्य
६१	२५	.... × ह	वह
६६	६	का	की
६९	१९	वसुदेव	वासुदेव
६९	२१	वर्नमान	वर्तमान
७२	१७	पादति	पदाति
८६	३	तरगित	तरंगित
१०२	१७	करघनी	करधनो
१६६	२५	मंचका	मचका

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७७	२	क	के
१८४ (ख)	१२	नहीं	नहीं
१८४ (ग)	१२	जोव	जीव
(घ)	९	इहलाक	इहलोक
१९०	४	का	को
१९२	३	श्रद्धा	श्रद्धा से
१९४	२६	ज्योतिर्मयं:	ज्योतिर्मय:
२५४	२	वयावृत्य	वैयावृत्य
२६५	१८	करण	वरण
२६७	११	वलिवत्व	क्लीबत्व
२६७	१४	भगवान को	भगवान की
२६८	८	भोगे	भीगे
२७३	१४	वाल	वाले
२८३	२६	ससार	संसार
२९३	११	श्रेयक	श्रेयस्क
२९४	११	रतन	रत्न
२९६	५	भद्रयशा	भद्रयश
३२०	६	रइते	रहते
३२६	१८	तीर	तीन
३३२		तिव्वदोसीयं	तिव्वदेसीयं